भारतीय राजनीतिक व्यवस्था

(भारतीय संविधान, शासन और राजनीति के तीस वर्ष)

सत्यनारायण जैन
प्राध्यापक, राजनीति विज्ञान
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

पंचशील प्रकाशन, जयपुर

प्रकाशक :
मूलचन्द गुप्ता
पंचशील प्रकाशन
फिल्म कालोनी, जयपुर–302003

प्रथम संस्करण 1978

मूल्य अठारह रुपये

मुद्रक
शीतल प्रिन्टर्स
फिल्म कालोनी, जयपुर–302003

केवल-रवि रश्मि-प्रभा मण्डित, जे परम चतुष्टययुत जिनवर ।
उस स्याद्वादमयवाणी मे होता तत्वों का शुभ दर्शन ॥
सम्यक्त्व विभूपित सयमधर, शिव पथिक परम पावन मुनिगन ।
उन देव परम आगम गुरू का, शत नमन तथा शतशत वन्दन ॥

भारत की
"साधारण जनता की असाधारण प्रतिभा"
को समर्पित

भूमिका

1947 से 1967 तक देश मे काग्रेस का एक छत्र 'लोकतान्त्रिक शासन' (एक दलीय प्रमुत्व व्यवस्था के राजनैतिक यथार्थ मे छटपटाता सवैधानिक सरचनात्मक स्वरूप), 1967 मे 'गैर-काग्रेसवाद' से उत्पन्न सविद् राजनीति की शुरुआत, 1969 का कांग्रेस विभाजन, सहमति एव समायोजन के स्थान पर देश के राजनीतिक जीवन मे 'रूथलेस काम्पीटीशन' के नये तत्व का प्रवेश, पारस्परिक अविश्वास एव घृणा की नयी प्राचीर का निर्माण, 1971-72 मे 'गरीबी हटाओ', 'ससदीय सर्वोच्चता' एव 'रोटी, कपडा और मकान' के मोहक नारो तथा 'बागला देश के अभ्युदय' के परिणाम स्वरूप सत्तारूढ काग्रेस एव इंदिरा गाधी का पुन आधिपत्य तदुपरान्त भयकर आर्थिक समस्याओ से उत्पन्न देश मे निराशा का वातावरण, 'इलाहाबाद जजमेन्ट', प्रधानमन्त्री की सत्ता स्थापित करने के नाम पर अन्य सभी स्तरो पर 'जेयूएन ऑथोरिटी' को कमजोर करने का प्रयास एव काग्रेसी शासन का तानाशाही दिशा मे भटकाव, गाधी और नेहरू के मूल्यो की हत्या करने वाले सवैधानिक सशोधनो को ही गाधी और नेहरू की क्राति को आगे बढाने वाला बताया जाकर व्यक्तिगत सत्ता को दृढ करने के लिए किये गये सविधान के मनमाने सशोधन, विधायिका, न्यायपालिका और कार्यपालिका के बीच सत्ता मे सतुलन का कार्यपालिका के पक्ष मे, केन्द्र और राज्यो के बीच सत्ता के सतुलन का केन्द्र के पक्ष में तथा आर्थिक शक्ति के सतुलन का राज्य के पक्ष मे परिवर्तन, जनसचार के माध्यमो पर सरकारी नियन्त्रण, एव अन्य 'इमरजेन्सी एक्सेसेस' मार्च 1977 मे लोकतन्त्र की बहाली एव 'सीजरीएन रूल की समाप्ति, 'काग्रेस सिस्टम' का 'ब्रेक डाउन' व जनता सरकार की स्थापना तथा विभिन्न सवैधानिक मूल्यो, सस्थाओ एव परिपाटियो के स्वस्थ सस्थायीकरण होने तथा सामाजिक, आर्थिक पुनर्निर्माण एव गुणात्मक क्राति के लिए अभिव्यक्त की गई जन आकाक्षा, परन्तु ?

स्पष्ट दिशा बोध, ध्येयनिष्ठ समर्पित प्रयास एव सैद्धान्तिक स्वरूप की दृष्टि से तथाकथित एक 'रक्तहीन क्राति' एव 'दूसरी आजादी' के नवोन्मेष मे पदासीन होने वाली 'जनता-सरकार' का क्या कोई बिम्ब उभर सका है ? क्या राष्ट्रवादी नेताओ एव चिन्तको की समस्या ज्ञान और तथ्य विश्लेषण सबधी दयनीय अक्षमता है या जन-समस्याओ के मूल को पकडने की उनकी हिचकिचाहट उनके उपर यथास्थिति

वाद के जबदस्त दबाव का सकेत देती है ? क्या माननीय श्रीजयप्रकाश की समग्र क्रांति के वचारिक मूल्यो की भी जनता पार्टी के शासन काल मे वही दशा होगी जैसाकि राष्ट्रपिता गाधी के आदर्शों का काग्रेसी शासन काल मे ह्रास हुआ ? राजसत्ता एव लोकसत्ता मे किस प्रकार सामजस्य बैठ पायेगा ? क्या 'पावर आफ रिकाल' एक यथार्थ बन सकेगा ?

क्या राष्ट्रीय स्तर के नेताओ की पीढी समाप्त सी हो गई है ? क्या जनता व काग्रेस सहित विभिन्न राजनैतिक दलो की तथाकथित राष्ट्र-व्यापी भूमिका वस्तुत प्रादेशिक तो नही रह गई है ? विभिन्न जाच-आयोगों की स्थापना एव तत्सम्बन्धी आरोपो की पुष्टि के बावजूद इन्दिरा काग्रेस की लोकप्रियता मे बढोतरी, केन्द्र राज्य सम्बन्धो पर पुनर्विचार की माग, भाषा-विवाद, आणविक नीति, हरिजनो पर हमले, कानून व व्यवस्था की बिगडती हालत, युवा शक्ति की विध्वसक गतिविधिया आदि से उत्पन्न चुनौतिया तथा चरणसिंह एवं अन्य मन्त्रियों के त्याग पत्र (निष्कासन) के परिणामस्वरूप— सहमति बनाम बहुमत का निर्णय' (Consensus V/s Majority-decison), अनुशासन बनाम आतरिक लोकतन्त्र (Discipline V/s Inner democracy) विचारधारा बनाम सगठन ' (Ideology V/s Organisation) एव 'गाधीवाद से जुडी गैर-काग्रेस शक्तिया बनाम काग्रेसी सस्कृति के प्रतिनिधि" (Non Congress Forces wedded) to Gandhism V/s Representatives of the Congress culture) जातिवाद एव भ्रष्टाचार के आरोप प्रत्यारोप आदि की तथाकथित बहस एव सामाजिक आर्थिक क्षेत्र म इसकी 'पूअर परफोरमेन्स' ने क्या जनता पार्टी व सरकार के सामने "क्राइसेस आफ आइडेनटिटी एव क्राइसेस आफ आँथोरिटी" उत्पन्न कर दिया है ? क्या वास्तव म यह विगत काग्रेस पार्टी के राष्ट्रीय विकल्प (National alternative) का दावा कर सकती हैं ? "स्वतन्त्र समाज के खुलेपन ' (Openness of the open society) की अ तर्निहित सीमाओ से अब अवगत हो जाने पर क्या जनता सरकार को भी (बिना आपात काल की घोषणा किए) वे सब 'कठोर निर्णय (Harsh decisions) लेने पडेंगे, जो भूतपूर्व शासन को लेने पडे थे ? अथवा बिना व्यापक सगठन खडा किये क्या यह मूलत ससदीय विधान सभाई काय कलापो तक अपने को सीमित रखते हुए सतुष्ट रहेगी ? अथवा घटकवाद से ग्रसित जनता एव जजरित काग्रेसी दलो व समूहो के अतिरिक्त तीसरे पक्ष की आवश्यकता एव विकल्प के रूप म वामपथी दल अथवा गैर राजनैतिक सगठन का भविष्य सम्भावित लगता है ? करीब-करीब सभी राजनैतिक दलो मे विभाजन की प्रक्रिया से क्या भारत एक अनिश्चिय की स्थिति एव राजनतिक अस्थिरता की ओर बढ रहा है ?

राष्ट्रपति श्री नीलम सजीवा रेड्डी द्वारा दिये गये विभिन्न वक्तव्य तथा श्रीमती गाधी चरणसिंह एव जगजीवन राम से उनकी लम्बी मुलाकात और नानाजी

देशमुख द्वारा किया गया विवादग्रस्त 'खण्डन' क्या राष्ट्रपति व मन्त्रिमण्डल के बीच सभावित 'टकराहट' की शुरूवात है ? क्या राष्ट्रपति सामन्जस्य (National reconciliation) की आड मे राष्ट्रीय-सरकार बनाने को तत्पर है ? श्रीमती गाधी के चिक्मगलूर (कर्नाटक) से चुनाव लडने के निर्णय का दलीय राजनीति पर क्या कोई निर्णायक प्रभाव पडेगा ? क्या जानबूझ कर ऐसा वातावरण बनाये जाने की कोशिशें की जा रही है जिससे नागरिक आगामी वर्षों मे स्वय देश मे अपोलिटिकल आलटरनेटिव' (विशेषकर राजनीति एव शासन मे सैनिक हस्तक्षेप) चुनना पसन्द करे ? गीता सजय हत्या काण्ड एव रगा बिल्ला गिरफ्तारी क्या देश की राजनीति मे कोई नया रग लायेगी ? कान्ति देसाई काण्ड', व सुषमा काण्ड के बाद शीघ्र ही क्या और नया 'काण्ड' सामने आ रहा है ? क्या महाशक्तियां इरान, पाकिस्तान एव अफगानिस्तान मे शुरु किये गये राजनैतिक 'ड्रामा' की परिणति भारत मे करना चाह रही है ? आदि आदि

इसी प्रकार के विभिन्न प्रश्न आज देश विदेश के राजनेताओ, विधिवेत्ताओ, पत्रकारो, विद्यार्थियो, राजनीति शास्त्रियो एव भारतीय राजनीति मे दिलचस्पी रखने वाले प्रत्येक व्यक्ति के मानस को उद्वेलित कर रहे हैं। चूंकि राष्ट्र अभी सक्रमण के दौर से गुजर रहा है, अत इस समय अन्तिम रूप से कुछ भी नही कहा जा सकता। फिर भी भारतीय शासन और राजनीति के विगत तीस वर्षों के उतार चढावों एव "भारतीय साधारण जनता की परिलक्षित असाधारण प्रतिभा" से प्राप्त अनुभवो के आधार पर सभावित दिशाओ का सकेत अवश्य जाना जा सकता है। प्रस्तुत पुस्तक इसी प्रयास का फल है। अन्य बातो के अतिरिक्त इसमे ससदीय जनतन्त्र केन्द्र राज्य सबध, राष्ट्रपति प्रधानमन्त्री की भूमिका, और मूल अधिकारो नीति निदेशक तत्वो एव सामाजिक-आर्थिक न्याय के परिप्रेक्ष्य मे ससदीय सर्वोच्चता का प्रश्न आदि के क्रम मे प्रस्तावित 45वें (44वें) सविधान सशोधन विधयक 1978 (जो लोकसभा द्वारा पारित किया जा चुका है) सहित विभिन्न सशोधनो का ससद, सविधान और सर्वोच्च न्यायालय" के सदर्भ मे विश्लेषणात्मक आकलन भी किया गया है।

विश्वास है कि पुस्तक राजनीतिविज्ञान, लोकप्रशासन एव विधि छात्रों तथा राजनीति के सक्रिय व जिज्ञासु पाठको के लिए उपयोगी सिद्ध होगी। विद्वतजनों की टिप्पणिया एव सुझाव सहर्ष आमन्त्रित है।

पत्राचार भवन राज० वि० वि०, जयपुर — एस एन जैन
2 अक्टूबर, 1978

प्रस्तुति

प्रस्तुत पुस्तक के प्रारम्भ मे मैं निम्नांकित महानुभावो के प्रति अपनी श्रद्धा के सुमन अर्पित करना अपना कत्तव्य समझता हू एतदर्थ—

राजस्थान के जाने माने लौह पुरुष एव भू० पू० गृह मन्त्री स्व श्री दामोदर लाल व्यास (जिनकी कर्म भूमि—मालपुरा क्षेत्र–का मैं निवासी हू) की पुण्य स्मृति जीवन भर मेरा पथ प्रशस्त करती रहेगी, जिनके पितृवत् वात्सल्य ने न केवल मुझ मे स्वाभिमान एव निर्भय का भाव उत्प्रेरित किया, अपितु सैद्धान्तिक ज्ञान के साथ साथ राजनीति की 'इनसाइड' की 'इनसाईटनेस का दिग्दर्शन भी कराया,

आदरणीय श्री एल पी शैरव—(समन्वयक, वि वि व महाविद्यालय विकास परिषद) का असीम स्नेह, तब से जब मैं अग्रवाल कालेज मे (उनके प्राचार्यत्व मे) विद्यार्थी था, मेरा एक सम्बल है, जो मुझे सदैव "कुछ न कुछ बौद्धिक कार्य" करने की प्रेरणा देता रहता है। माननीय प्रो० एम० सी० भगत (अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, अग्रवाल कालेज), जो गत एक दशक से मेरे 'फिलास्फर, गाईड एण्ड फ्रेन्ड' रहे हैं तथा प्रो० एस० सी० सोगानी (अध्यक्ष, राजनीति विज्ञान) एव अग्रवाल कॉलेज के सभी गुरुजनो के आशीर्वाद ने पी यू सी से बी ए कक्षा तक की अवधि मे मुझे इस योग्य बनाया कि मै दो स्वर्ण-पदक (गोल्ड मेडल) प्राप्त कर सका। अग्रवाल कॉलेज के प्राध्यापकों की इस सपृक्त ममता ने ही मुझे एक बार फिर वहां से एल एल बी करने को प्रेरित किया,

'भारतीय सरकार एव राजनीति' के अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त सीनियर प्रोफेसर इकबाल नारायण साहब, जिनकी अध्यापन शैली ने ही मुझे भारतीय शासन और राजनीति के अध्ययन मे रूचि जाग्रत की। जब मैं एम ए उत्तरार्द्ध का विद्यार्थी था, शायद ही डाक्टर साहब का कोई पीरीयड जाता था, जब मैं पाच दस मिनट अपनी बुद्धि अनुसार तर्क प्रस्तुत करने का 'दुस्साहस' न करता था। आप मुझे कभी निरुत्साहित नही करते थे, अपितु कितनी ही दफा तो मेरे तर्कों को अपने व्याख्यान मे स्थान देते थे।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के प्रखर वक्ता प्रो० हरगोविन्द पन्त (भू० पू० निदेशक, पत्राचार संस्थान), जिन्होंने मुझे सर्वप्रथम "कुछ ऐसा कर दिखाने" के लिए प्रेरणा दी, जिससे मेरी अपनी 'आइडेन्टीटी' स्थापित हो सके तथा जो लगातार ग्यारह महिनो तक इस पुस्तक की पाण्डुलिपि का अवलोकन अपनी मौलिक टिप्पणियों के साथ करते रहे। वचारिक क्षेत्र में वैमत्य होते हुए भी मेरे प्रति रही आपकी उदारता की स्मृति मुझे सदैव सरस बनाये रखेगी।

पत्राचार अध्ययन संस्थान के निदेशक डा० एम० एल० मिश्रा, जो प्रतिबद्धता, परिश्रम एवं ईमानदारी की एक जीती जागती प्रतिमावत् है तथा जिनको व्यक्ति के बाह्य एवं सुषुप्त लक्षणों की गहरी पहचान है तीन-चार माह के अल्पकाल में ही आपने मुझे अपनी बौद्धिक टिप्पणियों से अभिभूत किया है तथा करते रहेंगे,

मेरे पूज्य पिताजी, माताजी व भाई साहब, जिनकी शिक्षा के प्रति रूचि ने ही मुझे ग्राम्य-स्थल पर उच्च शिक्षा के साधन उपलब्ध न होते हुए भी इस योग्य बनाया कि मैं यह पुस्तक लिखने का प्रयास करने में समय हुआ, जो उनकी पवित्र महत्वाकांक्षाओं की श्रृंखला की प्रथम कड़ी है।

साथ ही प्रो आर एन त्रिवेदी (रांची विश्वविद्यालय), प्रो वी आर मेहता, प्रो रमाकान्त, डा पी डी शर्मा, डा के एल कमल तथा राजनीति विज्ञान विभाग, लोक प्रशासन विभाग, पत्राचार अध्ययन संस्थान,एव ला कालेज तथा महाविद्यालयों के उन सभी प्राध्यापक साथियों के प्रति भी हार्दिक आभार प्रस्तुत करता हूं, जिनका मुझे इस कार्य में प्रत्यक्ष या परोक्ष सहयोग व मार्ग दर्शन प्राप्त हुआ है।

तत्पश्चात् श्री मूलचन्द गुप्ता, संचालक, पंचशील प्रकाशन को भी बहुत बहुत धन्यवाद देता हू, जिन्होंने व्यक्तिगत दिलचस्पी लेकर पुस्तक को प्रकाशित एवं समय पर बाजार में उपलब्ध कराई है।

अन्त में अपनी पत्नी श्रीमती प्रेम लता, भैया योम, नन्ही बची प्रियंका और नरेन्द्र एवं विरेन्द्र को भी साधुवाद देना नही भूल सकता जिन्होंने मधुर पारिवारिक वातावरण को भी हमेशा बौद्धिक बनाये रखने में अपने अपने ढंग से सहयोग प्रदान किया।

लेखक

अनुक्रमणिका

प्रथम खण्ड

भारतीय सविधान और शासन

द्वितीय खण्ड

भारतीय राजनीति

प्रथम खण्ड

भारतीय सविधान और शासन

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

किसी भी देश का सविधान और शासन एक दिन की उपज नही होता है। यह एक ऐतिहासिक विकास का परिणाम होता है। इसलिए भारतीय सविधान, सरकार, शासन एव राजनीति के आधुनिक विकसित रूप को समझने के लिए उनकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का भी सम्यक् ज्ञान आवश्यक है। इसके लिए हमे भारत पर ब्रिटिश शासन काल का अध्ययन आवश्यक हो जाता है, क्योकि यहाँ सवैधानिक परम्परा का विकास एव आधुनिक राजनीतिक सस्थाओ का उद्भव एव विकास इसी काल मे प्रारम्भ हुआ। ब्रिटिश शासन काल के इतिहास को तीन प्रमुख चरणो मे बाटा जा सकता है। हम इन्हे 'प्रथम', 'द्वितीय' व 'तृतीय' ब्रिटिश साम्राज्य, जसा कि ए० ई० जिमन ने बताया है, के नाम से सबोधित कर सकते हैं। यह दो शताब्दियों का इतिहास है जिसमे भारत को पहले ईस्ट इडिया कम्पनी (सन् 1600 मे स्थापित) और तत्पश्चात् ब्रिटिश सरकार के हाथो अपना आर्थिक शोषण एव राजनीतिक दमन सहन करना पड़ा।[1] तथापि 'फूट डालो और राज करो' वाली नीति इन दोनो ही

---

1 ब्रिटिश उपनिवेशवाद एव साम्राज्य के विस्तृत अध्ययन के लिए निम्न रचनाए देखें —

(i) A Demangeon 'The British Empire A study in colonial geography, (Eng Trans by F R Row), Chapters 3 & 4

(ii) Tara Chand 'History of the Freedom Movement in India',

(iii) Rajani Palme Dutt 'India Today',

(iv) B B Mishra The Central Administration of the East India Co

(v) Thompson & Garrat British Rule in India

(vi) J L Nehru Discovery of India

(vii) P E Roberts History of British India

(viii) R C Mazumdar History of The Freedom Move in India

चरणों के दौरान ब्रिटिश उपनिवेशवादी नीति का आधार बनी रही, इसमे केवल इतना महत्वपूर्ण अन्तर हुआ कि जब भारत ब्रिटिश ताज के अधीन आया तो इस नीति के पालन म कुछ उदारता आ गई और भारतीयो के साथ दिखावटी सहयोग व सामजस्य की नीति अपनाई गई, किन्तु साथ ही देशवासियो को अपने ही साथियो के विरुद्ध बनाए रखने की नीति भी चलती रही। इस नीति को प्रभावशाली रूप से अपनाने के फलस्वरूप ही अन्त मे देश का विभाजन हुआ। इस प्रकार एक विद्वान क अनुसार अग्रेजो ने जिस 'फूट डालो और राज करो' (Divide and Rule) की नीति से शोषण करना प्रारम्भ किया था, 'उसका फोड चलो और छोड चलो' (Divide and Quit) की नीति मे अत हुआ।

प्रथमत यहा हम भारत मे अग्रेजो के आगमन के पश्चात् ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना से लेकर स्वतन्त्रता प्राप्ति तक के भारतीय सविधानिक विकास क्रम का सक्षिप्त विवरण दे रहे हैं, तत्पश्चात् हम इस ब्रिटिश काल की देन या विरासत का अवलोकन करेंगे।

(A) 1765 से 1885—सन् 1765 ई० को एंग्लो इण्डियन इतिहास का एक युग प्रवत्त क काल समझा जा सकता है, क्योकि इसी समय से ईस्ट इण्डिया कम्पनी का भारत मे प्रादेशिक सप्रभुता स्थापित करने का काल प्रारम्भ होता है।" रेग्यूलेटिंग एक्ट 1773 भारत के सावधानिक इतिहास में एक महत्वपूर्ण प्रगति चिन्ह था, जिसने इग्लैण्ड मे कम्पनी के ढाचे को बदल दिया भारत मे प्रशासनिक परिवतन किए और कम्पनी के भारतीयो क्षेत्रो को एक केन्द्रीय सत्ता के अधीन करने का प्रयत्न किया। इस एक्ट ने भारत मे एक निश्चित शासन पद्धति की शुरूआत की। 1781 का 'ऐक्ट आफ सेटलमेन्ट' रेग्यूलेटिंग एक्ट की त्रुटियो को दूर करने के लिए पारित किया गया। इस ऐक्ट ने कलकत्ता की सरकार को बङ्गाल बिहार और उडीसा-क्षेत्र के लिए भी कानून बनाने का अधिकार प्रदान किया। इस ऐक्ट के पास हो जाने के बावजूद भी कम्पनी के प्रबन्ध मे उचित सुधार न हो सका। अतएव ब्रिटिश ससद् ने कम्पनी के ऊपर अपने नियन्त्रण को बढाने के उद्देश्य से 1784 मे पिट्स इण्डिया ऐक्ट पारित किया। इस ऐक्ट ने कम्पनी के व्यापारिक और राजनीतिक कार्यकलापो को अलग अलग कर दिया। 1813 के राजपत्र द्वारा ब्रिटिश सरकार ने कम्पनी के ऊपर अपने नियन्त्रण को और अधिक बढा दिया। इस अधिनियम के द्वारा कम्पनी का भारत मे व्यापारिक एकाधिकार समाप्त कर दिया गया।

सन् 1833 का राजपत्र, लाड मार्ले के अनुसार निश्चय ही सन् 1784 के मिस्टर पिट्स के प्रसिद्ध अधिनियम के पश्चात् महारानी विक्टोरिया द्वारा भारत के शासन को अपने हाथ मे लेने के समय तक की भारतीय शासन से सबधित सबसे

अधिक विस्तृत कार्यवाही थी। यह राजपत्र ईस्ट इंडिया कम्पनी के शासन का अन्त करने और देश मे एक केन्द्रीय प्रशासन प्रारम्भ करने के लिए उत्तरदायी था। इसने बंगाल के गवर्नर जनरल को सम्पूर्ण भारत का गवर्नर-जनरल बना दिया। इसके द्वारा गवर्नर जनरल की परिषद् के संविधान एवं अधिकारों मे काफी परिवर्तन किया। इस प्रकार देश के प्रशासन का केन्द्रीयकरण कर दिया गया।

1853 के राजपत्र (चार्टर एक्ट) ने कार्यकारिणी तथा विधायनी शक्तियो को पृथक करने का एक निश्चित कदम उठाया। भारत वर्ष के लिए एक पृथक विधायनी परिषद् की नियुक्ति हुई। अब तक कम्पनी को चार्टर प्रदान करने का विरोध ब्रिटिश जनता ने ही किया था, पर सन् 1853 का चार्टर प्रदान करने का विरोध विशेषत भारतवासियो ने किया। उनकी माग थी कि दुहरी सरकार प्रणाली को समाप्त किया जाय और एक भारत मत्री (सचिव) की तथा एक भारत परिषद (Secretary of State For India and India Council) की नियुक्ति की जाए, जो भारत के लिए प्रेसीडेंसियो को स्वायत्त शासन प्रदान करें। इस चार्टर के बाद घटनाएं तेजी से बदलती गई। भारतीय असतोष विविध कारणो से बढता गया। 1857 के स्वाधीनता संग्राम ने अंग्रेजो का एक-बारगी ही विस्मित कर दिया तथा 1858 के अधिनियम ने भारत से ईस्ट इंडिया कम्पनी के शासन को सदा के लिए उखाड फेंका।

(B) 1858 से 1919 —पिट्स इंडिया ऐक्ट ने जिस उद्देश्य से दोहरी सरकार की स्थापना की थी, वह उद्देश्य पूरा न हो सका। बोर्ड ऑफ कंट्रोल कम्पनी के ऊपर नियन्त्रण नही रख सका। कम्पनी की सरकार एक गैर जिम्मेदार सरकार की तरह काम करती रही। ब्रिटिश ससद् भी भारतीय व्यवस्था को अच्छा नही समझती थी। इसी समय जब परिस्थितियाँ कम्पनी के विरुद्ध थी, 1857 की राज्य-क्रांति (mutiny) हुई, जिससे कम्पनी के शासन को एक तरह से समाप्त ही कर दिया। और अत मे ब्रिटिश ससद् ने 1858 मे 'ऐक्ट फॉर दी बेटर गवर्नमेन्ट ऑफ इंडिया' पारित किया।

1858 के अधिनियम के मुख्य उपबन्ध ये थे इसमे भारत का प्रशासन कम्पनी से लेकर ताज (crown) के पक्ष मे कर दिया गया। निदेशक मडल और कोर्ट ऑफ प्रोपाइटर्स को जो शक्तियां अभी तक प्राप्त थी, वे भारत से सम्बद्ध मन्त्री (Secretary of State For India) को हस्तान्तरित कर दी गई, जिसे ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल का एक सदस्य बनाया गया तथा उसके वेतन व भत्ते भारतीय खजाने से देने निश्चित किए गए। भारत मन्त्री की सहायतार्थ एक 15 सदस्यीय भारत परिषद् (India Council) नामक एक निकाय की व्यवस्था की गई। इस परिषद मे 8 सदस्य सम्राट द्वारा नियुक्त किए जाते थे तथा 7 अवकाशप्राप्त निदेशको द्वारा चुने जाते थे।

सेक्रेट्री ऑफ स्टेट' की परिषद उस पर नियंत्रण रखने के उद्देश्य से बनाई गयी थी। किन्तु कालान्तर में परिषद् की शक्ति घटती गई और सेक्रेट्री ऑफ स्टेट सर्वशक्तिवान् बन गया। सेक्रेट्री ऑफ स्टेट ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल का सदस्य होता था, अतएव वह ब्रिटिश संसद् के प्रति उत्तरदायी था। ब्रिटिश संसद् भी इस ओर से उदासीन सी रही। इस प्रकार भारत के प्रशासन का पूर्ण अधिकार सेक्रेट्री ऑफ स्टेट के हाथों में आ गया। लेकिन भारत से 6000 मील की दूरी पर इंग्लैण्ड में बैठ कर भारत का शासन-सूत्र सम्भालना उसके लिए सम्भव नहीं था। फलतः भारत की सरकार के ऊपर सेक्रेटरी ऑफ स्टेट का नियंत्रण नाम मात्र का ही था। कानून बनाने की प्रणाली भी त्रुटिपूर्ण थी। भारतीयों को विधान सभा में कोई प्रतिनिधित्व प्राप्त नहीं था। धीरे धीरे जनता में असंतोष बढ़ने लगा। अतः त्रुटियों को दूर करने के लिए 1861 का भारतीय परिषद अधिनियम पारित किया गया।

1861 के अधिनियम द्वारा भारतीय राज्य प्रणाली में कतिपय महत्वपूर्ण परिवर्तन किए गए और एक ऐसी रूपरेखा प्रस्तुत की गई जो भारत में ब्रिटिश राज्य के समाप्त होने हुए भी उसके शासकीय विधान का अभिन्न अंग बनी रही। यह अधिनियम भारत के सांविधानिक विकास में दो कारणों से महत्वपूर्ण स्थान रखता है।[1] सर्वप्रथम, इस अधिनियम ने कानून बनाने के कार्य में भारतीयों का सहयोग लेना प्रारम्भ किया और दूसरा, प्रान्तीय विधान सभाओं को कानून बनाने का अधिकार भी दिया और इस प्रकार प्रान्तीय स्वायत्तता की नींव डाली जिसकी परिणति 1919 में हुई। गवर्नर जनरल को विधान सभा में भारतीयों को नामजद करने का अधिकार भी प्रदान किया गया। इस अधिनियम ने गवर्नर जनरल की परिषद की सदस्य संख्या को बढ़ाकर 5 कर दिया। अधिनियम ने मद्रास तथा बम्बई प्रान्तों की विधान सभाओं को भी कानून बनाने का अधिकार दे दिया। गवर्नर जनरल को केन्द्रीय विधान मंडल के साथ-साथ प्रान्तीय विधान सभाओं द्वारा पारित कानूनों को भी नामंजूर (Veto) करने का अधिकार प्राप्त था। इस तरह कुछ सुधारात्मक बातों के होते हुए भी, इसके द्वारा गवर्नर जनरल को असीमित अधिकार मिल गये। इस समय देश का राजनीतिक वातावरण काफी विस्फोटक बन चुका था। 1857 की राज्य क्रांति में राष्ट्रीयता[2] का जो बीज बोया था, वह जोरों से पनप रहा था। सामाजिक-सांस्कृतिक पुनर्जागरण (विशेषकर ब्रह्म समाज एवं आर्य समाज और

1 G N Singh *Landmarks in Indian Constitutional and National Development*, p 73

2 V P S Raghuvanshi Indian Nationalist Movement and Thought

थियोसोफिकल सोसायटी का योगदान), पश्चिमी संस्कृति का वैज्ञानिक प्रभाव (विशेषकर लोकतान्त्रिक चिन्तन पर उपलब्ध साहित्य एवं औद्योगिक क्रांति का अन्तर्निहित योगदान), स्वदेशी क्षमता को हतोत्साहित करने तथा आर्थिक निकासी (economic drain) आदि से उत्पन्न आर्थिक असंतोष, लार्ड लिटन की दमनकारी, जातीय भेदभाव, एवं भारतीयों को उच्च पदों से अलग रखने की नीति, यातायात तथा संचार के साधनों के विकास से देश में भौगोलिक एकता को एक मूर्त वास्तविकता प्राप्त होना व 1883 में लार्ड रिपन की परिषद के विधि सदस्य इल्बर्ट द्वारा परिषद में रखे गये एक विधेयक (जिसका उद्देश्य भारतीय न्यायाधीशों को यूरोपीएन अपराधियों के मुकदमे सुनने का अधिकार देना था) से उत्पन्न भीषण विवाद एवं विभिन्न तत्वों के परिणाम स्वरूप अलग अलग एवं सामूहिक दोनों ही प्रकार से भारत के लोगों में राष्ट्रवादी आन्दोलन की भावना पैदा हुई तथा उनमें इस चेतना का विकास हुआ कि उनकी इस दयनीय स्थिति के लिए ब्रिटिश शासन ही उत्तरदायी है।

इसी वातावरण में सन् 1885 में सर ह्यूम द्वारा 'अखिल भारतीय कांग्रेस' (The Indian National Congress) की स्थापना हुई।[1] 'ह्यूम का विचार था कि भारत के प्रमुख व्यक्ति साल में एक बार एकत्र होकर सामाजिक विषयों पर चर्चा कर लिया करें। वे नहीं चाहते थे कि उनकी चर्चा का विषय राजनीति रहे—क्योंकि बम्बई, कलकत्ता और मद्रास में पहले से ही राजनीतिक मण्डल थे। लार्ड डफरिन ने

---

1 भारतीय राष्ट्रवाद के विस्तृत अध्ययन के लिए निम्न रचनाएं देखें—
(i) Hans Kohn History of Nationalism in the East
(ii) A R Desai Social Background of Indian Nationalism
(iii) Annie Besant 'India—A Nation' and 'How India wrought For Freedom
(iv) R Palme Dutt India—Today
(v) A C Mazumdar Indian National Evolution
(vi) S N Bannerjea A Nation in Making
(vii) Morrison Imperial Rule in India
(viii) इन्द्र विद्यावाचस्पति भारतीय स्वाधीनता संग्राम का इतिहास
(ix) सुन्दरलाल भारत में अंग्रेजी राज
(x) Sir Henry Cotton New India

2 S R Mehrotra The Emergence of Indian National Congress

ह्यूम साहब के विचार को राजनीतिक दिशा प्रदान की। उन्होंने कहा कि इस संस्था को इंग्लैण्ड की तरह यहां सरकार के विरोध का कार्य करना चाहिए। उन्होंने यह इच्छा व्यक्त की कि यहां के राजनीतिज्ञ प्रतिवर्ष अपना सम्मेलन किया करें और सरकार को बताया करें कि शासन में क्या क्या त्रुटियां हैं और उसमें क्या सुधार किये जायें।"[1] लाला लाजपतराय ने अपनी पुस्तक 'यंग इंडिया' में लिखा है कि 'भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना का मुख्य उद्देश्य यह था कि इस संस्था के संस्थापक ब्रिटिश साम्राज्य को संकटों में रक्षा करने और उसको छिन्न भिन्न होने से बचाना चाहते थे।' दूसरी ओर कुछ लोग यह मानते हैं कि कांग्रेस की स्थापना भारत-वासियों के हितार्थ एक राष्ट्रीय संस्था के रूप में की गयी थी, जिसकी पुष्टि कांग्रेस के अपने पहले ही अधिवेशन में पारित किये गये प्रस्ताव से हो जाती है, जिसमें तत्कालीन विद्यमान सरकारी ढांचे के विरुद्ध असंतोष जाहिर किया गया था और उसमें परिवर्तन करके भारतीयों को अधिक प्रतिनिधित्व देने की मांग की गई थी।

भारत के वाइसराय लार्ड डफरिन ने उक्त परिस्थितियों में सुधार अपरिहार्य समझा। 1888 में सुधारों पर विचार करने के लिए एक समिति नियुक्त की गई। समिति की रिपोर्ट इंग्लैण्ड भेजी गई। इस समिति की सिफारिशों के आधार पर ब्रिटिश संसद् में एक विधेयक लाया गया जो दो वर्ष बाद पास हुआ और भारतीय कौंसिल ऐक्ट 1892 कहलाया। इस अधिनियम द्वारा केन्द्रीय तथा प्रान्तीय विधान परिषदों की सदस्य संख्या को बढ़ा दिया गया। केन्द्रीय विधान परिषद् में कम से कम 10 और अधिक से अधिक 16 अतिरिक्त सदस्य सम्मिलित करने की व्यवस्था की गई। दूसरे शब्दों में, केन्द्रीय परिषद के अतिरिक्त सदस्यों में 4 की वृद्धि हुई। प्रान्तीय परिषदों की सदस्य संख्या में अपेक्षाकृत अधिक वृद्धि की गई। बम्बई और मद्रास की परिषदों के लिए कम से कम 8 और अधिक से अधिक 20 अतिरिक्त सदस्यों की नियुक्ति का अधिकार गवर्नरों को दिया गया। बंगाल और उत्तर पश्चिमी प्रान्त की परिषदों में क्रमशः अधिक से अधिक 20 और 15 अतिरिक्त सदस्य सम्मिलित किए जा सकते थे। यह सच है कि इस अधिनियम ने भारत में प्रतिनिधि सरकार की नींव डाली, फिर भी इसमें अनेक त्रुटियां थीं। प्रथम, निर्वाचन की पद्धति अन्याय पूर्ण थी और निर्वाचित व्यक्ति वास्तव में जनता का प्रतिनिधित्व नहीं करते थे।

---

1 W C Banerjee Introduction to Indian Politics, p 65
See also Sir William Wedderburn A O Hume Father of the Indian National Congress, Coupland The Indian Proolem, Pattabhi Sitaramayya The History of the Indian National Congress vol I and Kuldip Nayar The Congress in 90 years old, Illustrated Weekly vol xc VII, 1, Janu 4 10 1979

दूसरे, यह कि विधान परिषदों की विधायनी शक्ति अत्यन्त सीमित थी और सदस्यों को अनुपूरक (supplementary) प्रश्न पूछने का भी अधिकार नहीं था। तीसरे, यह कि गैर सरकारी सदस्यों की संख्या बहुत कम थी। चौथा, यह कि प्रांतीय परिषदें इतनी छोटी थी कि वे जनता का प्रतिनिधित्व नहीं करती थी। फिर भी तत्कालीन परिस्थितियों मे निर्वाचन की पद्धति स्वीकार करके और विधान परिषदों का कार्यकारिणी के ऊपर कुछ नियन्त्रण स्वीकार करके इस दिशा मे होने वाले विकास को गति प्रदान करने में काफी सहायक सिद्ध हुआ।

नवम्बर, 1905 मे लार्ड कर्जन के स्थान पर लार्ड मिण्टो भारत का वाइसराय नियुक्त हुआ और जान मार्ले भारत के सेक्रेट्री ऑफ स्टेट बनाये गये। मार्ले उदारवादी थे और भारत के प्रशासन मे सुधारो के समर्थक थे। भारत के वाइसराय लार्ड मिण्टो भारत के सेक्रेट्री जॉन मार्ले के विचारो से सहमत थे। इनके द्वारा किये गये सुधारो को इसलिए मार्ले मिण्टो सुधार के नाम से जाना जाता है। 1909 के अधिनियम द्वारा भारतीयो को प्रशासन तथा विधि निर्माण दोनो कार्यों मे प्रतिनिधित्व प्रदान किया गया। केन्द्रीय विधान सभा मे अतिरिक्त सदस्यो की संख्या 16 से बढ़ाकर 60 कर दी गई जिससे परिषद की कुल सदस्य संख्या 69 हो गई। इनमे से आठे गैर सरकारी सदस्य (32) तथा 37 सरकारी सदस्य थे। 37 सरकारी सदस्यो मे से 28 गवर्नर जनरल द्वारा मनोनीत (nominated) और शेष 9 पदेन (ex officio) रखे गये। 32 गैर सरकारी सदस्यो मे से 5 गवर्नर जनरल द्वारा मनोनीत और शेष 27 निर्वाचित होते थे। निर्वाचित सदस्यो को वर्गों, हितों और श्रेणियो के आधार पर लिए जाने की व्यवस्था की गई।[1]

अधिनियम ने केन्द्रीय एवं प्रान्तीय विधान परिषदो की विधायनी शक्ति को भी बढ़ा दिया। विधान परिषदो के सदस्यो को बजट की विवेचना करने और उस

1 1909 के अधिनियम पर विस्तृत अध्ययन के लिए निम्न रचनाएं देखिए—

Ilbert, Sir Courtenay The Government of India (A brief historical–survey of parliamentary legislation relating to India) Ox Ford, 1972 pp 99–122,

K V Punniah The Constitutional History of India A C Bannerjee Indian Constitutional Documents, Vol II, Pradhan India's Struggle For Swarajya, & Sharan, Parmatma 'The Imperive Legislative Council of India, Delhi, 1961 pp 151–211

पर प्रश्न पूछने का अधिकार दिया गया। किन्तु उनको बजट पर मत देने का अधिकार प्राप्त नही था। सदस्यो को लोकहित के विषयो पर विवेचना करने का भी अधिकार था।

इन सबके बावजूद भी मार्ले मिण्टो सुधार भारतीयो की आकांक्षाओं को पूरा करने म असमर्थ रहा। भारतीयो की माग थी कि एक उत्तरदायित्वपूर्ण सरकार की स्थापना जो पूरी न हो सकी। मताधिकार पद्धति दोषपूर्ण थी। अधिनियम ने एक सकुचित तथा विभेदकारी मताधिकार प्रदान किया था जिसम आगे चलकर देश का विभाजन हुआ। साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व प्रदान करके अधिनियम ने मुसलमानो का पक्षपात किया। मुसलमानो को खुश करने हेतु एव 'फूट डालो व राज करो' की अपनी नीति के प्रयोग करने की गति को तेज करते हुए ऐसा किया गया। स्त्रियों को मताधिकार नही दिया गया। विदेशी प्रभुत्व के विरुद्ध आन्दोलन तीव्र गति से बढने लगा। इस बीच विश्व के रगमच पर कुछ ऐसी घटनाए घटी जिन्होने भारतीयों की आंखे खोल दी। काग्रेस ने अपना आन्दोलन और तीव्र कर दिया। सन् 1914 के प्रथम विश्व युद्ध ने भारत वासियो की महत्वाकाक्षा को प्रगति प्रदान की। भारत के राजनीतिक दलो पर भी युद्ध का महत्वपूर्ण प्रभाव पडा। मुस्लिम लीग और काग्रेस जो 1913 से साथ काम कर रही थी, एक दूसर के अधिक निकट आ गई। सन् 1915 मे दोनो के वार्षिक अधिवेशन एक ही साथ बम्बई मे हुए और सन् 1916 म लखनऊ मे दोनो के सयुक्त अधिवेशन मे प्रसिद्ध लखनऊ समझौता (Lucknow Pact) हुआ। यह समझौता त्रुटिपूर्ण था और इसे कार्य रूप देना सुगम नही था, तो भी इसने भारतीय राष्ट्रीय काग्रेस को असाधारण बल प्रदान किया। साथ ही 1916 मे काग्रेस के नम और गम दल पुन सयुक्त हो गए।

अत अग्रेजो क लिए काग्रेस की मागो के प्रति उदासीन रहना अब कठिन हो गया। इसी समय तिलक और ऐनीबिसेन्ट द्वारा क्रमश पूना और मद्रास मे होम लीग की स्थापना हुई और अपने अपने क्षेत्र म उन्होने स्वराज्य प्राप्ति आन्दोलन शुरू किया। सन् 1917 मे भारत के नये राज्य सचिव मान्टेग्यू ने भारत मे और अधिक सुधारो का समर्थन किया। उन्होने ब्रिटिश ससद म यह घोषणा की कि भविष्य मे ब्रिटिश सरकार की नीति होगी कि प्रशासन की प्रत्येक शाखा मे भारतीयो क साहचर्य को बढाया जाय और ब्रिटिश साम्राज्य के विभिन्न भागो के रूप मे उत्तरदायित्व पूर्ण शासन का विकास होता रहे। इस घोषणा के बाद वे भारत की राजनीतिक अवस्था की जाच के लिए भारत आय। उन्होने राज प्रतिनिधि लार्ड चेम्सफोर्ड के साथ देश भर का दौरा किया और राजनीतिक समस्याओ का अध्ययन किया। उन्होने 1918 म एक रिपोर्ट प्रकाशित की जो 'माण्ट फोर्ड (वायसराय चेम्सफोर्ड) योजना कहलाई। इस रिपोर्ट मे उन्होन भारत मे किए जाने वाले भावी सुधारो की एक

रूपरेखा प्रस्तुत की। माण्टफोर्ड रिपोर्ट के आधार पर ब्रिटिश संसद में एक विधेयक लाया गया, जो 1919 में पारित होकर "गवर्नमेंट आफ इण्डिया ऐक्ट, 1919 कहलाया।

(C) 1919 से 1947—(a) भारत सरकार अधिनियम 1919—इस अधिनियम के मुख्य प्रावधान निम्नलिखित थे —(i) केन्द्रीय सरकार —इस अधिनियम ने प्रान्तों में एक उत्तरदायी सरकार की स्थापना तो अवश्य की लेकिन इस सिद्धान्त को केन्द्रीय सरकार में लागू नहीं किया गया। केन्द्रीय सरकार यथावत ब्रिटिश संसद के प्रति उत्तरदायी बनी रही। गवर्नर जनरल की परिषद् की सदस्यता की अधिकतम सीमा का प्रतिबन्ध हटा दिया गया। भारतीय सदस्यों की संख्या बढ़ाकर 3 कर दी गयी। इनका कार्यकाल 5 वर्ष का होता था। समस्त कार्यपालिका शक्ति गवर्नर जनरल में निहित थी। कार्यकारिणी परिषद् सेक्रेटरी आफ स्टेट के प्रति उत्तरदायी थी, न कि केन्द्रीय विधान परिषद् के प्रति।[1]

(ii) केन्द्रीय विधान मण्डल —केन्द्रीय विधान मण्डल में दो सदन थे—एक विधान सभा' और दूसरा 'राज्य परिषद्' (Legislative Assembly and Council of State)। विधान सभा में कुल 144 सदस्य होते थे। इनमें से 104 निर्वाचन द्वारा जाते थे, शेष नामजद किये जाते थे। विधान सभा की कालावधि 3 वर्ष की थी, किन्तु गवर्नर जनरल उसे इस अवधि के पहले भी भङ्ग कर सकता था। राज्य परिषद् की अधिकतम सदस्य संख्या 60 थी। इनमें से 30 निर्वाचित तथा 25 नामजद होते थे। मताधिकार का अधिकार अत्यन्त सीमित एवं संकुचित था। मताधिकार की अर्हता सम्पत्ति के आधार पर निर्धारित की जाती थी। स्त्रियों को न तो मताधिकार प्राप्त था, न ही वे परिषदों की सदस्या बन सकती थी।

---

1 भारत सरकार अधिनियम, 1919 के विस्तृत अध्ययन के लिए देखिए —
- (i) A Appadorai Dyrachy in Practice, Oxford, 1937 pp 347 382
- (ii) Coupland India A Restatement
- (iii) Kerala Putra The working of Dyrachy in India(1919 1928), Bombay, ch IV & VI
- (iv) N Srinivasan Democratic Government in India
- (v) Report of the Indian Statutory Commission, Londan 1930
- (vi) M V Pylee Constitutional government in India
- (vii) Iqbal Narain Dyrachy to Self-government
- (viii) Iswari Prashad History of Modern India
- (xi) गुरुमुख निहाल सिंह भारत का वैधानिक एवं राष्ट्रीय

केन्द्रीय विधानमण्डल के दोनों सदनों को समान अधिकार प्राप्त थे। वे केन्द्रीय सूची में वर्णित सभी विषयों पर कानून बना सकते थे। कुछ प्रांतीय विषयों पर भी गवर्नर जनरल की अनुमति से कानून बनाने का अधिकार केन्द्रीय विधान मण्डल को प्राप्त था। केन्द्रीय कानूनों की वैधता को न्यायालय में चुनौती नहीं दी जा सकती थी। केन्द्र और प्रान्तों में किसी विषय को लेकर यदि कोई मतभेद उठता था तो गवर्नर जनरल ही निर्णय करता था कि उस विषय पर केन्द्र को कानून बनाने बनाने की शक्ति है या प्रान्तों को। केन्द्रीय विधान मण्डल की विधायनी शक्ति गवर्नर जनरल के अधीन थी। कुछ मामलों से सम्बन्धित विधेयक बिना उसकी अनुमति के विधान मण्डल में नहीं लाये जा सकते थे। वह विधान मण्डल द्वारा पारित कानूनों को सम्राट के पुन विचारार्थ रख सकता था और अपने विशेषाधिकार (Veto) के प्रयोग द्वारा किसी भी विधेयक को नामंजूर कर सकता था और वह ऐसे किसी भी विधेयक को पास कर सकता था जिसे परिषद् ने अस्वीकृत कर दिया हो। गवर्नर जनरल को आपात् काल में अध्यादेश जारी करने का अधिकार भी प्राप्त था। इस प्रकार भारतीय सरकार एक एकात्मक सरकार बनी रही और केन्द्रीय विधानमण्डल तथा गवर्नर जनरल में देश की समस्त शक्ति निहित कर दी गई।

(iii) प्रान्तीय सरकार दोहरे शासन (dyarchy) की स्थापना —इस अधिनियम ने प्रान्तों में एक आंशिक उत्तरदायी सरकार की स्थापना की। उत्तरदायी सरकार की स्थापना दोहरे शासन की पद्धति लागू करके की गई। दोहरे शासन के लागू करने का उद्देश्य भारतीयों को अपनी सरकार को स्वयं चलाने में प्रशिक्षण देना था। कानून बनाने की दृष्टि से विषयों को केन्द्रीय और प्रान्तीय दो वर्गों में विभाजित कर दिया गया। केन्द्रीय विषयों पर केन्द्रीय सरकार कानून बनाती थी और प्रान्तीय विषयों पर प्रान्तीय सरकारें। प्रान्तीय विषयों को पुन दो वर्गों में बाट दिया गया था—रक्षित (Reserved) और हस्तांतरण (Transferred)। जेल पुलिस, न्याय वित्त, सिंचाई आदि अधिक महत्व के विषय 'रक्षित' की श्रेणी में आते थे। इन विषयों का प्रशासन गवर्नर अपनी कार्यपालिका की सहायता से करता था जो प्रान्त की विधान परिषद के प्रति उत्तरदायी नहीं होती थी। इन विषयों के प्रति वह सेक्रेटरी ऑफ स्टेट के माध्यम से ब्रिटिश संसद के प्रति उत्तरदायी था। शिक्षा, खेती, स्थानीय शासन आदि कम महत्व के विषय हस्तांतरित की श्रेणी में आते थे। हस्तांतरित विषयों का प्रशासन गवर्नर अपने भारतीय मन्त्रियों की सलाह से करता था, जो प्रान्तीय विधान परिषद के प्रति उत्तरदायी होते थे। गवर्नर मन्त्रियों और कार्यपालिका दोनों के निर्णयों को रद्द कर सकता था। प्रांतीय विधान परिषद की कानून बनाने की शक्ति बहुत सीमित थी और उस पर अनेक निबन्धन थे। कई मामलों में कानून बनाने के पहले गवर्नर जनरल की पूर्व अनुमति प्राप्त करना आवश्यक

था। वह किसी विधेयक पर विचार किये जाने को बीच मे ही स्थगित कर सकता था। वह रक्षित विषयो पर बिना विधान परिषद की सहमति के भी कानून बना सकता था। उसे विधेयको को नामजूर (Veto) करने का भी अधिकार प्राप्त था। यद्यपि प्रान्तीय विधान परिषदो मे निर्वाचित सदस्यो की सख्या काफी बढा दी गई थी कि तु मुसलमानो के लिए पृथक निर्वाचक मण्डल का सिद्धात यथावत् चलता रहा।

सन् 1919 का अधिनियम भारतीय नेताओ की उत्तरदायी सरकार की माग को पूरा नही कर सका क्योकि केन्द्रीय सरकार का स्वरूप एकात्मक ही बना रहा। सारी शक्ति के द्र मे (गवनर जनरल के हाथो मे सेक्रेट्री आफ स्टेट के माध्यम से, जो कि ब्रिटिश ससद के प्रति उत्तरदायी थी) निहित थी। प्रा तो मे स्थापित दोहरी शासन पद्धति पूण रूप से असफल रही।[1] सर अलेक्जे डर मूडीमैन (Alexander Muddiman) की अध्यक्षता मे दोहरे शासन की कायप्रणाली की जाच के लिए गठित एक समिति ने भी अपनी रिपोट मे दोहरे शासन की असफलता के अनेक कारण बतलाये थे। इस प्रकार, द्वैध शासन प्रणाली अपने उन मौलिक उद्देश्यो मे असफल रही, जि हे उसके बनाने वाले पूरा करना चाहते थे। यह उत्तरदायी सरकार का वास्तविक प्रशिक्षण नही दे सकी।[2] निराशा और क्षोभ के इस वातावरण मे नौकरशाही ने दूरदर्शिता से काम लेने के बजाय के द्रीय विधान परिषद मे दो बिल पेश किए, जि ह रालेट बिल (Rowlett Bill) कहा जाता है। इनके द्वारा पुलिस व मजिस्ट्रेटो को इतनी असीम शक्तिया देने की व्यवस्था की गई कि वे बिना मुकदमा चलाए ही किसी भी व्यक्ति को ब दीगृह मे डाल सकते थे। इन बिलो की धाराए इस प्रकार की थी कि इनके द्वारा भारत रक्षा अधिनियम(Defence of India Act) जैसे दमनकारी प ो को भी वैध ठहराया जा सकता था। और आत्म निणय तथा स्वत त्रता के सिद्धा तो को निदयता पूवक कुचला जा सकता था। समस्त विरोधो के बावजूद भी रोलेट बिल को पारित कर अधिनियम बना दिया गया। इस एक्ट को निष्फल बनान के लि महात्मा गाधी ने सत्याग्रह आ दोलन किया और अप्रैल 1919 मे "जलियावाला बाग" का हत्याकाण्ड हुआ।

1920 मे असहयोग आ दोलन प्रारम्भ हुआ, जिसका सबसे बडा प्रभाव यह हुआ कि ब्रिटिश सरकार की सत्ता को एक गहरा आघात पहुँचा। किन्तु 1922 म चौराचौरी हिंसक घटना हो जाने से इस आ दोलन को स्थगित कर दिया गया।

---

1 देखिए डा० अप्पादाराई का 1937 मे प्रकाशित लेख, "डा र्की इन प्रेक्टिस" जिसका अनुवादित लेख डा० इकबाल नारायण की पुस्तक भारतीय शासन और राजनीति मे सकलित किया गया है।

2 Coupland The Constitutional Problem in India, Part I, p70

इस वातावरण मे, ब्रिटिश सरकार की इस घोषणा कि "शीघ्र ही भारत मे एक कमीशन भेजा जायेगा, जो इस बात की जाच करेगा कि 1919 के सुधार किस सीमा तक सफल या असफल हुए और यह कमीशन भारत के भावी सांविधानिक विकास के सम्बन्ध म भी अपने सुझाव देगा । इस घोषणा के शीघ्र पश्चात् ही फरवरी 1928 मे साइमन कमीशन' बम्बई पहुचा । इस कमीशन मे एक भी भारतीय सम्मिलित नही किया गया था अत कांग्रेस मुस्लिम लीग एव अन्य सभी राजनीतिक दलो ने उसका बहिष्कार किया । कमीशन ने दो वर्ष बाद अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की । बहिष्कार के इस वातावरण में ही भारत सचिव लार्ड बुकनहैड ने भारतीयो को एक ऐसा सविधान बनाने की चुनौती दी थी, जिससे सब भारतीय सहमत हो । कांग्रेस ने इस चुनौती को स्वीकार करके फरवरी 1928 मे दिल्ली में एक सर्वदलीय सम्मेलन बुलाया और 10 मई, 1928 को बम्बई म दूसरी बैठक में भारतीय सविधान का मसविदा तैयार करने के लिए प मोतीलाल नेहरू की अध्यक्षता में एक कमेटी नियुक्त की । नेहरू रिपोर्ट डा० जकारिया के अनुसार एक उच्च कोटि की रिपोर्ट थी । इस रिपोर्ट मे भावी सविधान की रूपरेखा निश्चित की गई थी और उसकी बातें आधुनिक सविधान मे अपना भी ली गई । इस प्रकार यह रिपोर्ट वर्तमान सविधान का प्रारम्भिक क्रम (blue print of the present Indian Constitution) थी । सभी राजनीतिक दलो के विचार विमर्श के पश्चात् बनाई जाने के बावजूद भी, जिन्ना ने इस रिपोर्ट को स्वीकार नही किया । परिणाम स्वरूप सम्मेलन असफल हो गया । सरकार ने यद्यपि इस रिपोर्ट को स्वीकार नही किया, तथापि यह तो महसूस कर ही लिया कि भारतीयो की सविधान सम्बन्धी माग की अधिक समय तक उपेक्षा नही की जा सकती । अत लार्ड इरविन ने 31 अक्टूबर, 1929 को यह घोषित किया कि '1917 की घोषणा ■ स्पष्ट है कि भारत को अन्त मे अधिराज्य स्थिति (Dominion status) का दर्जा मिले ।" उन्होंने यह भी कहा कि शीघ्र ही एक गोलमेज सम्मेलन (Conference) बुलाया जायेगा जिसमे ब्रिटिश भारत और देशी रियासतो के प्रतिनिधि ब्रिटिश सरकार से मिलेंगे ।

12 नवम्बर 1931 को लन्दन मे प्रथम गोलमेज सम्मेलन हुआ, जिसमे कांग्रेस का कोई प्रतिनिधि नही था । ब्रिटिश सरकार ने कांग्रेस के नेताओ को बिना शर्त जेल से मुक्त करके कांग्रेस से वार्ता करने का वातावरण उत्पन्न किया । जेल से बाहर आने के बाद शीघ्र ही गांधी इरविन समझौता हुआ लगभग ■ म ह बाद समझौते के अनुसार लन्दन मे दूसरा गोलमेज सम्मेलन हुआ जिसमे कांग्रेस की ओर से महात्मा गांधी व मुस्लिम लीग की ओर से जिन्ना सम्मिलित हुए । कुछ ही दिनो मे स्पष्ट हो गया कि सम्मेलन का सफल होना सम्भव नहीं है । साम्प्रदायिक समस्या को सुलझाने म बडी कठिनाई उत्पन्न हुई । द्वितीय गोलमेज सम्मेलन द्वारा साम्प्रदा

यिक समस्या का समाधान न किया जा सका। परन्तु ब्रिटिश प्रधानमन्त्री मैकडोनेल्ड (Mac Donald) ने इस सम्बन्ध में अपना निर्णय दिया, जिसे साम्प्रदायिक पंचाट (Communal Award) कहा जाता है। इसके द्वारा केन्द्रीय और प्रान्तीय प्रदेशों में विभिन्न जातियों, वर्गों तथा हितों के लिए स्थान नियत कर दिया गया तथा साम्प्रदायिक चुनाव प्रणाली को अधिक विस्तृत करते हुए अछूतों को हिन्दुओं से पृथक प्रतिनिधि भेजने का अधिकार दिया गया। पंचाट राष्ट्रीय एकता पर एक गम्भीर कुठाराघात था, अतः गांधीजी ने इसमें परिवर्तन करवाने के लिए आमरण अनशन प्रारम्भ कर दिया। अन्ततः 1932 के पूना पैक्ट के रूप में इस समस्या का हल निकाला गया। इससे देश में राजनीतिक अशान्ति कम हो गई और सरकार द्वारा 1932 में तृतीय गोलमेज सम्मेलन आमन्त्रित किया गया, जिसका उद्देश्य भारत की भावी शासन प्रणाली के सम्बन्ध में सोच विचार करना था। कांग्रेस और इंगलैण्ड के श्रमिक दल (लेबर पार्टी) ने इस सम्मेलन में भाग नहीं लिया अतः यह पूर्णतया असफल हुआ।

गोलमेज सम्मेलन में हुये वाद विवादों के आधार पर 1 मार्च, 1933 को ब्रिटिश सरकार ने एक श्वेत पत्र (white paper) प्रकाशित किया। श्वेत पत्र में उल्लिखित सुधारों पर विचार करने के लिए उसे लार्ड लिनलिथगो की अध्यक्षता में एक संयुक्त संसदीय समिति (joint select committee of British Parliament) को सौंप दिया गया। इस समिति के सुझावों के आधार पर ब्रिटिश संसद में एक विधेयक लाया गया, जो पारित होकर 1935 का भारत सरकार अधिनियम (Government of India Act, 1935) कहलाया।

(b) भारत सरकार अधिनियम, 1935 —यह अधिनियम भारत में उत्तरदायित्वपूर्ण शासन की स्थापना के मार्ग में सन् 1919 के भारत सरकार अधिनियम के बाद दूसरा महत्वपूर्ण कदम था। यह एक बहुत लम्बा और जटिल अधिनियम था।[1] इसमें 451 खण्ड और 15 अनुसूचियां थीं। भारत का वर्तमान संवि-

1 1935 के भारत सरकार अधिनियम पर विस्तृत अध्ययन के लिए देखें
- (i) K. T. Shah, 'Provincial Autonomy,' Bombay (1937) pp 41-49
- (ii) Keith, A. B. A Constitutional History of India (1600–1935) Allahabad, 1973 pp 319-520
- (iii) Coupland, R. The Constitutional Problems in India' Oxford 1944 pt II p 1-154
- (iv) Masaldan P. N. Evolution of Provincial Autonomy in India, Bombay, 1953 pp 51-135

धानिक ढाचा बहुत कुछ सन् 1935 के अधिनियम पर ही आधारित है। इस अधिनियम ने भारत म सघात्मक सरकार की स्थापना की। 1935 के अधिनियम के मुख्य प्रावधान निम्नलिखित थे—

(i) सघात्मक सरकार की स्थापना—1935 के अधिनियम ने सवप्रथम भारत मे सघात्मक सरकार की स्थापना की। पिछले सभी अधिनियमो के अन्तगत स्थापित सरकारो का स्वरूप एकात्मक था। यह सघ ब्रिटिश भारतीय प्रान्तो तथा कुछ भारतीय रियासतो को जो सघ मे शामिल होने को सहमत थी, मिलाकर बनाया जाना था। इस प्रकार सघ की सरचना राज्यो की इच्छा पर निभर थी और जब तक राज्यो न सघ म शामिल होने की सहमति न दे दी हो उक्त सघ की स्थापना सम्भव नही थी। अधिनियम के अन्तगत सघ में शामिल होते समय रियासतो के शासको को एक प्रवेश प्रलेख (Instrument of Accession) पर हस्ताक्षर करना पडता था जिसमे उनके द्वारा केन्द्रीय सरकार को समर्पित प्राधिकार की सीमा का उल्लेख किया गया था। अन्य विषयो के बारे म इन इकाइयो को पूर्ण स्वतन्त्रता थी। किन्तु प्रातो के शासको ने सघ मे शामिल होने की कभी सहमति नही दी और इस प्रकार 1935 के अधिनियम द्वारा परिकल्पित अखिल भारतीय सघ की स्थापना न हो सकी।

(ii) केन्द्र मे दोहरे शासन (diarchy) की स्थापना—सन् 1935 के अधिनियम द्वारा प्रान्तो म दोहरे शासन को समाप्त करके उसे केन्द्र म लागू किया गया। केन्द्रीय सरकार की कायकारिणी शक्ति गवनर जनरल मे निहित थी। सघ के अन्तगत प्रशासन के विषय दो भागों मे विभक्त थे–(1) रक्षित और (2) हस्तांतरित रक्षित विषयो के अन्तगत प्रतिरक्षा विदेशी मामले, धार्मिक विषय और जन जाति क्षेत्र आदि सम्मिलित थे। इन विषयो का प्रशासन गवनर जनरल अपनी परिषद की सहायता से करता था। अपनी परिषद की सलाह मानने के लिए वह बाध्य नही था और अधिकतर अपनी शक्तियो का प्रयोग विवेकानुसार करता था। परिषद के सदस्य

(v) Bhiman Lal Sitalwad India's Constitution at work
(vi) M R Palande Introduction to the Indian Constitution,
(vii) Maulara Azad Indian wins Freedom
(viii) Appadorai Speeches and Documents on the Indian Constitution, Vol I
(ix) M V Pylee Constitutional History of India (1600 1950), 1972
(x) E N Pardarsni How India is Government ?
V P Menon 'The transfer of power in India'
(xi) [Ramsay Macdonald : 'The Govt of India,'

उसके द्वारा नियुक्त किये जाते थे, अतएव वे अपने कार्यों के लिए विधान परिषद के प्रति उत्तरदायी नही थे, हस्तातरित विषयो का प्रशासन गवर्नर जनरल अपनी मन्त्रि परिषद की सलाह से करता था जो विधान सभा के प्रति उत्तरदायी थी। इस क्षेत्र मे भी जहाँ उसके विशिष्ट उत्तरदायित्व का प्रश्न उठता था, वह मत्रि परिषद की सलाह के विरुद्ध भी काय कर सकता था। इस प्रकार विशिष्ट दायित्व के अन्तगत अपनी शक्तियो का प्रयोग कर वह जनता के प्रतिनिधियो की सलाह के विरुद्ध मनमानी कर सकता था। ब्रिटिश दायित्व के अन्तगत किये गये कार्यों के लिए वह सेक्रेट्री आफ स्टेट के माध्यम से ब्रिटिश सरकार के प्रति उत्तरदायी था न कि विधान परिषद के प्रति।

(iii) प्रान्तो मे स्वायत्त शासन की स्थापना—सन् 1935 के अधिनियम की सबसे अधिक महत्वपूर्ण विशिष्टता थी प्रान्तो म स्वायत्त शासन की स्थापना। सन् 1919 के अधिनियम द्वारा वह एक निश्चित प्रगति थी। कानून बनाने की दृष्टि मे विषयो को दो भागो मे विभाजित किया गया था (1) प्रातीय और (2 केंद्रीय। प्रातीय विषयो पर कानून बनाने का अनन्य अधिकार प्रातो को दिया गया। इन विषयो पर केन्द्र का नियन्त्रण समाप्त कर दिया गया। यद्यपि राज्यो के सघ मे सम्मिलित न होने से अखिल भारतीय सघ की स्थापना न हो सकी, किन्तु जहा तक कानून बनाने की शक्ति का प्रश्न था, इस अधिनियम के अन्तगत केन्द्रीय सरकार एक कार से सघात्मक सरकार की तरह से काय करती थी।

प्रात की कायकारिणी शक्ति गवनर में निहित थी। वह इसका प्रयोग ब्रिटिश सरकार की ओर से करता था, न कि गवनर जनरल के अधीन होकर। गवनर सभी काय अपनी मन्त्रि परिषद की सलाह से करता था। जिनके लिए वह विधान सभा के प्रति उत्तरदायी होता था।

प्रातीय स्वायत्तता प्रदान करने के बावजूद भी अधिनियम के कुछ क्षेत्रों में प्रान्तो के ऊपर अपना नियत्रण यथावत बनाये रखा। कुछ मामलो में गवनर को अपने विवेकानुसार भी काय करने का अधिकार प्राप्त था। ऐसे मामलो मे वह मन्त्रिपरिषद की सलाह के बिना भी काय करता था। ऐसे समय यह गवर्नर जनरल के नियन्त्रण और निर्देश के अनुसार काय करता था और उसके माध्यम से सेक्रेट्री ऑफ स्टेट उत्तरदायी था।

(v) केन्द्रीय विधान मण्डल—केन्द्रीय विधान मण्डल में दो सदन थे विधान सभा और राज्य परिषद। विधानसभा की सदस्य-सख्या 37 थी जिनमें से 20 सदस्य ब्रिटिश भारतीय प्रान्तो के और 125 सदस्य भारतीय रियासतों के होते थे। विधान सभा की अधिकतम कालावधि 5 वर्ष थी। इस अवधि के पहले भी गवनर-जनरल विधानसभा को विघटित कर सकता था।

राज्यपरिषद में कुल 260 सदस्य होते थे जिनमें से 156 ब्रिटिश भारत के प्रतिनिधि होते थे जिनमें से 6 गवनर द्वारा नामजद किये जाते थे तथा शेष सीधे चुनाव द्वारा आते थ । 140 प्रतिनिधि भारतीय रियासतो के होते थे जो रियासतों के शासको द्वारा नामजद किये जाते थ इस कारण ये केवल अपने अपने शासको के हितों का ध्यान रखते थ । राज्य परिषद एक स्थायी सस्था थी जिसके एक तिहाई सदस्य प्रति दूसरे वर्ष की समाप्ति पर निवृत्त होते थे ।

केंद्रीय विधान मडल की शक्तिया अत्यत सीमित थी । वास्तव में गवनर जनरल को इतनी विशद् शक्तिया प्राप्त थी कि विधान मण्डल की शक्तिया उसके समक्ष निष्प्रभावी हो जाती थी । वह अपने विवेकानुसार एक साथ दोनो सदनो को आहूत कर सकता था, उनका सत्रावसान कर सकता था या विधान सभा का विघटन कर सकता था । वह किसी भी सदन को सबोधित कर सकता था तथा लम्बमान विधेयको तथा अन्य विषयो के सम्बन्ध मे सदेश भेज सकता था । बिना उसकी अनुमति के कोई विधयक कानून नही बन सकता था । उसे विधेयको को नामजूर (veto) करने का भी अधिकार प्राप्त था । उसे अध्यादेशो के जारी करने का भी अधिकार प्राप्त था । इस प्रकार केन्द्रीय विधान मडल पूर्ण रूप से गवनर जनरल के अधीन काय करता था ।

धन विधयक केवल विधान सभा मे ही पेश किया जा सकता था । साधारण विधेयक किसी भी सदन मे लाया जा सकता था । जब किसी विधेयक के सबध म दोनो सदनो म कोई मतभेद उत्पन्न हो जाये तो उस निपटाने के लिए गवनर जनरल दोनो सदनो का एक सयुक्त अधिवेशन आहूत कर सकता था ।

(vi) प्रान्तीय प्रशासन व्यवस्था—जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है 1935 के अधिनियम ने प्रातो म एक उत्तरदायित्व पूर्ण सरकार की स्थापना की और शासन की शक्ति लोक निर्वाचित प्रतिनिधियो के हाथो म आ गई थी ।

प्रान्तो की कार्यपालिका गवनर और मन्त्रि परिषद् द्वारा गठित होती थी । गवर्नर मन्त्रि मण्डल का प्रमुख होता था । गवर्नरो को तीन प्रकार की शक्तिया प्राप्त थी—(1) विवेकीय शक्तिया (2) विशिष्ट उत्तरदायित्व की शक्तिया, (3) मन्त्रि मण्डल की सलाह से प्रयुक्त शक्तिया । इस प्रकार प्रान्तीय गवनरो को विशाल विवेकीय शक्तिया प्राप्त थी । जिनके प्रयोग म वह मन्त्रियो से सलाह लेने के लिए बाध्य नही था । गवनर की विवेकीय शक्तियां वस्तुत प्रशासन के प्रत्येक क्षेत्र का स्पर्श करती थी । अपनी विवेकीय शक्ति स सबधित कार्यों के लिए वह गवनर जनरल के प्रति उत्तरदायी था । अपने विशिष्ट उत्तरदायित्व के पालन म गवनर अपने व्यक्तिगत निर्णय के अनुसार काय करता था । व्यक्तिगत निर्णय के अनुसार काय करने म उसे

मन्त्रियो की सलाह लेनी होती थी, किन्तु वह उससे बाध्य नही था, जबकि विवेकीय शक्ति का प्रयोग करते समय उसे मन्त्रियो से मन्त्रणा नही करनी होती थी। ऐसे विषय जिनमे गवनर जनता द्वारा निर्वाचित मन्त्रियो की मन्त्रणा के अनुसार काय करने के लिए बाध्य था, बहुत कम थे। गवनर की विवेकीय शक्ति उसके विशिष्ट उत्तरदायित्व और संविधान का निलम्बन कर देने की उसकी शक्ति प्रान्तो मे उत्तरदायित्वपूर्ण शासन के सिद्धान्तो के सवथा विरुद्ध थी। इस प्रकार हम कह सकते है कि 1935 का अधिनियम प्रान्तो मे पूव कल्पित उत्तरदायित्वपूर्ण शासन की स्थापना नही कर सका।

(VII) प्रान्तीय विधान मण्डल—सन् 1935 के अधिनियम द्वारा कुछ प्रान्तो म द्विसदनीय विधान मण्डल की स्थापना की गई। उच्च सदन विधान सभा और निम्न सदन विधान परिषद कहलाता था। विधान सभा का जीवनकाल पांच वष का होता था। विधान-परिषद एक स्थायी सभा थी जिसके एक तिहाई सदस्य प्रति दूसरे वष की समाप्ति पर निवृत्त हो जाते थे। प्रान्तीय विधान सभाओ की रचना भिन्न भिन्न थी। साम्प्रदायिक निर्वाचन के सिद्धान्त पर विभिन्न जातियो के स्थान आरक्षित किये गये थे। मताधिकार की अहताए भी प्रत्येक प्रान्त म भिन्न भिन्न थी।

प्रान्तीय सूची म समाविष्ट सभी विषयो पर प्रान्तीय विधान मण्डलो को कानून बनाने की अनन्य शक्ति प्राप्त थी। व समवर्ती सूची के विषयो पर भी कानून बना सकते थे। किन्तु प्रान्तीय विधान मण्डल की तरह सावभौम विधायी निकाय नही थे और उसकी कानून बनाने की शक्ति पर अनेक प्रतिबन्ध थे। कुछ ऐसे विषय थे जिन पर प्रान्तीय विधान परिषद कानून नही बना सकती थी तथा कई विषयो पर विधेयक पेश करने से पूव गवनर का अनुमोदन प्राप्त करना आवश्यक था। वित्तीय विधेयक केवल गवनर की पूव अनुमति से ही पेश किये जा सकते थे। कोई भी विधेयक गवनर की अनुमति प्राप्त किये बिना कानून नही बन सकता था। वह किसी भी विधेयक को पुनर्विचार के लिए प्रान्तीय विधान मण्डल को लौटा सकता था। वह किसी भी विधेयक को गवनर जनरल के विचाराथ रख सकता था। किसी ऐसे विधेयक को, जिसे गवनर या गवनर जनरल की अनुमति प्राप्त हो गयी हो, सम्राट अस्वीकृत कर सकता था। अपनी विवेकीय शक्ति और व्यक्तिगत निर्णय की शक्तियो के परिणाम स्वरूप गवनर वस्तुत प्रान्तो मे एक तानाशाह की भाति काय करता था।

(VIII) केन्द्र एव प्रान्तो म शक्तियो का विभाजन—प्रशासन की सुविधा के लिए सन् 1935 का अधिनियम विषयो को तीन श्रेणी म विभाजित करता था—(क) सघ, (ख) प्रान्तीय और (ग) समवर्ती सूची सघ सूची म 59, प्रान्तीय सूची म 54 और समवर्ती सूची म 36 विषय थे। अखिल भारतीय हित के विषय सघ-सूची

म थे और स्थानीय हितो के विषय प्रान्तीय सूची मे। समवर्ती सूची में ऐसे विषय शामिल थे जो मुख्यत प्रान्तीय हितो के थे। किंतु उनमे एकरूपता (uniformity) की आवश्यकता होने के कारण उन पर प्रान्तो के साथ साथ केन्द्रीय विधान मडल को भी कानून बनाने का अधिकार प्राप्त था, जसे दण्ड विधि, दण्ड सहिता, दीवानी प्रक्रिया सहिता, विवाह विधि और पच निर्णय आदि। सघ सूची के विषयो पर केवल केन्द्रीय विधान मण्डल कानून बना सकता था। राज्य सूची के विषयो पर प्रान्तीय विधान मण्डलो को कानून बनाने का अधिकार प्राप्त था। समवर्ती सूची म उल्लिखित विषयो पर केन्द्रीय एव प्रान्तीय दोनो विधान मण्डलो को कानून बनाने का समान अधिकार प्राप्त था। अवशिष्ट विषयो पर कौन सा विधान मण्डल कानून बना सकता था, इस बात का निर्णय गवनर जनरल को प्राप्त था। कुछ विशेष परिस्थितियो मे केन्द्रीय विधान मण्डल को राज्य सूची के विषयो पर कानून बनाने का अधिकार भी प्राप्त था। ऐसा तब होता था जब गवनर जनरल देश मे आपातकालीन स्थिति की घोषणा करता था। इसके अतिरिक्त केन्द्रीय विधान मण्डल प्रान्तीय विधान मण्डल की सहमति से राज्यसूची के विषयो पर कानून बना सकता था। जहा तक समवर्ती सूची के विषयो का प्रश्न था केन्द्रीय एव विधान मण्डलो को कानून बनाने का समान अधिकार प्राप्त था। लेकिन दोनो प्रकार के कानूनो मे विसगति (Repugnancy) की स्थिति मे केन्द्रीय विधि प्रातीय विधि पर अधिभावी होती थी।

फेडरल न्यायालय की स्थापना—सन् 1935 के अधिनियम न सघ और उसमे शामिल होने वाली इकाइयो के बीच उठे सांविधानिक विवादो को निपटाने के लिए भारत मे एक फेडरल न्यायालय की स्थापना की। यह दिल्ली मे स्थित था। यह भारत का उच्चतम न्यायालय था। फेडरल न्यायालय म एक मुख्य न्यायाधीश और अधिक से अधिक 70 अवर न्यायाधीश होते थे। न्यायाधीशो की नियुक्ति सम्राट द्वारा की जाती थी और वे 65 वष की आयु तक अपने पद पर बने रहत थ। अधिनियम म फेडरल न्यायालय के लिए आवश्यक अहताओ का भी उल्लेख किया गया था।

फेडरल न्यायालय का क्षेत्राधिकार—फेडरल न्यायालय को तीन मुख्य क्षेत्राधिकार प्राप्त थे—(क) प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार (ख) अपीलीय क्षेत्राधिकार और (ग) परामर्शदायी क्षेत्राधिकार के अन्तगत फेडरल न्यायालय सविधान के उपबधो के निर्वाचन से सम्बन्धित विवादों का निपटारा करता था। सघ और इकाइयो के बीच उठे सभी विवादो का विनिश्चय करने का उसे अनन्य अधिकार था। अपीलीय क्षेत्राधिकार के अन्तगत सघ न्यायालय भारत स्थित सभी उच्च न्यायालयो के विनिश्चयो से अपीलो की सुनवाई करता था, यदि सम्बन्धित न्यायालय यह प्रमाण पत्र दे दे कि वाद मे भारत सरकार अधिनियम, 1935 के निवचन से सम्बन्धित विधि

का सारवान प्रश्न अन्तग्रस्त है । सघ न्यायालय को, गवनर जनरल के पूव अनुमोदन से किसी व्यवहार वाद की, यदि उसका मूल्य 5000 रुपये से कम न हो, अपील-सुनवाई करन का अधिकार प्राप्त था । फेडरल न्यायालय को अपने परामशदायी क्षेत्राधिकार के अन्तगत गवनर जनरल को विधि एव तथ्य के किसी भी विषय पर सलाह देने का अधिकार प्राप्त था ।

तथ्यत फेडरल न्यायालय भारत का उच्चतम न्यायालय नही था । इसकी सबसे बडी त्रुटि यह थी कि इस न्यायालय के निणयो के विरुद्ध उसके प्रमाण पत्र के बिना भी प्रिवी कौंसिल मे अपील की जा सकती थी । दूसरे यह कि न्यायालयकेवल सविधान के उपबधो के निवचन से सम्बधित विवादो का ही फैसला करता था, जबकि दीवानी और फौजदारी मुकदमो की अपीलें प्रिवी कौंसिल को ही की जाती थी ।

सभी राजनीतिक दलो ने एकमत से भारत सरकार अधिनियम, 1935 की आलोचना की । फलत अधिनियम द्वारा परिकल्पित अखिल भारतीय सघ की स्थापना न हो सकी और केन्द्रीय प्रशासन भारत सरकार अधिनियम, 1919 के उपबंधो के अनुसार यथावत् चलता रहा । अत ब्रिटिश सरकार ने ऐसी स्थिति मे निश्चय किया कि सवप्रथम 1935 के अधिनियम का प्रान्तीय शासन से सबधित अश लागू कर दिया जाये और इस निश्चय के अनुरूप फरवरी 1937 मे चुनाव करवाये गये । विरोध के बावजूद सभी राजनीतिक दलो ने इन चुनावो मे भाग लिया, जिससे वे शासन म भाग लेकर इसका विरोध कर सकें । चुनावो मे कांग्रेस को आशातीत सफलता प्राप्त हुई । उसे 11 म से 6 प्रान्तो (सयुक्त प्रांत बिहार, उडीसा, बम्बई, मद्रास और मध्य प्रात) मे स्पष्ट बहुमत प्राप्त हुआ और दूसरे तीन प्रान्तो (आसाम, बगाल और उ० प० सीमा प्रान्त) मे यह सबसे बडे राजनैतिक दल के रूप मे सामने आई । पजाब और सिंध मे कांग्रेस की स्थिति कमजोर रही । चुनाव परिणाम लीग क लिए उत्साह जनक नही थे । इसे समस्त मुसलमान मतो के कवल 4 8 प्रतिशत मत मिले । यद्यपि कांग्रेस चुनाव जीत गई, लेकिन आपसी मतभेदो और अन्य राजनैतिक दलो के विरोध के कारण कांग्रेस-मन्त्रिमण्डल काय नही कर सके । इसी बीच द्वितीय महायुद्ध छिड गया और ब्रिटिश सरकार ने भारत को भी बिना भारतीय विधान मण्डल की सहमति के इस युद्ध मे शामिल करने की घोषणा कर दी । अतएव कांग्रेस मन्त्रिमण्डलो ने युद्ध के प्रश्न पर त्यागपत्र दे दिये । कांग्रेस-कायकारिणी समिति ने यह घोषणा की कि जब तक ब्रिटिश सरकार यह सावजनिक घोषणा न कर दे कि युद्ध की समाप्ति पर भारत को स्वतन्त्रता प्रदान कर दी जायेगी, तब तक भारत युद्ध मे सहयोग प्रदान नही कर सकता ।

महायुद्ध की आवश्यकताओ के परिप्रेक्ष्य म, विवश होकर लार्ड लिनलिथगो ने 8 अगस्त, 1940 को ब्रिटिश सरकार की नयी नीति की एक घोषणा की, जो

कैबीनेट मिशन के नाम से प्रसिद्ध है। इस मिशन में ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल के तीन सदस्य थे। इसने भारत के लिए निम्न योजना प्रस्तुत की —(i) ब्रिटिश भारत और प्रांतों को मिलाकर भारत का एक संघ होना चाहिए और कुछ राष्ट्रीय हितों के विषयों को छोड़कर अन्य सभी विषय प्रांतों के अधिकार-क्षेत्र में रहने चाहिए, (ii) भारत पर ब्रिटिश सरकार की प्रभुसत्ता को समाप्त कर देना चाहिए, (iii) भारतीय रियासतों को यह छूट होनी चाहिए कि वे संघ में सम्मिलित हों या स्वतंत्र रहें, (iv) एक अन्तरिम सरकार की तत्काल स्थापना की जावे जिसे भारत के सभी प्रमुख राजनीतिक दलों का समर्थन प्राप्त हो, (v) संविधान बनाने के लिए संविधान सभा का निर्वाचन शीघ्र होना चाहिए।

अन्तिम दौर बड़े तनाव का रहा। कैबीनेट मिशन की प्रस्तावित योजना के अनुरूप जुलाई, 1946 में संविधान सभा के चुनावों में कांग्रेस की 212 विजयी सीटों के मुकाबले केवल 73 सीटें जीतने से निराश मुस्लिम लीग ने जुलाई, 1946 में योजना संबंध में दी गई अपनी स्वीकृति को वापस ले लिया। अगस्त 1946 में सीधी 'कार्यवाही करके' (Direct action) शुरू करके देश के विभिन्न भागों में खूनी कांड कराए। आनाकानी के बाद अक्टूबर 1946 में 'अंतरिम सरकार' में भाग लिया। अड़गेबाजी की नीति अपनाते हुए निर्वाचित संविधान सभा का बहिष्कार किया और इस प्रकार अनेक समस्याएं खड़ी कर दीं। तत्कालीन प्रधानमंत्री एटली ने 20 फरवरी, 1947 को सहसा ही इस तनावपूर्ण स्थिति के बीच अपनी ऐतिहासिक घोषणा करदी कि हर हालत में जून, 1948 से पहले भारत में ब्रिटिश शासन का अन्त कर दिया जायेगा। उन्होंने यह भी घोषित किया कि लार्ड वेवल के स्थान पर लार्ड माउंटबेटन को वायसराय नियुक्त किया जा रहा है जो भारतीयों को सत्ता हस्तांतरित करने का कार्य करेंगे। 23 मार्च 1947 को लार्ड माउंटबेटन ने दिल्ली आकर वाइसराय का पद सम्भाल लिया। 3 जून 1947 को ब्रिटिश सरकार ने एक ताजा नीति संबंधी वक्तव्य दिया। इस वक्तव्य जिसे 'माउंट बेटन योजना' का नाम दिया गया, में भारत के विभाजन की अनिवार्यता को स्वीकार कर लिया गया। इस योजना के अनुसार सत्ता हस्तान्तरण की तारीख भी जून 1948 की बजाय 15 अगस्त 1947 निर्धारित कर दी गई। 'बटवारे में देर नहीं लगी। भारत और पाकिस्तान की सीमा का निश्चय करने के लिए विधान सभाओं में वोट लिए गए और विवादग्रस्त क्षेत्रों में जनमत लिया गया। यह सब काम बड़ी तेजी से हुआ। ब्रिटिश संसद में 'भारतीय स्वतन्त्रता बिल 4 जुलाई 1947 को पेश हुआ और 12 दिनों के अन्दर पास कर दिया गया। 14 अगस्त, 1947 को इंडिया (प्राविजनल कान्स्टियूशन) आर्डर 1947 पास हुआ और दूसरे दिन भारत और पाकिस्तान दो नए उपनिवेशों की स्थापना हुई और उनको सत्ता सौंप दी गई।'[1]

---

1 रजनी कोठारी भारत में राजनीति पृ० 56,

(c) भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम 1947- भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम, 1947 के मुख्य प्रावधान निम्नलिखित थे—

1 15 अगस्त 1947 को भारत और पाकिस्तान दोनो स्वतन्त्रता अधि राज्यो की स्थापना हो जायेगी।
2 प्रत्यक अधिराज्य मे गवनर-जनरल होगा जिसकी नियुक्ति इगलण्ड का सम्राट करेगा।
3 दोनो राज्यो की सविधान निर्मात्री सभाओ को उनके लिए सविधान बनाने का अधिकार होगा।
4 14 अगस्त 1947 के बाद ब्रिटिश सरकार का इन दोनों राज्यो पर कोई नियन्त्रण नही रहेगा।
5 नये सविधान के निर्माण होने तक दोनो राज्यो का प्रशासन भारत सरकार अधिनियम, 1935 के उपबधो के अनुसार चलाया जाता रहेगा।
6 भारत राज्य सचिव (सेक्रेटरी आफ स्टेट) का पद समाप्त कर दिया जायेगा और उसके स्थान पर राष्ट्र मण्डल के सचिव की नियुक्ति की जायेगी।
7 भारतीय प्रातो के ऊपर से ब्रिटिश प्रभुसत्ता समाप्त कर दी गयी।

15 अगस्त, सन् 1947 को भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम, 1947 लागू हुआ और इस प्रकार भारत की 200 वर्षों पुरानी दासता का अन्त हुआ। और देश मे नई राजनतिक व्यवस्था स्थापित हुई। किंतु इस नई व्यवस्था मे अनेक पूववर्ती मूल्यो व सस्थाओ क प्रभाव को खत्म नही होने दिया गया। मोरिस जोन्स ने ब्रिटिश युग की विरासत (Legacies) को चार भागो मे बाटा है (i) सरकार(Government), (ii) आंदोलन (Movement), (iii) मध्यस्थ (Intermediaries) एव (iv) समस्याए एव सकल्प [Problems and Promises][1] रजनी कोठारी ने भी इसी प्रकार की अनेक विरासतो (देन) का उल्लेख किया है।[2]

---

1 दि गवनमेंट एण्ड पालिटिक्स ऑफ इंडिया पृ० 13–47
2 'भारत म राजनीति, पृ० 29 57

1

राजनीतिक व्यवस्था का स्वरूप

(धर्म निरपेक्षता, संघीय-व्यवस्था एवं संसदीय सरकार)

हमने एक ऐसी राजनीतिक व्यवस्था की स्थापना की है, जिसमें सामाजिक लाभ व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के साथ सुरक्षित रखे जा सके तथा एक नवीन व अधिक सभ्य समाज की स्थापना की जा सके। हमारी व्यवस्था में सामंजस्यता है तथा इसमें समानता एवं स्वतन्त्रता की काफी संभावनाएं निहित हैं। लोकतान्त्रिक व्यवस्था एक विकासशील देश के लिए तीव्र विकास जन सामान्य के सम्मान तथा बन्धुता के विकास हेतु एक अमूल्य निधि तथा विश्वसनीय नींव हो सकती है। प्रत्येक राजनीतिक व्यवस्था कुछ निश्चित मूल्य लिए होती है। इसकी शक्ति इन्हीं मूल्यों में निहित होती है तथा वहां की जनता इनसे प्रतिबद्ध रहती है। इन मूल्यों को हमने हमारे संविधान में शामिल किया है। हमारी संवैधानिक संरचना अनेक परिवर्तनों के दौर से गुजरती आ रही है। ये परिवर्तन राजनैतिक व्यवस्था में कार्यरत विभिन्न शक्तियों के कारण हुए हैं। *यद्यपि संवैधानिक ढांचा वह रूपरेखा प्रस्तुत करता है जिसके अन्तर्गत* सामान्यतः राजनैतिक यथार्थ की अभिव्यक्ति होती है परन्तु आनुभाविक दृष्टिकोण यह सिद्ध करता है कि अन्त में राजनैतिक यथार्थ संवैधानिक यथार्थ के वास्तविक स्वरूप को निर्धारित करता है। अतः यहां संवैधानिक रूपरेखा के साथ साथ संस्थाओं के वास्तविक स्वरूप पर भी प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है जिससे यह स्पष्ट हो सके कि राजनैतिक यथार्थ, किस प्रकार, किस दिशा में हमारे संविधान निर्माताओं की आधारभूत मान्यताओं मन्तव्यों और आकांक्षाओं को परिसीमित कर रहा है। अतः हमारा उद्देश्य संविधान के व्यावहारिक स्वरूप को राजनैतिक यथार्थ के सन्दर्भ में समझना और इन दोनों की अन्तर्निर्भरता पर विचार करना है ताकि इस अन्तःप्रक्रिया के सन्दर्भ में भारतीय राजनीतिक व्यवस्था के सैद्धान्तिक और व्यावहारिक स्वरूप को समझा जा सके। प्रारम्भ में संविधान की संरचना की पृष्ठभूमि दी गई है।

(1) भारतीय संविधान की संरचना : पृष्ठभूमि

भारतीय संविधान "स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् आकस्मिक चिंतन का प्रतिफल नहीं" था। यह चिंतन हमारे स्वाधीनता आन्दोलन के साथ-साथ विकसित हुआ था। वस्तुतः 'नेहरू रिपोर्ट' (1928) हमारी संवैधानिक प्रतिभा का प्रथम निदर्शन थी। यद्यपि हमारी संविधान रचना कई आंतरिक एवं बाह्य घटकों से प्रभावित हुई परन्तु हमारे संविधान की मूल आत्मा विशुद्ध रूप से भारतीय है। हमने अन्य संविधानों की संरचनाओं व व्यवहारों को उन्मुक्त रूप से भारतीय वातावरण व आवश्यकताओं की इस अन्तःक्रिया करने का अवसर दिया। स्वदेशी, विदेशी प्रभाव व स्वातन्त्र्योत्तर भारतीय आवश्यकताओं की इस अन्तःक्रिया के पश्चात् जो सार तत्व प्राप्त हुआ वह भारतीय संविधान का मूलाधार बना। भारतीय संविधान विभिन्न प्रभावों के अन्धानुकरण का परिचायक नहीं है, वह सहज रूपान्तरण की भारतीय क्षमता का उदाहरण है।

नकारात्मक ढंग से इसे हम 'a case of conscious variation with select adaptation and rejection' कह सकते हैं। तात्पर्य यह है कि चूंकि संविधान निर्माताओं के मानस में 'the quest of a working constitution through select borrowing' विद्यमान थी इसलिए जब हम भारतीय संविधान के स्रोतों की बात करते हैं तो हमें ऐसा दिखाई देता है कि हमने दूसरे देशों से जो ग्रहण किया है, हमें जिस स्वरूप में मिला उसी के अनुसार ग्रहण नहीं कर लिया, अपितु अपनी परिस्थितियों के अनुकूल ढालने का प्रयास किया। (more a case of conscious adaptation than adoption) ब्रिटेन, अमेरिका, जर्मनी, आयरलैण्ड, जापान, फ्रांस, कनाडा, आस्ट्रेलिया आदि देशों की राजनीतिक व्यवस्थाओं एवं नेहरू रिपोर्ट (1928) तथा 1935 के भारत सरकार अधिनियम ने हमारे संविधान निर्माताओं को विभिन्न व्यवस्थाओं के लिए जिस तरह से प्रभावित किया, उसे हम निम्नांकित ढंग से देख सकते हैं —

(a) ब्रिटिश राजनीतिक व्यवस्था (The British Political System)—हमारे मानस में इंगलैण्ड में जो राजनीतिक संस्थाएं पाई जाती थीं, उनके प्रति श्रद्धा और निष्ठा थी। हमारे स्वतन्त्रता संग्राम में (1885–1905) बहुधा यह मांग की जा रही थी कि हम इंगलैण्ड की भांति संस्थाएं चाहिए। बाद में यही क्रम चला, अन्तर केवल यह पड़ा कि बाद में हम प्रभुत्व (dominant) की जगह पूर्ण स्वतंत्रता (complete freedom) की मांग करने लगे। तरीकों में भी अन्तर आया किंतु संस्थागत आदर्श ब्रिटेन की राजनैतिक व्यवस्था से जुड़े रहे जो कि 1909 से 1947

तक देखा जा सकता है। यही कारण है कि हमारी जो ससदीय व्यवस्था है उस पर ब्रिटेन की छाप है, विशेष रूप से स्पीकर की निष्पक्षता के सम्बन्ध मे। ब्रिटेन की राजनैतिक व्यवस्था का यह जो अत्यधिक प्रभाव पड़ा, उसके अन्तगत हमने रूढियो का अनुकरण अधिक किया। इस प्रभाव को हम दो शीर्षकों के अन्तगत देख सकते हैं —

(A) Conscious adaptation and adoption

(B) Conscious variations

(A) Conscious adaptations and adoptions

(i) ससदीय प्रणाली (Parliamentary System)—हमने यह व्यवस्था इंग्लैण्ड से ग्रहण की और इसके लिए न केवल कानूनी ढाचे को ही ग्रहण किया अपितु वहा की प्रचलित परम्पराओ को भी ग्रहण किया। यह आकाक्षा थी कि हमारे देश मे भी ससदीय प्रणाली ब्रिटेन की भाति ही फलीभूत हो। साथ ही यह भी आशा की गई कि हमारे यहा भी वही परम्पराए विकसित हो जो ब्रिटेन मे हैं। इस आशा मे यथार्थता कितनी थी, यह अलग प्रश्न है।

(ii) ससदीय सर्वोच्चता (Parliamentary Supremacy) —इस सिद्धात को अपनाने के लिए हमने "According to the procedure established by law" का नियम माना। अर्थात जब ससद कोई कानून पारित कर देती है तथा उसके द्वारा काय करने की कोई विधि निश्चित कर देती है तब न्यायालय का केवल यह अधिकार है कि वह यह देखे कि उस विधि का पालन हो रहा है या नहीं। वह यह नही देख पावेगा कि वह विधि स्वय मे औचित्यपूर्ण है या नहीं। अमेरिका मे इसके विपरित उचित प्रक्रिया (due process of law) वाला सिद्धान्त माना गया है अर्थात् वहा न्यायालय यह भी देख सकता है कि कानून औचित्यपूर्ण है या नहीं।

किन्तु विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया (According to the procedure established by law) का नियम हमारे यहा आंशिक रूप से अपनाया गया है यह adaptation कहलाता है। यह इसलिए किया गया है कि हमारे यहा न्यायालय की सर्वोच्चता को ससद की सर्वोच्चता से मिश्रित किया गया है। अत हमारे यहा न्यायालय यह भी देख सकता है कि ससद द्वारा पारित सविधान के अनुकूल है या नहीं (Judical Review)। ब्रिटेन मे ऐसा नही हैं क्योकि वहा सघात्मक (Federal) शासन व्यवस्था नही होने से इसकी आवश्यकता भी महसूस नही की गई।

(iii) विधि का शासन (Rule of law)—ब्रिटेन मे विधि का शासन, जैसा कि डायसी ने बताया है कि न्यायालय द्वारा दिए गए निर्णयो से निर्मित है। इन घोषणाओ से मिलकर ही वहा का 'कॉमन ला' (Common law) बना है और

इस 'कॉमन लॉ' के अन्तर्गत ही विधि शासन आता है किन्तु हमारे यहां विधि शासन की व्यवस्था संविधान द्वारा की गई है तथा न्यायालय को इसका संरक्षक बताया गया है। इस संरक्षण के कारण वह इसकी व्याख्या करता है तथा कभी-कभी वृद्धि भी करता है किन्तु हमारे यहां ब्रिटेन की भांति यह पूरी तरह न्यायालयों के निर्णयों से नहीं बना है।

(iv) एकात्मकता का पुट (Unitary bias)—एकात्मकता का पुट भी ब्रिटेन के संविधान का प्रभाव कहा जा सकता है जिसके फलस्वरूप हमारे यहां समान क्रिमिनल कोड है, समग्र न्यायालय (Unified judicial system) की व्यवस्था है। इसी तरह से इकहरी नागरिकता (Single Citizenship) का प्रावधान अपनाया गया है। इसके अलावा हमने समग्र नौकरशाही (Unifed civil services) को रखा है। परन्तु इन सबके बावजूद हमने एकात्मक सरकार का रूप ग्रहण नहीं किया क्योंकि हमारे जैसे बड़े देश (बहुलता) में यह ठीक नहीं होता।

(v) प्रथम सदन की प्रधानता—दो विधान मण्डलों में प्रथम सदन को प्रधानता दी गई है, यहां भी हमने ब्रिटेन की परम्परा को अपनाया है।

(B) Conscious Variations

(i) गणतन्त्रीय व्यवस्था (Republic system)—हमने ब्रिटेन की भांति राजतन्त्र के अवशेषों को नहीं अपना कर राज्याध्यक्ष के रूप में निर्वाचित राष्ट्रपति के पद को स्थान दिया है।

(ii) संघीय प्रणाली (Federal system) —ब्रिटेन में एकात्मक शासन व्यवस्था है किन्तु हमने अपनी परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए संघीय प्रणाली को अपनाया है।

(iii) संविधान में मूल अधिकारों का उल्लेख (Provision of Fundamental Rights) —ब्रिटेन की भांति मूल अधिकारों को परम्पराओं पर नहीं छोड़ कर, भारतीय संविधान निर्माताओं ने इनका संविधान में उल्लेख किया क्योंकि भारतीय जनता वर्षों से गुलामी से दबी हुई थी, अतः स्वतन्त्रता के द्योतक के रूप में, मनोवैज्ञानिक दासता को दूर करने के लिए संविधान द्वारा मूल अधिकारों की व्यवस्था की गई।

(iv) न्यायालय की सर्वोच्चता (Supremancy of judiciary)—जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है कि हमने संसदीय सर्वोच्चता के साथ न्यायालय की सर्वोच्चता को भी इस अर्थ में मिश्रित किया है कि न्यायालय संसद द्वारा पारित विधि को संविधान के आधार पर वैध या अवैध घोषित कर सकता है।

ब्रिटिश प्रभाव की आलोचना—हमारे संविधान निर्माताओं ने यह सोचा था कि ब्रिटेन की संस्थाओं को ले लेना काफी है तथा उन्होंने यह स्वाभाविक मान लिया था कि हमारे यहां भी वे उसी ढंग से फलीभूत होगी तथा उन्ही की भांति परम्पराएं विकसित होंगी। परन्तु राजनीतिक संस्थाओं का व्यावहारिक स्वरूप एक देश की राजनीतिक परम्पराओं, व राष्ट्रीय चरित्र आदि पर निर्भर करता है अतः यह जरूरी नहीं है कि एक देश की संस्थाएं दूसरे देश में उसी रूप में कार्य करें। यही नहीं प्रजातान्त्रिक राजनीतिक संस्थाओं का स्वरूप दलीय व्यवस्था पर निर्भर करता है। हमने यह मान लिया था कि हमारे यहां भी दो दलीय व्यवस्था होगी किन्तु ऐसा जब नहीं हुआ तो हमें दुःख हुआ और हमने यह भी धारणा बना ली कि यहां संसदीय व्यवस्था नहीं चलेगी और हम 1967 के चुनावों के पश्चात् घबरा गए तथा कहा जाने लगा कि यहां अध्यक्षात्मक व्यवस्था होनी चाहिए। यह दृष्टिकोण गलत था। नए मापदण्डों का निर्माण करना चाहिए था ताकि मूल्यांकन वास्तविक हो।

(b) **अमेरिकी राजनीतिक व्यवस्था (The American Political System)**

(a) Conscious adaptation and adoption

(i) **संघीय सरकार (Federal Government)**—आदर्श के रूप में अमरिका की संघीय व्यवस्था संविधान निर्माताओं के मानस में बसी हुई थी। उन्होंने दो तरह से इसका उपयोग किया—(a) आदर्श के रूप में—जिसे संविधान में रखा गया। (b) आलोचना के माध्यम के रूप में—अमेरिका से हमारे यहां संघीय व्यवस्था इस रूप से भिन्न है कि वहां के संविधान में राज्यों को अधिक स्वतन्त्रता पर आधारित संघ स्थापित किया गया है जबकि भारत में केन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति मुख्य है तथा राज्यों की भूमिका गौण।

(ii) **न्यायालय की सर्वोच्चता (Supremacy of Judiciary)** —इस सिद्धान्त को स्वीकार करने में संघवाद की पृष्ठभूमि एक कारण था। संघवाद को इसके बिना अपूर्ण माना जाता है। जिस रूप में इस सिद्धान्त को व्यावहारिक दिशा में अमरिका के संविधान ने प्रस्तुत किया, हम इसे पूर्ण रूप से ग्रहण नहीं कर सके क्योंकि हमने न्यायालय की सर्वोच्चता और संसदीय प्रणाली को समन्वित करने का प्रयास किया। फिर भी न्यायिक पुनरावलोकन (Judicial review) अमेरिकी राजनीतिक व्यवस्था की प्रमुख देन कही जा सकती है।

(iii) **मौलिक अधिकार (Fundamental Rights)** —इसकी प्रेरणा अमेरिका के संविधान से मिली तथा कुछ मात्रा में फ्रांस की क्रान्ति की ध्वनि भी इनमें सुनी जाती है। किन्तु व्यवस्थागत सामग्री के लिए हम अमेरिका के काफी मे ऋणी हैं परन्तु यहां भी हमने इन्हें हमारी परम्पराओं के अनुकूल

इसका एक मात्र कारण यह था कि हमारी राजनैतिक व्यवस्था में समाजवाद या सामाजिक न्याय (नीति निर्देशक तत्व) तथा व्यक्तिगत स्वतन्त्रता (मूल अधिकार) को समन्वित करने की इच्छा थी अथवा यों कहें हमारी लालसा राजनैतिक स्वतन्त्रता के साथ आर्थिक स्वतन्त्रता की भी थी। इसीलिए दानों देशों के मूल अधिकारों के स्वरूप में अन्तर आना स्वाभाविक है। परन्तु फिर भी बहुत मात्रा में अमरिका के मूल अधिकारों की ध्वनि हमारे मूल अधिकारों की आत्मा में सुनी जा सकती है।

(b) Conscious Variations

(i) अध्यक्षात्मक प्रणाली (Presidential form of Government)—दबे स्वरों में यह कहा गया था कि भारत में यह प्रणाली ज्यादा उचित होगी किन्तु सीमित वाद विवाद के बाद यह निर्णय ले लिया गया था कि हमारे देश में संसदीय प्रणाली ही उचित होगी। इसके लिए विशेष तौर से यह कहा गया कि 1909 से हमें इस प्रणाली का अनुभव है।

(ii) संघीय व्यवस्था (Federal System)—संघीय व्यवस्था में भी भारतीय संविधान निर्माताओं ने अमेरिका से बहुत से पक्ष ग्रहण नहीं किए जैसे दुहरी नागरिकता, दुहरी न्याय व्यवस्था व दुहरी प्रशासनिक व्यवस्था। यहाँ हम एकात्मक प्रणाली (Unitary form of government) से प्रभावित थे।

(iii) Due Process of Law —हमने इस नियम को ग्रहण नहीं किया अर्थात न्यायालय को यह अधिकार नहीं दिया गया कि प्राकृतिक अधिकार (Natural Rights) व प्राकृतिक न्याय (Natural Justice) के आधार पर न्यायालय यह निर्णय दे सके कि अमुक कानून अवैध है। हमने यहां "According to the procedure established by Law" को आधार बनाया क्योंकि यहां हम संसदीय व्यवस्था जो ब्रिटेन से ली तथा न्यायालय की सर्वोच्चता जो कि अमेरिका से ली में समन्वय बिठाना चाहते थे।

(iv) व्यवस्थापिका का द्वितीय सदन —अमेरिका की सेनेट की भांति शक्तिशाली द्वितीय सदन का स्वरूप एवं उसमें प्रत्येक राज्य द्वारा बराबर संख्या में सदस्य भेजने की व्यवस्था को हमने स्वीकार नहीं किया।

(v) हमने यह भी नहीं माना कि अमेरिका की भांति राज्यों के गवर्नर चुने जाएं।

आलोचना—जहां तक आलोचना का प्रश्न है, यह कहा गया कि हमारे देश में अध्यक्षात्मक व्यवस्था ज्यादा उचित होती। यह वह आलोचना है जो तीन आम चुनावों तक तो नहीं उठाई गई। किन्तु 1967 के बाद जब एक दलीय प्रमुख व्यवस्था की समाप्ति हुई, राजनतिक अस्थिरता उत्पन्न हुई, मुख्यमंत्री और राज्यपाल

के बीच तनाव हुआ तब यह आशंका हुई कि कहीं केन्द्र में भी ऐसा होने पर कहीं राष्ट्रपति तथा प्रधानमन्त्री में भी तनाव उत्पन्न हो जाए। अत अध्यक्षात्मक व्यवस्था की आवश्यकता महसूस की गई। इस सम्बन्ध में पक्ष और विपक्ष दोनों तरह की बातें कही गई।

(c) भारत सरकार अधिनियम 1935

Government of India Act, 1935,

सर आइवर जेनिंग्ज, आस्टीन ग्रेनविले व एम वी पायली आदि भारतीय सविधान सम्बन्धी लेखकों का कहना है कि 1935 के अधिनियम की भारतीय सविधान पर बहुत गहरी छाप है तथापि अनेक लेखक इसकी आलोचना करते हैं। उनका कहना है कि बहुत से दुगुण जो भारतीय सविधान म पाए जाते हैं, उनका उद्गम 1935 का अधिनियम है। सर आइवर जेनिंग्ज विशेष तौर से ऐसा मानते हैं। यहा एक और प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या 1935 का सविधान स्वय मे भारत के सविधान का स्रोत था या वह अन्य स्रोतो के प्रभाव का माध्यम था ? इस प्रश्न का भी कोई निश्चयात्मक उत्तर देना कठिन है। मौलिक रूप स नये सविधान के स्रोत के रूप मे विशेष तौर से राज्यपाल का पद या सघीय व्यवस्था मे केन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति लिया जा सकता है। परन्तु यह अधिनियम दूसरे सविधानो के प्रभाव के माध्यम के रूप म भी उभर कर आता है जैसे राष्ट्रपति के आपातकालीन अधिकार, जो कि आए तो 1935 के अधिनियम से, किन्तु उद्गम स्थल था—'वाइमर रिपब्लिक आफ जर्मनी'। इसी प्रकार ससदीय व्यवस्था जिसका मौलिक उद्गम था—ब्रिटेन की राजनैतिक व्यवस्था किन्तु यह भी हमारे सविधान मे 1935 के अधिनियम से पहुची। अत उद्गम और माध्यम दोनो ही दृष्टि से 1935 का अधिनियम भारतीय सविधान के स्रोत के रूप मे माना जा सकता है। यह स्वाभाविक भी था क्योंकि हम इसके निकट भी थे और 1947 तक यही लागू था।

(D) Conscious adaptation and adoption

(1) सघीय व्यवस्था का ढाचा (Structure of Federal System) — नये सविधान मे वही ढाचा रहा जो 1935 के सविधान मे था। इसलिए चूकि 1935 के सविधान मे सघ मे एकीकरण की प्रवृत्ति पाई जाती थी अत नय में भी यही ग्रहण किया गया।

शक्तियो के विभाजन के सन्दर्भ में हमने अमरिका के सिद्धा त 'Principle of enumeration and residuam" को ठुकरा कर 'the statutory allocation of powers through a system of list स्वीकार किया है।

(ii) संसदीय व्यवस्था (Parliamentary form)—केन्द्र एवं राज्यों दोनों स्तर पर सरकार के स्वरूप में भी 1935 के अधिनियम की झलक दिखाई देती है। विशेष तौर से 1935 के संविधान के अन्तर्गत प्रान्त में प्रान्तीय स्वायत्तता (Provincial autonomy) थी, अतः इससे यह भूमिका बनी कि राज्यों को स्वतन्त्रता प्रदान की जानी चाहिए।

(iii) संरक्षणात्मक अधिकार (Safeguards) —1935 के संविधान में यह व्यवस्था थी कि विशेष सुरक्षा की शक्ति छिन्न भिन्न होती हुई दिखाई दे तो संकटकालीन अधिकारों का सहारा लेकर उस स्थिति को सुधारा जा सकता है। इसीलिए यह कहा गया कि 1935 का संविधान अविश्वास के सिद्धान्त पर आधारित था जिसमें भारतीय जनता का विश्वास नहीं था। इससे गवर्नर जनरल की शक्ति बढ़ गई। एटली ने भी इसकी आलोचना की। भारतीय संविधान में भी राष्ट्रपति को आपातकालीन अधिकार प्रदान किए गए हैं।

(iv) राज्यपाल की भूमिका (Role of Governor) —राज्यपाल की भूमिका के दुहरे पक्ष केन्द्रीय सरकार के एजेन्ट व राज्य सरकार का संवैधानिक प्रधान की झलक भी 1935 के संविधान में मिलती है।

(v) साथ ही यह भी उल्लेखनीय है कि 1935 के अधिनियम की भाषा व शैली ने भी नये संविधान को प्रभावित किया है। कितनी ही धाराएं व उपधाराएं वैसी की वैसी ली गई है।

(b) Conscious Variation —

(i) हमने गवर्नर जनरल एवं गवर्नरस के विशेषाधिकारों एवं विवेकमयी शक्तियों को स्वीकार नहीं किया।

(ii) हमारे संविधान में 1935 के संविधान की भांति यह स्वीकार नहीं नहीं किया गया कि संविधान में मूल अधिकारों का उल्लेख नहीं किया जाए।

(iii) 1935 का संविधान सीमित मतदान पर आधारित था। संविधान सभा में कुछ विचारक शिक्षा एवं सम्पत्ति के आधार पर ऐसा ही चाहते थे किन्तु नेहरू के आग्रह से वयस्क मताधिकार की व्यवस्था की गई।

आलोचना—1935 के संविधान का जो प्रभाव हमारे संविधान पर पड़ा, उसकी आलोचना प्रमुखतः इस प्रकार से की गई

(i) आलोचकों के अनुसार हमारा संविधान 1935 के संविधान की 'कार्बन कापी' है व नये संविधान और इसके बीच कोई अन्तर नहीं

है । यह आलोचना त्रुटिपूर्ण है । पहला प्रमुख अन्तर यह है कि 1935 का सविधान ब्रिटिश ससद द्वारा हमारे ऊपर लादा गया था, जबकि वतमान सविधान भारतीय जनता के प्रतिनिधियो से व इनकी इच्छा से परित हुआ । द्वितीय, 1935 का अधिनियम ब्रिटेन की सत्ता का परिचायक था, जबकि यह भारतीय जनता की सत्ता का । तृतीय नये सविधान मे वयस्क मताधिकार का प्रावधान है जबकि इसमे सीमित मताधिकार को ही माना गया था । ये सब मात्रा के अन्तर नही, अपितु गुणात्मक अन्तर हैं । अत इस आलोचना से भ्रम ज्यादा पदा हो सकता है, पथ प्रदशन कम ।

(ii) भारतीय सविधान का कलेवर, आकार व जटिलता बढ गई है । यह आलाचना विशेषकर सर आइवर जेनिंग्ज ने की । यह आलोचना भी अधिक से अधिक आशिक रूप मे ही सत्य कही जा सकती है क्योंकि सविधान मे जटिलता व आकार बडा होने का कारण भारतीय सामाजिक जीवन व्यवस्था का जटिल होना है । साथ ही सविधान निर्माताओ का दृष्टिकोण भी काफी मात्रा मे उत्तरदायी था । उनका कहना था कि हम सविधान का निर्माण काफी विस्तार से करेंगे जिससे कोई ऐसी चीज न रह जाय जिससे सविधान आगे चलकर छिन्न भिन्न हो जाय । उन्ह विश्वास नही था कि हमारे यहा परम्पराओ के रूप मे व्यवस्थाए पनप सकेंगी, इसका कारण वर्षो की गुलामी थी । अत उन्हे लेखबद्ध करना उचित समझा गया । यह दृष्टिकोण उचित था या नही, यह अलग बात है ।

(iii) वह अविश्वास विश्वास का सिद्धात, जिस पर 1935 का सविधान आधारित था, हमारी सविधान सभा के सदस्यो के मानस पर भी छाया हुआ था । यही कारण है कि इन्होने राज्य की सुरक्षा को महत्व अधिक दिया तथा व्यक्ति की स्वतन्त्रता को कम यह आलोचना कुछ मात्रा मे ठीक है परन्तु उद्देश्य बदल गया । अग्रेजी शासन का उद्देश्य था—अग्रेजी शासन को मजबूत करना—जबकि भारतीय सविधान निर्माताओ का उद्देश्य राज्य की शक्ति को बढाने के पीछे कल्याणकारी राज्य की स्थापना करना था । यद्यपि उसका भी दुरुपयोग हो सकता है ।

(d) विविध स्रोत

(i) जर्मनी का वाइमर सविधान—इससे हमने सकटकालीन प्रावधान व राष्ट्रपति के आपातकालीन अधिकार ग्रहण किए है ।

(ii) आयरलैण्ड का संविधान—इससे हमने राज्य के नीति निर्देशक तत्वों का विचार लिया। यद्यपि जो कुछ भी हमारे संविधान में पाया जाता है, भारतीय है किन्तु यह बात कि नीति निर्देशक तत्व संविधान में होना चाहिये, हमने आयरलैण्ड के संविधान से ली है। इनका महत्व इस बात में है कि ये आर्थिक प्रजातन्त्र की बात करते हैं। यह तब और भी महत्वपूर्ण उपलब्धि हो जाती है, जब हम मूल अधिकार एवं निर्देशक तत्वों के बीच सम्बन्ध की बात करते हैं।

(iii) जापान—यहां से हमने 'According to the procedure established by law' के सिद्धान्त को लिया है। इस देन का भी महत्व है क्योंकि इसके माध्यम से हमने संसद एवं न्यायालय की सर्वोच्चता को समन्वित करने का प्रयास किया।

(iv) 1927–28 की नेहरू रिपोर्ट—इससे हमें मूल अधिकारों के प्रति एक दृष्टिकोण मिला। साम्प्रदायिकता का मूल आधार संस्कृति है। इसका जन्म उस समय होता है जब अल्प संख्यक वर्ग की भाषा, धर्म संस्कृति आदि सुरक्षित न हो तथा उन्हें यह भय हो कि बहुसंख्यक वर्ग उन्हें दमित करेगा। अतः नेहरू रिपोर्ट में यह बात थी कि संविधान में भाषा, धर्म, संस्कृति, सम्प्रदाय आदि की रक्षा के सम्बन्ध में अधिकार प्रदान किए जाएं, तभी इन पर विजय पाई जा सकती है।

(v) फ्रांस—मूल अधिकारों विशेष तौर से स्वतन्त्रता और समानता के अधिकारों पर हमने यहां की ध्वनि ग्रहण की।

(vi) कनाडा एवं आस्ट्रेलिया—इन दोनों देशों ने भारतीय संविधान निर्माताओं को संघवाद एवं न्यायिक पुनरालोकन के स्वरूप से प्रभावित किया।

इस प्रकार से विश्व के अनेक संविधानों ने हमारे संविधान की रचना में महत्वपूर्ण योगदान दिया। यद्यपि संविधान निर्माताओं का दृष्टिकोण "select borrowing" रहा। यही कारण है कि इसमें विभिन्न आवश्यकताओं, उद्देश्यों व सामाजिक आर्थिक यथार्थ के बीच समायोजन निहित है। इसमें लोकतन्त्र, राष्ट्रवाद व समाजवाद के बीच समन्वय पर बल दिया गया है, उन्हें परस्पर विरोधी नहीं समझा गया। संविधान में निहित मूल अधिकार जहां व्यक्ति को आधारभूत स्वतन्त्रताएं उपलब्ध कराते हैं, वहीं राजनीति के निर्देशक सिद्धान्त राज्य को सामाजिक आर्थिक क्षमता व न्याय का निर्देश देते हैं। इस प्रकार भारतीय संविधान में अत्यन्त यथार्थपूर्ण रूप से भारतीय जीवन व आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति हुई है और यह अभिव्यक्ति किसी विशेष काल अथवा अवस्था से बंधी नहीं रही बल्कि उसके साथ साथ निरन्तर प्रगति करती रही है। इसी कारण आज भी भारतीय संविधान उसी प्रामाणिकता से राष्ट्रीय आकांक्षाओं को मुखरित कर रहा है।

ग्रेनविल ग्रास्टिन ने अपनी सुविख्यात कृति 'दि इंडियन कॉंसटीट्यूशन' कानर स्टोनग्रॉफ ए नेशन[1] मे भारतीय सविधान के निर्माण काल व उसके क्रिया वयन की समीक्षा की है । उनके अनुसार सविधान सभा के सदस्यो का उद्देश्य एक लोक तान्त्रिक सविधान के माध्यम से प्रशासनिक व राजनैतिकता एकता अर्जित करना तथा आर्थिक व सामाजिक क्राति का काय रूप मे परिणित करना था । सविधान की महानतम सफलता उसकी प्रयोग विधि पर निभर करता है । प्रथम प्रधान मन्त्री नेहरू के पश्चात् उनके सहज उत्तराधिकार, सकट कालीन धाराओ के अन्तगत राज्यो मे सरकारा के असफल होने की स्थिति म अल्पकाल के लिए राष्ट्रपति शासन लागू किया जाकर अराजकता की स्थिति से बचाना, सविधान म प्रदत्त भारतीय राष्ट्रवाद की परिभाषा के अन्तगत भाषायी आधार पर राज्य सीमाओ का पुनगठन आदि कुछ प्रारम्भिक महत्वपूण उदाहरण हैं जिनके आधार पर उन्होने भारतीय सविधान को सफल माना है । भारतीय सविधान ने राष्ट्रीय व्यवहार द्वारा स्वीकृत मान दण्डो की स्थापना की है । परन्तु सविधान की महानतम सफलता सरकारी स्तर के नीचे निहित है । इसने सामाजिक व राजनैतिक विकास ढाचा तथा राजनतिक व्यवहार का विवेक सम्मत सस्थात्मक आधार प्रदान किया है । यह केवल राष्ट्रीय आदर्शों की ही स्थापना नही करता । इसका इससे महत्वपूर्ण काय यह है कि यह उस विवक सम्मत सस्थात्मक आवरण को जन्म देता है जिसके माध्यम से इन आदर्शों की प्राप्ति करना अभिप्रेत है ।

सहमति वह तरीका है जिसके अन्तगत सवसम्मति से या लगभग सब सम्मति से निणय लिए जाते हैं । यह इस तथ्य को मान्यता देता है कि बहुमत का शासन सफलतापूवक उन राजनैतिक सघर्षों का निबटारा नही कर सकता जिनसे मानवीय भावनाए गहरे स्तर पर जुडी होती हैं । यह एक ऐसी अनुभूति को स्थान देती है जो इस तक पर आधारित है कि कोई भी निणय उस स्थिति मे राजनैतिक व मौलिक दृष्टि से अधिक सशक्त होगा, जब उसके सम्ब ध मे बावन व्यक्तियो द्वारा शेष अडतालीस व्यक्तियो पर अपनी इच्छा थोपने के स्थान पर सौ व्यक्ति मे से नब्बे मे परस्पर सहमति होगी । भारत मे सहमति की जड़ें गहरी है । निश्चित रूप से हम एक पक्षीय निणय लेने के बजाए समस्याओ पर देर तक विचार विमश करना पसन्द करते हैं । इस प्रकार की सहमति को सविधान सभा मे सामान्य समथन प्राप्त था । कांग्रेस विधान सभा दल की बैठको मे भी सविधान की धाराओं पर विचार करने हेतु गैर–कांग्रेसी व्यक्ति जैसे अय्यर, अम्बेन्कर तथा एन जी अय्यगर आदि इस आधार पर आमन्त्रित किए जाते थे, क्योकि नेतृत्व का यह विश्वास था कि इन लोगा की प्रतिभाओ का उपयोग किया जाना चाहिए । सहमति द्वारा f

1 लन्दन, आक्सफोड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1966, पृ० 308–33)

लेने के उदाहरण सविधान के सघीय व आपायी प्रावधान, शिक्षा के क्षेत्र म एक समान राष्ट्रीय मानक स्थापित करने का प्रयास, रेल्व सुरक्षा व बिक्रीकर आदि हैं।

आस्टिन के अनुसार सविधान निर्माण मे भारत का दूसरा मौलिक योगदान समायोजन का है। समायोजन, अनुकूलता और सामजस्य की क्षमता है। यह सम झौता नही है। यह एक विश्वास तथा दृष्टिकोण है जबकि समझौता एक तकनीक है। समायोजन के म तगत विचार और दृष्टिकोण यद्यपि परस्पर विरोधी प्रतीत होते हैं लेकिन वस्तुत व अखण्डित रहत है। भारतीय ऐस विराधाभासी विचारों को समायोजित कर सकते हैं। शासन की सघीय और एकात्मक व्यवस्थाए गणतन्त्र वाद राजतन्त्र (राष्ट मण्डल के अध्यक्ष के रूप म ब्रिटिश सम्राट को मान्यता) के मध्य सामजस्य, एक सशक्त केन्द्रीय सरकार के साथ साथ पचायती राज द्वारा यथासम्भव विकेन्द्रीकरण का समथन तथा आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए तमाम बाहरी अच्छी बातों का ग्रहण करना आदि इसके प्रमुख उदाहरण है।

औपनिवेशिक अनुभव, नेतृत्व, एक जनसाधारण का दल (कांग्रेस) और प्रशासन तन्त्र न हितकारी सवैधानिक वातावरण का निर्माण किया। इन घटकों के माध्यम से आस्टिन के अनुसार भारत ने अपने प्रारम्भिक वर्षों मे सविधान की रक्षा की है, किन्तु इ ही के रहत एक देश अपने सविधान का गला भी घोट सकता है, जैसाकि घाना में हुआ (तथा आगे चलकर भारत मे भी 1975–76 म हुआ) अत आस्टिन न प्रश्नवाचक ढग से कहा कि क्या भारतीय सविधान का निर्माण ऐसे नेता व सशक्त दल की उपस्थिति तथा अनुपस्थिति दोनों स्थितियो स निबटने के लिए किया गया है? स्वय ही उत्तर देते हुए वे कहत है कि 1964 की घटनाएं इस बात का सकत दती है कि भारत का ससदीय लोकत न महान नताओ की शृ खला म अन्तिम नता नेहरू की मृत्यु झेल सकता है। इस बात की पुष्टि हमें स्वय को आग भी प्राप्त होती है। यदि प्रधान म त्री शास्त्री के नतृत्व (जो कि एक अपेक्षित रूप स असहाय प्रधान मन्त्री समझे जात थे) मे राष्ट्र ने विदेशी आक्रमण (पाक आक्रमण) का डट कर मुकाबला किया, तो उसी प्रकार शास्त्री के आकस्मिक निधन क पश्चात् श्रीमती गाधी का प्रधान् मन्त्री पद पर चयन एव उनके नतृत्व म 1971–72 म एक और विदेशी आक्रमण म भारत की विजय तथा बाद मे उन्ही के द्वारा लागू आपातकाल के दौरान की गई भीषण ज्यादातियो के फलस्वरूप मार्च 1977 की ऐतिहासिक द्वितीय रक्तहीन क्रांति जिसमे एक अधिनायकवादी सरकार के विरुद्ध भारतीय जनता न अपना मत प्रदान कर दश मे लोकतन्त्र की जडें गहरी जमाने का दिशा म माग प्रशस्त किया) आदि तथ्य उपयुक्त विश्वास की सत्यता सिद्ध करत हैं। अन्य भार। म अ य नवोदित राष्ट्रों की तुलना म सफलता की सम्भावनाए

असफलता की आशकाओ से कही अधिक है क्योकि भारतीय परम्पराए व भारतीय समाज दोनो लोकतान्त्रिक सरकार के अनुकूल है ।[1]

(1) भारत मे धम निरपेक्षता--(Secularism in India) —

धम निरपेक्षता एक सविधानेतर विचार है । इसके बावजूद इसने भारतीय कानून वव्यवहार पर अपना अमिट प्रभाव छोडा है । इसका एव प्रमुख कारण यह है कि धम निरपेक्षता वस्तुत भारत जैसे बहुलवादी समाज को जहा विविध भाषाए, रीति रिवाज, मान्यताए, धम सम्प्रदाय आदि अस्तित्व मे हैं, एकता का सम्बल प्रदान करती है । यह विचार राष्ट्रीय विकास व उसके प्रति जन मानस की आस्था के प्रतीक के रूप म उभरा है । 42 वें सशोधन विधेयक द्वारा सविधान की प्रस्तावना (Preamble) मे 'सेकुलर' शब्द भी जोडा गया है तथा केन्द्रीय जनता सरकार भी इस शब्द को बनाए रखना चाहती है । धम निरपक्षता का स्वरूप व उसके विविध आयाम अत्यधिक विवाद का विषय रहे है । इस सम्ब ध म अयक बौद्धिक चर्चा हुई है और वह अनवरत रूप से जारी है । विवाद धम निरपेक्षता की भारत के स दभ म प्रासगिकता अथवा अप्रासगिकता के विषय मे नही है यह वस्तुत स्वय धम निरपेक्षता के सद्धान्तिक पक्ष के सम्बन्ध मे है और यह कहना सम्भवत अतिशयोक्तिपूर्ण न हो कि इस विवाद ने धम निरपेक्षता के विचार को परिष्कृत किया है । एक मूल्य के रूप मे यह हमारे इतिहास से सम्बद्ध रही है और उसने हमारे अतीत को प्रभावित किया है । स्वतन्त्र भारत मे इसकी राष्ट्रीय विकास के सन्दभ मे विशेष प्रासगिकता है ।

हमारे यहाँ धर्म निरपक्ष राज्य का अभिप्राय धम विरोधी राज्य से नही है । उसका सीधा सा अथ धार्मिक कार्यों को राज्य के काय क्षेत्र से अलग करना है । जहा बौद्ध भिक्षुत्व (Monkhood) श्री लका, बर्मा व दक्षिण वियतनाम मे एक महत्वपूर्ण राजनैतिक शक्ति रही है और इस्लामी कानून राजनैतिक दृष्टि से कुछ मुस्लिम देशा मे विशेष प्रभावशाली रहे हैं, वहा भारत मे किसी भी विशेष हिन्दू समूह या स्वतन्त्रता के बाद को राजनीति पर कोई महत्वपूर्ण प्रभाव नही रहा है ।[2] धम निरपेक्ष राज्य

---

1 विस्तृत अध्ययन के लिए देखिए —बनर्जी, ए सी दि मेकिंग ऑफ दि इडियन कान्स्टीट्यूशन" 'कलकत्ता ए मुखर्जी एण्ड कम्पनी, 1048 पृ० 312 327, पृ 385-386, पृ 483-485 एव पृ 522 540 तथा राव बी एन इण्डियाज कान्स्टीट्यूशन इन दि मेकिंग बम्बई एलाइड पब्लिसस 1960 विशेषकर पृ 360-366

2 डोनाल्ड स्मिथ इडिया इज ए सेक्यूलर स्टेट', प्रिंसटन यूनिवर्सिटी प्रेस, 1963 पृ 494-501

का विचार दो बातो को मानता है—एक समान सामाजिक कानून तथा अल्पसंख्यकों के धार्मिक विश्वास के प्रति आदर की आवश्यकता।

फिर भी स्पष्टत यह सोचना मूर्खता होगी कि भारत म धर्म निरपेक्षतावाद इतनी दृढता से स्थापित हो गया है कि उसका भविष्य पूणत निश्चित है। पाकिस्तान के साथ युद्ध, हिन्दू मुस्लिम दगो की ज्वाला का प्रसार और प्रधान मन्त्रियो का साम्प्रदायिकता के प्रति समझौतावादी रुख, आदि मे किसी का भी समावित विकास हिन्दू दलो को सशक्त करेगा और यह धम निरपेक्षता के लिए एक गम्भीर चुनौती होगी। स्पष्टत कई ऐसी सम्भावनाए आज भी विद्यमान है जो 'अवाछनीय' स्थितियाँ उत्पन्न करती हैं।[1]

गजेन्द्र गडकर के अनुसार धम निरपेक्षता विशुद्ध रूप से मात्र एक राजनतिक विचार नही है और केवल हिन्दू व मुसलमानो तक ही इसका प्रभाव क्षेत्र सीमित नही है। यह एक व्यापक सामाजिक आर्थिक विचार है जो अपने म तगत विविध भारतीय समुदायो का समाहित करता है और जिसका अपना एक सकारात्मक सदेश है।[2] भारतीय धम निरपेक्षता सकीण उत्तेजक श्रेणी मे नही आती है। जैसा कि डा० राधाकृष्णन् ने कहा है, "मैं यह अधिकृत रूप से कहना चाहता हू कि धम निरपेक्षता का अथ अधम नही है। इसका अथ यह है कि हम सभी धर्मों और विश्वासो का सम्मान करते हैं और हमारा राज्य किसी धम विशेष से तादात्म्य नहीं स्थापित करता।' सिद्धान्तत धम निरपेक्षता धर्मेतर, धम विरोधी व सशयवादी हो सकती है लेकिन भारतीय धम निरपेक्षता ऐसी नकारात्मक दृष्टि को स्वीकार नही करती। वह धम की आवश्यकता और उसके अस्तित्व को मान्यता देती है यद्यपि धम का राज्य व उसकी सामाजिक, आर्थिक गतिविधियों से पृथक करन का उसका एक सुविचारित प्रयास भी हाता है। यह भारतीय धम निरपेक्षता का एक सकारात्मक पक्ष है। जब तक धम अपने वध बधनो म होता है तब तक धम निरपेक्षता धार्मिक रूप से इसके प्रति तटस्थ रहती है।

सविधान की धारा 14 म कानूनो के सम्मुख समानता तथा सभी नागरिको के लिए कानूनो द्वारा समान सरक्षण की गारन्टी निहित है। एक अथ मे, यह समानता, अथवा सरक्षण भारतीय सविधान का मूल आधार है। समानता के इस मूल अधिकार से ही अन्य मूल अधिकार प्रवाहित होते हैं और इन मूल अधिकारो का तेजस्वी प्रवाह स्पष्टत भारतीय सविधान का धम निरपेक्ष स्वरूप प्रकट करता

1 स्मिथ उपरोक्त

2 पी बी गजेन्द्र गडकर धम निरपेक्षता तथा भारतीय सविधान (राज० वि० वि० जयपुर के अठारहवें दीक्षान्त समारोह के अवसर पर दिये गये भाषण से उद्धृत)

है। संविधान ने अपने इस दर्शन के अनुकूल कि नागरिकों द्वारा पालन किए जाने वाले समस्त धर्मों को अनिवार्यतः समान संरक्षण मिले, अपनी धाराओं में इससे सम्बन्धित विशिष्ट प्रावधान नियत किए हैं। धारा 25 अन्तरात्मा (Conscience) तथा व्यवसाय की स्वतन्त्रता की गारन्टी देती है जबकि धारा 26 धार्मिक मामलों की व्यवस्था से सम्बन्धित स्वतन्त्रता प्रदान करती है। ये दोनों धारायें समस्त धर्मों को समान संरक्षण प्रदान करती हैं किन्तु इस संरक्षण से सम्बन्धित सर्वाधिक महत्वपूर्ण पक्ष यह है कि ये संरक्षण कुछ निश्चित बुनियादी अभिभावी मान्यताओं (Overriding Considerations) के अधीन हैं। संविधान ने यह स्पष्ट घोषणा की है कि धर्म को हर स्थिति में उसकी उचित सीमा में कार्य करना चाहिए और किसी भी स्थिति में राज्य की सामाजिक आर्थिक गतिविधियों में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। ये सामाजिक आर्थिक गतिविधियां तत्सम्बन्धी न्याय के आदर्श से प्रेरित हैं और इसकी प्राप्ति के लिए राज्य ने एक समतावादी लोक कल्याणकारी राज्य का साहसिक पद प्राप्त करने का प्रयास किया है। इस खोज की पूर्व आवश्यकता के रूप में लोक व्यवस्था महत्वपूर्ण है, नैतिकता महत्वपूर्ण है जन स्वास्थ्य अपरिहार्य है और मूल अधिकार आवश्यक है, इनकी महत्ता अभिभावी है और धर्म को उन पर आधिपत्य का अवसर नहीं दिया जायगा।[1]

यदि अस्पृश्यता को किसी धर्म ग्रन्थ के आधार पर निर्धारित करने का दावा किया जाता है तो उस स्थिति से निबटने के लिए संविधान की धारा 17 में उनके उन्मूलन सम्बन्धी निश्चित व्यवस्था की गई है। संविधान ने यह घोषणा की है कि ऐसे धर्म ग्रन्थ अथवा व्यवहार की कोई वैधता नहीं है क्योंकि उससे समुदाय की सामाजिक आर्थिक गतिविधियों में हस्तक्षेप होता है इसलिए संविधान ने सामाजिक आर्थिक क्षेत्रों में धर्म के हस्तक्षेप की चुनौती का सामना किया है। हिन्दू कोड बिल की स्वीकृति एवं अन्य सामाजिक कानूनों से यह भी स्पष्ट होता है कि देश के आर्थिक सामाजिक जीवन में धर्म निरपेक्षता का विचार किस प्रकार क्रमशः सफलता प्राप्त कर रहा है। हिन्दू समुदाय ने यह स्वीकार कर लिया है कि व्यक्तिगत कानूनों से सम्बन्धित व्यवस्थाएं धर्म निरपेक्षता विषयों के आधीन हैं और उनका संकीर्ण

---

1 विस्तृत अध्ययन के लिए देखिए —

गजेन्द्र गडकर, पी बी "दि कान्स्टीट्यूशन आफ इण्डिया (इट्स बेसिक फिलॉसफी एण्ड बेसिक पोस्टुलेट्स") आक्सफोर्ड, 1972 पृ 63 68

मेनन, वी के एन "इण्डिया सिन्स इनडिपेन्डेन्स—फ्रोम दि प्रीएम्बल टू दि प्रजेन्ट" देहली, एस चान्द एन्ड क०, 1970 पृ 1 16

स्मिथ, डोनाल्ड "इन्डिया एज ए सेकुलर स्टेट", प्रिन्स्टन न्यू जरसी प्रिन्सटन यूनिवर्सिटी प्रस, 1963 पृ 493 497

मान्यताओं से कोई सरोकार नहीं है। उनकी वैधता सम्बन्धी कोई भी निर्णय जनता के सामान्य हित एवं सामाजिक आर्थिक कल्याण जैसे विवेकी तथा वैज्ञानिक आधारों पर ही लिया जाना चाहिए।

इस अर्थ में धर्म निरपेक्षता की दृष्टि यद्यपि भौतिकवादी है लेकिन इसकी जड़ें नैतिकतावादी हैं। यह भारतीय धर्म निरपेक्षता का व्यापक, समग्र, प्रगतिशील व दूरदर्शी आधार है। इसका लक्ष्य भारत में एक ऐसे एकरूप समुदाय का निर्माण करना है जो देश के प्रति निष्ठावान हो, जिसके नागरिक भारत की एकता व अखण्डता के आदर्श के प्रति समर्पित हो और जो सामाजिक आर्थिक न्याय उपलब्ध कराने के राष्ट्रीय लक्ष्य की दिशा में अपना योगदान दे। इस प्रकार धर्म निरपेक्षता एक समग्र, व्यापक एवं गतिशील विचार है।

धर्म निरपेक्षता एवं 45 वां संशोधन विधेयक —

संविधान की प्रस्तावना (Preamble) में 42 वें संविधान संशोधन अधिनियम 1976 द्वारा जो धर्म निरपेक्ष (Secular) शब्द जोड़ा गया था, उसे प्रस्तावित 45 वें संशोधन विधेयक द्वारा निकाला नहीं जा रहा है। तथापि शब्दों का क्रम बदल दिया गया है। "एक सम्प्रभु समाजवादी, धर्म निरपेक्ष, जनतान्त्रिक गणराज्य" (A Sovreign Socialist, Secular, Democratic, Republic) के स्थान पर भारत को नये विधेयक में "एक सम्प्रभु, जनतान्त्रिक, धर्मनिरपेक्ष समाजवादी गणराज्य" ("A Sovereign Democratic Secular Socialist Republic") कहा गया है। कहने का तात्पर्य यह है कि 'धर्म निरपेक्ष' इस पंक्ति में पहले भी तीसरे स्थान पर था, और अब भी इस उसी जगह रखा गया है।

जैसाकि ऊपर बताया जा चुका है कि संविधान के अनुच्छेद 25 से 30 तक ही अब तक 'धर्म निरपेक्षता' से सम्बन्धित व्यवस्थाएं समझी जाती रही हैं। वास्तव में, वैधिक दृष्टि से 'धर्म निरपेक्षता' शब्द अत्यन्त अस्पष्ट एवं विवादास्पद है जबकि अनुच्छेद 25 से 30 धार्मिक स्वतन्त्रताओं एवं उदारवाद के विभिन्न पहलुओं पर स्पष्ट रूप जोर डालते हैं। इन अनुच्छेदों के अर्थ को ही और अधिक स्पष्ट करने के स्थान पर धर्म निरपेक्ष (Secular) जैसे अस्पष्ट शब्द के शामिल करने से भ्राम कभी भ्रामक स्थिति पैदा हो सकती है।

(7) संघीय राज्य व्यवस्था (FederalPolity)—

किसी संघीय राज्य व्यवस्था की संवैधानिक औपचारिक संरचना का अध्ययन प्रायः उसकी परिचालन गत्यात्मकता (Opertional dynamics) को समझने में कोई उल्लेखनीय सहायता नहीं देता। संविधान में इनका राजनैतिक एवं सामाजिक आर्थिक पटक संयुक्त रूप से संघीय संरचना को जीवन्तता प्रदान करते हैं। भारत इसका कोई अपवाद नहीं है।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भारतीय संविधान निर्माताओ के समक्ष एक केन्द्रीकृत व सहकारी संघीय व्यवस्था (Centralised and Co operative Federalism) की दिशा मे विचार करने के कई कारण थे। यद्यपि यह स्पष्ट था कि भारत की विभिन्नता व उसका विस्तृत आकार श्रेष्ठतम एकीकृत निर्णयो के कुशल क्रियान्वयन मे बाधा डालेगा। इसके बावजूद भारत के नए नेतृत्व के सामने आने वाली सम्भावित समस्याओ की व्यापकता व निर्धारित लक्ष्यो के कारण केन्द्रीय सत्ता के पर्याप्त शक्तिशाली होने की आवश्यकता को महसूस किया गया ताकि विघटन को रोका जा सके और गतिशील विश्व मे परिवर्तन की दिशा दी जा सके। साम्प्रदायिकता क्षेत्रीयता, आर्थिक असतुलन व सामाजिक क्रान्तिकारी लक्ष्य आदि इन सभी ने विभिन्नता मे एकता के सूत्र की माग की जिसे संविधान मे लिखित रूप देते हुए संशोधन के साथ संघ (Union) की संज्ञा दी गई।[1]

भारतीय संघवाद का प्रारम्भ एक शक्तिशाली एकीकृत (ब्रिटिश) प्रशासकीय ढाचे की शक्ति के हस्तान्तरण से हुआ। यह हस्तान्तरण सर्वप्रथम 919 के भारत सरकार अधिनियम म तत्पश्चात् 1935 के भारत सरकार अधिनियम मे और भारत में स्वतन्त्र भारत की संविधान सभा म हुआ। यह अनुभव अमेरिकी संविधान निर्माताओ से स्पष्ट भिन्न रूप मे अर्थात् निकट अतीत मे केन्द्रीय शक्ति के प्रति निर्भरता इंगित करता है। इन तत्वो के परिणामस्वरूप कई ऐसे प्रावधानो को स्वीकार किया गया जिन्होने संघीय सतुलन के भार को केन्द्रीय प्रभुत्व के पक्ष मे कर दिया और भारतीय राजनीति को संदिग्ध बना दिया।[2]

धारा 3 मे केन्द्रीय संसद को यह शक्ति दी गई है कि वह साधारण बहुमत से नए प्रान्त का निर्माण या किसी भी राज्य की सीमा मे परिवर्तन कर सकती है। इस सन्दर्भ मे सम्बन्धित राज्यो या अन्य राज्यो की सहमति की आवश्यकता नही है। धारा 254 मे यह व्यवस्था है कि किसी भी घटना मे जहा विधान सभा द्वारा

---

1 माकु स फ्राण्डा "वेस्ट बगाल एण्ड दि फेडर लाइजिग प्रोसेज इन इडिया', प्रिन्सटन न्यू जरसी।

2 भारतीय संघ के "संघीय सिद्धान्तो" के प्रश्न पर पहला कार्य के सी व्हियर का था, "फेडरल गवर्नमेन्ट' (द्वितीय संस्करण लन्दन आक्सफोर्ड 1961) 1951 के बाद से कई लेखको ने व्हियर की भारतीय संघवाद की व्याख्या को अपनाया, उदाहरण के लिए देखें के एन, सिन्हा की कृति 'भारत का संविधान संघात्मक के बजाय एकात्मक अधिक' (माडर्न रिव्यू 19 5 पृ 448 52) साथ ही देखें सान्थानम, के 'यूनियन स्टेट रीलेशन्स इन इंडिया' बम्बई, एशिया पब्लिशिंग हाउस, 1969, पृ० 43 60

पारित कानून संघीय संसद के कानून के विरुद्ध हो तो संसद का कानून मान्य होगा। धारा 249 के अनुसार यदि राज्य सभा के दो तिहाई सदस्य स्वीकृति दें तो राज्य सूची में निहित किसी भी विषय पर संसद कानून बना सकती है। धारा 352 से 360 में संकट कालीन प्रावधान है जो राष्ट्रपति को यह शक्ति देते हैं कि वह कुछ निश्चित परिस्थितियों में और निश्चित विधि से संविधान को स्थगित करदे और राज्य (या राज्यों) का प्रशासन नई दिल्ली से चलाया जा सके। यह तब होगा जब उसे यह विश्वास हो जाए कि 'राज्य की सुरक्षा को खतरा है' या 'वहां वित्तीय संकट है या सरकार की संवैधानिक व्यवस्था वहां भंग हो चुकी है। 42वें संशोधन अधिनियम द्वारा केन्द्र राज्य सम्बन्धों के संतुलन को केन्द्र की ओर बहुत अधिक कर दिया गया। व्यवहार में भी श्रीमती गांधी के प्रधान मन्त्रीत्व काल में राज्यों की स्थिति काफी दयनीय बना दी गई। मार्च 1977 के छठे आम चुनाव में जनता पार्टी की ऐतिहासिक विजय तथा जून 1977 में दस विधान सभा चुनावों एवं फरवरी 1978 के पांच विधान सभा चुनावों के परिणाम स्वरूप अनेक राज्यों में प्रादेशिक दलों की सरकार बनने के पश्चात् यह आशा की जाती है कि केन्द्र राज्य सम्बन्धों का बिगड़ा हुआ संतुलन सही हो जायेगा तथा संविधान निर्माताओं द्वारा संघवाद का रखा गया स्वरूप पुनः कायम हो सकेगा।[1]

प. बंगाल का फाडा का विस्तृत अध्ययन यह संकेत देता है कि कई तत्व जैसे राजनैतिक दलों के ढांचे, राज्य स्तर पर दलीय व्यवस्था का स्वरूप सामाजिक वर्ग संगठन, आर्थिक वितरण और राजनीतिक संस्कृति आदि संघात्मक संविधान की क्रियाशीलता के साथ घनिष्ट रूप से सबद्ध है। चूंकि भारत एक ऐसा देश है जहां ये तत्व एक राज्य से दूसरे में अत्यधिक भिन्न हैं अतः यह अध्ययन कई प्रश्न उठाता है और इन प्रश्नों के समाधान के लिए अन्य राज्यों के साथ तुलनात्मक विवेचनात्मक अध्ययन को मुखरित करता है। ये प्रश्न हैं भारत के एक दलीय प्रभुत्व व्यवस्था का सहकारी संघीय संविधान पर क्या प्रभाव पड़ा है? तीव्र राजनैतिक गतिशीलता की प्रक्रिया संघीय संतुलन को बनाए रखने के साथ कैसे जुड़ी हुई है। संघवाद व प्रभाव की राजनीति में नए समूहों के उद्भव या मांगों की बढ़ती हुई तीव्रता के मध्य यदि कोई सम्बन्ध हैं तो उसका क्या स्वरूप है? सहकारी संघीय संविधान के इसे अति बहुलवादी समाज में क्या परिणाम हो सकते है जहां जनता का आधारभूत लगाव प्राचीन गठबंधनों से है? यह अध्ययन इस बात की ओर भी संकेत करता है कि राज्य दलीय इकाइयों की शक्ति व संयोग (कम से कम वहां जहां राज्य में केन्द्रीय प्रभुत्व वाला दल सत्ता में हो) और राजनैतिक कार्यों के लिए जनता को गतिशील किए जा सकने की मात्रा—ये दो तत्व भारत में केन्द्र राज्य सम्बन्धों के स्वरूप को स्थिर करने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। दलीय सम्बद्धता और शक्ति के प्रभाव, राज्य स्तर पर क्रियाशील दलों की अनुपस्थिति या राज्य की जनता में उस चेतना

1 राष्ट्रीय विकास परिषद (N D C) की केन्द्र राज्य संबंधों पर विशेष समिति ने 22 अगस्त, 1978 को इसके लिए एक अध्ययन दल की स्थापना की है।

का अभाव जिसे राजनीतिक कार्यों के लिए गतिशील बनाया जा सके, इन सभी घटकों को ऐसी 'कमजोरियों' के रूप मे देखा जाना चाहिए जो केन्द्र राज्य सम्बन्धों मे राज्य के नेताओ की स्वतन्त्रता प्राप्त करने की प्रभावशीलता को कमजोर करते है ।[1]

भारत की संघीय राज्य व्यवस्था से सम्बन्धित अनेक विचारो मे से दो अत्यंत महत्वपूर्ण विचार है । प्रथम के अनुसार भारत की संघ राज्य व्यवस्था का केन्द्रवाद की ओर झुकाव स्पष्टत प्रकट है । इस विचार की सर्वश्रेष्ठ अभिव्यक्ति के सी ह्वियर के कृतित्व मे हुई है । ह्वियर के अनुसार भारत एक एकात्मक राज्य है जिसके सहायक संघीय लक्षण है । दूसरे विचार का प्रतिनिधित्व पॉल एच एपलबी द्वारा किया गया है जिनके अनुसार केन्द्रीय सरकार अपनी नीतियो के क्रियान्वयन के लिए दयनीय रूप से राज्य सरकारो पर आश्रित है । वे लोग जो प्रथम विचार को मानते हैं मात्र व्यवस्थापन प्रशासन एव वित्तीय क्षेत्र मे केन्द्र की [illegible] शक्ति की ओर ही इंगित नही करते बल्कि सामान्य रूप मे योजना-कौशल [illegible] विशेष रूप से योजना आयोग की ओर भी इशारा करते हैं । इस योजना आयोग को वे संविधानेतर (extra constitutional) संस्था मानते हैं । अशोक चन्दा इस दृष्टिकोण के सर्वाधिक प्रमुख समर्थक हैं । उनका यह विचार है[2] कि योजना ने भारत मे लोकतन्त्र व संघवाद दोनो को मात दे दी है । उनका अनुमान [illegible] यद्यपि सर्वमान्यता प्राप्त नही है, विचार के लिए पर्याप्त सामग्री प्रदान करता है ।[3]

भारतीय संघ की प्रकृति—प्राय संघात्मक [illegible] स्वतन्त्र एव स्वशासित राजनीतिक इकाईयो के समझौते के परिणाम होते हैं । [illegible] रहते हुए एक होने की इच्छा होने के कारण संघ बनते हैं जिनमें राष्ट्रीय एकता और स्थानीय स्वतन्त्रता का सामंजस्य किया जाता है । सफल संघ प्राय उन्हीं राजनीतिक इकाइयों के बनते है जिनमे एक होने की इच्छा तो होती है किन्तु [illegible] अपना विलय स्वीकार नहीं

1 विस्तृत अध्ययन के लिए देखें [illegible], [illegible] एव [illegible] दि [illegible] एण्ड पोलिटिक्स ऑफ इण्डिया", लन्दन, 1971, पृ० 19-27, [illegible] पृ० 150–156 एव पृ० 161–16[illegible] तथा नारायन, इकबाल [illegible] पी सी 'यूनियन स्टेट [illegible] इन इण्डिया ए [illegible] राजस्थान", जनरल ऑफ [illegible] पालिटिकल स्टडीज [illegible] पृ० 1[illegible]0–140

2 अशोक चन्दा 'फेडरलिज्म इन इण्डिया' (लन्दन, [illegible] 1965, पृ 270–290)

3 विस्तृत अध्ययन के लिए [illegible], अमल [illegible] फेडरल सीस्टम' कलकत्ता, [illegible], 1970 ई

होता। दूसरे ग्रनुरूप ग्रवस्था भौगोलिक दृष्टि से निकटता और स्वतन्त्रता व स्वशासन का ग्रनुभव होती है। उपयुक्त तत्वो का होना सघ के लिए शास्त्रीय दृष्टि से परमावश्यक माना जाता है। शास्त्रीय दृष्टि से भारत के सघ की इकाइयों म ये लक्षण उस प्रकार विद्यमान नही थे जैसे कि अमरीकी उपनिवेशों मे थे जिन्होने पूर्ण स्वेच्छा से सघ की व्यवस्था की थी। इस प्रकार भारतीय सघ इकाई-राज्यो की स्वेच्छा से ज मे समझौतो के ग्राधार पर नही बना। इस सघ की शक्ति का स्रोत भारतीय जनता है, केन्द्र व राज्यो के बीच किये गये समझौते नही। इस लक्षण पर भाषण देते हुए सरदार वल्लभ भाई पटेल ने स्पष्ट कहा था कि भारतीय सघ जनता के बीच समझौते का परिणाम है। वह जनता की सम्प्रभुता पर ग्राधारित है। उन्होंने कहा, "The Indian Constitution did not form "an alliance between democracies and dynasties, but a re dy Union of the Indian people built upon the basic concept of the sovereign people [1] यह लक्षण सविधान को सघ न कह कर 'यूनियन' कहने से निश्चित हो जाता है। डा बी ग्रार ग्रम्बेडकर ने सविधान के प्रारूप प्रस्तुत करते हुए कहा कि 'यूनियन' शब्द विशेष दृष्टि से प्रयोग मे लाया गया है। इसके दो ग्रथ हैं—प्रथम, सघ केन्द्र व इकाई राज्यो के समझौते का परिणाम नही है। द्वितीय, इस सघ म इकाई-राज्यों को पृथक होने का कोई ग्रधिकार नही है। इस प्रकार भारतीय सघ ग्रम रिकी सघीय सविधान के सिद्धांत का एक विकसित रूप है। भारतीय सघ मे केन्द्रीय सरकार राज्य सरकारों से ज्यादा शक्तिशाली बनायी गयी है, जिसे हम इस प्रकार देख सकते हैं—

(a) भारतीय सघ और इकाई राज्यो के बीच विधायी शक्तियो का विभाजन—भारतीय राजनीतिक तत्र मे केन्द्र और इकाई राज्यो की विधायी शक्तियो को विस्तार से लिखा गया है। 1935 के ग्रधिनियम की तुलना में 1950 के सविधान में केन्द्रीय सूची में 59 के स्थान पर 97, राज्य सूची में 44 के स्थान पर 66 तथा समवर्ती सूची में 36 के स्थान पर 47 विषय रखे गये हैं। ध्यान देने की बात यह है कि राज्य सूची के विषय केन्द्र के सम्भावित नियत्रण से पूर्ण मुक्त नही है। राज्य सूची के विषयो पर केन्द्र द्वारा तीन ग्रवस्थाग्रो म कानून बनाये जा सकते हैं। प्रथम ग्रवस्था सकट काल की है जिसकी घोषणा होने पर राष्ट्रपति राज्यसूची के विषय पर केन्द्रीय ससद को कानून बनाने का ग्रधिकार दे सकता है। दूसरी ग्रवस्था राज्यों की स्वेच्छा की है जिसके ग्राधार पर वे किसी भी विषय पर ससद से कानून बनाने की प्रार्थना कर सकते हैं। तीसरी ग्रवस्था राज्य सभा द्वारा उपस्थित तथा मत देने वाले सदस्यो के दो तिहाई बहुमत से राज्य सूची के किसी भी विषय को राष्ट्रीय महत्व का घोषित किये जाने की है। इस ग्रवस्था में राज्य का उस विषय पर कानून

1 The Constitutional Assembly Debate (C A D)

बनाने का अधिकार समाप्त नही होता किन्तु केन्द्रीय सरकार को भी यह अधिकार मिल जाता है। इस आशय से पारित किये गये प्रस्ताव से एक वर्ष तक अधिकार मिलता है। इस प्रकार का प्रस्ताव एक दो वर्ष के लिये कई बार पारित किया जा सकता है। इस प्रकार के प्रस्ताव के आधार पर बनाये गये कानून प्रस्ताव की अवधि की समाप्ति से 6 महीने बाद तक प्रभावकारी रहते है। इन प्रतिबन्धों से यह स्पष्ट होता है कि राज्य सूची का विषय उससे हटाया नही जाता और केन्द्र स्थायी रूप से उस पर कानून बनाने का अधिकार प्राप्त नहीं करता। महत्व की दृष्टि से विचार करने पर विदित होता है कि विशेष महत्व के अधिकांश विषय केन्द्रीय सूची में रख गये। इस विभाजन को ध्यान में रखने से यह स्पष्ट है कि विधायी क्षेत्र में केन्द्र की प्रधानता है। जी० सी० वेंकटासुब्बाराव ने ठीक ही लिखा है कि भारतीय संघ के विधायी क्षेत्र में केन्द्र अधिक शक्तिशाली है। उन्होंने लिखा है "In India Federal supremacy in the legislative field is pronounced and so Federal authority need not be specially buttressed by the judicial interpretation-process" केन्द्र को सधि-पत्रों के पालन के लिये राज्य सूची के किसी भी विषय पर कानून बनाने का अधिकार होता है। केन्द्र राष्ट्रीय एकता की दृष्टि से पर्याप्त रूप से शक्ति सम्पन्न है।

(b) प्रशासनिक क्षेत्र मे केन्द्र व राज्य सरकारो मे शक्ति विभाजन-प्रशासनिक क्षेत्र मे केन्द्र व राज्यो के बीच विषयो के स्पष्ट विभाजन नहीं होने पर संघ संविधानो ने कानूनी औपचारिकता एवं विवादो को जन्म दिया है। कुछ विचारक इस प्रकार की जटिलता से बचने के लिए संघ संविधान को स्वीकार नहीं करने की सलाह देते है। भारतीय संविधान के निर्माताओ ने 1935 के अधिनियम से मार्ग दर्शन लेते हुये प्रशासनिक विषयो का भी विस्तार से विभाजन किया है। इस क्षेत्र मे केन्द्र की राज्य के प्रशासन मे हस्तक्षेप करने की व्यवस्थाओ का प्रावधान है। केन्द्र को राज्य की कार्यपालिका को संघीय कानून के पालनार्थ निर्देश देने का अधिकार है। संविधान के प्रारूप मे ऐसा अधिकार नही था किन्तु इस प्रकार के अधिकार की आवश्यकता का अनुभव किया गया और केन्द्र को निर्देश देने की शक्ति दी गई। इस प्रकार की शक्ति के अभाव मे राज्य केन्द्रीय संसद द्वारा पारित कानूनो को निष्क्रिय रख सकता था और ऐसा होने से संसद के कानूनो के पालन की कोई सुरक्षा नही थी। उदाहरण के लिए केन्द्रीय सरकार बिना इस प्रकार के प्रावधान के संसद द्वारा अस्पृश्यता निवारण के लिए बने अधिनियम के पालन की कोई सफलता प्राप्त नही कर सकती थी। इसी प्रकार केन्द्रीय सरकार को संसद के बनाये गये कानूनो के पालन म [illegible] को दूर रखने के लिए भी राज्य को निर्देश देने की शक्ति दी गई। [illegible] दायित्व है कि वह अपने क्षेत्र म [illegible] स्थाओ को बनाए रखे। इसी [illegible]

आदि के लिए राज्य अपने अपने क्षेत्र की अवस्थाओं के उत्तरदायी हैं। इन अवस्थाओं के अतिरिक्त केन्द्र राज्यों को केन्द्र की सेवाओं को करने का भार सौंप सकता है। राज्य द्वारा केन्द्र की इस प्रकार सेवा सम्पन्न करने में जो अधिक व्यय करना पड़े उसके लिए केन्द्र द्वारा सहायता देने का प्रावधान है। इस प्रकार के अवसर केन्द्र और राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों की विभाजन रेखा को धूमिल कर देते हैं। इस प्रकार के वातावरण में सम्भव है कि केन्द्र और राज्यों के बीच विषय की परिधि के सम्बन्ध में विवाद उठ सकता है। इस प्रकार के विवादों को निपटाने के लिए राष्ट्रपति को अन्तर्राज्य परिषद् बनाने का अधिकार है। उसके गठन एवं प्रक्रिया निश्चित करने में उसकी शक्ति पूर्ण है। इस प्रकार प्रशासन के क्षेत्र में भी केन्द्र की प्रधानता है वह राज्य के प्रशासन में हस्तक्षेप कर सकता है।

(c) केन्द्र व राज्य के बीच वित्तीय शक्तियों का विभाजन—वित्त के क्षेत्र में केन्द्र और राज्य के बीच शक्तियों का विभाजन विशेष महत्व का है। इसके अभाव में केन्द्र और राज्य दोनों में मनमुटाव के भाव उत्पन्न होते हैं। इसके अतिरिक्त नागरिकों को वित्तीय भार सहना पड़ता है चूंकि 'इम्यूनिटीज आफ इन्स्ट्रूमेंटलिटीज' के सिद्धांत के अनुसार केन्द्र और इकाई राज्यों को अपने अपने दायित्वों के निर्वाह के लिए कर लगाने का अधिकार होता है। विश्व के अनेक संघ संविधानों में इस सम्बन्ध में वित्त के अस्पष्ट सम्बन्धों के कारण बड़ी कठिनाइयां आई हैं। भारतीय राजनीतिक संघ में वित्त का विभाजन बड़ी स्पष्टता से किया गया है। केन्द्र व राज्य के वित्त के स्रोतों को निश्चित कर दिया गया है। इस प्रकार के स्पष्ट विभाजन के अतिरिक्त यह प्रावधान किया गया कि राष्ट्रपति संविधान बनाने के बाद दो वर्ष[1] और फिर पाँचवें वर्ष अथवा जब भी आवश्यक हो वित्त आयोग का निर्माण करेंगे। यह वित्त आयोग केन्द्र और राज्यों के बीच वित्त का विस्तार से विभाजन का निश्चय करेगा। विषयों में विभाजन के अतिरिक्त राज्यों को केन्द्रीय अनुदान के रूप में आर्थिक सहायता देने का भी प्रावधान किया गया है। संघ के इकाई राज्यों की आर्थिक सामर्थ्य और विकास समान नहीं होता। कुछ राज्य विशेष समर्थ तथा सशक्त होते हैं तो कुछ अन्य दुर्बल तथा अक्षम होते हैं। उनकी आवश्यकता के अनुसार केन्द्र के द्वारा राज्यों को आर्थिक सहायता दी जाती है। विभाजन की दृष्टि से भारतीय संघीय संविधान निश्चित रूप से पूर्ववर्ती संघों का परिमार्जन है। यह भी स्पष्ट है कि वित्त के क्षेत्र में विधायी एवं प्रशासनिक क्षेत्रों के समान केन्द्र की प्रधानता है। छठे लोकसभा एवं विधान सभा चुनावों (1977–78) के पश्चात् अनेक राज्य सरकारों द्वारा (विशेषकर प. बंगाल, पंजाब एवं दक्षिण भारत के राज्य) केन्द्र व राज्यों के बीच वित्तीय सम्बन्धों पर पुनर्विचार की जरूरत पर बल दिया गया है।

---

1 एम वी पायली 'कान्स्टीट्यूशनल गवर्नमेंट आफ इण्डिया', पृ 602–3

भारतीय संघ के विशिष्ट लक्षण—भारतीय संविधान में संघ और राज्यों के बीच शक्तियों के विभाजन की व्यवस्था जान लेने के उपरान्त उन लक्षणों पर भी दृष्टि डालना आवश्यक है जिनके कारण भारतीय संघात्मक व्यवस्था अन्य संघों से भिन्न अपना विशिष्ट स्वरूप रखती है। सर्वप्रथम लक्षण समवर्ती सूची की व्यवस्था तथा तीनों सूचियों में विषयों का जिस विस्तार में उल्लेख किया गया है, वैसा अन्य संविधानों में देखने को नहीं मिलता। निश्चित रूप से संघात्मक संविधानों के क्रियात्मक स्वरूप के सुधारात्मक परिणाम के कारण ही इस संविधान में विभाजन इतना विस्तार से किया गया है। द्वितीय लक्षण इकाई राज्यों के पृथक संविधान में विभाजन का न होना है। भारतीय संविधान में संघ सरकार के साथ साथ इकाई राज्यों के विधान की भी व्यवस्था है। इस कारण दोनों के संशोधन की एक ही प्रणाली है। तृतीय विशेषता राज्यों की प्रादेशिक सीमा निश्चित करने की केन्द्र को दी गई स्वतन्त्रता है। संघ सरकार राज्यों की सीमा बदल सकती है, उनको हटा सकती है और नये राज्यों को जन्म दे सकती है। चतुर्थ लक्षण दोहरी नागरिकता न रखने की है। अमरीकी संविधान के प्रतिकूल भारतीय संविधान ने भारत के निवासियों को एक ही नागरिकता प्रदान की है। किसी भी राज्य में रहने से कानून के सामने कोई अन्तर नहीं आता। सभी नागरिकों पर संघ के कानून समान रूप से लागू होते हैं और सभी भारतीय निवासियों को संविधान के अन्तर्गत दिये गये अधिकार समान रूप से मिले हुए हैं। पंचम विशेषता अन्य संघ संविधानों से भिन्न इकहरी न्यायपालिका की एकीकृत व्यवस्था है। अमरीकी संविधान के समान प्रत्येक राज्य में उसके लिए सर्वोच्च न्यायपालिका का प्रावधान नहीं है। सारे भारत के लिए एक ही सर्वोच्च न्यायालय है जो राज्यों के उच्च न्यायालयों के निर्णयों की अपीलें सुनता है तथा उनकी व्यवस्था पर दृष्टि रखता है। छठी विशेषता अन्य संविधानों से महत्वपूर्ण परिमार्जन के रूप में कठोर एवं नमनशील होने में है। प्राय संघात्मक संविधान बदलती हुई परिस्थितियों में विभाजन की कठोरता के कारण सुविधाजनक रूप से कार्य नहीं कर पाते थे। भारतीय संविधान सामान्य रूप से संघ के रूप में कार्य करने के लिए निर्मित किया गया है किन्तु संकट की स्थिति में बिना किसी कठिनाई के वह एकात्मक संविधान की तरह काम करने की सामर्थ्य रखता है। इस प्रकार के परिवर्तन के लिए किसी विशेष संशोधन अथवा प्रक्रिया से इस संविधान को नहीं निकलना पड़ता। भारतीय संघ संविधान में संकटकालीन उपबन्धों के माध्यम से यह सुविधा सम्भव हुई है। सातवीं विशेषता केन्द्र और राज्य के बीच समरूपता के विचार को गतिशील बनाने के लिए राज्य सूची के विषयों पर केन्द्र द्वारा कानून बनाने की सुविधा की है। राज्य सभा के दो तिहाई बहुमत से राज्य सूची के विषयों को राष्ट्रीय महत्व का घोषित किये जाने पर भारतीय संसद उस विषय पर कानून बना सकती है। राष्ट्रीय एवं स्थानीय विषयों का विभाजन रेखा आधुनिक विकास,

शील देशों में विशेष रूप से कठोर नहीं रह सकती है। अतएव इस प्रकार के प्रावधानों से संघ संविधान की कठोरता बदली हुई परिस्थितियों के अनुकूल बनने में बाधक नहीं हो पाती। आठवीं विशेषता राज्य की सर्वोच्च कार्यकारिणी (राज्यपाल) की राष्ट्रपति द्वारा नियुक्ति है। अन्य संघ संविधानों में यह कार्यकारिणी राज्य का विधान मंडल अथवा वहां के नागरिकों द्वारा चुनी जाती है। भारतीय संघ संविधान में राज्यपाल को राष्ट्रपति के प्रति दायित्व निभाते हुए राज्य में वैधानिक प्रधान का कार्य करना पड़ता है। इसी प्रकार भारतीय संघ की नवीं विशेषता प्रशासनिक व्यवस्था में एकरूपता लाने के प्रयत्न में है। इस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए कुछ सेवाओं का गठन अखिल भारतीय स्तर पर किया जाता है। इन सेवाओं के लिए चयन नियुक्ति तथा सेवा की अवस्थाओं की रक्षा संघ सरकार द्वारा की जाती है। इन सेवाओं के सदस्य ही राज्य की प्रशासनिक व्यवस्था के प्रमुख पदों पर कार्य करते हैं। जिले के जिलाधीश एवं सचिवालय के सचिव इन सेवाओं से ही लिये जाते हैं। इस प्रकार प्रशासनिक क्षेत्र में इन अखिल भारतीय जन सेवाओं से राष्ट्रीय एकता में बड़ी सहायता मिलती है। यह विशेषता भी अन्य संघ संविधानों के अनुभव का परिमार्जन विदित होता है। इसी प्रकार दसवीं विशेषता राज्यों के उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों की राष्ट्रपति द्वारा नियुक्ति का प्रावधान है। नियुक्ति के अतिरिक्त राष्ट्रपति को ही यह अधिकार है कि वह न्यायाधीशों का स्थानांतरण किसी भी अन्य राज्य के न्यायालय में कर सकता है। ग्यारहवीं विशेषता भारत के लिये नियंत्रक तथा महालेखा परीक्षक की व्यवस्था है जो संघ के हिसाब के साथ साथ राज्यों के हिसाब की भी परीक्षा करता है। 'इंडियन आडिट तथा अकाउन्टस् सर्विस' के सदस्य राज्यों में महालेखा परीक्षण का कार्य करते हैं। इसी प्रकार बारहवीं विशेषता भारत के समस्त चुनावों के लिए एकीकृत चुनाव आयोजन की व्यवस्था है जो एक चुनाव आयुक्त की नियुक्ती से क्रियान्वित होती है। इस चुनाव आयोग द्वारा संघ के पदाधिकारियों के चुनाव के साथ साथ राज्यों में भी चुनाव की व्यवस्था की जाती है। तेरहवीं विशेषता राज्यों में कुछ विधेयकों को प्रस्तावित करने अथवा पारित करने के लिए राष्ट्रपति की अनुमति अथवा स्वीकृति को आवश्यक रखना है। इस लक्षण वाले विधेयक उसी समय कानून बनते हैं जबकि राष्ट्रपति उन पर स्वीकृति प्रदान करता है। चौदहवीं विशेषता राज्यों की नीति को प्रभावित करने की सामर्थ्य दृष्टि से केन्द्र द्वारा अनुदान देने की व्यवस्था है। पन्द्रहवीं विशेषता केन्द्र का अन्तर राज्य विवादों अथवा उनके बीच सहयोग बनाये रखने के लिए वित्त आयोग अन्तरराज्य परिषद जैसी संस्थाओं के निर्मित करने की शक्ति देना है। सोलहवीं विशेषता ऐसी संशोधन प्रणाली है जिनमें संविधान में भिन्न-भिन्न बहुमत से संशोधन करने की व्यवस्था है। भारतीय संविधान के परिवर्तन में संशोधन की प्रक्रिया के कारण कोई कठिनाई नहीं हुई है।

भारतीय सविधान मे स घात्मक सिद्धान्त—ग्रमरीकी सविधान की सघात्मक व्यवस्था का ग्राधार सघात्मक सिद्धान्त है जिसकी विशेषता राष्ट्रीय एकता का स्थानीय स्वतन्त्रताग्रो से मेल करना है। सघात्मक व्यवस्थायें रचना म भिन्न होती हैं यद्यपि उनका ग्राधार सघात्मक सिद्धान्त है। रूस, स्विटजरलैंड, कनाडा, ग्रास्ट्रेलिया ग्रादि सभी के सविधान सघात्मक हैं चूकि इनका ग्राधार सघात्मक सिद्धान्त है। इस सघात्मक सिद्धान्त को व्यवहार मे लाने हेतु व्यवस्था ो परिस्थितियो के ग्रनुसार भिन्न भिन्न रूप दिये गये हैं। कोई भी दो सघ-सविधान बिल्कुल एक रूप नही है। इस सत्य का निश्चित रूप स मानना होगा कि भारतीय सविधान मे सघात्मक सिद्धात को ही ग्रपनाया गया है, यद्यपि ऐसा करने मे व्यवस्था सम्बन्धी कई नये प्रयोग किये है। सघात्मक सिद्धा त की दृष्टि से सविधान के निम्नलिखित लक्षणो पर ध्यान देना चाहिए —

(1) दोहरी शासन व्यवस्था
(2) शक्तियो का विभाजन
(3) सविधान का लिखित एव सर्वोच्च होना
(4) स्वतन्त्र न्यायपालिका

दोहरी शासन व्यवस्था—भारतीय सविधान मे केन्द्र ग्रौर इकाई सरकारो को वैधानिक मान्यता दी गई है। केन्द्र की सरकार राज्य की सरकारो से ग्रलग रह कर काय करती है। जिस प्रकार केन्द्र म कार्यपालिका राष्ट्रपति ग्रौर मन्त्रिमण्डल से बनती है उसी प्रकार राज्यो मे भी राज्यपाल ग्रौर उनके मन्त्रिमण्डल हैं। केन्द्र की ससद के समान राज्यो मे विधान मण्डल हैं।

शक्तियो का विभाजन—भारतीय सविधान म केन्द्र एव राज्यो के बीच मे शक्तियो का विभाजन कर दिया गया है। सघ सूची, राज्यसूची, ग्रौर समवर्ती सूची द्वारा समस्त शक्तियो को बाट दिया गया है। बची हुई शक्तियो को केन्द्र मे निहित किया है। केन्द्र ग्रौर राज्य दोनो की शक्तियो का स्रोत एक ही सविधान है।

सविधान की सर्वोच्चता—भारतीय सविधान को ग्रमरीकी सविधान के समान सर्वोच्च नही कहा गया है। किन्तु उसको सर्वोच्च ही बनाया गया है। समस्त कानून जो हैं ग्रथवा जो बनाये जावेंगे, सविधान के ग्रनुकूल होने चाहिए।

स्वतन्त्र न्यायपालिका—भारतीय सविधान द्वारा एक सर्वोच्च न्यायपालिका की व्यवस्था है जिसे सविधान की व्याख्या तथा उसकी रक्षा करने का दायित्व सौंपा गया है। धारा 13 ग्रौर 32 द्वारा उस पर विशेष दायित्व दिया गया है कि वह मौलिक ग्रधिकारो की रक्षा करे। इस दायित्व के ग्राधार पर वह व्यवस्थापिका

के बने कानूनों को अवैध घोषित करती है यदि उनके अन्तर्गत किसी भी मौलिक अधिकार का हनन होता हो।

भारतीय संघ व्यवस्था की विवेचना और उसका व्यावहारिक रूप

क्या भारतीय यूनियन' एक संघ है—भारतीय संघ व्यवस्था के संघात्मक लक्षणों पर शास्त्रीय दृष्टि रखी गई है जिसके प्रमुख कारण अमरीकी संघ व्यवस्था से तुलना करना और राज्यों को दी गई अबोध स्वतन्त्रता को शिलाधार मानना दो प्रमुख दृष्टिकोण रहे हैं। इन दृष्टिकोणों को अपनाने के कारण इस संविधान को या तो एकात्मक कहा गया है जिसमें कुछ संघात्मक लक्षण भी हैं। अथवा कुछ ने इसको अर्द्ध संघ की संज्ञा देकर कहा है कि इसमें एकात्मक तत्वों की प्रधानता है। संविधान के प्रमुख पारखी के सी व्हीयर ने इसको कुछ संघात्मक लक्षण वाला एकात्मक संविधान कहा है। उन्होंने लिखा है 'The new Constitution established indeed a system of government at the most quasi federal, almost devolutionary in character a unitary state with subsidiary federal features rather than a federal state with subsidiary unitary features" ऐसा लिखते हुए उन्होंने भारतीय संविधान को कम श्रेष्ठ नहीं माना है। वे कहते हैं 'To say that the new Constitution is not truly federal is not to criticise it adversely Federalism is not necessarily good government, it is at most a device which may secure good government in some cases' के सी व्हीयर के अनुसार आदर्श संघ-संविधान वह है जिसमें दोनों प्रकार की सरकारें एक दूसरे से पूर्ण स्वतन्त्र रह कर अपने अपने क्षेत्र में काम करती हों। इस आदर्श के निकटतम संविधान को वे संघ कहेंगे और इससे भिन्न संविधान को अर्द्ध संघ की संज्ञा देते हैं। इस प्रकार के अलगाव की कठोर भावना से संघ-संविधान विकास के युग में कभी सफल नहीं हो सकता। आज आवश्यकता संघ संविधान का विकास एवं परिवर्तन में लग समाज के लिए व्यावहारिक बनाने की है। भारतीय संविधान निर्माताओं ने संघ सिद्धान्त का निखारकर उन जटिलताओं से उसे छुटकारा दिया है जो उसके दोष कहलाते हैं और व्यावहारिक बनने में बाधक होते हैं। इस सन्तुलित दृष्टि का अपनाने पर यह ऐसा संघ है जिसमें केन्द्र को शक्तिशाली रखा गया है और जिसमें केन्द्र और इकाई राज्यों के बीच आदान प्रदान के लिए पर्याप्त अवसर दिए गये हैं। एन श्रीनिवासन ने लिखा है कि संविधान ने संघात्मक व्यवस्था की स्थापना की है।[1] डा० अम्बेडकर ने स्पष्टीकरण करते हुए कहा है कि आज के संघ संविधानों में केन्द्र स्वतः शक्तिशाली हो जाते हैं उनको इस

---

1 एन श्रीनिवासन डेमाक्रटिक गवनमेन्ट इन इण्डिया, पृ० 147

प्रकार की शक्तियो से वंचित रखने का चाहे जितना दृढ प्रयत्न किया जाय। डी० एन बनर्जी लिखत हैं कि स्वरूप म भारतीय सविधान सघात्मक है जिसमे एकात्मकता की ओर झुकाव है। भारतीय सविधान के निर्माता सघ सविधान के पक्ष म थे किन्तु वे उसे भारतीय परिस्थितियो एव सविधान के व्यावहारिक रूप के लिए अधिक तत्पर थे। प० जवाहरलाल नेहरू ने इस विषय मे अपने विचार रखते हुए सविधान सभा मे कहा था कि वतमान अवस्था मे दुबल केन्द्र बनाना देश के हित के लिए हानिकर होगा।[1] केन्द्र को दृढ बनाने का उद्देश्य सघात्मक सिद्धान्त को खडित नही करता बल्कि अधिक विकसित रूप से प्रकट करता है। केन्द्र को दृढ बनाने की दृष्टि से डा बी आर अम्बेडकर ने भी स्पष्ट शब्दो मे लिखा था। उन्होने कहा था कि वे 1935 के अधिनियम की तुलना मे अधिक शक्तिशाली केन्द्र बनाना चाहगे।[2] इस प्रकार भारतीय सविधान के आधारभूत सघात्मक सिद्धान्त अपनाने मे सविधान निर्माता स्पष्ट मत के थे। डा बी आर अम्बेडकर ने स्पष्ट रूप से इस मत को स्वीकार करते हुए कहा, "The chief mark of federalism lies in the partition of the legislative and executive authority betw en the Centre and Units by the Constitution This is the principle embodied in our Constitution There can be no mistake about it It is therefore wrong to say that the States have been placed under the Centr "[3]

भारतीय सघ व्यवस्था मे सैद्धान्तिक विवेचन के पश्चात् इसके स्वरूप का वास्तविक मूल्याकन उसके व्यावहारिक रूप पर दृष्टि डालने स ही हो सकता है। वास्तव म आचरणमूलक अध्ययन राजनीतिक तत्वो के वास्तविक रूप पर प्रकाश डाल कर वैज्ञानिक निष्कष प्राप्त करने मे सहायता करते है। भारतीय सघ के सचालन न होने की शकाओ के लिए उसके व्यावहारिक रूप को समझने पर, कोई स्थान नही रहता। इसका कारण यह है कि संस्था का रूप उन व्यक्तियो के आचरण से चलता है जो उसको सचालित करत है।

केन्द्र की प्रधानता और राज्य –

सब प्रथम यह देखना है कि अधिक शक्तियो से सम्पन्न होने क कारण क्या केन्द्र न राज्यो को नगर पालिका मात्र बना दिया है? क्या राज्यो का अस्तित्व नही के बराबर रह गया है? तथ्य स्पष्ट करते हैं कि व्यवहार मे राज्य केन्द्र से

1 'देखिए कास्टीटयूशनल असेम्बली डिबेटस," अगस्त 20, 1947

2 उपयुक्त वोल्यूम एक पृ० 99

3 उपयुक्त, वोल्यूम सात पृ० 33

अधिक शक्तिशाली रहे हैं और उन्होंने केन्द्र की नीति को पर्याप्त मात्रा में प्रभावित किया है। साथ ही केन्द्र ने भी राज्यों पर छा जाने की वृत्ति कहीं भी नहीं दिखाई है। केन्द्र का प्रयास यही रहा है कि वह प्रत्येक राज्य को अपने क्षेत्र में पूर्ण स्वतन्त्रता से कार्य करने का अवसर दे। केन्द्र ने अपने साधनों को इस दिशा में भी काम में लिया है। इस सम्बन्ध में पहले दशक के अनुभव के आधार पर एम. वी. पायली ने दृढ़ मत प्रकट करते हुए लिखा है, "The experience of the last decade shows that the federal system, on the whole, worked remarkably well The apprehensions of the critics that the Centre being too strong would devour the States and that they would be reduced to the administrative units of the union, have not materialised On the contrary the states have been holding their own and maintaining their individuality and independence within the framework of the Constitution" यद्यपि 25 जून 1975 को लागू की गई आपातकालीन स्थिति के दौरान राज्यों की स्थिति काफी दयनीय हो गई थी।

राष्ट्रपति शासन और संघात्मक व्यवस्था—भारतीय संघ संविधान में संकट कालीन अवस्थाओं में राष्ट्रपति को राज्यों के शासन पर केन्द्र का नियन्त्रण लगाने की शक्ति दी गई है। इस शक्ति के द्वारा यह सम्भावना थी कि केन्द्र तानाशाही सत्ता का स्वरूप ले ले और इस धारा का आश्रय लेकर संघात्मक सिद्धान्त को व्यवहार में निष्क्रिय कर दे। यहां भी व्यवहार केन्द्र की प्रधानता के प्रावधानों की उपयोगिता को प्रमाणित करता है। इस प्रकार की पहली घोषणा पंजाब में राज्यपाल के प्रतिवेदन के आधार पर की गई और अनुकूल अवस्था आने पर वहां उत्तरदायी शासन प्रारम्भ कर दिया गया, जिसके साथ राष्ट्रपति शासन समाप्त हो गया। राष्ट्रपति शासन प्रारम्भिक वर्षों में कुछ अपवादों को छोड़कर राजनीतिक अस्थिरता के कारण लागू करना पड़ा। राष्ट्रपति शासन लागू करने से पूर्व भरसक प्रयत्न किया गया कि या तो कोई दूसरे मन्त्रिमण्डल का विकल्प निकल आवे अथवा हारा हुआ मन्त्रिमण्डल ही अगले चुनाव तक शासन चलाना स्वीकार करले। दोनों अवस्थाओं के न होने पर ही यह शासन लागू किया गया। राष्ट्रपति शासन लागू होने के पश्चात् राज्य की विधायी शक्ति संसद को दे दी गई और सामान्य शासन के लिए कुछ परामर्शदाता नियुक्त कर दिये गये। प्रयत्न यही रहा कि शीघ्र से शीघ्र राष्ट्रपति शासन समाप्त किया जाय और राज्य के शासन में उत्तरदायित्वपूर्ण मन्त्रिमण्डल अपना कार्य करें। इस प्रकार जहां केन्द्र के लिए राज्यों के शासन पर छा जाने के लिए अनुकूल अवसर थे वहां भी ऐसा नहीं हुआ। केन्द्र के साथ राज्य सशक्त तथा अपने क्षेत्र में स्वतन्त्र रहे तथापि आलोचकों के अनुसार 1967 के पश्चात् केन्द्र ने अपनी इस शक्ति का दलीय स्वार्थों हेतु दुरुपयोग किया।

योजना आयोग और भारतीय संघ व्यवस्था—भारतीय संविधान मे केन्द्र एवं राज्यो के मध्य विधायी, प्रशासनिक एवं वित्तीय विभाजन से स्वतन्त्र एक नई शक्ति का राजनीतिक तन्त्र मे निर्माण हुआ जिसने संघ व्यवस्था को बडा प्रभावित किया। योजना आयोग के कार्यों ने केन्द्र और राज्यो के बीच सहयोग के सम्बन्ध को बढ़ाया। राज्य सूची के कई विषयो मे केन्द्र के हस्तक्षेप का स्वागत ही नही बल्कि आह्वान किया गया। केन्द्र और राज्यों के सहयोग को ध्यान म रखते हुए इस संघ को 'कोआॅपरेटिव फॅडरेलिज्म' का नाम दिया जाने लगा। इस प्रकार की व्यवस्थाओ म भी राज्यो के स्तर मे केन्द्र की दृष्टि से गिरावट नही आई। एम वी पायली ने कहा है कि योजना के कार्यों मे राज्यो के क्षेत्र म केन्द्र का हस्तक्षेप उनकी पूर्ण सहमति से हुआ है। केन्द्र ने राज्यो से परामर्श करने मे विशेष रुचि ली है। इस सम्बन्ध म एपलबी के विचार विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।[1] उन्होने लिखा है कि केन्द्र राज्यो पर बहुत अधिक आश्रित है। इतने विशाल दायित्वो वाली केन्द्रीय सरकार विश्व के किसी भी संविधान मे इतनी आश्रित नही हैं। इस कथन से यह स्पष्ट होता है कि विकासशील देशो म संघात्मक व्यवस्था की दृष्टि से यह संविधान पर्याप्त मात्रा मे संघ के रूप मे क्रियाशील है। इस प्रकार 'On the whole the fears of those who predicted a breakdown in federal relations as a result of other parties coming to power in states have been belied'[2]

राजनीतिक दल और संघ व्यवस्था—संघ व्यवस्था के व्यवहार पर राजनीतिक दलो की व्यवस्था का गहरा प्रभाव पडता है। भारतीय राजनीतिक तन्त्र मे 1967 तक लगभग केन्द्र और राज्यो मे एक ही दल काग्रेस की प्रधानता रही। स्थूल दृष्टि से देखने पर ऐसा लगता है कि इस प्रकार की व्यवस्था मे संघात्मक सिद्धान्त का कोई प्रयोग नही हो सकता। कुछ विचारको के अनुसार भारत की इस व्यवस्था को एक दल का शासन ही समझा जाता था किन्तु व्यवहार मे इस प्रकार की स्थिति नही थी। 1967 के पश्चात् अन्य दलो की सरकारें राज्यो मे बनी हैं। केन्द्र को उनके साथ सम्बन्ध बनाने पडे है। राजनीतिक विरोध के आधार पर केन्द्र को नये राज्यो का निर्माण करना पडा है। यदि केन्द्र का एकाधिकार होता तो संघात्मक दृष्टिकोण का व्यवहार म आना सम्भव ही न था। अलेग्जेंड्रोविज ने इस तथ्य को ध्यान मे रखते हुये भारतीय संघ व्यवस्था को लम्ब रेखा मे विभाजित संघ माना है। उन्होने लिखा है India is undoubtedly a federation in which the attributes of statehood are shared between the Centre and

---

1 एम वी पाइली 'कान्स्टीट्यूशनल गवनमेन्ट ऑफ इण्डिया पृ० 601

2 रजनी कोठारी 'पॉलिटिक्स इन इण्डिया', पृ० 304

local States Instead of defining her by the vague term of quasi federation it seems more accurate to exclude her from the category of administrative federations and to consider her a federation with vertically divided sovereignty Moreover, the position of local State is also strengthened by two significant developments, one connected with the formation of opposition or coalition governments in a number of local States the other with re-organisation of the Union on linguistic lines ' इस तथ्य के समर्थन मे राष्ट्रपति के मनोनयन प्रधान मन्त्री के चयन एव केन्द्र के द्वारा लिये जाने वाले निर्णयो मे राज्यो के मुख्य मन्त्रियो का महत्व राज्यो की स्थिति का दृढ बनाने वाला है । रजनी कोठरी ने बल देते हुए लिखा है कि कई विषयो म राज्यो ने केन्द्र से दबाव डालकर सुविधाएं प्राप्त की हैं । वे लिखते है "A review of the government and administration of India since independence dispels such views Frequently the State governments have been able to exercise considerable influence and to extract number of concessions from the Centre on a variety of issues [1]

क्षेत्रीय परिषदें और भारतीय सघ व्यवस्था—क्षेत्रीय परिषदो का जन्म राज्यो की स्वतन्त्र भावना के कारण प०जवाहरलाल नेहरू के सुझाव पर हुआ । इस व्यवस्था के अनुसार राज्यो को कुछ प्रदेशो म बाटा गया । प्रत्येक प्रदेश मे एक परिषद् का निर्माण करना था जो 3 सविधान राज्यो को पारस्परिक विचार विनिमय का अवसर देगी । इस प्रकार परिषदो का निर्माण हुआ । प्रत्येक परिषद् का अध्यक्ष राष्ट्रपति द्वारा मनोनीत केन्द्रीय मन्त्री होता है । उसके अतिरिक्त प्रत्यक सविधान राज्य से मुख्य मन्त्री तथा अन्य मन्त्री होते हैं । इस प्रकार इन क्षेत्रीय परिषदो के माध्यम से राज्य स्वतन्त्रता से विचार विनिमय कर सकते हैं । केन्द्र द्वारा दबाव की नीति नही अपनाई गई है । ये क्षेत्रीय परिषदें केवल विचार विनिमय एव परामर्श देने के लिए हैं ।

भारतीय राजनीतिक तत्र म सघ व्यवस्था भी विविधता म एकता लाने का साधन रही है । इसम केन्द्र व राज्यों को एक दूसरे से अधिक शक्ति सम्पन्न बनाने के लिए कोई स्थान नही है । दोनो म इस प्रकार की शक्तिया हैं जिनसे दोनो के सम्बन्धों को सघात्मक सिद्धान्त पर आधारित होकर सहयोग से बढने मे सहायता मिलती हैं ।

सघवाद एव 42 वा सविधान सशोधन—जैसाकि हम ऊपर देख चुके हैं कि भारत मे सघवाद का झुकाव कनाडा की भाँति केन्द्र की ओर अधिक है तथा यह

1 रजनी कोठारी, उपयुक्त पृ० 119

झुका व 1976 तक के विभिन्न संशोधनों द्वारा और भी बढ़ा दिया गया और 42 वें संशोधन अधिनियम ने निम्नांकित पहलुओं में केन्द्र की शक्तियों का और अधिक विस्तार कर दिया :—

(i) नवीन अनुच्छेद 257–A द्वारा संघीय सरकार को किसी भी राज्य में 'कानून व व्यवस्था की गम्भीर हालत' (Grave Situation of Law and Order) का सामना करने के लिए सशस्त्र सेनाओं (Armed Forces) को भेजने का अधिकार प्रदान कर दिया गया। पहले यह व्यवस्था 'In aid of the civil power' के अन्तर्गत थी, जिसके कारण यह राज्य की इच्छा पर था कि वह सेना को बुलाये या नहीं। किन्तु इस नवीन व्यवस्था ने राज्यों के दृष्टिकोण की निम्न आधारों पर उपेक्षा कर दी—

(a) यह पूर्ण रूपेण संघीय सरकार को अधिकार प्रदान करता है कि वह निर्णय करें कि क्या किसी राज्य में कानून व्यवस्था की गम्भीर हालत' पैदा हो गई है।

(b) इस शक्ति को प्रयुक्त करने से पूर्व राज्य सरकार से परामर्श करना भी आवश्यक नहीं है।

(c) राज्य के संघीय सेनाओं के नियन्त्रण में रहने की अवधि भी पूर्णतः संघीय सरकार की इच्छा पर निर्भर करेगी।

(d) राज्यों में इन संघीय सेनाओं के कार्यरत रहने की अवधि में इन पर नियन्त्रण के मामले में राज्य सरकार का कोई हस्तक्षेप नहीं होगा।

(ii) संघीय संसद को निम्नांकित अतिरिक्त विधायी शक्ति और प्रदान कर दी गई —जैसे—

(a) राष्ट्र विरोधी गतिविधि (anti national activity) के सम्बन्ध में पूर्ण विधायी शक्ति (Art 31 D–2)

(b) राज्य व्यवस्थापिकाओं सहित सम्पूर्ण भारत के लिए 'लाभ के पदों' (Offices of Profit') के सम्बन्ध में अयोग्यता के आधारों को निश्चित करने की पूर्ण शक्ति [Art 102 (1) a, 191 (1)a]

(c) संघ एवं राज्यों दोनों के सम्बन्ध में सेवाओं सम्बन्धी प्रशासकीय पंचाटों (Administrative tribunals for Service matters) को स्थापित करने की पूर्ण शक्ति (Art 323)

(d) सूची एक में एक और प्रविष्टि (Entry 2–A को जोड़ने के सम्बन्ध में (संघीय सशस्त्र सेनाओं को किसी राज्य में भेजना)

(e) समवर्ती सूची (सूची तृतीय) में अनेक नवीन प्रविष्टियां जोड़ने के सम्बन्ध में तथा इस प्रकार अनेक मामलों में राज्य का

सीमित करने के क्रम मे (राज्य सूची मे से अनेक विषय निकाल कर जैसे न्याय का प्रशासन, वन, वनीय पशु एव पक्षी, जनसंख्या नियंत्रण परिवार-नियोजन, शिक्षा, नाप-तोल आदि को समवर्ती सूची म शामिल कर दिया गया।)

जनता पार्टी का शासन एवं संघवाद—मार्च 1977 के आम चुनाव म जनता पार्टी द्वारा भारी विजय प्राप्त करने के पश्चात् ससद के सयुक्त अधिवेशन म कार्यवाहक राष्ट्रपति द्वारा जो अभिभाषण पढ़ा गया वह नयी सरकार के सकल्प का दस्तावेज माना जा सकता है। सरकार ने अन्य बातों के अतिरिक्त यह आश्वासन दिया कि सविधान मे सशोधन करने के लिए वह एक विधेयक प्रस्तुत करेगी। इन सशोधनो का उद्देश्य होगा कि सविधान निर्माताओ की भावनाओ के अनुरूप जनता और ससद ससद और न्यायपालिका न्याय पालिका और कार्यपालिका, राज्य और केन्द्र व नागरिक तथा सरकार के बीच सतुलन स्थापित हो।

एतदर्थ जनता सरकार ने किस्तो के रूप मे प्रथमत 43 वा सशोधन विधेयक पारित करवाया जिसके अन्तर्गत अन्य बातो के अलावा 42 वें सशोधन अधिनियम द्वारा शामिल किए गए अनुच्छेद ('31-D') राष्ट्र विरोधी गतिविधियो के सम्बन्ध म ससद को प्रदान की गई शक्ति) को हटाने की भी व्यवस्था है। शेष दुष्कृतियों के हटाने के लिए कहा गया कि सरकार एक वृहत सशोधन विधेयक प्रस्तुत करेगी।

नौ विधान सभाए भग सघीय ढाचे का प्रश्न—30 अप्रेल 1977 को 'जनता' मत्रीमण्डल की सलाह पर कार्यवाहक राष्ट्रपति श्री बी डी जत्ती द्वारा नौ कांग्रेस शासित राज्यो की विधान सभाए भग करने पर कांग्रेस ने हलको मे क्षोभ एव असतोष के साथ इसे असवैधानिक एव अप्रजातान्त्रिक बताया गया। कांग्रेस कार्यसमिति ने अपनी अनौपचारिक बैठक के बाद एक वक्तव्य मे कहा कि केन्द्रीय सरकार ने नौ राज्यो की विधान सभाए भग करके देश के सघीय ढाचे (Fedearl Structure) को गहरी क्षति पहुँचाई है। केन्द्र सरकार के अनुसार चू कि मार्च 1977 के चुनाव लोकतन्त्र बनाम तानाशाही और आपात काल के मुद्दो पर लडा गया था। इन मुद्दो पर वे सब राज्य सरकारें कांग्रेस की केन्द्रीय सरकार के साथ थी। विरोधी पक्ष (गैर-कांग्रेस दल) के नेताओ को जेल मे ठूस दिया गया था। तामिलनाडु (डी एम के) और गुजरात (सयुक्त जनता मोर्चा) मे विरोधी सरकारें कायम थी और वे 20+5 सूत्री कार्यक्रम के प्रति उत्साह नही दिखला रही थी अत आपातकाल के दौरान सघीय ढाचे की परवाह किये बिना उन्हें गिरा दिया गया। इसी प्रकार सविधान मे 42 वा सशोधन किया गया। जिन विधान सभाओ को भग किया गया, उन्होने सशोधन की पुष्टि की थी। इधर जनता पार्टी ने जब 42 वें सशोधन को रद्द करने का विधेयक प्रस्तुत किया तो कांग्रेस दल ने उसका भी विरोध किया। जनता पार्टी इसे रद्द करने के लिए मतदाताओं से वचनबद्ध थी, यह वचन तब तक पूरा कैसे हो सकता था, जब तक ससद मे उसे दो तिहाई बहुमत न मिले और आधी विधान सभाएँ उनके समर्थन में न हो। यह बहुमत प्राप्त करना विधान सभाओ के तुरन्त चुनाव कराये बिना

सम्भव नहीं था। और फिर सर्वोच्च न्यायालय ने केन्द्र सरकार के पक्ष मे फैसला देकर इस कदम की संवैधानिकता की पुष्टि पहले ही कर दी थी।

उच्चतम न्यायालय का विधान सभा भंग करने के मामले पर निर्णय—विधान सभाओं के विघटन के विरुद्ध निषेधाज्ञा जारी किए जाने सम्बन्धी छह राज्य सरकारों की याचिकाओं को नामंजूर किए जाने का कारण बताते हुए 6 मई 1977 को उच्चतम न्यायालय ने कहा कि राज्य विशेषाधिकारों की मन्त्रिमण्डल और विधायकों के अधिकार से तुलना नहीं की जा सकती। सभी न्यायाधीशों ने अपने पृथक पृथक निर्णय में इस बात पर सहमति व्यक्त की कि राज्य में विधान मण्डल का विश्वास प्राप्त मन्त्रिमण्डल को शासन करने का कानूनी अधिकार है परन्तु केन्द्र को भी राज्यों में राष्ट्रपति शासन लागू करने का अधिकार संविधान ने प्रदान किया है। उच्चतम न्यायालय ने यह भी कहा कि गृह मन्त्री चौ० चरणसिंह ने जिन कारणों से नौ राज्यों के मुख्य मन्त्रियों को विधान सभाओं को भंग करा कर पुनः जनता का विश्वास प्राप्त करने की सलाह दी थी, वे सरासर असंगत नहीं थे।

इस कदम के औचित्य पर शंकाएं—लोकतान्त्रिक परिपाटी के तकाजे के आधार पर यह ज्यादा अच्छा होता कि राज्यों में कांग्रेसी सरकारें स्वतः ही त्याग पत्र दे देती। उन्होंने लोगों का विश्वास खो दिया था तथा लोकसभा के मार्च 1977 के चुनावों ने इसे सिद्ध कर दिया था। नैतिक दृष्टि से, उन्हें आगे अपने पदों पर बने रहने का कोई कारण नहीं था।

किन्तु नैतिक व राजनैतिक दृष्टि से ठीक जो है, आवश्यक नहीं, कि वह संवैधानिक दृष्टि से भी ठीक ही हो।[1] यहां ब्रिटिश उदाहरणों को रखना ज्यादा उपयुक्त नहीं होगा (जैसाकि केन्द्रीय गृह मन्त्री श्री चरणसिंह द्वारा नौ राज्यों के मुख्य मन्त्रियों को विधान सभाएं भंग करा कर पुनः जनता का विश्वास प्राप्त करने की दी गई सलाह ('Earnest Appeal') के समर्थन में अनेक विद्वानों ने गिनाये) क्योंकि ब्रिटेन में एकात्मक शासन प्रणाली है, जबकि हमारे यहां संघीय राज्य व्यवस्था है। राज्य अपने क्षेत्र में स्वायत्त सत्ता प्राप्त है तथा केवल कानून और व्यवस्था के टूटने की स्थिति में केन्द्र हस्तक्षेप करता है। इसके अतिरिक्त राज्यों में जनता अपने प्रतिनिधियों को स्थानीय मुद्दों के आधार पर (जिनसे उनका सीधा सम्बन्ध होता है) चुनती है, जबकि लोकसभा के चुनाव में उनके समक्ष वृहत दृष्टिकोण होता है। ऐसा पहले भी हुआ है उदाहरणार्थ 1967 में, जबकि लोगों ने केन्द्र में एक दल को तथा राज्यों में दूसरे दल को मत दिया।

अतः केवल इस आधार पर कि संसद में एक दल जीतता है तो प्रान्तों में दूसरे दलों की सरकारों को हट जाना चाहिए क्योंकि इस आधार का तो फिर अन्त

1 देखिए कुलदीप नायर 'मोरल्ली राइट, का स्टीट्यूशनल्ली रोंग', दी इण्डियन एक्सप्रेस 21 April 1977

ही नहीं होगा। क्या विचार गया चुनाव में अगर वह दल हार जाता है, जिसकी कि इससे पहले के लोक सभा चुनाव में जीत हुई थी तो क्या वह केन्द्र में अपनी सत्ता छोड़ देगा? इसी प्रकार एक क्षण के लिए मान लिया जाये कि नौ राज्यों के मुख्य मन्त्रियों द्वारा गृह मन्त्री की सलाह के ठुकरा दिए जाने के बाद क्या केन्द्र द्वारा राज्यपालों को इस कार्य के लिए यन्त्र के रूप में प्रयुक्त करना उचित समझा जायेगा। तकनीकी दृष्टि से वे समय समय पर' ('From time to time') विधान सभा को भंग करने को अधिकृत है (अनुच्छेद 174–2b) किन्तु यह सत्ता व अधिकार तब तक प्रयुक्त नहीं किया जा सकता है, जब तक कि उस प्रमुख दल का सदन में स्पष्ट बहुमत है। कांग्रेस ने आपात काल में तामिलनाडु की डी एम के सरकार को हटाया, परिणाम स्वरूप उसे चारों तरफ से आलोचनाओं का शिकार होना पड़ा। वर्षों पूर्व केरल में भी यही अनुभव रहा।

इससे भी आगे, मान लिया जाय कि कुछ राज्यपाल ऐसी स्थिति में केन्द्र की बात मानने से मना कर देते तो क्या नयी सरकार राष्ट्रपति को उन्हें हटाने की सिफारिश करती। यह सही है कि अनुच्छेद 156 में व्यवस्था है कि 'राज्यपाल अपने पद पर राष्ट्रपति के विश्वास पर्यन्त आसीन रहेगा' (The Governor Shall hold office during the pleasure of the President') किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है, कि उन राज्यपालों को जो इस प्रकार केन्द्र की हाँ में हाँ नहीं मिलाये, अपने पद से हट जाने को कह दिया जावे।[1] इस प्रकार इन विद्वानों के अनुसार केन्द्र सरकार का यह कदम भी उसी प्रकार का रहा है जैसाकि पूर्ववर्ती सरकार भी करती रहती थी। यह आदर्श की स्थिति नहीं कही जा सकती।

कर्नाटक में अर्स मन्त्रिमण्डल की बर्खास्तगी

केन्द्रीय जनता सरकार की ऐसी आलोचना तब की गई, जब उसने राज्यपाल की सलाह पर कर्नाटक के देवराज अर्स मन्त्रीमण्डल को बर्खास्त कर विधान सभा भंग करने का निर्णय लिया, जबकि मुख्य मन्त्री ने इससे पूर्व राज्यपाल को अपना बहुमत सिद्ध करने हेतु विधान सभा का अधिवेशन बुलाने की सलाह दे दी थी।[2]

केन्द्र राज्य सम्बन्ध (Centre State Relations) नई बहस—पश्चिम बंगाल के मुख्य मन्त्री ज्योतिबसु ने केन्द्र राज्य सम्बन्धों के पुनर्निर्धारण तथा राज्यों को अधिक स्वायत्त अधिकार देने का प्रश्न उठाया है। यह प्रश्न नया नहीं है और पहले भी कई बार उठाया गया है। देश में केन्द्र और अधिकांश राज्यों में एक ही दल का शासन होने के कारण इस प्रश्न पर वस्तुपरक बहस नहीं हुई यद्यपि सभी राज्य सरकारें जनहित एवं विकास के काम में अपनी असमर्थता प्रकट करती रही,

1 कुलदीप नायर उपरोक्त

2 देखिए 'Hasty Decision', इंडियन एक्सप्रेस, जन० 3, 1978

पर इस प्रश्न को मुख्यत गैर काग्रेसी सरकारो ने उठाया। तामिलनाडु की द्रमुक सरकार के करुणानिधि और काश्मीर के शेख अब्दुल्ला भी जब तब इस बारे मे बोलते रहे है पर दलीय राजनीति की पृष्ठभूमि के सन्दर्भ में राज्यो की स्वायत्तता की माँग के साथ सन्देह भी उठते रहे। क्योंकि द्रमुक और शेख दोनो ही जिस स्वायत्तता के प्रवक्ता रहे है वह सार्वभौमिकता का सशय उत्पन्न करती है और अब जब ज्योतिवसु काश्मीर के मुख्य मन्त्री शेख अब्दुला से मत्रणा करके केन्द्र की सुरक्षा, विदेश व सचार विषय के अतिरिक्त अन्य सभी विषय राज्यो को सोपने की बात करते हैं तो फिर पुराने सन्देह उत्पन्न करते हैं।

यह सही है कि तीस वर्ष के अनुभव के सन्दर्भ मे केन्द्र और राज्यो के सम्बन्धो पर वस्तुनिष्ठ विचार विमर्श होना चाहिए। देश मे तीस वर्ष तक केन्द्र व अधिकाश राज्यो मे एक ही दल (काग्रेस) का शासन होने के कारण राज्यो के अधिकारो का हनन हुआ है। देश का सविधान भी एक सशक्त केन्द्र के प्रति झुका हुआ है और इसका कारण देश की विशालता, व्यापकता और विविधता के साथ जुडी हुई देश की एकता और सुरक्षा का प्रश्न है। सविधान मे केन्द्र व राज्यो के अधिकारो की सूची है वह भी केन्द्र के प्रभुत्व का द्योतक है। जबकि सामान्य जनहित व विकास के कार्यों की जिम्मेवारी राज्य सरकारो की है। अनेक जनहितकारी या राज्य के विकास के काम केन्द्र की अनुमति और सहायता की निर्भरता के कारण नही हो पाते। अत जो स्थितिया और तर्क केन्द्र को मजबूत बनाने के पक्ष मे हैं लगभग वैसे ही सशक्त तर्क और कारण राज्यो को अधिक से अधिकतर सम्पन्न बनाने के भी हैं। यदि कमजोर केन्द्र से देश की एकता और सुरक्षा को खतरा है तो कमजोर इकाइयो के कारण केन्द्र मे एकाधिकारशाही की स्थापना का भी खतरा है। जून 1975 के बाद देश मे ऐसा ही हुआ और एक महत्वाकाक्षी प्रधान मन्त्री ने सविधान को तोड मरोडकर समूची सत्ता को अपनी मुट्ठी म ले लिया। यदि राज्य सरकारें मजबूत और स्वायत्त होती तो क्या यह सब इतनी आसानी से होना सम्भव होता? जैसे देश की एकता और विकास के लिए सशक्त केन्द्र की जरूरत है, वैसे ही राज्यो को स्वायत्तशाही बनाना आवश्यक है। वस्तुत केन्द्र और दोनो ही स्तरो पर मजबूती और अधिकार सम्पन्नता चाहिये। काग्रेस और जनता पार्टी दोनो ही शासन के विकेन्द्रीकरण की पक्षधर है और सविधान मे भी इसका निर्देश है। तब फिर इस प्रश्न पर राजनीति निरपेक्ष दृष्टि से वस्तुपरक विचार होना चाहिये और अनुभव व आवश्यकताओ के अनुकूल सम्बन्धो का पुनर्निर्धारण किया जाना चाहिये। स्वय जनता पार्टी द्वारा शासित राज्य एव काग्रेस शासित दक्षिणी प्रदेश भी अब आर्थिक स्वायत्तता के प्रश्न पर पुनर्विचार की माग एव आग्रह करने लगे हैं। जुलाई 978 मे चार दक्षिणी राज्यो के मुख्यमन्त्रियो के सम्मेलन एव आगे भी इस प्रकार के और सम्मेलन करने का निर्णय केन्द्र राज्य सम्बन्धो के अनेक प्रश्न उजागर करेगा।

भारत की एकता और सुरक्षा के साथ साथ आर्थिक विकास, सामाजिक कल्याण, शिक्षा, स्वास्थ्य, रोजगार आदि के प्रश्न भी महत्वपूर्ण हैं। प्रश्न वस्तुत केन्द्र व राज्य के बीच सत्ता संघर्ष या अधिकारों की छीना झपटी का नहीं, बल्कि आवश्यक स तुलन स्थापित करने का है। अत इस पर दलीय राजनीति की निरपेक्षता से वस्तुपरक विचार और निर्णय किया जाना चाहिए।

सघवाद एव 45 वां सशोधन विधेयक

सविधान के (42 सशोधन) अधिनियम, 1976 द्वारा सविधान म एक नया अनुच्छेद (अनु 257 A) जोड कर केन्द्रीय सरकार को 'कानून एव व्यवस्था की गम्भीर परिस्थिति'('Grave Situation of Law andOrder')का सामना करने के लिए सशस्त्र सेनाओं को भेजने का जो अधिकार प्रदान कर दिया गया था, उसने केन्द्र और राज्यो के बीच केन्द्र के पक्ष मे पहले से ही झुके हुए सत्ता के सन्तुलन को और अधिक झुका दिया था। मार्च 1977 के ससदीय निर्वाचन के पश्चात् राष्ट्रपति के अभिभाषण म जनता सरकार के सकल्प का स्पष्ट उल्लेख किया गया था। तदनुसार प्रस्तावित 45 वें सशोधन विधेयक म उक्त अनुच्छेद को सविधान से निकालने का प्रावधान किया गया है।

प्रस्तावित सशोधन विधेयक पर सरकार एव विपक्ष के बीच चल रही वार्ता के दौरान मार्क्सवादी साम्यवादी नेताओं ने सविधान की बुनियादी विशेषताओं ('basic features) मे किसी प्रकार के सशोधन के लिए की जा रही जनमत सग्रह ('referendum') की व्यवस्था को 'सघवाद' ('Federalism') पर भी लागू करने का आग्रह किया। जब विधि म त्री श्री शान्तिभूषण ने स्पष्ट किया कि भारतीय सविधान मात्र अर्द्ध सघात्मक (Quas -federal) है, तो मार्क्सवादी साम्यवादी दल के प्रतिनिधियो ने कहा कि ऐसी स्थिति मे सविधान के सघवाद के स्वरूप की पूर्ण समाप्ति (total abolition of the federal character) से बचने के लिए इसकी जनमत सग्रह की व्यवस्था द्वारा सुरक्षा की जानी चाहिए।

विगत कुछ वर्षों से सविधान के अनुच्छेद 356 (Provisions in case of failure of Constitutional machinery in States) के अन्तगत प्राप्त शक्ति का राज्यपाल की माफत केन्द्र सरकार द्वारा किय जाते रहे दुरुपयोग की आलोचना करते हुए विभिन्न राजनतिक दलों ने इसे सघवाद की भावना के विरुद्ध घोषित किया था। अत 45 वें सशोधन विधेयक मे यह व्यवस्था की गई है कि राज्य में राष्ट्रपति शासन शुरू में (In the first instance) अब एक वर्ष के बजाय छ महीने के लिए ही लगाया जा सकता है तथा यह अधिकतम एक वर्ष तक ही कायम रह सकता है जबकि वतमान मे यह सीमा तीन वर्ष तक बढायी जा सकती है। विधि मन्त्री ने बताया कि प्रस्ताविक विधेयक मे राष्ट्रपति शासन के अधिकतम तीन वर्ष तक की

अवधि का प्रावधान है, किन्तु ऐसा केवल तभी हो सकता है जब चुनाव आयोग यह प्रमाणित करता है कि तत्सम्बन्धी राज्य मे चुनाव कराये जाने योग्य हालात नही हैं। इससे केन्द्र द्वारा दलीय स्वार्थों की पूर्ति के लिए किये जाने वाले दुरुपयोग पर आंशिक प्रतिबन्ध लग सकेगा।

(4) संसदीय सरकार (Parliamentary form of Government)

यह सामान्यत विदित तथ्य है कि भारत में संविधान निर्माताओं द्वारा संसदीय सरकार को ब्रिटिश प्रतिमान के आधार पर ग्रहण किया गया था। क्योंकि 1919 व 1947 के बीच हजारो भारतीयो ने केन्द्र व प्रान्ता मे व्यवस्थापिका एव कार्यपालिका सम्बन्धी अनुभव अर्जित किया। प्रो मोरिस जो स[1] ने 1935 के भारत सरकार अधिनियम के बारे म सही कहा है कि 'दासता के संविधान (Slave Constitution) ने प्रा तो मे अनेको राजनीतिज्ञो को व्यवस्थापिका सम्बन्धी अनुभव प्रदान किया, शक्ति के हस्तान्तरण के लिए सभी सम्बन्धी व्यक्तियो को तैयार किया, लोकप्रिय उत्तरदायी सरकारो की स्थापना की और उन समस्त स्थलो पर इसने अनुभव प्रदान किया, जहा इसकी आवश्यकता थी। अत ब्रिटेन को भारत मे प्रतिनिधात्मक संसदीय सरकार सम्बन्धी अनुभव प्रदान करने का श्रेय देना असगत नही होगा।

अत संविधान सभा मे बैठे अधिकाश प्रतिनिधियो ने 'ब्रिटिश संविधान की भावना' को अगीकृत किया। लेकिन क्या भारतीय परिवेश मे संसदीय सरकार उपयुक्त थी ? क्या यह शिक्षा के अभाव, विशिष्ट वर्ग व जन साधारण के मध्य व्याप्त स्तर भेद और देश के विविध धार्मिक, भाषायी तथा साम्प्रदायिक गुटो म विभाजन की पृष्ठभूमि मे सफलीभूत हो सकती थी ? संविधान सभा मे कांग्रेस बहुमत का इस विषय मे निश्चित मत था कि समस्त विसगतियो के बावजूद संसदीय सरकार ही शासन का एकमात्र ऐसा विकल्प था जिस पर विचार विमर्श किया जा सकता था। अन्य विकल्प क्या थे ? गांधीवादी एक ऐसी शासन व्यवस्था पर बल दे रहे थे जो देशी परम्पराओ के अधिक निकट हो। 'ग्राम गणतन्त्र' पर आधारित इनकी विकेंद्रित व्यवस्था इतनी अस्पष्ट थी कि उस पर विचार विमर्श नही हो सकता था। राष्ट्रीय कार्यपालिका व व्यवस्थापिका की स्वतन्त्रता ही स्थायित्व व विकास के लिए पर्याप्त शक्ति प्रदान कर सकती थी। अधिकाश प्रतिनिधियो ने ब्रिटिश पूर्वाग्रह के अनुसार अमेरिकी अध्यक्षीय शासन व्यवस्था का विरोध किया। ब्रिटिश शासन व्यवस्था के पक्ष म सर्वाधिक प्रबल तर्क यह दिया जाता था कि भारत कुछ अशो मे इससे परिचित हो गया था, जैसा कि स्वय के एम मुन्शी ने कहा, "इस समूचे अनुभव के पश्चात् हम इन परम्पराओ का परित्याग क्यो करें और क्यो एक अभिनव प्रयोग

1 'गवनमेंट एण्ड पालिटिक्स इन इण्डिया

करें ?' अन्त 'वेस्टमिनिस्टर' के प्रतिमानों को सामान्य समर्थन प्राप्त हुआ। इसके अन्तर्गत केन्द्र में एक मन्त्रिपरिषद् की व्यवस्था थी जो एक द्विसदनीय व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी थी। इस व्यवस्थापिका में एक अप्रत्यक्ष निर्वाचित राज्य सभा थी और एक प्रत्यक्षतः निर्वाचित सदन लोकसभा। व्यवस्थापन की तीन अवस्थाएं हैं— (i) प्रस्तुतीकरण, (ii) विचार-विमर्श व (iii) स्वीकृति।

ब्रिटिश कॉमन सभा एवं भारतीय लोकसभा में ऊपरी आवरण समान प्रतीत होने पर भी अन्तर्निहित तत्व काफी असमान हैं क्योंकि भारतीय संसद जिस राजनैतिक वातावरण में कार्य करती है वह ब्रिटेन से काफी पृथक है। यहां के सदस्यों की अपनी अपनी अलग भारतीय पूर्वधारणाएं तथा पृष्ठभूमि है और भारतीय दल व्यवस्था की विशेषताएं ब्रिटिश द्विदलीय व्यवस्था की उन विशेषताओं से भिन्न है, जो कामन सभा को उसका वैशिष्ट्य व उत्तेजक आकर्षण प्रदान करती है। इसके बावजूद भारतीय संसद् सदस्यों का ब्रिटेन के प्रकार की संसदीय प्रक्रिया से लगाव अत्यधिक प्रबल है।

ऊपरी सदन को निचले सदन की प्रतिष्ठा कभी नहीं मिली। दूसरे सदन के निर्माण से सम्बन्धित प्रस्ताव पर संविधान सभा में बहुत कम चर्चा हुई और ऐसा आभास हुआ कि एक सदस्य के इस दृष्टिकोण पर मतैक्य था कि "आखिरकार किसी व्यापक औचित्य की आवश्यकता नहीं है। इसका उद्देश्य क्या है ? कल्पना के विपरीत है कि यह राज्यों के अधिकारों का रक्षक हो पाती क्योंकि अपनी राजनतिक सामाजिक संरचना में यह लोकसभा से बहुत कम पृथक है। व्यवहार में इसे राजनीतिज्ञों की ऐसी सभा बनाने की प्रवृत्ति है जिन्हें हम 'ऊपर ढेलने'' की इच्छा रखते हैं। एक द्वितीय विचार'' वाले सदन के रूप में इसकी कुछ उपयोगिता हो सकती है लेकिन इसका दलीय संगठन निचले सदन के इतना समान है कि इसके विचार बहुत कम मौलिकता दर्शाते हैं। इस ओर इसके अतिरिक्त अन्य कारणों से इस सदन की पर्याप्त आलोचना हुई है। के वी राव इसे एक काल्पनिक व प्रभाव शून्य रचना के रूप में प्रस्तुत करते हैं। उनका कहना है कि 'यह एक आश्रित उपेक्षित सदन रहा है— जनता द्वारा उपेक्षित, अपने मन्त्रियों द्वारा उपेक्षित और स्वयं अपने सदस्यों द्वारा उपेक्षित।'

संसद में विपक्षी दल ब्रिटेन की जटिल संसदीय संरचनाओं का विकास नहीं कर सके हैं। कुछ वर्षों से पूर्व तक किसी भी विपक्षी दल को सदन का वह महत्वपूर्ण 10% स्थान प्राप्त नहीं था जिससे कि उन्हें अधिकृत विपक्षी दल की संज्ञा दी जा सकती। इसके बावजूद विपक्षी शक्तियां उतनी शक्तिहीन नहीं रही हैं जितनी कि वे प्रतीत होती हैं क्योंकि संसदीय अवधि की मांग व समान नीतियों व वक्ताओं के प्रश्न को लेकर उनमें एकजुट होकर काम करने की प्रवृत्ति रहती है। पुरानी कांग्रेस

(सगठन काग्रेस) जनसघ, स्वतन्त्र एव ससोपा द्वारा श्रीमती इंदिरा गाँधी के सत्तारूढ काग्रेस के विरुद्ध किया गया महा गठबन्धन सीमित सफलता ही प्राप्त कर सका क्योंकि इसमे सम्मिलित साझेदारो के पारस्परिक सशय विद्यमान रहे तथा कार्यक्रम के नाम पर इसका जनता पर खास असर नही पडा। विकासशील देशो मे लोकतांत्रिक सविधानो के साथ विपक्षी दलो की भूमिका स्पष्टवादी नही होती। श्री अशोक मेहता का यह विचार था कि "यह अभिधारणा कि विपक्ष का दायित्व विरोध करना ही है, आर्थिक विकास को कठिन बना देगा।' मार्च 1977 के आम चुनावो मे काग्रेस की करारी हार होने के पश्चात् केन्द्र मे जनता पार्टी की सरकार बनी तथा स्वतन्त्र भारत के इतिहास मे पहली बार काग्रेस विपक्षी दल के रूप मे भूमिका निभाने को विवश हुआ है। आशा की जाती है कि भारतीय ससदीय व्यवस्था अब द्वि-दलीय पद्धति एव प्रतियोगी दलीय व्यवस्था की दिशा मे बढती हुई राष्ट्रीय विकास मे अपना अपेक्षित स्थान बनायेगी।

केन्द्र मे शासन की केबीनेट व्यवस्था स्वतन्त्रता के तुरन्त बाद अपनायी गई। ब्रिटेन की ही भांति यहा भी इसकी अधिकाश गतिविधियो पर गोपनीयता का आवरण चढा रहता है। सामूहिक उत्तरदायित्व के सिद्धान्त का भलीभांति निर्वाह किया गया। सामूहिक उत्तरदायित्व के सिद्धान्त के विरुद्ध जाने वाले मन्त्रियो को मन्त्रीमण्डल से हट जाने के लिए कहा जाता रहा है। चौधरी चरणसिंह को गृहमन्त्री पद से स्तीफा देने हेतु प्रधान मन्त्री का निर्देश इसका ताजा उदाहरण है।

जैसा कि विदित है कि भारत की ससदीय लोकतान्त्रिक सरकार ब्रिटिश प्रतिमान के काफी समान है लेकिन इस व्यवस्था मे एक ऐसा तत्व है जो ब्रिटेन मे कही नही है। व्यवस्था म यह निहित तत्व है—भारत का राष्ट्रपति। यह राष्ट्रपति न तो एक सवैधानिक सम्राट के समान है और न ही कम से कम वर्तमान म किसी सक्रिय राजनीतिज्ञ के।

राज्यो मे ससदीय सरकार का क्या स्वरूप है? सार रूप म यह नई दिल्ली की व्यवस्था से बहुत कम भिन्न है लेकिन राज्यो के विधान मण्डलो की सामाजिक रचना लोकसभा स काफी भिन्न है। वहा शैक्षणिक स्तर निम्नतर है और पिछले कुछ वर्षों मे असंसदीय व्यवहार अधिक देखने म आया है। पहले इन सबका कारण राज्य विधान मण्डलो की अनुभव राज्य विधान मण्डल के सदस्यो को भी ससद सदस्यो की ही भांति सम्भ्रात बना देगा। 1967 के बाद जो कुछ देखने को मिला, इस प्रकार के आत्म–सतुष्ट आशावाद के लिए बहुत कम आधार शेष रहा है।[1] इन

---

1 ए० एच० हेनसन एव जेनेट डग्लस, इण्डियाज डेमोक्रेसी', 1972 पृ० ग्र० 94–111

वर्षों मे प्रत्येक विधायक प्रो॰ पॉल ब्रास के शब्दो मे "एक क्षमतावान ब्लेकमेलर" बन गया। 1971 व 1972 के चुनावो मे श्रीमती गाधी की कांग्रेस की भारी विजय के बावजूद भी इसमे सदेह बना रहा कि ससदीय मर्यादा पूर्णत स्थापित हो सकेगी। क्योंकि अधिकाशत यह इस बात पर निर्भर था कि श्रीमती गाधी का बहुमत कितना अनुशासित रहेगा और विपक्षी दल अपनी कुठाओ की अभिव्यक्ति के लिए किस सीमा तक उत्तर दे सकेंगे। यह सन्देह तब सिद्ध हुआ जब हमने देखा कि आपात काल के दौरान सत्तारूढ दल द्वारा मनमाने ढग से न्यायपालिका एव प्रेस की स्वतन्त्रता को खत्म कर दिया गया। छठ आम चुनाव मे दिये गये जनता के फैसलेने एक झटके मे ही विश्व को चकित कर रख दिया तथा भारत म लोकतन्त्र की पुन प्रतिष्ठा कर दी गई। किन्तु जनता पार्टी के आन्तरिक सघर्ष ने हरियाणा उत्तर प्रदेश व अन्य राज्यो म 'गुट-बदल' सहित अनेक असंसदीय बुराइया को पुनर्जीवित कर दिया है।

प्रश्न उठता है कि क्या हमने सविधान मे अन्तर्निहित ससदीय सस्थाओ को मजबूत किया है अर्थात् क्या उनकी गरिमा का सस्थायीकरण हो पाया है ? या फिर व्यक्ति को सस्थाओ से अधिक महत्वपूर्ण बना दिया है। हम अब वस्तु स्थिति के अवलोकनार्थ एक एक ससदीय सस्था का अध्ययन करेंगे। ससदीय विशेषाधिकारों का प्रयोग अधिकाश सदस्यो की आपसी चरित्र हत्या करने म किया जाता रहा है। ससद मे कितने ही 'हल्ला ग्रुप्स' हो जाते हैं जो ससद की गरिमा को बढाना तो दूर, अपितु उसे अनुशासन हीनता की प्रदर्शनी मात्र बनाते रहे हैं। स्पीकर जैसे ससदीय व्यवस्था के महत्वपूर्ण पद को प्रतिष्ठा को भी ठेस पहुचाई गई है। अत्यधिक प्रभावशाली होने के बावजूद भी नेहरू ने नम्रता से दो मौकों पर स्पीकर की कुर्सी का सम्मान करते हुए श्री टी टी कृष्णामाचारी श्री के डी मालवीय व श्री प्रतापसिंह कैरो के विरुद्ध लगाये गये आरोपो की जाच कराने के लिए कमीशन की नियुक्ति की। इस प्रकार उन्होंने अपनी दोस्ती एव वफादारी को एक ओर रखते हुए ससद एव स्पीकर की इच्छाओ के आगे सिर झुकाया। किन्तु बाद म स्पीकर के पद के महत्व को कम करते हुए समय-समय पर उसे लालच का शिकार बनाया गया। श्री गुरुमुखनिहाल सिंह का दिल्ली एव श्री बनारसी दास गुप्ता को बशीलाल केबीनेट में लिया जाना इसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। सविधान म सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशो चुनाव आयुक्तो, कम्पट्रोलर एव ऑडीटर जनरल ससदीय लोक सेवा आयोग के सदस्यो, केन्द्रीय सतर्कता आयोग तथा विश्वविद्यालय के उपकुलपतियों और इसी प्रकार प्रान्तो म भी सम्बन्धित इन अधिकारियो की निष्पक्षता व निर्भयता की आवश्यकता प्रतिपादित की गई थी। आज यह पूछा जा सकता है कि कहां तक उनके लिए लालच हीनता के स्पष्ट प्रावधान हैं ताकि वे स्वतन्त्रतापूर्ण ढग से व कार्यपालिका के प्रभाव से मुक्त होकर अपना काम कर सकें। किन्तु दुर्भाग्य है कि हमारे देश म ये सस्थाए भी कार्यपालिका द्वारा सुझाये गये प्रभावशाली लालचों के कारण मजाक बना कर रह

गई हैं। सर्वोच्च न्यायालय के पदासीन न्यायाधीश का साथ मे कार्यपालिका सत्ता के अधीनस्थ विधि आयोग का भी अध्यक्ष होना, न्यायाधीश फजल अली को आसाम का राज्यपाल तथा छागला को राजदूत व केन्द्रीय मन्त्री बनाया जाना, मुख्य चुनाव आयुक्त एस पी सेन वर्मा को रिटायर होने पर विधि आयोग की सदस्यता प्रदान करना, 1958-67 तक कार्यरत मुख्य चुनाव आयुक्त श्री के वी के सुन्दरम् को रिटायर होने पर विधि आयोग का अध्यक्ष चुन लिया जाना तथा बाद मे आसाम एव नागालैण्ड के बीच झगडे को सुलझाने हेतु गृह मन्त्रालय मे सलाहकार नियुक्त किया जाना, कम्पटरोलर एव आडीटर जनरल स्व श्री अशोक चन्दा को क्रमश वित्त आयोग, कस्टम एव एक्साइज सेवा के पुनगठन सम्बन्धी आयोग तथा जोसेफ ग्रण्ड क के अध्यक्ष पद पर नियुक्त किया जाना, केन्द्रीय सतर्कता आयोग के अध्यक्ष श्री एस दत्ता को बागलादेश का राजदूत बनाया जाना तथा अनेक विश्वविद्यालयो के उपकुलपतियो एव शैक्षणिक विद्वानो को खरीद कर विभिन्न लाभ वाले पदो पर चुना जाना आदि उपरोक्त प्रवृत्ति के कुछ उदाहरणो के रूप मे रखे जा सकते हैं। तब कसे आशा की जा सकती है कि ये स्वायत्त ससदीय सस्थाएं कार्यपालिका के प्रभाव से मुक्त होकर काय करेंगी जब इन्हें कार्यपालिका की हा मे हा करने पर पेन्शन हो जाने के पश्चात् सुनहरा भविष्य बनता हुआ दिखाई देता है।

चुनाव रिट याचिकाओ का शीघ्र निपटारा नही किया जाना अध्यादेशो का गलत एव मनमाने ढग से प्रयोग, मन्त्रियो के विरुद्ध जालसाजी के गम्भीर आरोपों की सत्यता जानने का भी प्रयास नही किया जाना अनुच्छेद 356 का अपनी सत्ता बनाए रखने विरोधी दलो की सरकार उखाडन तथा अपन दल की सत्ता पुन जमाने के लिए प्रयोग तथा इसके लिए राज्यपाल का केन्द्र के 'एजेन्ट' की आड मे एक औजार के रूप मे दुरुपयोग करना, चुनाव मे अनाप शनाप पैसा खच करना सरकारी मशीनरी का दुरुपयोग व सत्ता के प्रभाव स विरोधी दलो के सदस्यो को तोडना आदि तो भारतीय ससदीय लोकतन्त्र के लिए रोजमर्रे की साधारण बात कही जा सकती हैं।

देश के प्रभावशाली अखबार उद्योगपतियो के अधीन है और उद्योगपति प्रभावशाली राजनीतिक दलों की पकड में हैं। दोनो के बीच मे अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता नामक चीज जकडी हुई है। भारतीय प्रेस से यह उम्मीद पूरी नही हो सकी है जो कि एक लोकतान्त्रिक प्रेस स करनी चाहिए। यह भी कहा जा सकता है कि भारतीय निर्वाचन पद्धति जनता की इच्छा का सही प्रतिनिधित्व नही करती है। अल्पमत प्राप्त कर कांग्रेस ससद एव विधान सभाओ म बहुमत प्राप्त करती रही। यही बात 1975 मे विरोधी दलो द्वारा गठित जनता मोर्चे के साथ हुई जो गुजरात मे केवल 34% मत प्राप्त कर सरकार बनाने मे सक्षम हो गया। यह कहा जा सकता है कि ससदीय व्यवस्था मे इस प्रकार की असगतिया ही राजनैतिक मुख्य कारण है।

कुछ विद्वानों का कहना है कि सत्तारूढ़ दल द्वारा संविधान में बार बार मनमाने ढंग से संशोधन करने तथा सर्वोच्च व उच्च न्यायालयों में न्यायाधीशों की वरिष्ठता की उपेक्षा करके उनके जीवन दर्शन के आधार पर नियुक्ति के निश्चय ने स्वतन्त्र न्यायपालिका, जो कि संसदीय लोकतन्त्र की एक प्रमुख विशेषता होती है पर कुठाराघात किया है। इस प्रकार अनेक राजनीतिज्ञ, राजनीति शास्त्रियों एवं पत्रकारों द्वारा समय समय पर यह आरोप लगाया जाता रहा है कि भारत में संसदीय संस्थाओं का अस्वस्थ ढंग से निर्वाह हुआ है।

किन्तु छठे आम चुनाव के परिणामों से प्रतिपादित साधारण भारतीयों की असाधारण प्रतिभा से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि संसदीय सरकार के कुशल संचालन में जो अवरोध विद्यमान थे, वे उल्लेखनीय रूप से घट जायेंगे तथा सत्तारूढ़ व विपक्षी दोनों ही संसदीय व्यवहार की अपेक्षित मर्यादाओं के अन्तर्गत रहते हुए संसदीय आचरण एवं संसदीय संस्थाओं की गरिमा का सस्थापीकरण करने का प्रयास करेंगे।

संसदीय-व्यवस्था और 'जनता-सरकार'—मार्च 1977 के संसदीय निर्वाचन के पश्चात् 28 मार्च को संसद के संयुक्त अधिवेशन का सम्बोधित करते हुए जो अभिभाषण दिया उसमें स्पष्ट किया गया कि जनता-सरकार कितनी तत्परता से संसदीय लोकतन्त्र (Parliamentary democracy) की संस्थाओं और परम्पराओं को आपातकाल की अधिनायकवादी प्रवृत्तियों के पश्चात् पुन स्थापित करने के लिए कटिबद्ध है। इसमें कहा गया कि देश में 'कानून का शासन' (Rule of Law) फिर से लागू करने एवं नागरिकों की स्वतन्त्रताओं को लौटाने के अतिरिक्त संविधान में संशोधन किये जायेंगे, जिनका उद्देश्य होगा कि संविधान निर्माताओं की भावनाओं के अनुरूप "जनता और संसद, संसद और न्यायपालिका, न्यायपालिका और कार्यपालिका, राज्य और केन्द्र, नागरिक तथा सरकार के बीच सन्तुलन स्थापित हो। अभिभाषण में यह भी कहा गया कि संविधान के अनुच्छेद 352 तथा अन्य अनुच्छेदों में इस तरह का संशोधन किया जायेगा कि भविष्य में कोई भी सरकार आपात कालीन घोषणा करके अधिकारों का दुरुपयोग न कर सके और न मनमाने ढंग से राज्यों में राष्ट्रपति शासन लागू कर सके। राज्य शक्ति तथा जन शक्ति में सन्तुलन स्थापित करने के लिए जल्द से जल्द ऐसे कानूनों को रद्द करने का आश्वासन दिया गया, जो जनता के मौलिक एवं नागरिक अधिकारों पर कुठाराघात करते हैं तथा ऐसी व्यवस्था करने का विश्वास दिलाया गया कि कानून की नजर में सब बराबर हों और अभिव्यक्ति की पूरी आजादी हो।

तदनुसार जनता सरकार ने प्रेस न्यायालय एवं नागरिक स्वतन्त्रता की दिशा में अनेक कदम उठाये विपक्ष का पहली बार अपेक्षित जनतांत्रिक महत्व प्रदान किया गया। संविधान के (43 वें संशोधन) अधिनियम, 1977 द्वारा उच्च न्यायालयों

एव उच्चतम न्यायालय को पुन केन्द्रीय एव राज्य विधियो की सावैधानिकता पर विचार करने का अधिकार प्रदान किया गया तथा समस्त राजनीतिक विरोध को (तथाकथित राष्ट्र विरोधी घोषित करके) कुचलने वाले नये अनुच्छेद 31D को सविधान से निकाला गया। 42वें सशोधन अधिनियम की अन्य दुष्कृतियो (distortions) को समाप्त करने के लिए सरकार ने विपक्षी नेताओ के साथ वार्ता के अनेक दौर आयोजित किये तथा परिणाम स्वरूप 15 मई 1978 को विधि मत्री श्री शातिभूषण ने लोकसभा मे 45 वां सशोधन विधेयक पेश किया। वार्ता के दौरान भारतीय साम्यवादी दल के प्रतिनिधियो ने खास तौर से यह आग्रह किया कि प्रस्तावित 'जनमत सग्रह' की सुरक्षा सरकार के ससदीय व मत्रिमण्डलात्मक स्वरूप (Parliamentary cum cabinet form of government) को भी प्रदान की जानी चाहिए, ताकि इसे कभी भी अध्यक्षात्मक व्यवस्था की ओर मुडने से बचाया जा सके।

2

संसद, संविधान और सर्वोच्च न्यायालय

(भारत में राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक न्याय)

भारत अपने स्वाधीनता आन्दोलन काल से ही 'पूर्ण स्वराज्य' के आदर्श से प्रतिबद्ध था। अतः स्वाभाविकतः स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद वह मात्र राजनैतिक लोकतन्त्र से ही सन्तुष्ट नहीं हुआ और उसमें सामाजिक आर्थिक लोकतन्त्र की स्थापना की भी आकांक्षा प्रकट हुई। जब संविधान निर्माताओं ने इसके लिए प्रयास किये तो उन्होंने यह यथार्थ स्वीकार किया कि यद्यपि वे राजनैतिक लोकतन्त्र तुरन्त प्राप्त कर सकते हैं परन्तु सामाजिक आर्थिक लोकतन्त्र का प्रतिमान उन्हें विकसित करना पड़ेगा। उदाहरण के लिए, देश का कटु सामाजिक आर्थिक यथार्थ उन्हें काम देने के अधिकार (right to work) को एक मूल अधिकार नहीं बनाने देगा या कांग्रेस की समर्थन संरचना (Support structure) का ऐसा स्वरूप होगा, जो समाजवाद से सीधी प्रतिबद्धता स्थापित नहीं करने देगा। अतः संविधान निर्माताओं ने संविधान की प्रस्तावना में 'पूर्ण स्वराज्य' के आदर्श से प्रतिबद्धता दिखाई, एवम् उन्होंने भावी शासकों से न्याय के सभी पक्षों सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक पर बल देने का आग्रह किया। यद्यपि ऐतिहासिक 42 वें संविधान संशोधन विधेयक द्वारा सम्पत्ति के अधिकार को छुये बिना ही संविधान की प्रस्तावना में सम्प्रभु, लोकतान्त्रिक गण-राज्य के साथ 'समाजवाद (Socialist') शब्द जोड़कर तत्कालीन सत्तारूढ़ कांग्रेस दल ने विगत वर्षों की चल रही क्रान्तिकारी पृष्ठभूमि के सन्दर्भ में अब समाजवाद' प्रतिबद्धता दिखाने का प्रयास किया तथा जनता पार्टी भी इस शब्द को कायम रखते हुए अपने को गांधीवादी मूल्यों के प्रति प्रतिबद्ध मानती है, फिर भी इस सम्बन्ध में अधिक स्पष्टता आने वाले वर्षों में सरकार द्वारा उठाये जाने वाले कदमों से, सामने आ पायेगी।

एक यथार्थवादी रणनीति के द्वारा सविधान निर्माताओ ने प्रारम्भ मे मूल अधिकारो के रूप मे राजनैतिक लोकतन्त्र प्रदान किया। ये मूल अधिकार किसी भी न्यायालय मे प्रवर्तनीय थे। जहा तक सामाजिक आर्थिक लोकतन्त्र का प्रश्न है, उन्होने यह स्वीकार किया कि यह भी मूल महत्व का विषय है और इसलिए सभी स्तरो पर शासको को राजनीति के निदेशक सिद्धान्तो का उत्साह से पालन करना चाहिए। इन निदेशक सिद्धान्तो मे सामाजिक आर्थिक लोकतन्त्र के आदर्श को मूर्त रूप प्रदान किया गया था। परन्तु ये निदेशक सिद्धान्त किसी भी न्यायालय मे प्रवर्तनीय नही थे यद्यपि उनके मूल अधिकारो के समान महत्वाकांक्षी होने के तथ्य मे बिल्कुल भी सदेह नहीं था, यहा तक कि सविधान सभा मे विषय से सबधित उपसमिति ने इन दोनो को ही अधिकार माना था। लोकतान्त्रिक सविधान (Democratic Constitution) के मौलिक सिद्धान्तो मे एक मूलभूत सिद्धान्त यह है कि व्यक्ति की निजी सम्पत्ति पर उसका स्वाभाविक अधिकार है, राजसत्ता द्वारा इस अधिकार का अकारण हरण नही किया जाना चाहिए। प्रारम्भ से ही यह व्यवस्था विधि विशेषज्ञो, सविधानवेत्ताओं और सविधान निर्माताओ के समक्ष एक विवाद का विषय रही है। यदि कुछ लोगो के अनुसार यह व्यवस्था भारतीय सविधान की आत्मा है तो "प्रगतिशील" विद्वानो ने इसे भारतीय पूजीपतियो का मैग्नाकार्टा कहा है। कुछ इसे एक क्रांतिकारी व्यवस्था मानते हैं तो अन्यो के लिए यही क्रांतिकारी व्यवस्था सविधान पर एक "मलिनतम कलक है"। श्री जवाहरलाल नेहरू के शब्दो मे उस विवाद के दो पक्ष थे। सम्पत्ति पर एक व्यक्ति के निजी अधिकार को अधिक मान्यता दी जाये या उस सम्पत्ति मे समाज के निहित हित को प्राथमिकता दी जाए। समस्या का समाधान था—दोनो पक्षो के बीच सतुलन का निर्वाह और सघर्ष का परिहार इसी दृष्टिकोण के आधार पर जहा सविधान के तृतीय अध्याय मे व्यक्ति के सम्पत्ति के अधिकार को मूल अधिकारो मे शामिल किया गया, वहीं चतुर्थ अध्याय मे अनुच्छेद 39 मे समतावादी समाज एव सम्पत्ति के न्यायोचित वितरण हेतु कदम उठाने का कार्यपालिका को निर्देश दिया गया है। किन्तु फिर भी विवाद बराबर जारी रहा तथा देश मे विभिन्न राजनतिक दलो सगठनो तथा अन्य मचो पर सम्पत्ति, मूल अधिकार, निर्देशक तत्व, ससद एव सर्वोच्च न्यायालय तथा सामाजिक न्याय आदि शब्द छाये रहे है। विशेष तौर से 1967 के गोलक नाथ मुकदमे मे दिए गए सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय के पश्चात् राजनीतिज्ञों का ध्यान सविधान मे सशोधन करने, सम्पत्ति के अधिकार को मौलिक अधिकारो से अलग करने या उसकी सीमा बाधने और ससद या न्यायालय के कार्य क्षेत्र निर्धारित करने की ओर आकृष्ट हुआ था। तथा 1967 मे बैंक राष्ट्रीयकरण अध्यादेश और 1970 के भूतपूर्व नरेशो की मान्यता समाप्त करने से सम्बन्धित आदेश को सर्वोच्च न्यायालय द्वारा रद्द कर दिये जाने के बाद उपयुक्त इगित शब्दो को लेकर अच्छा खासा विवाद उठ खड़ा हुआ।

लोक सभा के 1971 के मध्यावधि चुनाव के मूल मे इस विवाद की कहीं न कहीं यह भावना विद्यमान रही है। प्रगतिशील नीतियो के पालन मे जो बाधाएं बताई जाती थी, वे कांग्रेस द्वारा दो तिहाई मे अधिक बहुमत प्राप्त करने पर नहीं रही। आशा कि गई कि सत्तारूढ दल अपने क्रांतिकारी उपायो को निद्वन्द्व लागू करेगा। किन्तु व्यवस्था इसमे असफल रही। सत्तारूढ दल द्वारा घोषित 'परिवर्तन' की नीति ने जनता के दो वर्गों की आकांक्षाओं को प्रज्जवलित किया—मध्यम दर्जे के युवा वर्ग को एक तरफ और निम्न वर्गों का दूसरी तरफ।

इससे कांग्रेस के लिए विरोधाभास की स्थिति पैदा कर दी कि यद्यपि वह अच्छे खासो के द्वारा शासित पार्टी रही है, तो भी वह अपनी शक्ति गरीब तबके के मतों से प्राप्त करती आ रही थी। जब तक यह अपने इस विरोधाभास का जल्दी ही समाधान नही कर लेती, केवल यह विश्वास जिस पर गरीब तबका इसे समर्थन प्रदान करता आ रहा था हिंसा की लहर को स्थान देना स्वाभाविक था, जो कि शहरो मे प्रारम्भ होने लगी और जो केवल शहरो तक ही सीमित नही रही। इसी बीच मध्यम दर्जे का नौजवान तबका कुचल दिए जाने की भावना से ग्रसित हो रहा था तथा न तो पुलिस का बल प्रयोग और न उनके सद् विवेक के प्रति की गई अपीलें सरकार तथा अर्थ व्यवस्था के सामान्य क्रिया कलाप को तहस-नहस होने से बचाने मे असमर्थ दिखाई देने लगी।

राजनीतिक संकट की भांति ही, आर्थिक कष्ट के भी अनेक पहलू रहे हैं जिनमे मुख्य निम्नांकित थे आर्थिक व्यवस्था के सामान्य यन्त्र की असफलता तथा इसकी नवीन स्थिति का सामना करने मे असमर्थता, जिसमे विकास का पुराना नमूना अपनी व्यावहारिकता खो चुका है व नेहरू द्वारा विकसित आर्थिक नियोजन व्यवस्था मे मुख्य अंग योजना आयोग और केन्द्र एवं प्रान्तीय सरकारों द्वारा योजना आयोग के निर्णयो को क्रियान्वित कराने और साथ मे कांग्रेस दल द्वारा अपने सुदृढ संगठन के माध्यम से सहायता प्राप्त करने की क्षमता में व्यापक गिरावट। योजना, प्रथम 15 वर्षों में अनेक कठिनाईयो के बावजूद भी काफी सफल रही। इसका मुख्य कारण प० नेहरू की आयोग को अधिक स्वायत्तता दिलाने और इस प्रकार आर्थिक निर्णय प्रक्रिया को आये दिन की राजनीति से दूर रखने की सामर्थ्य थी। किन्तु धीरे धीरे यह व्यवस्था पूर्णत खत्म होने लगी। श्री नेहरू का देहावसान, भारत पाक का 1965 युद्ध दो गम्भीर अकाल, 1967 के आम चुनावो से उत्पन्न अस्थिरता, कांग्रेस का आन्तरिक संघर्ष व परिणाम स्वरूप 1969 का कांग्रेस विभाजन बांगला देश का युद्ध तथा इसकी आर्थिक कीमत पुन अकाल, आर्थिक एवं खाद्य मोर्चे पर लगातार असफलताएं आदि ने नेहरू काल मे निर्मित ढाँचे को बुरी तरह ध्वस्त कर दिया। योजना आयोग की सत्ता मे काफी कमी आयी जिसके परिणाम स्वरूप आर्थिक निर्णय

निर्माण प्रक्रिया में उसकी स्वयत्तता समाप्त हो गई। लोकप्रिय नारों और निहित स्वार्थों के दबावों के बीच सामंजस्य बिठाने का लोभ संवरण न कर सकने के कारण आशा के प्रतिकूल अनेक फेर बदल करने पड़े हैं। प्रारम्भिक वर्षों व ले संघीय ढांचे के टूटने से अनिश्चितता का वातावरण पैदा कर दिया गया व प्रत्येक निर्णय के लिए ऊपर की ओर देखने की प्रवृत्ति को प्रोत्साहित किया है। इसके फलस्वरूप क्रियान्विति में गम्भीर देरी हुई।

राजनीतिक क्षेत्र की भांति ही आर्थिक क्षेत्र में भी केवल मात्र पुरानी व्यवस्था का पुनरावकरण ही सब कुछ ठीक नहीं कर पावेगा क्योंकि सामाजिक संतुलन में अनेक चढ़ाव उतार हुये हैं। 1950–60 में स्वीकृत आर्थिक विकास के सम्पूर्ण ढांचे में परिवर्तन की आवश्यकता महसूस होने लगी। आर्थिक योजना का स्वरूप निर्धारित करते समय नेहरू ने इसके भावी परिणामों की अधिक चिन्ता नहीं की। आर्थिक स्वावलम्बन प्राप्त करने हेतु औद्योगीकरण करने की उत्सुकता ने उन्हें विकास का एक ऐसा नमूना स्वीकार करने को बाध्य किया जिसके कारण उनके मानस में व्याप्त सामाजिक उद्देश्यों में सफलता प्राप्त नहीं हुई। आज की कठिनाईयों का मुख्य कारण इस विकल्प को चुनना ही था। यद्यपि प्रथम तीन योजनाओं ने 'जी एन पी' में तीव्र विकास किया किन्तु उनमें खाद्य एवं जनता की बुनियादी आवश्यकताओं की वस्तुओं की उपेक्षा हुई और परिणामतः एक अत्यधिक असन्तुलित आर्थिक ढांचा उत्पन्न हो गया।

1971 में श्रीमती गांधी ने आर्थिक माहौल में परिवर्तन करने का संकल्प दुहराया–अर्थात् 'जी एन पी' के विकास से न्यायिक वितरण की दिशा की ओर कदम रखने की आवश्यकता पर बल दिया। लेकिन कुछ ही महीनों पश्चात् कर्मचारियों एवं नीतियों में ऐसे परिवर्तन किए गए जिनसे पुराने इन इरादों पर पानी फिर गया। देश में हिंसा जिस गति से बढ़ती गई उसका कारण सरकार द्वारा अपने 'गरीबी हटाओ' के संकल्प की पूर्ति करने के लिए सामाजिक व प्रशासनिक ढांचे में बुनियादी परिवर्तन नहीं कर सकना तथा स्वयं नौकरशाही तक अपने को सीमित रखना था। मार्क्सवाद या अन्य कोई दर्शन भारत की इन परिस्थितियों में न्याय संगत नहीं है, सिवाय गांधी के विचारों के। इस देश में गरीबी हटाने के लिए 'मैट्रोपोलीटन' पूंजी पर आधारित उद्योग एवं उच्च वर्गों के हाथों में शक्ति के केन्द्रीयकरण से हटकर कृषि, व्यवसायों तथा विकेन्द्रित उत्पादन का होना जरूरी है जो कि गांधी जी के शब्दों में "केवल जन साधारण के लिए ही नहीं वरन् जन साधारण के द्वारा भी" है।

योगदान किया है। किन्तु यह आगे के विकास मे एक बाधा भी बन गया है। इस मोडल की अत्यधिक असफलता इसके द्वारा ग्रामीण विकास की उपेक्षा करना भी है। कृषि म नवीन तकनीकी मे 1970 के आसपास सफलता प्राप्त करने के बावजूद भी देश खाद्य कमी एव महगाई से ग्रस्त रहा। भूमि सुधारो की क्रियान्विति म असफलता एव ग्रामो तथा छोटे कस्बो मे फैक्ट्रिया प्रारम्भ करने से एक ओर जहाँ ग्रामीण क्षेत्रों में असमानता म वृद्धि हुई है वहा दूसरी ओर ग्रामीण—असहाय लोगो के शहरों की ओर झुकाव ने अपराध एव हिंसा की घटना मे काफी वृद्धि की है।

सम्पत्ति के न्यायिक वितरण को परिभाषित करने के लिए मुद्दे होंगे (i) कितनी सम्पत्ति हर नागरिक को चाहिए। उस पर नागरिक का कब्जा किस ढग पर हो। (ii) कौनसी सम्पत्ति सामाजिक है और उसका सचालन कैसे होगा। (iii) अधिक स अधिक कितनी सम्पत्ति का एक व्यक्ति या परिवार मालिक बन सकता है, मितव्ययता और शोषण के बीच सीमा क्या है? अगर भारत सम्पत्ति को इस प्रकार परिभाषित करता तो पूजीवाद और साम्यवाद से अलग एक नये समाज की स्थापना की ओर प्रथम कदम हो सकता था, गैर पूजीवादी ससदीय जनतन्त्र के रूप म एक नयी सामाजिक प्रणाली दुनिया मे चालू हो सकती थी—यह शायद गाधीजी के धारणारी सिद्धान्त स मेल खाता। सम्पत्ति छीनने के अधिकार के लिए जितना हल्ला है सम्पत्ति छीनने के लिए उतना नहीं है। सम्पत्ति छीनना और सम्पत्ति छीनने का अधिकार सरकार के पास रखना—दोनों म बहुत बडा अन्तर है। सम्पत्ति छीनने का राजनीतिक रूप होगा सम्पत्ति व्यवस्था को तोड कर सम्पत्ति का एक नया समतापूर्ण ढाचा बनाना। सम्पत्ति छीनने क अधिकार का मतलब होगा पूजीवाद रहे असमानता और शोषण रहे कराहती रहे लेकिन सरकार जब चाहे किसी की सम्पत्ति या उसके हिस्से को अपने नियन्त्रण म ले सके। इससे न तो पूजीवाद मिट सकेगा न असमानता दूर होगी।

यह सकट कम से कम कुछ समय के लिए टल गया क्योंकि सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकार म 25 वें सशोधन के द्वारा सविधान म अनुच्छेद 31 (सी) का जोड़ दिया गया। इस धारा म यह व्यवस्था की गई कि उन कानूनों और कार्यवाही [illegible] को जिनसे निर्देशक सिद्धान्तों की क्रियान्विति होती हो इस आधार पर न्यायालय म चुनौती नहीं दी जा सकती कि उनसे मूल अधिकारों का हनन होता है। किन्तु केशवानन्द [illegible] के मुकदमे म उच्चतम न्यायालय ने 24 वें व 25 वें सशोधन [illegible] 'बुनियादी विशेषताओं का सिद्धान्त (Theory of basic features)' [illegible], यदि इन बुनियादी विशेषताओं को [illegible] नहीं किया। पर [illegible] नहीं हो सकी। [illegible] 42 वें सशोधन अधिनियम द्वारा इस [illegible]

की व्यापकता घोषित करते हुये स्पष्ट रूप में राज्य के नीति निदेशक सिद्धान्तों को मूल अधिकारों के ऊपर करार दिया गया तथा राष्ट्र में 'सामाजिक आर्थिक क्रान्ति के मार्ग को प्रशस्त करने की दिशा में कार्यपालिका को पूरी शक्ति व अवसर प्रदान कर दिया गया।' जनता पार्टी ने अपने चुनाव घोषणा पत्र में तथाकथित 'सामाजिक व आर्थिक क्रान्ति के वाहक" 42 वें संशोधन अधिनियम को समाप्त करने हेतु निश्चय प्रकट किया, क्योंकि उसके अनुसार इस अधिनियम द्वारा व्यक्ति के मूल अधिकारों राज्यों की स्वायत्तता तथा न्यायपालिका की स्वतन्त्रता का हनन कर दिया गया है तथा कार्यपालिका एवं प्रधानमन्त्री को मनमाने अधिकार दे दिये गये हैं। अतः अब केन्द्र में जनता पार्टी की सरकार बनने एवं जून 1977 में हुये विभिन्न विधान सभा चुनावों में जनता पार्टी के दो तिहाई बहुमत से जीतने के पश्चात् नयी सरकार ने इस संशोधन विधेयक की इस प्रकार की व्यवस्थाओं को रद्द करने हेतु अपना संकल्प व्यक्त किया तथा 45 वें, 44 वें व 46 वें संविधान संशोधन विधेयकों द्वारा राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक न्याय के बीच सरकार के तीनों अंगों के बीच व जनता तथा सरकार के बीच सन्तुलन स्थापित करने का महत्वपूर्ण कदम उठाया।

अब हम संशोधन प्रक्रिया एवं न्यायिक पुनरावलोकन के सन्दर्भ में सामाजिक तथा आर्थिक न्याय के एक लम्बे संघर्ष की विवेचना करेंगे।

(क) संशोधन प्रक्रिया (Amendment Process)

संविधान स्वयं यह स्वीकार करता है कि संशोधन की आवश्यकता हो सकती है, अतः प्रत्येक संविधान में इसकी व्यवस्था की जाती है, हमारा संविधान भी इसका अपवाद नहीं है। हमने ब्रिटेन और अमेरिका के बीच का मार्ग अपनाया है। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि हमारा संविधान संशोधन प्रणाली की दृष्टि से न तो पूरी तरह लचीला है जैसा ब्रिटेन का है और न उतना कठोर है जैसा अमेरिका का है। संशोधन प्रणाली का दुहरा वर्गीकरण किया जा सकता है (a) कठोर व लचीला (rigid or flexible dimension), (b) संघीय या असंघीय (Federal or Non Federal) संविधान निर्माताओं ने ऐसा स्पष्ट रूप से वर्गीकरण नहीं किया है, किन्तु ऐसा अप्रत्यक्ष रूप में लगता है। हमारी संविधान प्रणाली को निम्न तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है—

(1) उन विषयों से सम्बन्धित है जो स्पष्ट रूप से [illegible] विषयों का संशोधन केन्द्रीय संसद के द्वारा, [illegible] में किया जा सकता है पास होने के लिए

(2) इस भाग के कुछ [illegible]

(b) उसे उपस्थित या मतदान करने वाले सदस्यों का दो तिहाई बहुमत प्राप्त होना चाहिए

(c) *आधे राज्यों की स्वीकृति प्राप्त होनी चाहिए,*

इन तीन परिस्थितियों को पूरा करने के पश्चात् बिल राष्ट्रपति के हस्ताक्षर की स्वीकृति से कानून (संशोधन) का रूप ले लेता है। राष्ट्रपति का चुनाव संघ की कार्यपालिका शक्ति की सीमा, राज्यों की कार्यपालिका शक्ति की सीमा, राज्यों के उच्च न्यायालय, संघ और राज्यों के विधायी सम्बन्ध, संशोधन प्रणाली, व संसद में राज्यों का प्रतिनिधित्व इत्यादि विषय इस प्रणाली के अन्तर्गत आते हैं।

(ii) द्वितीय प्रणाली उन विषयों से सम्बन्धित हैं, जो मोटे रूप से संघीय विषयों में नहीं आते। इन्हें भी केन्द्रीय संसद के किसी भी सदन में प्रस्तुत किया जा सकता है किन्तु पारित होने के लिए इसमें उपरोक्त प्रथम दो परिस्थितियां ही आवश्यक हैं। इसमें वे सभी विषय आते हैं जो प्रथम एवं तृतीय प्रणाली में नहीं आते हैं। इसी में गोलकनाथ मुकदमे से पूर्व मूल अधिकारों में संशोधन का संसद का अधिकार भी आता था। जो कि इस मुकदमे से दिये गये निर्णय से अवरुद्ध हो गया। चौबीसवें संशोधन विधेयक से पुनः यह अधिकार संसद के अधिकार में आ गया है।

(iii) जहां तक तीसरी विधि का प्रश्न है, वह हमारे संविधान को लचीला बना देती है। इसके विषय भी संसद के किसी भी सदन में प्रस्तुत किए जा सकते हैं। ये साधारण बहुमत से पारित किये जा सकते हैं। अर्थात साधारण कानून की भांति ही इनके पारित होने के लिए भी साधारण बहुमत की ही आवश्यकता होती है। इसमें मुख्यतया निम्नांकित विषय आते हैं —

(i) वह कानून जिसके द्वारा राज्य का क्षेत्र घटाया या बढ़ाया जा सकता है, राज्य का नाम बदला जा सकता है, सीमा बदली जा सकती है। (Articles 2, 3 and 4)

(ii) जिनके द्वारा नये राज्यों का निर्माण हो सकता है। (Articles 2, 3 and 4)

(iii) जिनके द्वारा राज्यों में द्वितीय सदन का निर्माण या अन्त किया जा सकता है। (Article 169)

(iv) जिनका सम्बन्ध अनुसूचित जातियों व जनजातियों से है।

अब तक किये गये विभिन्न संशोधनों में मुख्य संशोधन मूल अधिकारों व नीति निदेशक तत्वों के बीच तनाव को दूर करने के प्रयास से सम्बन्धित है अर्थात् राजनीतिक लोकतन्त्र के साथ आर्थिक जनतन्त्र को लाने का प्रयास किया गया है।

(i) आलोचना—कुछ विचारकों ने इसे बहुत सरल तथा कुछ ने बहुत ठिन बताया है। जो इसे सरल मानते हैं, वे कहते हैं कि कम वर्षों में हम लोगों ने ने अधिक संशोधन किये हैं यह संशोधन प्रणाली की लचीलापन का प्रतीक है। । इससे देश का नक्शा बदला है, नये राज्यों का निर्माण हुआ है अर्थात् देश की ण्ता को नुकसान पहुंचा है। कुछ लोगों ने इसे अधिक कठोर बताया है। उनके सार दो तिहाई बहुमत सरलता से तैयार नहीं किया जा सकता।

(ii) तीनों ही व्यवस्थाओं में विषयों का बटवारा भलीभांति नहीं किया गया बहुत से विषय ऐसे हैं जिनकी आत्मा संघीय है अत उन्हें प्रथम श्रेणी में रखा ना चाहिए, जबकि उन्हें तृतीय श्रेणी में रखा गया है। इससे संघीय ढांचा स्वयं विकृत हो गया है। इसके विरोध में यह कहा जाता है कि राज्यों का स्वरूप हासिक व आकस्मिक घटना थी अत उनके पुनर्गठन की सम्भावना बराबर बनी थी। अत यदि पुनर्गठन सम्बन्धी व्यवस्था को पहली प्रणाली के अन्तर्गत रखा ता तो संविधान शायद निष्क्रिय घोषित होता। इसी प्रकार मूल अधिकारों क यम भी प्रथम श्रेणी में होना चाहिए, जिन्हें कि द्वितीय श्रेणी में रखा गया है। से इनके हनन की सम्भावना बढ़ी है।

(iii) संघीय मापदण्डों तथा प्रजातन्त्रीय मापदण्डों की अवहेलना की गई है। ीय मापदण्डों की भांति संघीय इकाइयों को संशोधन पेश करने का अधिकार नहीं जैसा कि अमेरिका में है। इसी प्रकार न सभी विषयों पर राज्यों की स्वीकृति वश्यक है।

इन आलोचनाओं के बावजूद, संविधान संशोधन के अब तक के इतिहास से दृष्टव्य है कि संशोधनों ने (सिवाय आपात काल के दौरान किए गए संशोधनों संविधान को समय के अनुसार अनुकूल बनाने में काफी योगदान किया है।

एक सरल व जटिल संविधान के मध्य अन्तर वास्तव में एक निश्चित समय व्याप्त राजनीतिक स्थिति के सन्दर्भ से बंधा हुआ है और उसका मात्र उस प्रक्रिया ोप से ही सम्बन्ध नहीं है जिसके अन्तर्गत किसी संविधान में संशोधन हो सकता । उदाहरण के लिये 1967 71 के दौरान क्षीण बहुमत की स्थिति में केन्द्रीय ग्रेस सरकार अपनी इच्छा के बावजूद मूल अधिकारों में संशोधन से सम्बन्धित ीय शक्ति के प्रश्न पर संसद एवं उच्चतम न्यायालय के बीच सरगर्मी का निर्धा- । करने वाला कोई संवैधानिक संशोधन पारित नहीं कर सकी। मूल अधिकारों में ोधन के सन्दर्भ में संसदीय शक्ति को गोलक नाथ के मामले में अमान्य घोषित कर ा गया था। कालांतर में पांचवें लोकसभा चुनावों (1971) के उपरान्त भीमकाय मत की स्थिति में कांग्रेस सरकार सुगमता से संविधान में अनेक संशोधन कर ी। 1977 के चुनावों के पश्चात् एक दलीय प्रभुत्व की स्थिति समाप्त हो जाने

के कारण सत्तारूढ दल को संवैधानिक संशोधनों हेतु विपक्षी दलों पर आश्रित रहना पड रहा है।

सर आइवर जेनिंग्स[1] ने अनमनीयता की संरचना मे उन साधक तत्वों का विवेचन किया है, जिनसे दृढ गिद परिचालन सुविधा का निर्माण किया जा सकता है परन्तु हम उस राजनैतिक तत्त्व के घटक का उल्लेख नहीं कर रहे है, जिस पर विश्लेषण की अंतिम स्थिति मे संविधान की जटिलता निर्भर करती है। एक संविधान मात्र अपने निर्माण काल के वातावरण मे ही काम नही करता वरन् उसके बाद शताब्दियो तक व्यवहृत होता है। उसमे अनिवार्यत नई स्थितियो के अनुरूप रूपान्तर की क्षमता होनी चाहिए। इसके अतिरिक्त अब सरकार व संसद को विविध प्रतिस्पर्धी हितो मे सामञ्जस्य एव आर्थिक विराम मे योगदान करना है। किसी सगठन की प्रत्येक संवैधानिक व्यवस्था अपने कार्यों के प्रति स्वय एक बाधा है चाहे यह अपनी संरचना निर्धारित करे या प्रक्रिया। यह तथ्य, कि इस प्रकार की बाधा आज भी आवश्यक है, यह नही दर्शाता कि अब से एक शताब्दी बाद भी स्थिति यथावत रहेगी।

यह स्पष्ट है कि समस्या के दो पक्ष है। यदि कोई संविधान सहजता से संशोधित किया जा सके तो इस सम्बन्ध मे कोई आपत्ति नही है कि इसमे संशोधन की जाने वाली व्यवस्थाए समाहित कर ली जाए। इसके विपरीत, यदि वह सहजता से न बदला जा सके तो उसे यथासभव छोटा व सरल होना चाहिए। संविधान सभा ने एक ऐसा लम्बा व जटिल दस्तावेज प्रस्तुत किया है।[2] जिसमे सरलता से संशोधन नहीं किया जा सकता। वैसे, जैसाकि हम पहले देख चुके हैं कि एक सरल व जटिल संविधान के मध्य अन्तर एक निश्चित समय मे राजनैतिक स्थिति के सन्दर्भ से बधा हुआ है और उसका मात्र उस प्रक्रिया विशेष से ही सम्बन्ध नही है जिसके अन्तर्गत किसी संविधान मे संशोधन हो सकता है।

(ख) न्यायिक पुनरावलोकन (Judicial Review)

भारत के संविधान के विकास और परिवर्तन मे न्यायिक पुनरावलोकन (Judicial Review) का बहुत योगदान रहा है। संविधान मे समग्र न्याय व्यवस्था (Unitary Judicial System) की स्थापना की गई है और संघीय प्रणाली होने के नाते न्यायालय का सर्वोच्च होना स्वाभाविक है। इस स्थिति मे यह मोटे रूप से अमेरिका के संविधान से मिलता है। किन्तु भारतवर्ष मे न्यायिक पुनरावलोकन की व्यवस्था संवैधानिक कानून मे भी की गई है। जिसका उल्लेख अनुच्छेद 13, 32, 226 आदि मे मिलता है।

---

1 'सम करेक्टेरिस्टिक्स ऑफ दि इंडियन कान्स्टीट्यूशन' (लन्दन, ऑक्सफोर्ड, 1953)

2 जनिंग्स उपरोक्त

न्यायिक पुनरावलोकन का एक स्वरूप नहीं रहा है। यह स्वयं गतिशीलता का प्रतीक रही है और इसके गतिशील होने के विशेष तौर से दो कारण है —

(i) यद्यपि यह आशा की जाती है कि न्यायाधीशों के अपने व्यक्तिगत मूल्य नहीं होंगे, वे उन मूल्यों से तटस्थ रह कर कार्य करेंगे किन्तु व्यवहार मे ऐसा नहीं हो पाता। न्यायाधीशों के भी मनुष्य होने के नाते अपने मूल्य होते हैं जिनका प्रभाव निर्णयों पर पड़ता है। आलोचकों का कहना है कि गोलक नाथ मुकदमे का निर्णय इसके लिए उदाहरण स्वरूप रखा जा सकता है। अतः न्यायिक पुनरावलोकन के स्वरूप एवं भूमिका में अन्तर हो सकता है और इससे यह गतिशील दिखाई देता है। कभी कभी वह परम्परावादी एवं अनुदार दिखाई देता है तो कभी प्रगतिशील।

(ii) हमारे संविधान में "According to the procedure established by law' की व्यवस्था की गई है किन्तु बहुधा इसके व "due process of law" के बीच अन्तर करना कठिन हो जाता है। इनके बीच अन्तर की एक संदिग्ध रेखा है जिससे न्यायालय "due process of law" की ओर चला जाता है। इससे भी न्यायिक पुनरावलोकन एक स्थिर प्रक्रिया न होकर गतिशील हो जाती है।

न्यायिक पुनरावलोकन की संविधान मे जो भूमिका रही है, उसकी एक दिशा नहीं रही है। उसके स्वरूप, दिशा एवं आकार में परिवर्तन होता रहा है। अतः निश्चित तौर पर यह नहीं कहा जा सकता है कि संविधान आवश्यक रूप से प्रगतिवाद की ओर गया है या रूढ़िवाद की ओर, कुछ निर्णय प्रगतिशीलता के द्योतक हैं तो कुछ रूढ़िवादिता के प्रतीक।

न्यायिक पुनरावलोकन न्यायालय की सर्वोच्चता का प्रतीक है। यह इसके इस अधिकार की ओर इंगित करता है कि न्यायपालिका, कार्यपालिका एवं विधान मण्डल के कानूनों की जांच करे कि कहीं उनसे संवैधानिक सीमाओं का उल्लंघन तो नहीं हो रहा है और अगर ऐसा होता है तो वह उसे अवैध घोषित कर दें। भारत में न्यायिक पुनरावलोकन के तीन पक्ष है जिनसे उनका क्षेत्र निर्धारित होता है।

(i) प्रथम पक्ष का सम्बन्ध है उच्चतम न्यायालय के संघीय न्यायालय होने से। अर्थात् यहां इसको यह देखना है कि केन्द्र और राज्य उन सीमाओं में रहते हुए कार्य करें जो संविधान द्वारा उनके सम्बन्ध मे इंगित की गई है और इस प्रकार से संविधान की रेखाओं का उल्लंघन नहीं हो। अतः हम यह कह सकते हैं कि न्यायिक पुनरावलोकन का एक उत्तरदायित्व यह है कि वह यह देखे कि केन्द्रीय व राज्य सरकारों द्वारा संवैधानिक सीमा का उल्लंघन तो नहीं हो रहा है।

(ii) उच्चतम न्यायालय मूल अधिकारों का संरक्षक भी है और इस नाते से उसे यह देखना होता है कि केन्द्रीय सरकार या राज्यों की सरकारें अनुचित रूप से मूल अधिकारों का हनन तो नहीं कर रही है, उनके मार्ग में बाधक तो नहीं है।

यहां पर संविधान द्वारा कुछ सीमाएं लगाई गई हैं। इन सीमाओं का सहारा लेकर केन्द्रीय व राज्य सरकारें इन्हें प्रतिबन्धित कर सकती हैं। यहां न्यायालय को यह देखना होता है कि ये सरकारें जो प्रतिबन्ध लगा रही हैं, वे बन्धन संवैधानिक सीमाओं के बाहर तो नहीं हैं। अनुचित उल्लंघन को अवैध घोषित करके वह पुनः नागरिकों को अधिकार दिला सकता है। यह याचिकाओं (writs) के माध्यम से हो सकता है। इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण याचिका 'Wr t of : abeas Corpus' ('Give my body back') है।

(iii) सर्वोच्च न्यायालय सम्पूर्ण संविधान का भी संरक्षक है अतः उसका यह उत्तरदायित्व है कि वह देखे कि सम्पूर्ण संविधान की सम्पूर्ण धाराओं को माना जा रहा है तथा किसी भी स्तर पर उसका उल्लंघन तो नहीं हो रहा है।

इन उत्तरदायित्वों को निभाने के लिए न्यायालय उतना स्वतन्त्र नहीं है जितना अमेरिकी सर्वोच्च न्यायालय क्योंकि यहां पर न्यायिक पुनरावलोकन का प्रयोग "According to the procedure established by law" के सिद्धान्त के आधार पर होता है, न कि "due process of law" के नियम की भांति। अतः वह यह प्रश्न नहीं उठायेगा कि जो सीमाएं संसद लगायेगी, वे सीमाएं औचित्यपूर्ण हैं या नहीं, न्यायसंगत है या नहीं। यह बात वी॰ जी॰ रो (V G Row) बनाम मद्रास राज्य (1952) के मुकदमे में ही स्पष्ट कर दी गई थी। इसके निर्णय में तत्कालीन मुख्य न्यायाधीश महोदय ने कहा कि क्योंकि न्यायालय को 'According to the procedure established by law" के सिद्धान्त पर कार्य करना है वह केवल दो बातें देख सकता है (i) संविधान में जिन शब्दों में सीमाओं का वर्णन किया गया है, उनका अर्थ क्या है। इस प्रकार से वह सीमाओं के क्षेत्र को शब्दों की व्याख्या के माध्यम से सीमित या विकसित कर सकता है, (ii) वह यह देख सकता है कि वे सीमाएं भली भांति लागू की गई है या नहीं।

संविधान की व्याख्या न्यायालय द्वारा अपनाये गये आधार

(i) The intention of the makers of the constitutional law—इस सम्बन्ध में उच्चतम न्यायालय का यह मत रहा कि व्याख्या करते समय, संविधान निर्माताओं का क्या कहना था, उनका क्या मतव्य था, संविधान सभा में क्या कहा, आदि को मौलिक महत्व नहीं दिया जाता अर्थात् न्यायालय उन मतव्यों से बाध्य नहीं है जो संविधान सभा में व्यक्त किये गये थे। अर्थ को समझने में सहायता ली जा सकती है किन्तु न्यायालय उस अर्थ से बाध्य हो या स्वीकार ही कर ले, आवश्यक नहीं है। इस सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण निर्णय हैं —The St te of Travancore Cochin and others V/S The Bombay Co Ltd (1950)

(ii) The norm of fair, liberal and progressive interpretation न्यायलय ने यह कहा कि निणय म हमे यह देखना चाहिए कि (a) वे दोनो पक्षो के सम्बन्ध मे न्यायसगत (fair) हैं या नही। (b) वह धाराम्रो एव उप धाराम्रो के सकीण अर्थों मे नही अपितु उनका जितना उदार अथ लगाया जा सकता है, लगाया या नही। (c) उन्नति की दिशा की ग्रोर इगित करता है ग्रर्थात् पीछे जो निणय दिये गये है उनके ग्राग हैं या पीछे ह यानि समय के ग्रनुसार है या रूढिवादी। इस सबध मे सबसे महत्वपूण निणय है Moti Ram V/S North East Fronti r Railway, 1964

(iii) The norm of transgression of limitations —उच्चतम न्यायालय ने यह भी घोषित किया है कि हमे केवल यह देखना है कि सविधान मे जो सीमाए निर्धारित की गई है, उनका उल्लघन तो नही हुआ है ग्रौर इस ग्राधार को ग्रपनाते हुए न्यायालय ने स्वय यह भी घोषित कर दिया कि हमारा सम्बन्ध सीमाम्रो के सरक्षण व उनके लागू करने तक ही है। उन्होने यह भी स्पष्ट कर दिया कि हम यह नही देखेंगे कि सीमाए उचित हैं या ग्रनुचित। इस दिशा मे महत्वपूण निणय है A K Gopalan V/S the State of Madras, 1950

(iv) The Preamble and provisions of constitution as interpretative norm —इस सम्बन्ध मे यह कहा गया कि भूमिका का प्रयोग केवल पथ प्रदर्शन के रूप मे किया जा सकता है। स्वय उससे न्यायाधीश बध हुए नहीं हैं ग्रर्थात् केवल भूमिका के ग्राधार पर वे निणय नही देगे। ग्रगर ग्रन्य ग्राधार उपस्थित हो तो इसका उपयोग पूरक (supplement) के रूप मे ही हो सकता है। सविधान की धाराम्रो से न्यायालय भी उतना ही बधा हुआ है, जितना सरकार व नागरिक। ग्रत इनका ध्यान रखना ग्रावश्यक है। जैसे Jyoti Pra had V/S Administrator for the Union Territory of Delhi, 1962

(v) Seminal sources as basis of interpretation —यह भी प्रश्न उठा कि वे सविधान जिन्होने हमारे सविधान के विकास मे महत्वपूण भूमिका ग्रदा की है, उनको क्या महत्व दिया जायेगा। बहुधा एक ही उत्तर इस सम्बन्ध में न्यायालय ने दिया कि हम ग्रन्य सविधानो की जो उनके देश के न्यायालयो ने व्याख्या की है उससे बाध्य नही है किन्तु हम उन व्याख्याग्रो का उपयोग स्थिति को समझने मे पथ प्रदशन के रूप मे कर सकते हैं, वकीलो द्वारा तक व दलीलो मे। परन्तु उच्चतम न्यायालय स्वतन्त्र है कि ग्रन्य न्यायालयो की व्याख्याम्रो को किस मात्रा मे स्वीकार करे तथा किस मात्रा मे ग्रस्वीकार करे।

मोटे रूप से यह निष्कष निकलता है कि उच्चतम न्यायालय ने ग्रपना स्वतन्त्र माग बनाने का प्रयास किया है। उसने केवल एक सीमा स्वीकार की *

यहा पर सविधान द्वारा कुछ सीमाए लगाई गई हैं। इन सीमाओ का सहारा लेकर केन्द्रीय व राज्य सरकारें इ हे प्रतिबन्धित कर सकती हैं। यहा न्यायालय को यह देखना होता है कि ये सरकारें जो प्रतिबन्ध लगा रही हैं, वे बन्धन सवधानिक सीमाओं के बाहर तो नहीं हैं। अनुचित उल्लघन को अवैध घोषित करके वह पुन नागरिकों को अधिकार दिला सकता है। यह याचिकाओ (writs) के माध्यम से हो सकता है। इनमे सबसे महत्वपूर्ण याचिका Wr t of ' abeas Corpus' ('Give my body back') है।

(iii) सर्वोच्च न्यायालय सम्पूर्ण सविधान का भी सरक्षक है अत उसका यह उत्तरदायित्व है कि वह देखे कि सम्पूर्ण सविधान की सम्पूर्ण धाराओं का माना जा रहा है। तथा किसी भी स्तर पर उसका उल्लघन तो नहीं हो रहा है।

इन उत्तरदायित्वो को निभाने के लिए न्यायालय उतना स्वतन्त्र नहीं है जितना अमेरिकी सर्वोच्च न्यायालय क्योकि यहाँ पर न्यायिक पुनरावलोकन का प्रयोग "According to the procedure established by law" के सिद्धान्त के आधार पर होता है, न कि "due process of law" के नियम की भाति। अत यह प्रश्न नही उठायेगा कि जो सीमाए ससद लगायेगी, वे सीमाए औचित्यपूर्ण हैं या नहीं, न्यायसगत है या नही। यह बात वी॰ जी॰ रो (V G Row) बनाम मद्रास राज्य (1952) के मुकदमे मे ही ही स्पष्ट कर दी गई थी। इसके निर्णय में तत्कालीन मुख्य न्यायाधीश महोदय ने कहा कि क्योकि न्यायालय को "According to the procedure established by law" के सिद्धान्त पर काय करना है, वह केवल दो बातें देख सकता है (i) सविधान म जिन शब्दो मे सीमाओं का वर्णन किया गया है, उनका अर्थ क्या है। इस प्रकार से वह सीमाओ के क्षेत्र को शब्दो की व्याख्या के माध्यम से सीमित या विकसित कर सकता है, (ii) वह यह देख सकता है कि वे सीमाए भली भाति लागू की गई है या नही।

सविधान की व्याख्या न्यायालय द्वारा अपनाये गये आधार

(i) The intention of the makers of the constitutional law—इस सम्बन्ध मे उच्चतम न्यायालय का यह मत रहा कि व्याख्या करते समय, सविधान निर्माताओं का क्या कहना था उनका क्या मतव्य था, सविधान सभा मे क्या कहा, आदि को मौलिक महत्व नहीं दिया जाना अर्थात् न्यायालय उन मतव्यो से बाध्य नहीं है जो सविधान सभा में व्यक्त किये गये थे। अर्थ को समझने म सहायता ली जा सकती है किन्तु न्यायालय उस अर्थ से बाध्य हो या स्वीकार ही कर ले, आवश्यक नहीं है। इस सम्बन्ध मे महत्वपूर्ण निर्णय हैं —The St te of Travancore Cochin and others V/S The Bombay Co Ltd (1950)

जा सकती है ग्रथवा क्या हम शक्ति पृथक्करण प्रयाग ही नही कर सकते । "Ray Sahab Ray Tawaya Kapoor And Sons V/S The State of Punjab, 1955 के मुकद्दमे मे सर्वोच्च न्यायालय ने यह कहा कि यद्यपि ग्रमरीकी सविधान के ग्रथ मे यहा शक्ति पृथक्करण बिल्कुल नही पाया जाता। हमारे यहा शक्ति पृथकरण का प्रयोग कार्यों के विभाजन (differentia ion of functions) के लिए हुग्रा है, न कि शक्ति पृथक्करण (seperation oi pow rs) के रूप मे। उदाहरणत केवल न्यायालय को स्वतन्त्र शक्ति प्रदान की गई है तथा उसका काय क्षेत्र, रूपरेखा व सीमा निश्चित की गई हैं। इसी प्रकार सविधान मे केन्द्रीय व राज्य विधान मण्डलो की विधायी शक्तियो को सूची के माध्यम से वर्गीकृत किया गया है तथा इन्ही के ग्राधार पर केन्द्रीय तथा राज्यो की कायपालिकाग्रो की शक्ति निश्चित की गई है। ग्रथात कायपालिका तथा विधान मण्डल के कार्यों म बिल्कुल स्पष्ट ग्रन्तर नही किया गया है। ग्रत न्यायालय ग्राशिक रूप से ही शक्ति पृथक्करण (separation of pow rs) के सिद्धान्त को मान्यता दे सकता है।

(iii) Leg slative competence —ग्रौचित्यपूर्ण ग्रधिकार क्षेत्र का किस ग्राधार पर निश्चित किया जाए यह प्रश्न भारत के सम्बन्ध मे ग्रौर भी महत्वपूर्ण था क्योकि यहा सघीय प्रणाली है। ग्रत कितनी ही बार यह प्रश्न उठ सकता है कि प्रमुख विषय राज्य से सम्बन्धित है या केन्द्रीय सरकार से। ग्रर्थात् जहा हम निश्चयात्मक ढग से नही कह सकते हं, ऐसा प्रश्न सर्वोच्च न्यायालय मे ग्राने पर कुछ सिद्धान्त प्रतिपादित किये गये

(a) जो कुछ सविधान म स्पष्ट रूप से लिखा हो, उसे निर्णायक माना जावगा। ("Conclusiveness of the explicit text of the Constitution") जहा पर ग्रथ सदिग्ध है, वहा सदभ का सहारा लिया जावेगा। (If the verdict of the Constitution is ambiguous, then the context will be taken into consideration)

(b) व्याख्या करने मे प्रयास समन्वय बिठाने की दिशा मे होगा, विरोध का उखाडने या विरोधी तत्वो को उभारने की दिशा म नही होगा। (Reconciliation) will be the orienting norm of interpretation) जैसे भ्रमण की स्वतन्त्रता V/S नजरबन्दी ग्रधिकार (Right to preventive detention)

(c) Pith and Substance doctrine —यह ग्रमेरिका से लिया गया सिद्धान्त है। दो सस्थाग्रो के काय क्षेत्र मे जब कही कही ऐसा लगता हो कि रूप रेखा ग्रस्पष्ट व दुहरी है रेखाए एक दूसरे से घुली मिली सी हैं तो इसम निणय कैसे किया जाए। इस सम्बन्ध मे न्यायालय ने कहा कि हमे 'Pith and Substance Doctrine' को ग्रपनाना होगा। ग्रर्थात् उस विषय की ग्रात्मा (विषय के महत्व)

'According to the procedure established by law' के अन्तर्गत रह कर कार्य करेगा अथवा दूसरे शब्दों में वह अपने को उन सीमाओं में बांधेगा जिन्हें संविधान में निहित किया गया है।

न्यायालय के निर्णय कुछ सिद्धान्तों का निर्माण

न्यायिक पुनरावलोकन का प्रयोग तीनों ही सन्दर्भों में हुआ है अर्थात् संघीय न्यायालय के रूप में, मूल अधिकारों के संरक्षक के रूप में और संविधान के संरक्षक के रूप में। इसके उदाहरण संविधान के हमारे सारे अध्ययन में फैले हुए हैं। यहां वे उदाहरण दिये जा रहे हैं, जिनका सम्बन्ध संवैधानिक सिद्धान्तों के कुछ पक्षों पर प्रकाश पड़ने से है —

(1) The issue of Power of delegation —विधानमण्डल अपनी विधायन शक्ति कार्यपालिका को दे सकता है या नहीं, और यदि दे सकता है तो वह मूल रूप में दे सकता है या मूल शक्ति विधान मण्डल में ही रहेगी और क्या अपनी सम्पूर्ण शक्ति ही कार्यपालिका को दे सकता है आदि अनेक प्रश्न थे, जिनका उत्तर न्यायालय ने 1951 में Magan Bhai Sanjanwala V/S State of Bombay के निर्णय में दिया। इसमें सर्वोच्च न्यायालय ने बड़े ही निर्णायक ढंग से उत्तर दिया कि —

(a) विधि निर्माण का अधिकार किसी अन्य संस्था को प्रदान करना विधायी शक्ति में निहित है। "Delegation as a Constituent element of legislative power as a whole"

(b) विधान मण्डल को अपनी शक्ति किसी संस्था को प्रदान करते समय मूल शक्ति और गौण शक्ति में अन्तर करना होगा। उदाहरणार्थ जो शक्तियां संविधान में केन्द्रीय सरकार को सौंपी गई हैं बहुधा उन सब विषयों में यह आशा की जाती है कि उनका मूल कानून तो विधान मण्डल ही बनायेगा किन्तु जो उपकानून आदि बनाने हैं, वह इन्हें कार्यपालिका को सौंप सकता है।

(c) सम्पूर्ण विधायी उत्तरदायित्व वह किसी अन्य को नहीं सौंप सकता अपितु आंशिक उत्तरदायित्व ही सौंप सकता है और वह भी मूल बातों के बारे में नहीं।

(d) कार्यपालिका को जो शक्तियां सौंपी गई हैं उनका भी अन्तिम उत्तरदायित्व विधान मण्डल का ही होता है।

(ii) The issue of Separation of power —हमारे संविधान द्वारा केन्द्रीय स्तर तथा राज्य स्तर पर संसदीय प्रणाली की व्यवस्था की गई है। अतः क्या यहां पर कार्यपालिका, विधान मण्डल और न्यायपालिका के बीच रेखा खींची

जा सकती है अथवा क्या हम शक्ति पृथक्करण प्रयोग ही नही कर सकते। "Ray Sahab Ray Tawaya Kapoor And Sons V/S The State of Punjab, 1955 के मुकद्दमे म सर्वोच्च न्यायालय ने यह कहा कि यद्यपि अमरीकी सविधान के अथ मे यहा शक्ति पृथक्करण बिल्कुल नही पाया जाता। हमारे यहा शक्ति पृथकरण का प्रयोग कार्यो के विभाजन (differentiation of functions) के लिए हुआ है, न कि शक्ति पृथक्करण (seperation of powers) के रूप म। उदाहरणत केवल न्यायालय को स्वतन्त्र शक्ति प्रदान की गई है तथा उसका काय क्षेत्र, रूपरेखा व सीमा निश्चित की गई हैं। इसी प्रकार सविधान में केन्द्रीय व राज्य विधान मण्डलों की विधायी शक्तिया को सूची के माध्यम से वर्गीकृत किया गया है तथा इन्ही के आधार पर केन्द्रीय तथा राज्यो की कार्यपालिकाओ की शक्ति निश्चित की गई है। अर्थात कार्यपालिका तथा विधान मण्डल के कार्यों मे बिल्कुल स्पष्ट अन्तर नही किया गया है। अत न्यायालय आशिक रूप से ही शक्ति पृथक्करण (separation of powers) के सिद्धान्त को मान्यता दे सकता है।

(iii) Legislative competence —औचित्यपूर्ण अधिकार क्षेत्र को किस आधार पर निश्चित किया जाए यह प्रश्न भारत के सम्बन्ध मे और भी महत्वपूर्ण था क्योकि यहा सघीय प्रणाली है। अत कितनी ही बार यह प्रश्न उठ सकता है कि अमुक विषय राज्य से सम्बन्धित है या केन्द्रीय सरकार से। अर्थात् जहा हम निश्चयात्मक ढग से नही कह सकते हैं, ऐसा प्रश्न सर्वोच्च न्यायालय म प्रश्न पर कुछ सिद्धान्त प्रतिपादित किये गये

(a) जो कुछ सविधान म स्पष्ट रूप से लिखा हो, उसे निर्णायक माना जावेगा। ("Conclusiveness of the explicit text of the Constitution") जहा पर अथ सदिग्ध है, वहा सदर्भ का सहारा लिया जावेगा। (If the verdict of the Constitution is ambiguous, then the context will be taken into consideration)

(b) व्याख्या करने मे प्रयास समन्वय बिठाने की दिशा म होगा, विरोध को उखाड़ने या विरोधी तत्वों को उभारने की दिशा म नहीं होगा। (Reconciliation) will be the orienting norm of interpretation) जैसे भ्रमण की स्वतत्रता V/S नजर बन्दी अधिकार (Right to preventive detention)

(c) Pith and Substance doctrine —यह अमेरिका से लिया गया सिद्धान्त है। दो सस्थाओ के काय क्षेत्र म, जब कही कही ऐसा लगता हो कि रूपरेखा अस्पष्ट व दुहरी है रेखाए एक दूसर स घुली मिली सी हैं, तो इसम निर्णय कैसे किया जाए। इस सम्बन्ध मे न्यायालय ने कहा कि हमे Pith and Substance Doctrine को अपनाना होगा। अर्थात् उस विषय की आत्मा (विषय के महत्व)

के आधार पर निर्णय करना होगा कि वह स्थानीय महत्व का है या प्रान्तीय या राष्ट्रीय महत्व का जसे मूल अधिकार बनाम नीति निदेशक तत्व।

(d) Implied power doctrin —यह सिद्धान्त भी अमेरिका से लिया गया है। यदि किसी विषय पर कानून बनाने का अधिकार केन्द्र या राज्य को प्राप्त है, तो उन सब चीजों पर साध्य व साधन के आधार पर निर्णय किया जावेगा।

(e) Presumption will be in favour of Legislature'—आधार भूत धारणा यह है कि विधान मण्डल ने अपने अधिकार का प्रयोग औचित्यपूर्ण ढंग से किया है और यह धारणा उस समय तक बनी रहेगी जब तक यह सिद्ध नहीं कर दिया जाता कि उसका प्रयोग औचित्यपूर्ण ढंग से नहीं किया गया। इस सम्बन्ध में यह भी कहा गया है कि यह भी मान्यता बनी रहेगी कि विधान मण्डल को यह अधिकार है या कि विधान मण्डल सबसे उत्तम निर्णायक है कि समाज के हित में क्या है जब तक कि व्यक्ति यह सिद्ध कर नहीं देता कि विधान मण्डल का यह कार्य समाज के हित में नहीं है। जसे Mohamad Hanif Qureshi V/S The State of Bihar, 1959,

(f) Progressive V/S Stability क्या विधान मण्डल से यह आशा की जाती है कि वह हमेशा प्रगति की दिशा में ले जाने वाले ही कानून बनाएगा। न्यायालय ने यह कहा कि यह सिद्धान्त एक पूर्ण (absolute) निर्णायक तत्व के रूप में नहीं रखा जा सकता क्योंकि कुछ कानून केवल (stability) के रूप में ही बनाये जाते हैं फिर व चाहे प्रगतिशील हो या प्रगतिशील न। न्यायालय ने इसे 'सीमित किन्तु महत्वपूर्ण (limited but important) कहा। जैसे The Sen or Electric Inspector V/S Laxmi Narain Chopra, 1962

(g) Severally (पृथक पृथक) एक कानून का यह देखने के लिए कि यह औचित्यपूर्ण है या वैध है, उसे न्यायालय पूरी तरह से देख सकता है तथा उसके कुछ भाग को भी देखा जा सकता है। अगर सारे भाग अवैध हैं तो उस पूरे कानून को अवैध घोषित कर दिया जावेगा तथा कुछ भाग ही अवैध हैं तो उस कानून को वैध तथा बाकी उस कुछ भाग को अवैध घोषित कर दिया जावेगा। जसे State of Bombay V/S United Motors and others, 1953 किन्तु इसमें एक बात यह कही गई कि व्यवस्थापिका को ऐसा कानून बनाना चाहिए जिसमें समस्त भाग अलग अलग स्पष्ट हों। अगर ऐसा नहीं होता है तो कुछ भाग के अवैध होने पर भी पूरा कानून अवैध माना जावेगा।

(iv) मूल अधिकारों पर विवेकपूर्ण प्रतिबन्ध (Reasonable restrictions on Fundamental rights) —इसके अन्तर्गत न्यायालय ने मोटे रूप से दो बातें कही

(a) न्यायालय निर्धारित करेगा कि प्रतिबन्ध विवेकयुक्त है या नही और इसके सम्बन्ध मे विधान मण्डल का अन्तिम निर्णय नही होगा क्योकि यह सम्भावना है कि विधान मण्डल अनुचित प्रतिबन्ध लगाये और उसे भी विवेकयुक्त घोषित कर दे।

(b) किसी चीज को विवेकयुक्त घोषित करने मे मापदण्ड न्यायालय निर्धारित करेगा। इसके निम्नाकित मोटे आधार होगे—

(i) न्यायलय तथ्यो (relevant facts) का निरीक्षण करेगा तथा उनसे वह इस निर्णय पर पहुचेगा कि प्रतिबन्ध विवेकयुक्त है या नही।

(ii) विधान मण्डल का क्या उद्देश्य था—यह न्यायालय देखेगा कि प्रतिबन्ध लगाने मे विधान मण्डल का क्या वही उद्देश्य था, जो सविधान मे इगित किया गया था या राष्ट्रीय हित की वृद्धि के लिए था या प्रतिबन्ध दलीय हित के लिए लगाया गया था।

(iii) उन परिस्थितियो का भी अध्ययन किया जावेगा जिनमे प्रतिबध लगाने की आवश्यकता पडी।

इन तीनो बातो को मद्दे नजर रखते हुए न्यायालय निर्णय देगा कि प्रतिबन्ध (restrictions) विवेकयुक्त (reasonable) है या नही।

मूल्यांकन—हमे उपरोक्त विवेचन के आधार पर यह स्वीकार करना पडेगा कि न्यायालय ने राज्य की शक्ति और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के बीच सतुलन बनाए रखने का सफल प्रयास किया है और यह भी कोशिश की है कि केन्द्र और राज्यों के भी शक्ति-सन्तुलन बना रहे और सविधान की आत्मा सरक्षित रहे। सविधान की व्याख्या करने का भी इस तरह से प्रयास किया गया है कि जहा तक बने न्यायाधीशो के विवेक का प्रयोग न होकर सविधान के शब्दो का ही सहारा लिया जाए अर्थात् बहुत मात्रा मे "According to the procedure established by Law' की सीमा का न्यायालय ने आदर किया है इसलिए राजनीतिक व्यवस्था और न्यायालय की महत्ता बनाए रखने मे न्यायाधीशो ने अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। यद्यपि यह कहना कठिन है कि न्यायाधीश हमेशा तटस्थ ही रहे या वे अपने मूल्यो से हमेशा दूर रहें, फिर भी मोटे रूप से न्यायालय के अधिकाश निर्णय विवाद के ऊपर रहे हैं। निर्णयो का थोडा भाग जरूर ऐसा रहा है, जो विवाद एव आलोचना का शिकार हुआ है। जी० एन० जोशी के ये शब्द न्यायिक पुनरावलोकन के मूल्यांकन के सम्बध में सही है

"Judicial review has effectively preserved the 'Rule of law' The Judiciary has with sensitive regard, maintained the delicate

(iii) भारत म उच्चतम न्यायालय को परामश लेने का भी अधिकार है किन्तु अमेरिका मे ऐसा अधिकार नही है और ऐसी स्थिति हो सकती है कि सरकार परामश मांगे, व सरकार के पक्ष मे यायालय परामश दे दे, फिर सरकार वैसा कानून बना दे। तत्पश्चात् नागरिक न्यायालय म मुकदमा लाये तब न्यायालय धम सकट म पड सकता है कि वह क्या निणय दें।

(ग) मूल अधिकार लक्षण एव विशेषताए

हमारे देश मे जो मूल अधिकारो की व्यवस्था की गई है, उनके कुछ महत्व-पूरण लक्षण एव विशेषताए निम्नांकित है —

(i) मूल अधिकार संविधान की भूमिका (Preamble) को एक अथपूरण साधक ढग से अभिव्यक्त करते हैं। भूमिका मे यह कहा गया है कि भारत मे त्रिमुखी न्याय (सामाजिक, आर्थिक एव राजनतिक) की व्यवस्था होगी। मूल अधिकारो की व्यवस्था मे प्रमुख रूप से राजनैतिक पक्ष की अभिव्यक्ति की गई है। अगर भूमिका साध्य है तो मूल अधिकारो को साधन कहा जा सकता है।

(ii) इस व्यवस्था मे वास्तविकता का पुट हमे दिखाई देता हैं। हमारे सविधान निर्माता केवल आदशवादी कल्पना नही अपना रहे थे उन्हे यथाथ की कसौटी पर अपनाने का भी प्रयत्न कर रहे थे। अधिकारो के साथ उनकी सीमाओं ('Reasonable Restrictions') की भी व्यवस्था इसका प्रमाण है। यह इसलिए किया गया क्योकि कही स्वतन्त्रता एव उच्छृखलता के बीच का अन्तर समाप्त न हो जाए। इसी प्रकार 'काम का अधिकार" (Right to work) जैसे अप्राप्य अधिकार का शामिल नही किया जाना तत्कालीनहालात एव निकट भविष्य की दृष्टि से यथाथ वादी पुट की ओर स्पष्ट सकेत करता है।

(iii) सविधान निर्माताओ ने कोशिश की कि व्यक्तिगत स्वतत्रता तथा राज्य के अस्तित्व मे सामजस्य बैठाया जा सके। प्रा० के टी शाह ने कहा कि हम स्वतत्र भारत म एक पुलिस राज्य का निर्माण कर रहे है। दूसरी ओर यह कहा गया कि व्यक्ति को इतना स्वतत्र नही कर दिया जावे कि वह समाज एव राष्ट्र का नुकसान पहुचाता रहे एव उसके विरुद्ध कुछ नहीं किया जा सके।

(iv) मूल अधिकार न्यायालय द्वारा सरक्षित है और इस सरक्षण के कारण ही सम्पति के अधिकार के सन्दभ मे विशेषकर न्यायालय एव ससद के बीच लगातार विवाद रहा है। यही कारण है कि गोलकनाथ मुकदमे मे सर्वोच्च न्यायालय ने घोषित किया कि ससद मूल अधिकारो मे सशोधन नही कर सकती। फलत नीति निदेशक तत्वो एव मूल अधिकारो के सम्बन्ध म तनाव पैदा हुआ तथा तब से मूल

and difficult balance between the rights of the citizen and the powers of the government and also balance between the powers of the Union and those of the States

फिर भी न्यायिक पुनरावलोकन की कुछ आलोचनाए की गई है —

(i) न्यायिक पुनरावलोकन म राजनीतिक स्वतन्त्रता का सामाजिक न्याय की तुलना मे अधिक महत्व दिया गया है। इसका फल यह हुआ कि अधिकांश कानून जिनका सम्बन्ध सम्पत्ति के अधिकार से था उसे न्यायालय ने अवैध घोषित किया है और इसी के फलस्वरूप संविधान म अधिकाश संशोधन आवश्यक हुए। इस प्रकार न्यायालय केवल लोकतन्त्र के राजनीतिक पक्ष का तो संरक्षण कर पाया है परन्तु उसके सामाजिक तथा आर्थिक पक्ष का संरक्षण नही कर पाया है जबकि हमारे संविधान में मूल अधिकारो एव नीति निदेशक तत्वो दोनो को मिला कर यह प्रयास किया गया था कि लोकतन्त्र के दोनो पक्षो म सन्तुलन बना रहे। न्यायालय से यह आशा की जाती थी कि वह मूल अधिकारो एव नीति निदेशक तत्वो को समन्वित करने म सहायक होगा और ऐसे निर्णय नही देगा, जिससे मूल अधिकारो की तो रक्षा हो किन्तु निदेशक तत्वो को निर्जीव बना दिया जाए। प्रारम्भ में तो न्यायालय ने निदेशक तत्वो का भी महत्व दिया गया किन्तु बाद म चलकर मूल अधिकारो पर ही जोर दिया जाने लगा। यहा तक गोलकनाथ मुकदमे म तो न्यायालय ने यह कह दिया कि संसद मूल अधिकारो में संशोधन नही कर सकती और इससे दोनो के बीच समन्वय की भावी सम्भावनाए खत्म हो गई। विशेष तौर से वामपथी दलो ने यह कहा कि न्यायालय इनमे सामजस्य बिठाने मे असमर्थ रहा। पाचवी लोकसभा के चुनाव म यह प्रश्न विशेष तौर से उठा तथा इसी के आधार पर चुनाव लडा गया जिसमे सामाजिक न्याय के कार्यक्रमो की विजय हुई। इस प्रकार आलोचको के अनुसार कुल मिला कर न्यायालय सामाजिक परिवर्तन का अस्त्र (Instrument of social change) नही हुआ।

(ii) कभी कभी यह भी हुआ है कि 'According to the procedure established by law' एव 'due process of law" के बीच की जो सीमा थी, उसका न्यायालय ने उल्लंघन किया और इस उल्लंघन का कारण न्यायाधीशो के अपने मूल्य होते थे। उदाहरणत यह कहा जाता है कि गोलकनाथ मुकदमे के निर्णय मे राजनीतिक तर्क ज्यादा दिये गये तथा कानूनी तर्क कम। ये राजनीतिक तर्क न्यायाधीश सुब्बाराव के व्यक्तिगत मूल्य के प्रतीक थे। कभी कभी तो ऐसा कहा जाता है कि हमेशा न्यायालय ने निष्पक्ष निर्णय नही दिये। यह विशेष तौर से उस समय हुआ, जब निर्णय बहुमत के आधार पर दिया गया था। जैसे गोलकनाथ मुकदमे का निर्णय एक मत (6–5) के बहुमत से निर्णित किया गया।

(iii) भारत म उच्चतम न्यायालय को परामर्श देने का भी अधिकार है किन्तु अमेरिका मे ऐसा अधिकार नही है और ऐसी स्थिति हो सकती है कि सरकार परामश मागे, व सरकार के पक्ष मे न्यायालय परामश दे दे, फिर सरकार वैसा कानून बना दे। तत्पश्चात् नागरिक न्यायालय म मुकदमा लाये तब न्यायालय धम सकट मे पड सकता है कि वह क्या निणय दें।

(ग) मूल अधिकार लक्षण एव विशेषताए

हमारे देश मे जो मूल अधिकारा की व्यवस्था की गई है, उनके कुछ महत्व-पूर्ण लक्षण एव विशेषताए निम्नांकित है —

(i) मूल अधिकार सविधान की भूमिका (Preamble) को एक अथपूर्ण साथक ढग से अभिव्यक्त करते हैं। भूमिका मे यह कहा गया है कि भारत मे त्रिमुखी न्याय (सामाजिक, आर्थिक एव राजनैतिक) की व्यवस्था होगी। मूल अधिकारो की व्यवस्था मे प्रमुख रूप से राजनैतिक पक्ष की अभिव्यक्ति की गई है। अगर भूमिका साध्य है तो मूल अधिकारो को साधन कहा जा सकता है।

(ii) इस व्यवस्था मे वास्तविकता का पुट हम दिखाई देता हैं। हमारे सविधान निर्माता केवल आदशवादी कल्पना नही अपना रहे थे उन्हे यथाथ की कसौटी पर अपनाने का भी प्रयत्न कर रह थे। अधिकारो के साथ उनकी सीमाओ ('Reasonable Restrictions') की भी व्यवस्था इसका प्रमाण है। यह इसलिए किया गया क्योकि कही स्वतन्त्रता एव उच्छृखलता के बीच का अ तर समाप्त न हो जाए। इसी प्रकार 'काम का अधिकार" (Right to work) जैसे अप्राप्य अधिकार का शामिल नही किया जाना तत्कालीनहालात एव निकट भविष्य की दृष्टि से यथाथ वादी पुट की ओर स्पष्ट सकेत करता है।

(iii) सविधान निर्माताओ ने कोशिश की कि व्यक्तिगत स्वतन्त्रता तथा राज्य के अस्तित्व मे सामजस्य बैठाया जा सके। प्रा० के टी शाह ने कहा कि हम स्वतन्त्र भारत मे एक पुलिस राज्य का निर्माण कर रहे है। दूसरी ओर यह कहा गया कि व्यक्ति को इतना स्वतन्त्र नही कर दिया जावे कि वह समाज एव राष्ट्र का नुकसान पहुचाता रहे एव उसके विरुद्ध कुछ नहीं किया जा सके।

(iv) मूल अधिकार न्यायालय द्वारा सरक्षित है और इस सरक्षण के कारण ही सम्पति के अधिकार के सन्दर्भ मे विशेषकर न्यायालय एव ससद के बीच लगातार विवाद रहा है। यही कारण है कि गोलकनाथ मुकदमे म सर्वोच्च न्यायालय ने घोषित किया कि ससद मूल अधिकारो मे सशोधन नही कर सकती। फलत नीति निदेशक तत्वो एव मूल अधिकारों के सम्बन्ध मे तनाव पैदा हुआ तथा तब से मूल

अधिकारों को सीमित करने एव उनमे आवश्यक परिवतन करने की माग उठती रही। परिणामत विभिन्न सवैधानिक सशोधन लाये गये ।

मूल अधिकार सर्वेक्षण

अब हम हमारे सविधान मे निहित सभी मूल अधिकारों का एक एक करके विश्लेषण करेंगे ।

(1) समता का अधिकार (Right to Equality Articles 14 to 18) समता के अधिकार के पीछे प्रमुख स्रोत फ्रास, इगलैण्ड एव अमेरिका के सवधानिक विकास की भूमिका रही है । यह अधिकार सकारात्मक एव नकारात्मक दोनो ही प्रकार का है जिसे हम इस प्रकार से देख सकते हैं—

सकारात्मक पक्ष (i) विधि के समक्ष समता और विधि का समान सरक्षण— न्यायालय की व्याख्या से इस अधिकार का क्षेत्र काफी व्यापक हुआ है । उदाहरणार्थ 'चिरजीत लाल चौधरी बनाम भारत सरकार (1951) मुकदमे मे चार बातों पर बल दिया गया—(a) समान सरक्षण से तात्पर्य समान परिस्थितियो मे समान सरक्षण से है (equal protection means equal protection Under equal circumstances) (b) विधि निर्माण के लिए राज्य विवेकयुक्त वर्गीकरण कर सकता है । (The State can make reasonable classification for purposes of legislation) (c) यदि कभी यह विवाद उठे कि किसी विधि द्वारा समान सरक्षण है या नहीं, तो यह मानकर चला जायेगा कि विधि मे इस प्रकार की व्यवस्था की गई है जब तक यह सिद्ध नही हो जाता कि ऐसा नही हुआ है । (Presumption of legislation is in favour of the legislature) (d) सिद्ध करने का उत्तर दायित्व प्रत्याशी नागरिकों का है, जो सदेह करता है और न्यायालय को जाता है । (The burdon of proof liesupon the person concerned)

(ii) सावजनिक सेवाओं में समान अवसर —सविधान मे स्वीकार किया गया है कि ससद के कानून मे यह घोषित किया जा सकता है कि प्रमुख सेवा हेतु राज्य मे रहना आवश्यक है किन्तु जहाँ तक पिछड़ी जातियो का सम्बन्ध है उनके विषय में राज्य ही कानून बना सकता है,ससद के कानून की आवश्यकता नही। धार्मिक सस्था भी अपने प्रबन्ध हेतु कानून बना सकती है । इसी प्रकार बच्चो एव स्त्रियो को विशेष सुविधा प्रदान किये जाने सम्बन्धी कानन बनाए जा सकते हैं ।

नकारात्मक पक्ष—(i) किसी भी व्यक्ति के साथ धर्म, नस्ल, जाति, लिंग, जन्म स्थान आदि के आधार पर राज्य पक्षपात नही करेगा । चम्पाकम दुरैराजन बनाम मद्रास राज्य (1951) मुकदमे मे उच्चतम न्यायालय ने यह घोषित किया जातीय आधार पर शिक्षा सस्थाओ म सरक्षण नहीं किया जा सकता है ।

(ii) छूत अछूत व्यवस्था गैर कानूनी घोषित की गई।

(iii) उपाधियो, (सिवाय शैक्षणिक एव सेना सम्बन्धी उपाधियो के), को समाप्त किया गया।

आलोचना—समता के अधिकार की निम्नांकित आलोचनाए की गई—(i) इसमे केवल राजनैतिक समता की बात परिलक्षित है आर्थिक समता की नही। सामान्य जीवन मे आर्थिक समता के अभाव मे राजनैतिक समता खोखली है। सर आइवर जेनिंग्स ने यही बात अपने मद्रास भाषण मे कही थी। वामपथी दलो की भी यही आलोचना है। (ii) सामाजिक समता भी आर्थिक दशा से जुडी हुई है। छूत अछूत व्यवस्था को गैर कानूनी घोषित करने से भी वास्तविक समता इसी कारण नही आ पाई। कानूनी समता चाहे वह राजनैतिक क्षेत्र हो और चाहे सामाजिक क्षेत्र हो, उस समय तक प्राप्त नही होती जब तक कि उसके भोग के लिए आवश्यक परिस्थितिया न बने, उन परिस्थितियो के लिए आर्थिक समता की महत्वपूर्ण भूमिका है। चुनावो मे अपार व्यय के कारण प्रत्येक व्यक्ति उम्मीदवार बनने की सामर्थ्य नही रखता। अत समता के अधिकार की सीमा कानूनी ही है, जबकि व्यवहार मे आर्थिक समता की अधिक आवश्यकता है।

(2) स्वतन्त्रता का अधिकार (Right to freedom Articles 19 to 22) भारतीय सविधान म इस अधिकार का व्यापक रूप से उल्लेख किया गया है, जिसका वर्णन अनुच्छेद 19 से 22 तक है। इसमे लगभग उन सभी स्वतन्त्रताओ का विवरण है जो फ्रास एव अमेरिका मे सविधान के अग के रूप मे तथा इगलैण्ड मे परम्पराओ एव न्यायिक निर्णयों से प्रदान किय गए हैं। यह बात अवश्य है कि इन्हे भारतीय परिस्थितियो के अनुसार ढाला गया है। अर्थात् व्यक्तिगत स्वतन्त्रता तथा राज्य की शक्ति के बीच पूर्ण सामजस्य बिठाने का प्रयास किया गया है जिससे स्वतन्त्रता का दुरुपयोग समाज के अहित मे न हो। इसलिए मूल अधिकारो के साथ साथ प्रतिबधो की भी व्यवस्था मिलती है। प्रमुख स्वतन्त्रता अधिकार—[1]

---

1 Article 19 (1) All citizens shall have the right—
- (a) to freedom of speech and expr ssion
- (b) to assemble peaceably and without arms
- (c) to form associations or unions,
- (d) to move freely throughout the territory of India
- (e) to reside and settle in any part of the territory of Ird a
- (f) to acquire hold and dispose of property and
- (g) to practice any profession, or to carryon ary occupation, trade or business,

(a) भाषण एव अभिव्यक्ति का अधिकार (Freedom of Speech and Expression Articles 19(1) a and 19(2)—सविधान के द्वारा सभी नागरिकों की भाषण एव अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता का अधिकार दिया गया है। इसका क्षेत्र न्यायिक निर्णयो से ही निर्धारित किया गया है। उदाहरणार्थ 'रमेश थापर बनाम मद्रास राज्य (1950) के मुकदमे मे न्यायालय ने यह कहा कि विचारों की स्वतन्त्रता एव विचारो की अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता मे प्रकाशन की स्वतन्त्रता भी शामिल है। इस सम्बन्ध मे न्यायधीशो का तर्क था कि यदि हमे विचारो की स्वतन्त्रता हो किन्तु अगर प्रकाशन की स्वतन्त्रता न हो तो यह स्वतन्त्रता पगु रह जाती है। इसी प्रकार 'ब्रज भूषण बनाम देहली राज्य के मुकदमे म कहा गया कि यदि किसी समाचार पत्र मे छपने वाली खबर या किसी विचार की प्रकाशन के पहले जाँच पडताल (pre-sensor ship) होती है तो इससे स्वतन्त्रता मे बाधा पहुचती है अत 'प्री सेन्सरशिप' गलत है, जब तक कि सकट कालीन परिस्थिति मे इस प्रकार की व्यवस्था नहीं की जाती।

इस अधिकार पर व्यापक प्रतिबन्ध पहले मे लगे हुए है। यह कहा गया था कि इस स्वतन्त्रता को राज्य कई आधारो पर सीमित कर सकता है। ये आधार हैं—आरोप आक्षेप, न्यायालय का अपमान, सावजनिक व्यवस्था, नैतिकता के विरुद्ध अपराध सम्बन्धी मामले, विदेशो के साथ दोस्ताना सम्बन्ध राज्य की सुरक्षा, सम्य आचरण, हिंसा को बढावा देने आदि मामलो के सम्बन्ध मे प्रतिबन्ध रखे गए। साथ ही यह भी कहा गया कि ये प्रतिबन्ध विवेकयुक्त (reasonable) होने चाहिये। विवेकयुक्त प्रतिबन्ध से क्या अभिप्राय है, यह प्रश्न पुन सर्वोच्च न्यायालय म आया न्यायालय ने चिन्तामनराव बनाम मध्यप्रदेश राज्य' (1950) तथा रामकृष्ण बनाम मध्य प्रदेश राज्य' के मुकदमो म इसकी व्याख्या की, जिसके महत्वपूर्ण तत्व निम्नाकित है—

(i) 'That it is not the legislature but the court which should be dealt as the final judge of the reasonableness of a restriction"

(ii) 'That the restrictions should be commensulate with the purpose as prescribed in the Constitution, and not excessive or arbitrative"

(iii) "That in judging this, there should be a twofold criteria—

(a) a proper balance between demands of freedom and requirements of social control

(b) "a subordination of individual interest in liberty to great social interest"

(iv) "That both the Substative and the procedural part of the law should be taken into consideration while determining its reasonableness"

इसका स्वाभाविक निष्कर्ष यह बताया जा सकता है कि न्यायालय काफी मात्रा में अपने विवेक का प्रयोग कर सकता है और उसके आधार पर यह निश्चित कर सकता है कि अमुक प्रतिबन्ध विवेकयुक्त है या नहीं है और इस प्रकार यह न्यायालय को या न्यायिक पुनरावलोकन को 'due process of law की दिशा की ओर ले जाता दिखाई देता है। यह बात स्वयं न्यायधीशों ने 'ए० के० गोपालन बनाम मद्रास राज्य' के मुकद्मे में कही, "Here there is a scope for the application of the intellectual yardstic of the Court If however, the court finds all scrutining that the law has not overslipped the Constitutional limitations, the Court will have to uphold the law whether it likes, or not"

(b) शान्तिमय ढंग से बिना हथियारों के एकत्र हो सकने की स्वतन्त्रता—(To assemble peaceably and without arms Articles 19 (1) b and 19 (3)

अनुच्छेद 19 (1) b भारतीय नागरिकों को एकत्र होने के अधिकार की गारण्टी प्रदान करता है, जिसमे मीटिंग आयोजित करने तथा जुलूस निकालने का अधिकार शामिल है। तो भी उनके इस अधिकार पर निम्नांकित तीन सीमाएं हैं—

प्रथम—इस प्रकार की मीटिंग शान्तिपूर्ण होनी चाहिए।

द्वितीय—यह बिना हथियारों के होनी चाहिए।

तृतीय—राज्य अनुच्छेद 19 (3) के अन्तर्गत सार्वजनिक व्यवस्था के हित में विवेकयुक्त प्रतिबन्ध लगा सकता है।

(c) समुदाय एवं संघ बनाने की स्वतन्त्रता—(To form Associations or unions, Articles 19 (1) c and 19 (4)

अनुच्छेद 19 (1) c भारतीय नागरिकों को समुदाय एवं संघ बनाने के अधिकार की गारन्टी देता है। तो भी अनुच्छेद 19(4) के अन्तर्गत राज्य सार्वजनिक व्यवस्था (Public order) या नैतिकता (Morality) के हित में इस अधिकार पर विवेकयुक्त प्रतिबन्ध लगा सकता है।

सरकारी कर्मचारी संवैधानिक ढंग से संघ बनाने के अधिकारी नहीं है यद्यपि व्यवहार मे उनके संघ बने हैं तथा वे दबाव समूह के रूप मे काय करते है और कई कई उनका प्रभाव सकारात्मक एव नकारात्मक दोनो ही अर्थों मे हुआ है।

(d) भ्रमण एवं आवास, व्यवसाय व धन्धे की स्वतन्त्रता—
Articles 19 (1) d, e, f, g, & 19(5 & 6)

(To move freely throughout the territory of India)

(To reside and settle in any part of the territory of India

(To acquire, hold and dispose of propety) & (to practice any profession, or to carryon any occupation)

सभी नागरिक सम्पूर्ण भारत मे स्वतन्त्रतापूर्वक भ्रमण कर सकते हैं तथा भारत के किसी भाग मे रहने, सपत्ति ग्रहण एव बेचने का व हे अधिकार प्राप्त है। इस अधिकार का होना स्वाभाविक है क्योकि हमारे यहा इकहरी नागरिकता (single citizenship) है।

इस पर भी अनुच्छेद 19(5) के अन्तर्गत राज्य सामान्य जनता के हित में तथा विशेषकर अनुसूचित जातियो के हितो की सुरक्षा मे विवेकयुक्त प्रतिबन्ध लगा सकता है।

इसी अधिकार के अन्तर्गत कोई भी नागरिक किसी भी प्रकार का व्यवसाय व धधा कर सकता है। इस पर भी प्रतिबन्ध लगाए जा सकते हैं। दो विशेष प्रतिबधों का उल्लेख किया गया है। (a) राज्य किसी व्यवसाय या धधे के लिए तकनीकी योग्यताए निर्धारित कर सकता है और इनके अभाव में नागरिक उस व्यवसाय को नहीं कर सकता है। (b) राज्य स्वय या किसी निगम आदि के द्वारा धधा चलाने की व्यवस्था कर सकता है तथा उसके सम्बन्ध मे उसे कुछ व्यक्तियो से बने की व्यवस्था को लेने का अधिकार है। इसी व्यवस्था के अन्तर्गत सरकार राष्ट्रीयकरण करती है। इससे एक तरह से समाजवाद की दिशा मे जाने हेतु मार्ग प्रशस्त किया गया है।

(e) नकारात्मक अधिकार—"Protection in respect of conviction for offences" Article 20)

अनुच्छेद 20 उन व्यक्तियों को, जिन पर अभियोग लगाया गया है, निम्नलिखित संवैधानिक संरक्षण प्रदान करता है—

(i) कार्योत्तर विधियों से रक्षा ('expost facto' Law)—कार्योत्तर विधि वह विधि है जो अपराध करने के बाद पारित की जाती है और ऐसे काम को अपराध घोषित करती है, "जो जब" किया गया था,

अपराध नहीं था (Prevention against Retrospective criminal law) या प्रवृत्त विधि में विहित दण्ड की मात्रा को बड़ा (Penalty greater than that which might have been inflicted) देती है। अनु० 20 केवल भूतलक्षी दण्ड विधान बनाने का निषेध करता है। यह दीवानी कानूनों को भूतलक्षी प्रभाव देने से मना नहीं करता।

(ii) दोहरे दण्ड से संरक्षण (Immunity from Double Punishment)—अनु० 20 का खण्ड 2 यह उपबन्धित करता है कि कोई व्यक्ति एक ही अपराध के लिए एक बार से अधिक अभियोजित और दण्डित नहीं किया जायेगा।

(iii) स्वयं अपराध आरोपण (Self Incrimination)—अनु० 20 का खण्ड (3) यह उपबन्धित करता है कि किसी भी व्यक्ति को जिस पर कोई अपराध लगाया गया है स्वयं अपने विरुद्ध साक्षी देने के लिए बाध्य नहीं किया जायेगा। (Accused Immunity from being compelled to be a witness against himself)

(f) जीवन एवं वैयक्तिक स्वतन्त्रता का अधिकार (Protection of Life and Personal liberty Article 21)—अनु 21 यह कहता है कि किसी व्यक्ति को विधि के द्वारा स्थापित प्रक्रिया के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार से उसके जीवन या व्यक्तिगत स्वतन्त्रता से वंचित नहीं किया जायेगा। (No person shall be deprived of his life or personal liberty except according to the procedure established by law)

अनु० 21 का संरक्षण नागरिक एवं विदेशी सभी प्रकार के व्यक्तियों को प्राप्त है।

अमेरिका में उचित प्रक्रिया के बिना (due process of law) स्वतन्त्रता को नहीं छीना जा सकता है। इस वाक्यांश का न्यायालयों ने बड़ा उदार अर्थ लगाया है। भारतीय स्वतन्त्रता का अधिकार "विधि द्वारा स्थापित" प्रक्रिया के अधीन है। व्यक्ति के अधिकारों पर ऐसा प्रतिबन्ध लगाना अति आवश्यक है, जिससे दूसरे के अधिकारों का हनन न हो।

(g) बन्दीकरण एवं निरोध के विरुद्ध संवैधानिक संरक्षण—(Safeguards against arbitrary arrest and detention Article 22

वस्तुतः अनु० 22 अनु० 21 का पूरक है और दोनों को एक साथ पढ़ा जाना चाहिए। अनु 22 के अनुसार गिरफ्तारियां दो प्रकार की हो सकती हैं (i) सामान्य दण्ड विधि के अधीन (Punitative) (ii) निवारक निरोध विधि के

(Preventive) । अनु० 22 के प्रथम दो खण्ड सामान्य विधि के अधीन गिरफ्तारियों से सम्बन्ध रखते हैं तथा अन्तिम पांच खण्ड निवारक निरोध विधि के अधीन गिरफ्तारी से सम्बन्धित है और उस प्रक्रिया को विहित करते हैं, जिनका पालन किया जाना आवश्यक है।

सामान्य विधि के अधीन गिरफ्तारी से संरक्षण के अधीन निम्नलिखित अधिकार हैं —

(i) गिरफ्तारी के कारणों को शीघ्रातिशीघ्र बताये जाने का अधिकार।
(ii) अपनी रुचि के वकील से परामर्श करने तथा बचाव करवाने का अधिकार।
(iii) गिरफ्तारी के बाद 24 घण्टों के भीतर किसी मजिस्ट्रेट के समक्ष पेश किये जाने का अधिकार।
(iv) उक्त कालावधि से आगे मजिस्ट्रेट के आदेश के बिना निरोध से स्वतन्त्रता।

अनु० 22 के खंड 4 से 7 किसी व्यक्ति को निवारक निरोध के अन्तर्गत की गई गिरफ्तारी से संरक्षण प्रदान करते हैं। निवारक बन्दी एक देहतियाती कार्यवाही है जो किसी व्यक्ति को अपराध करने से रोकने के लिए अपनायी जाती है।

यद्यपि संविधान में निवारक निरोध कानूनों की आवश्यकता को स्वीकार किया गया है, तथापि इसकी कठोरता को कम करने के लिए कुछ संवैधानिक संरक्षण भी प्रदान किये गये हैं, जिनमें सलाहकार समिति द्वारा पुनर्विचार, गिरफ्तारी के कारण एवं अभ्यावेदन एवं सलाहकार समिति की प्रक्रिया आदि प्रमुख हैं।

आलोचना

(i) जिन आधारों पर स्वतन्त्रता के अधिकार को सीमित किया जा सकता है, वह संदिग्ध है। उन आधारों का निश्चित अर्थ नहीं है, उनका क्षेत्र भी निर्धारित नहीं है और यह बात कार्यपालिका पर निर्भर होगी संसद पर निर्भर होगी जिसमें बहुधा कार्यपालिका का बहुमत होगा कि वह इन आधारों के क्षेत्र को निश्चित करें।

साथ ही यह कहा जाता है कि यद्यपि पहले संशोधन द्वारा यह व्यवस्था कर दी गई कि ये प्रतिबंध विवेकयुक्त होने चाहिए अर्थात् न्यायालय को इनकी विवेकयुक्तता की जांच का अधिकार दिया गया है। किन्तु हमारे यहां न्यायिक पुनरावलोकन के अधिकार का प्रयोग 'विधि द्वारा स्थापित' प्रक्रिया के आधार पर होता है। वह केवल यह देख सकता है कि संविधान के उद्देश्य क्या हैं' संविधान द्वारा लागू विधि लागू की गई है या नहीं।

(ii) निवारक निरोध एक ऐसा अपवाद है, जिससे न केवल व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का ही हनन हो सकता है अपितु सम्पूर्ण स्वतन्त्रता का अधिकार मखौल बन सकता है। इस संबंध में मुख्य न्यायाधीश महाजन के ये शब्द उल्लेखनीय हैं—

"Preventive detention means a complete negation of freedom of movement and of personal liberty and is incompitable with both the subjects and yet it is placed in the same compart ment with them "

यह ठीक है कि बैंले ने निवारक निरोध बन्दियो का विस्तार से अध्ययन किया है और उसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि प्रारम्भ मे कांग्रेस ने इसका दुरुपयोग नहीं किया तथा लोकतन्त्र के हितो के अनुरूप प्रयोग किया। किन्तु आलोचको का कहना था कि इस बात की गारन्टी नही है कि भविष्य मे भी इसका दुरुपयोग नही होगा। आलोचकों के सदेह की पुष्टि 25 जून 1975 को आपातकाल की घोषणा के पश्चात् की गई अन्धाधुन्ध गिरफ्तारियो एव "मीसा" के मनमाने दुरुपयोग से होती है।

(iii) अपराधियो को जो अधिकार दिये गए हैं उनकी कोई आवश्यकता नही है। ये अधिकार तो प्रत्येक देश के फौजदारी एव दीवानी न्यायालयो को होते हैं।

डा० अम्बेडकर सर अलादीन कृष्णा स्वामी आदि का कहना था कि ये प्रतिबन्ध स्वतन्त्रता एव राज्य की सुरक्षा के बीच सतुलन बिठाने के लिए रखे गये हैं जिससे स्वतन्त्रता का दुरुपयोग न हो। ऐसा इसलिए आवश्यक है कि भारत सदियो से दास रहा है, यहा लोकतन्त्र मजबूत नही हो पाया है अत कई स्वतन्तता उच्छृ खलता मे परिणित न हो जाए, ऐसी आशका थी।

(3) शोषण के विरुद्ध अधिकार (Right Against Exploitation Articles 23 & 24)

यह नकारात्मक व्यवस्था का प्रतीक है। भारत के नागरिको को यह अधिकार है कि उनका शोषण नही किया जाए। अमेरिका के सविधान से इसे लिया गया है। इसके अन्तर्गत मनुष्यो का क्रय-विक्रय नही होगा, 14 वर्ष से कम आयु वाले बालको को खतरनाक नौकरियो मे नही लगाया जायेगा। किन्तु राष्ट्रीय हितो की दृष्टि से अनिवार्य भर्ती आदि लागू की जा सकती है।

आलोचनाए —

(1) आलोचको के अनुसार इस अधिकार के द्वारा कोई चीज प्रदान नही की गई है और जो कुछ दिया गया है, वह देश के सामान्य कानून द्वारा नागरिकों को प्राप्त है। लेकिन यहा यह कहा जा सकता है कि हमारे देश मे सामन्तवादी परम्परा रही है, जिसमे शोषण, मानव का क्रय-विक्रय होना रहा है। अत जब तक सविधान द्वारा इस पर प्रतिबध नहीं लगाया जाता उस समय तक शोषण होने की सम्भावनाए बनी रहती है। इस अधिकार का सद्धान्तिक अर्थ है, उन परिस्थितियां

का निर्माण जिनमें मानव व्यक्तित्व का विकास करे। शोषण पर प्रतिबंध एसी हा परिस्थिति है।

(ii) आलोचकों ने यह भी कहा कि अधिकार को रखने से ही शोषण समाप्त नहीं हो जायेगा। इस आलोचना को स्वीकार करते हुए भी यह कहा जा सकता है कि इस प्रकार के अधिकार से इसके पक्ष में एक सन्दर्भ व वातावरण बनता है।

(iii) देश की पूंजीवादी व्यवस्था के कारण शोषण होता है उसका इस अधिकार में उल्लेख नहीं है और अगर है भी, तो सीमित रूप में। इस आलोचना में काफी बल है किन्तु इस शोषण के विरुद्ध नीति निदेशक तत्वों में उल्लेख किया गया है और अगर इन तत्वों व अधिकारों में सामंजस्य बैठ पाता है, तो यह आलोचना समाप्त हो जाती है।

(4) धार्मिक स्वतन्त्रता का अधिकार (Right to freedom of Religion Articles 25 to 28)

नेहरू रिपोर्ट, जो 1928 में प्रकाशित हुई थी, में कहा गया था कि साम्प्रदायिकवाद का एक सांस्कृतिक सन्दर्भ है और यह मौलिक रूप से तब उत्पन्न होता है जब अल्पसंख्यक वर्ग यह महसूस करते हैं कि उनकी भाषा, धर्म, संस्कृति नष्ट हो रही है। अतः जब उन्हें मनोवैज्ञानिक विश्वास दिलाया जाए, तब ही साम्प्रदायिक विकार मानस से हटता है। इसी प्रेरणा से हमारे संविधान निर्माताओं ने धर्म मानने के अधिकार की बात रखी। किसी भी धर्म में विश्वास रखने पालन करने एवं प्रचार करने की स्वतन्त्रता है। प्रत्येक धर्म के अनुयायियों को, अपनी धार्मिक संस्थाओं में जिस प्रकार का चाहे प्रबंध करने का अधिकार है। धार्मिक-व्यवस्था के सम्बन्ध में उन्हें सम्पत्ति प्राप्त करने का भी अधिकार है। इस पर कोई कर नहीं लगेगा। सिक्खों को कृपाण आदि रखने की भी सुविधा है।

किन्तु सार्वजनिक व्यवस्था नैतिकता, स्वास्थ्य, आत्मा के संरक्षण तथा किसी लौकिक व्यवस्था की दृष्टि से राज्य को धार्मिक स्वतन्त्रता पर प्रतिबंध लगाना पड़े तो राज्य यह प्रतिबंध लगा सकता है। स्मिथ ने अपनी पुस्तक 'ए सेकुलर स्टेट' में इस अधिकार को हमारे "लौकिक आदर्शों की कानूनी प्राचीर' बताया है।

आलोचनाएं—इस बात पर आलोचना की जाती है कि धार्मिक प्रचार करने की स्वतन्त्रता के अधिकार का दुरुपयोग हो सकता है। समाज के पिछड़े हुए वर्गों को धर्म के प्रलोभन पर अपना धर्म बदलने को मजबूर किया जा सकता है। विशेषकर विदेशी मिशनरियों के लिए ऐसा कहा गया।

किन्तु अगर प्रचार की स्वतन्त्रता नहीं प्रदान की जाती है तो यह अधिकार अपूर्ण रह जायेगा।

(5) सांस्कृतिक एवं शैक्षणिक अधिकार (Cultural and Educational Rights Article 29 & 30)—इन अधिकारों की पृष्ठभूमि के रूप में भी हमें नेहरू रिपोर्ट को ध्यान में रखना होगा। यह भी स्मरणीय है कि भारतीय संविधान में जब हम लौकिकवाद का उल्लेख करते हैं तो उसमें धर्म ही नहीं, अपितु सांस्कृतिक एवं शैक्षणिक पक्षों को भी शामिल करते हैं क्योंकि इनका उद्देश्य भी अल्पसंख्यक मानस में सुरक्षा की भावना का संचार करना है। उन्हें ऐसा महसूस न हो कि उनकी संस्कृति का हनन किया जा रहा है।

प्रत्येक नागरिक को अपनी भाषा, संस्कृति को सुरक्षित बनाए रखने का अधिकार होगा। उन्हें यह भी अधिकार होगा कि वे अपनी शिक्षा-संस्थाएं स्थापित करें। राज्य का अनुदान बिना किसी पक्षपात के सभी को मिलेगा, किन्तु ये शिक्षा-संस्थाएं सभी धर्मों एवं वर्गों के लिए खुली होनी चाहिए। इस अधिकार में सप्तम संशोधन विधेयक द्वारा कुछ परिवर्तन भी हुए। यह इसलिए भी आवश्यक हुआ क्योंकि भाषा के आधार पर राज्यों का पुनर्गठन हो रहा था। इस संशोधन की महत्वपूर्ण व्यवस्थाएं हैं—

(i) किसी राज्य की जनसंख्या काफी मात्रा में यह मांग करती है कि राज्य की किसी भाषा को संवैधानिक रूप से स्वीकार किया जाए तो राष्ट्रपति ऐसा कर सकता है।

(ii) प्रत्येक राज्य यह कोशिश करेगा कि जहां तक संभव हो, प्राथमिक स्तर पर और संभव हो तो आगे तक बच्चों को अपनी मातृ भाषा में शिक्षा प्रदान की जाए और राष्ट्रपति को यह अधिकार होगा कि, वे इस संबंध में राज्य को आदेश दे सकें, विशेष तौर से भाषायी अल्पसंख्यक वर्गों के संबंध में।

(iii) भाषायी अल्पसंख्यकों के हितों को मद्दे नजर रखते हुए और उनकी समस्याओं के समाधान के लिए राष्ट्रपति विशेष समिति। आयोग की नियुक्ति करेगा जो समय समय पर रिपोर्ट देगा।

इस अधिकार को भी मोटे रूप से स्वीकार किया जाता है। कुछ आलोचक इसकी आलोचना इस प्रकार करते हैं —

(1) शिक्षा एवं संस्कृति के अधिकार में यह व्यवस्था नहीं की गई कि राष्ट्रीय भाषा व क्षेत्रीय भाषाओं में कैसे संतुलन बिठाया जायेगा और राष्ट्र भाषा के संबंध में जो विवाद है, उसे कैसे सुलझाया जायेगा।

(ii) अंग्रेजी भाषा के संबंध में भी काफी संदिग्ध स्थिति छोड़ दी गई और इससे यह विवाद काफी तीव्र हुआ।

किन्तु संविधान सभा के सामने और कोई रास्ता नहीं था। एक मत के बहुमत से ही हिन्दी को राष्ट्र भाषा स्वीकार किया गया। अगर अधिक स्पष्ट दृष्टिकोण

अपनाया जाता, तो कोई समझौता हो सकता था। बाद मे विभिन्न दलो के बीच त्रिभाषा फार्मूले पर सहमति हुई किन्तु 1977 मे केन्द्र मे जनता पार्टी के शासन म आने के पश्चात् दक्षिणी राज्यो मे यह आशका पैदा हो गई कि इस फार्मूले का पालन नही किया जायेगा।

(6) सम्पति का अधिकार (Right to Property Article 31)

सविधान मे सबसे अधिक विवादग्रस्त और जिसके सम्बन्ध मे सबसे अधिक सशोधन हुये तथा जिसके आधार पर हमारी प्रजातत्रीय व्यवस्था की आलोचना हुई, वह यह अधिकार है। इसकी विवेचना आगे की जायेगी।

(7) सविधान उपचार का अधिकार— Right to Constitutional Remedies Article 32) हमारे सविधान मे न केवल अधिकार प्रदान किए गए हैं अपितु उनके सरक्षण की भी व्यवस्था की गई है और उच्चतम न्यायालय को सरक्षक घोषित किया गया है। अगर किसी नागरिक की यह भावना होती है कि उसके साथ अन्याय किया जा रहा है तो वह रिट याचिकाओ द्वारा अपने अधिकारों को वापिस दिलाने की माँग कर सकता है।

किन्तु आपातकाल स्थिति के दौरान न्यायालय का यह सरक्षण स्थगित हो जाता है। इस अधिकार को सविधान सभा मे सबसे महत्वपूर्ण बताया गया। यह कहा गया कि अगर यह अधिकार नहीं रहता है तो सब अधिकार व्यर्थ हो जाते हैं, क्योकि वैसी स्थिति मे कार्यपालिका की इच्छा हावी हो जाती है तथा व्यक्ति असहाय हो जाते है। इसीलिए डा अम्बेडकर ने कहा था 'If I was asked to name the particular Article in this Constitution as the most important without which this Constitution would be a nlulity I, could not refer to any Article except this one It is the very sole of the Constitution and the very heart of it and I am glad that the House has realised its importance"

उच्चतम न्यायालय ने भी न केवल इसके महत्व को माना है अपितु इसके क्षेत्र को भी स्पष्ट किया है। इस सम्बन्ध मे रमेश थापर बनाम मद्रास राज्य का मुकदमा महत्वपूर्ण है जिसमें न्यायालय ने कहा, "Article 32 provides a guarnted remedyfor the enforcement of the rights conferred by Part III and this remedial right is itself made a fundamental right by being included in Part III The Court is thus constituted the protector and gaurntor of Fudamental Rights and it can n t consistently with the responsibility so laid upon it, refuse to entert in application seeking ... on ag ins ... nt of such rights."

आलोचना —सकटकालीन परिस्थिति मे नागरिको को इस अधिकार से वचित नही किया जाना चाहिए और यहा हम अमरीका की प्रणाली अपनाते तो ज्यादा अच्छा होता। वहा सकटकालीन परिस्थिति मे भी यायालय का सरक्षण बना रहता है परन्तु यायालय स्वय परम्पराओ से यह मानता है कि कार्यपालिका सकट कालीन परिस्थिति मे सीमित हस्तक्षेप कर सकती है। यायालय के सरक्षण बने रहने से असीमित हस्तक्षेप की सम्भावना खतम हो जाती है।

मूल अधिकारो की दो सामान्य आलोचनाए

(1) प्रथम आपत्ति जो बार बार सविधान सभा मे उठाई गयी, उनका सबध इस बात से था कि क्या सविधान निर्माताओ ने जिस प्रकार से मूल अधिकारो की व्यवस्था की है उससे 'क्या स्वतन्त्रता की व्यवस्था हुई है अथवा शक्ति को सरक्षण प्राप्त हो रहा है" (Whether it is an organisation for liberty or for power) प्रो के टी शाह का यह मत था कि यह शक्ति को सरक्षण प्रदान करता है तथा स्वतन्त्रता इसका आवरण है। उनका तो यह मानना है कि हम पुलिस राजा की स्थापना कर रहे हैं। इनके अतिरिक्त अधिकाश सदस्य यह कहते थे कि सतुलित ढग से स्वतन्त्रता को सरक्षित करने का प्रयास किया गया है जिससे स्वतन्त्रता सरक्षित रहे किन्तु यह उच्छ्रलता मे परिणित नहीं हो सके। मोटे रूप से दूसरी धारणा ज्यादा ठीक मालूम होती है।

(ii) मूल अधिकारो की व्यवस्था द्वारा केवल राजनीतिक प्रजातन्त्र के आधार को बल मिला है, सामाजिक और आर्थिक प्रजातन्त्र को नही। और यदि सामाजिक एव आर्थिक प्रजातन्त्र पूरक है, राजनीतिक प्रजातन्त्र के, तो हमारे मूल अधिकारो की व्यवस्था हमारे अपूर्ण प्रजातन्त्र की आधार शिला हैं।

यह आलोचना वामपथी विचारको की ओर से आई। इस सम्बन्ध म सम्पत्ति के अधिकार का समथन आलोचना का विषय बना तथा 'काम का अधिकार' की उदासीनता चर्चा का विषय बनी। किन्तु नेहरू ने इस विवाद को अपने प्रभावशाली विचारो से सुलझाया। उन्होंने यह स्वीकार किया कि केवल राजनीतिक प्रजातन्त्र अपूर्ण स्वराज्य का प्रतीक होगा—और यदि भारत मे सामाजिक आर्थिक प्रजातन्त्र सफल नही होता तो राष्ट्रीय सग्राम का उद्देश्य फलीभूत नही हो पावेगा। दूसरी बात उन्होने कही कि उनका उद्देश्य पूर्ण स्वराज्य का है और यह सामाजिक, राज्य नैतिक एव आर्थिक तीनो पक्षो को समन्वित करने ही प्राप्त किया जा सकता है किन्तु उन्होंने यह भी कहा कि भारत का शताब्दियो का सामाजिक आर्थिक पिछड़ा पन ऐसा है कि तुरन्त ये तीनो प्रकार के लोकतन्त्र एक साथ प्राप्त नहीं किए जा सकते। उन्होने उदाहरण दिया कि 'काम का अधिकार' के प्रति उनकी सहानुभूति है किन्तु आगामी 50 वर्षों तक उन्हे यह नही दीखता कि प्रत्येक भारतवासी रोजगार

पूरा हो जायेगा। अत इस अधिकार को जोडना मात्र खोखला विश्वास दिलाना होगा। अत उन्होंने कहा कि निदेशक तत्वो मे हम सामाजिक आर्थिक लोकतन्त्र का समावेश कर रहे हैं, जो कि उतना ही तथा शायद ज्यादा महत्वपूर्ण है। राजनीतिक लोकतन्त्र एव यह लोकतन्त्र एक दूसरे के विरोधी नही अपितु पूरक है। आशा है कि भविष्य मे सरकारें इसे ध्यान मे रखेगी, जिससे सविधान की प्रस्तावना मे कही गई बात पूरी हो सके। आज की परिस्थितियो मे हमे राजनीतिक प्रजातन्त्र से शुरू बात करनी होगी तथा धीरे धीरे आर्थिक, एव सामाजिक लोकतन्त्र की ओर उन्मुख होना होगा। इसी कारण नीति निदेशक तत्वो को भी मूल महत्व (Fundamental Importance) का बताया गया है। इस प्रकार प० नेहरू के उपरोक्त प्रभावशाली विचारो से मूल अधिकारा सम्बन्धी विवाद का सुलझाया गया।

(घ) राज्य के नीति निदेशक तत्व —

प्रिन्सिपल श्री राम शर्मा ने नीति निदेशक तत्वो की आलोचना करते हुए कहा है कि सविधान के चतुर्थ अध्याय मे कुछ उच्च कोटि की मूर्खताए है, बहुत से ऐसे सपने हैं, जो साकार नही हो सकत हैं तथा कुछ ऐसे अधिकार हैं जिन्हें सविधान द्वारा सरक्षित किया जाना चाहिए था। दूसरी ओर इनके समर्थन मे कहा गया है कि निदेशक तत्व प्रगति के द्योतक हैं और उनके द्वारा पूर्ण स्वराज्य की कल्पना की गई है। यह प्रयास किया गया है कि सामाजिक और आर्थिक लोकतन्त्र तथा राजनीतिक लोकतन्त्र दोनो को समन्वित किया जा सके और उस अन्तिम मजिल तक पहुचा जा सके, जिसकी ओर प० नेहरू ने इगित किया था। साथ ही ये तत्व केवल भारतीय सविधान मे ही नही पाये जाते। इनका महत्वपूर्ण उदाहरण है—आयरलैण्ड का सविधान, जहा से भारत ने इन तत्वो का विचार लिया, यद्यपि इनकी उदर-पूर्ति भारत के विशेष सन्दर्भ को ध्यान मे रख कर की गई।

नीति निदेशक तत्वो की प्रकृति

(1) इनमें कुछ मोटे उद्देश्य प्रस्तुत किए गए हैं और राष्ट्र निर्माण के लिए कुछ मोटे निर्देश भी दिए गए हैं। साथ ही इन उद्देश्यो को प्राप्त करने के साधनों का भी उल्लेख किया गया है। इस प्रकार से यदि हम तत्वो को स्वय मे एक सम्पूर्ण ईकाई माने तो ऐसा लगेगा कि वह लक्ष्य एव साधनों का मिश्रित रूप है।

(ii) तत्वो का किसी विचारधारा विशेष से कोई स्पष्ट सम्बन्ध दिखाई नहीं देता बल्कि ऐसा लगता है कि दल कोई भी हो, विचारधारा कोई भी हो, इन तत्वो म जो दिशा इगित की गई है, उसे मोटे रूप से सभी स्वीकार कर सकेंगे। भले ही इनमे कुछ सशोधन हो सकते हैं किन्तु कोई दल विचारधारा के आधार पर कोई आपत्ति उठाये, ऐसी आशका नहीं है। इसीलिए इन्हें 'un exceptionable in content' कहा गया है अर्थात् उनका स्वरूप ऐसा है कि कोई विवाद नहीं उठ

सकता। फिर भी कुछ लेखकों ने विचारधारा के आधार पर तत्वों का वर्गीकरण करने का प्रयास किया है। उदाहरणार्थ एम पी शर्मा ने इनमें कुछ तत्वों को गांधी वादी, कुछ को समाजवादी और कुछ को उदारवादी बताया है। परन्तु इस प्रकार के विभाजन से इनकी जो एक आधारभूत एकता है, वह टुकडे टुकडे होते दिखाई देती है। अत वर्गीकरण करने का प्रयास न्यायसगत नही है क्योकि उससे इनका सामुहिक महत्व नष्ट हो जाता है तथा उनके विरोध पक्ष उभरते दीखने हैं, उनके बीच टकराहट होती दिखाई देती है और इस तरह से समन्वय करने का जो प्रयास किया गया है, वह लुप्त हो जाता है।

(iii) ये सामाजिक और आर्थिक प्रजातन्त्र के द्योतक है। इनमे से अधिकाश पर यह आवरण पूरा उतरता है। यद्यपि कुछ तत्व कानूनी, राजनीतिक एव विदेश सम्बन्धो से जुडे हुए भी है, परन्तु इनका मूल मन्त्र है—आर्थिक एव सामाजिक न्याय।

(iv) यह अपने स्वरूप मे सवव्यापी है क्योकि इनका सम्बन्ध सरकार के किसी एक स्तर से नहीं, सम्पूर्ण सरकार से है जिसम राष्ट्रीय, प्रान्तीय, स्थानीय सरकारें शामिल है। चाहे वह किसी दल की हो।

(v) ये मौलिक महत्व के होते हुए भी न्यायालय द्वारा सरक्षित नहीं है। इसलिए निरन्तर यह विवाद उठा कि मूल अधिकारो की तुलना म उनका क्या स्तर है, क्योंकि अधिकार न्यायालय द्वारा सरक्षित है। जोशी ने ठीक कहा है कि "They confer no legal rights and create no legal remedies"

(vi) इसी से जुडा हुआ एक महत्वपूर्ण प्रश्न है—मूल अधिकार एव निदेशक तत्वो का सम्बन्ध। भूमिका के रूप मे हमे ध्यान मे रखना है कि ये तत्व अधिकारो के पूरक हैं, विरोधी नहीं, उनसे निम्न स्तर भी नही रखते। इसीलिए सविधान ने इन्हें मौलिक महत्व का घोषित किया है। मूल अधिकार एव नीति निदेशक तत्व दोनो मिलकर भूमिका (Preamble) की अभिव्यक्ति भी करते हैं और उनको कार्यान्वित करने का प्रयास भी करते है। इस प्रकार से सविधान की भूमिका, अधिकार एव निदेशक तत्व एक निरन्तरता के स्रोत मे बधे दिखाई देते हैं। उदाहरणार्थ–मूल अधिकार लोकतन्त्र के राजनीतिक और कानूनी पक्ष की अभिव्यक्ति करते हैं, जबकि निदेशक तत्व सामाजिक व आर्थिक पक्ष को उभारते हैं इसलिए ये एक दूसरे के पूरक है। यदि राजनीतिक लोकतन्त्र अपने मे पगु है, बिना सामाजिक और आर्थिक लोकतन्त्र के, तो मूल अधिकार भी अपग है बिना निदेशक तत्वो के। इसलिए यह भी कहा जाता है कि मूल अधिकारो के द्वारा राज्य के लक्ष्य प्रस्तुत किए जाते है, उनको प्राप्त करने के आधारभूत सामाजिक और आर्थिक साधन तत्वो मे मिलते हैं। इसीलिए कुछ विचारक यह भी कहते हैं कि अधिकार यदि साध्य है तो तत्व

साधन के रूप में उभरते दिखाई देते हैं। इस सम्बन्ध में एक राजनीतिक शास्त्री ने ठीक ही कहा है, "The chapter on fundamental rights is an exposing of ends, the chapter of directives, a study of means If one is philosophy of good life, the other is its practice"

और फिर ये दोनों ही स्वयं में साधन बना जाते हैं, उन उद्देश्यों के लिए जो कि संविधान की भूमिका मे प्रस्तुत किये गये हैं अतः यह "Interacting linkage pattern है।

मूल्यांकन--राज्य के नीति निदेशक तत्वों के महत्व के बारे मे संविधान सभा में भी विवाद रहा है तथा राजनीति शास्त्री भी इस बारे मे एक मत नहीं है। आलोचकों ने इनकी निम्नांकित आलोचनाएँ की है —

(i) प्रभुत्व के सिद्धान्त के खण्डन का आरोप लगाते हुए आलोचक कहते हैं कि इन्होंने सरकारों के विवेक को बन्दी बना दिया है जो कि भारत की भावी सरकारें हैं चाहे वे राष्ट्रीय प्रान्तीय एवं स्थानीय किसी भी स्तर पर हों। संविधान की भूमिका में जो कहा गया है कि हम सम्प्रभुत्व गणराज्य की स्थापना कर रहे हैं, किन्तु इन तत्वों के आदेशों से उनकी प्रभुसत्ता मे बाधा है।

किन्तु जो आलोचक ऐसा कहते हैं वे राज्य के इन निदेशक तत्वों के स्वरूप से भली भांति परिचित नहीं दिखते क्योंकि ये तत्व ऐच्छिक हैं। न्यायालय द्वारा इन्हें मानने को विवश नहीं किया जा सकता है। ये तो केवल पथ प्रदर्शन करने के लिए हैं। एक ही राज्य मे कभी एक तत्व को माना जाता है, एवं कभी उसी तत्व के बारे मे वह उदासीनता दिखाता है। उदाहरणार्थ—शराब बन्दी के बारे मे राज्यों का दृष्टिकोण।

(ii) जो निर्देश राज्य के तत्वों के रूप मे दिये गये उनमें से प्रत्येक औचित्यपूर्ण हो, ऐसी बात नहीं है। इसलिए यह नहीं कहा जा सकता है कि सभी समान रूप से उपयोगी है और इसी कारण सभी का समान महत्व नहीं है। उदाहरणार्थ-कुटीर उद्योगों के सम्बन्ध में यह कहा गया कि अब इनका अधिक महत्व नहीं। इसलिए उन्हें तत्वों के रूप मे प्रस्तुत करके एक ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई है कि सरकारें भ्रम मे पड सकती है। वे अपने विवेक पर कार्य न करके, अगर वे इन पर ही चलती रहें तो लाभ के स्थान पर हानि भी हो सकती है।

(iii) सर आइवर जेनिंग्स ने मद्रास के अपने भाषण मे कहा कि यह ठीक हो सकता है कि जिस समय इन तत्वों की व्यवस्था की गई, उस समय ये औचित्य पूर्ण थे किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि वे भविष्य मे भी ठीक बने रहेंगे। और उसके साथ आवश्यकताएँ बदलती रहती हैं, इन बदलती हुई आवश्यकताओं के साथ भी

तत्वों की उपयोगिता भी घट बढ सकती है। और यदि ऐसा होता है तो यह सम्भावना बन सकती हैं कि प्राज के तत्व कल ठीक नही रहगे। ने रूढिवाद के प्रतीक बन सकते है और भविष्य मे हानिकारक हो सकते हैं। सविधान निर्माताओं की इस धारणा, कि वे प्रगति की ओर ले जावेंगे, के स्थान पर, हो सकता है कि ये यथास्थिति बनाए रखने मे सहायक बन जावे।

किन्तु इस आलोचना का उत्तर देते हुए कहा जा सकता है कि जो तत्व समयानुकूल नही है, सरकार सविधान मे सशोधन करके उन्हे हटा सकती है। आलोचना की तुलना मे यह उत्तर कमजोर दिखाई देता है।

(iv) आलोचकों के अनुसार ये तत्व अपने स्वरूप मे राष्ट्रीय नही है अपितु काग्रेस के चुनाव कायक्रम की अभिव्यक्ति करते है या समय समय पर काग्रेस ने राष्ट्रीय आन्दोलन के दौरान जो निणय किए थे, उन्हे ही मिला जुला कर ये तत्व बना दिये गये। इस प्रकार ये काग्रेस के कायक्रम है, राष्ट्र के लिए कायक्रम हो, ऐसी बात नही है। इससे यह सम्भावना बनती है कि गैर-काग्रेसी सरकारें इन्हे महत्व न दें। फलस्वरूप सविधान स्वय विवाद का विषय बन जाये तथा उसके प्रति निष्ठा भी कम हो जाए।

इस आलोचना मे बहुत अधिक सार नही दिखाई देता क्योंकि तत्वो मे जिन आवश्यकताओं कायकलापों का उल्लेख किया गया है, वे भारत के राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक स्थिति की यथाथता के प्रतीक है अत कोई भी दल शक्ति मे हो, ये आवश्यकताएँ व उद्देश्य औचित्यपूर्ण रहेंगे। साथ ही तत्व अपने स्वरूप मे काफी लचीले हैं, काफी विरत हैं। अत इनके अन्तगत सशोधन एव परिवतन की सम्भावना स्वत ही बनी हुई है और प्रत्येक दल इन्हे अपने अनुकूल ढाल सकते हैं। बहुधा तो इन्हें ऐसा करने मे सशोधन की भी आवश्यकता नही होगी। आज जैसे दीख रहा है कि मोटे रूप से इन तत्वों का उपयोग सामाजिक न्याय के लिए हो रहा हैं। अत इस आलोचना मे बल नही है। 1967 मे विभिन्न राज्यो म गैर काग्रेसी दलों की सरकारें बनने तथा 1977 मे केन्द्र मे भी जनता पार्टी का शासन स्थापित होने के बाद सविधान के प्रति इसके द्वारा व्यक्त की गई आस्था के पश्चात् उपरोक्त आलोचना निरथक हो जाती है।

(v) नीति निदेशक तत्वों के कारण सवैधानिक सकट की स्थिति बहुधा उत्पन्न होती है। यह आलोचना प्रिंसीपल श्री राम शर्मा ने की हैं। उन्होने कई उदाहरण देकर ऐसा कहा है, जैसे कि राज्यपाल अपने राज्य के मन्त्री मण्डल को इस आधार पर हटा सकता हैं कि यह निदेशक तत्वों के अनुसार काय नहीं कर रहा है। इसी प्रकार केन्द्र एव राज्यो म भी इस आधार पर तनाव पैदा हो सकता है।

इस आलोचना मे काफी सार हैं। उदाहरणार्थ–भूमि सुधार के मामले में केन्द्र व राज्यो के बीच तनाव हुआ और यह मोटे रूप से तत्वो से सम्बन्धित है क्योकि नीति निदेशक तत्वो मे सामाजिक न्याय की बात कही गई है। इसी प्रकार कृषि कर भी अप्रत्यक्ष रूप से तत्वो को लागू करने से सम्बन्धित है।

(vi) यह भी कहा जाता है कि राज्य के राजनीतिक नेतृत्व एव नौकरशाही के बीच इस आधार पर तनाव पैदा हो सकता है। राजनैतिक नेता शीघ्रता से एव ज्यादा निष्ठा से इन तत्वो को लागू करना चाहे, जबकि नौकरशाही इतनी आस्था नही दिखा पाये। उदाहरणार्थ–बको का राष्ट्रीयकरण के समय नौकरशाही इस दिशा मे ज्यादा उत्साह वधक नही दिखाई दी, जैसा कि प० बगाल मे भारतीय मार्क्सवादी दल ने नौकरशाही पर आरोप लगाया।

(vii) प्रिन्सिपल श्री राम शर्मा के अनुसार मूल अधिकारो एव नीति निदेशक तत्वो के बीच 1950 से 1971 तक लगातार तनाव रहा है। इसी कारण कार्यपालिका एव न्यायपालिका के बीच भी इनको लेकर तनाव पैदा हो सकता है। अत श्रीराम शर्मा का विचार था कि ये तत्व उपयोगी होगे या नही, इसमे सन्देह है, किन्तु इनसे सवैधानिक सकट होगा, यह निश्चित है।

इस आलोचना के उत्तर मे एक बात उभरती है कि जब राज्य के ये निदेशक तत्व न भी हो तो भी ये सारे तनाव हो सकते हैं क्योकि यह सभव है कि कोई सरकार ऐसा साहसी कार्य अपनाये जिससे सरकार और नौकरशाही अथवा न्याय पालिका एव कार्यपालिका के बीच या केन्द्र एव राज्यो के बीच तनाव हो जाए।

(viii) इन तत्वो का कोई महत्व नही है क्योकि ये न्यायपालिका द्वारा सरक्षित नहीं है। उनका मानना अथवा नही मानना सरकार की इच्छा पर है। इन तत्वों का मूल अधिकारो की तुलना मे गौण हो जाना सम्भव है।

कुछ अशो मे यह ठीक है क्योकि हमने यह देखा है कि न्यायालय घुम फिर कर इन तत्वो को गौण स्थान देता रहा। किन्तु यह नही कहा जा सकता कि चू कि ये सरक्षित नही है अत इन्हें लागू नही किया जाना चाहिए।

प्रो० मार्केंडा ने "Directive Principles of State Policy and Their Implementation" मे केन्द्रीय स्तर राज्यों के स्तर पर, विभिन्न दलो के स्तर पर यह देखने की कोशिश की है कि इन तत्वो के प्रति उनका क्या दृष्टिकोण रहा है। तथा उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला है कि महत्व की दृष्टि से बहुत अधिक अन्तर नहीं पड़ा है, इस बात से कि वे सरक्षित नहीं है।

निष्कर्ष—उपरोक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि राज्य के नीति निदेशक तत्व उतने महत्वहीन नहीं है, उतनी आलोचना के पात्र नही है जितने कि ये बनाये गये हैं। अब प्रश्न होता है कि आखिरकार इन्हें क्यों महत्वपूर्ण

था। संविधान सभा में इस व्यवस्था पर इतनी दीर्घकालिक एवं विस्फोटक बहस हुई थी कि ऐसा लगने लगा मानो उक्त व्यवस्था पर कभी मतैक्य नहीं होगा, सारा संविधान ही जैसे टूट कर रह जावेगा और संविधान-पोत चट्टानों से टकराकर चूर चूर हो जावेगा। ऐसा होना स्वाभाविक भी था—सम्पत्ति अधिकार की व्यवस्था का प्रश्न संविधान के एक अनुच्छेद का प्रश्न नहीं था, यह भारत के सामाजिक भविष्य का एक फैसला था। श्री जवाहर लाल नेहरू के शब्दों में इस विवाद के दो पक्ष थे। सम्पत्ति पर एक व्यक्ति के निजी अधिकार को अधिक मान्यता दी जाए या उस सम्पत्ति मे समाज के निहित हित को प्राथमिकता दी जाए। समस्या का समाधान था दोनो पक्षो के बीच सन्तुलन का निर्वाह और संघर्ष का परिहार।

अनुच्छेद 19 (1) मे कहा गया है कि—

समस्त नागरिक के पास अधिकार होगा

(एफ) सम्पत्ति को प्राप्त करने रखने तथा बेचने का।[1]

19(5) सार्वजनिक हित तथा किसी भी अनुसूचित जाति के हितों के संरक्षण के लिए उपरोक्त उप धारा के लिये उप धारा (डी), (इ) व (एफ) मे मे प्रयुक्त अधिकारों पर राज्य को विवेकयुक्त प्रतिबन्ध लगाने सम्बन्धी कानून के बनाने से उपरोक्त उप धाराए न तो प्रभावित कर सकेंगी और न रोक सकेंगी।[2]

अनुच्छेद 31 मे मूल रूप से कहा गया था कि

31 (1) "कोई व्यक्ति विधि के प्राधिकार बिना अपनी सम्पत्ति से वंचित नही किया जावेगा।"[3]

---

1 19 (1) "All Citizens shall have the right (f) to acquire, hold and dispose of property"

2 19 (5) "Nothing in sub clauses (d), (e) and (f) of the said clause shall affect the operation of any existing law in so far as it imposes or prevent the State from making any law imposing, reasonable restrictions on the exercise of any of the right conferred by the said subclauses either in the interests of the general public or for the protection of the interests of any Scheduled Tribe"

3 31 (1) 'No person shall be deprived of his property save by authority of law'

31 (2) "कोई चल व अचल सम्पत्ति जिसके अन्तगत किसी वाणिज्यिक औद्योगिक उपक्रम मे उसकी स्वामिनी किसी कम्पनी का कुछ अ श भी है ऐसी य के अधीन जो कब्जा करने या अधिकार देती है सावजनिक प्रयोग के लिए तक अर्जित नही की जावेगी जब तक कि वह विधि अर्जित सम्पत्ति के लिए र या क्षतिपूर्ति को उपलब्ध न करती हो ।"¹

31 (3) 'राज्य के विधान मण्डल द्वारा बनाई गई कोई ऐसी विधि जसी धारा (2) म निर्दिष्ट है, तब तक प्रभावी नही होगी जब तक कि ऐसी विधि राष्ट्रपति की अनुमति न मिल गई हो ।"

31 (4) यदि सविधान के प्रारम्भ पर किसी राज्य के विधान मण्डल के ने लम्बित विधेयक को ऐसे विधान मण्डल द्वारा पारित किये जाने पर राष्ट्रपति चार के लिए रक्षित किया जाता है तथा उसे राष्ट्रपति की अनुमति मिल जाती ो सविधान मे किसी बात के होते हुए भी इस प्रकार अनुमति प्राप्त विधि पर । न्यायालय मे इस आधार पर आपत्ति नही की जायेगी कि धारा (2) के न्धो का उल्लघन करती है ।"

सामान्यत सविधान मे निजी सम्पत्ति की सुरक्षा की व्यवस्था की गई है । ही इस अनुच्छेद की धारा (4) व (6) द्वारा यह भी निर्धारित किया गया है सम्पत्ति के अधिकारो के सम्ब ध मे बनाये गये कुछ कानूनो की वैधता को किसी ालय म इस आधार पर चुनौती नही दी जायेगी कि वे उपरोक्त सुरक्षाओ का क्रमण करते हैं । धारा (5) मे यह भी उल्लेख किया गया है कि क्षतिपूर्ति धी धारा (2) निम्नाकित परिस्थितियो मे लागू नही होगी —

(1) कर या दण्ड निर्धारित करने की विधि

(2) सावजनिक स्वास्थ्य की उन्नति या प्राण अथवा सम्पत्ति को जोखिम से बचाने वाली विधि

---

3. (2) 'No property, movable, or immovable including any interest in or in any company own ng, any commercial or industrial undertaking, sha'l be taken, possession of or aquired for public purpose under any law authorising the taking of such possession or such acquisition, unless the law provides for compensation for the property taken, poss ssion or acquired and either fixes the amount of the compensation or specifies the principles on which and the manner in which the compensation is to be determined and given

(3) निष्क्रांत सम्पत्ति से सम्बन्ध विधि

इसी व्यवस्था को हम दूसरे शब्दो मे इस प्रकार व्यक्त कर सकते हैं—भारतीय संविधान मे कानून के अतिरिक्त अन्य किसी भी ढग से किसी भी व्यक्ति को उसकी सम्पत्ति से वञ्चित करना निषिद्ध है। केवल सावजनिक उद्देश्यो की पूर्ति हेतु ही सम्पत्ति का अनिवार्य अधिग्रहण या अर्जन किया जा सकता है। किन्तु वह भी उस कानून के अधीन किया जा सकेगा जिसम मुआवजा देने की व्यवस्था हो। यह कानून ऐसा होना चाहिए कि वह या तो स्वय मुआवजे की राशि निर्धारित करे या फिर ऐसे सिद्धात निर्धारित करे जिनके अधीन मुआवजा निश्चित किया जा सके। इन व्यवस्थाओ से ऐसे किसी कानून पर कोई प्रभाव नही पडता है जो किसी कर या जुर्माना लगाने या सावजनिक स्वास्थ्य के प्रसार के लिए अथवा जीवन या सम्पत्ति पर आये सकट को दूर करने के उद्देश्य से लागू किया गया हो। निष्क्रात सम्पत्ति सम्बन्धित कुछ कानूनो तथा कुछ प्रचलित कानूनो को भी क्षतिपूर्ति व्यवस्था का अपवाद माना गया है।

यहा पर सम्पत्ति अधिकार सम्बन्धी अनुच्छेद म की गई व्यवस्थाओ की कुछ विशिष्टताओ का उल्लेख करना अप्रासगिक न होगा। सम्पत्ति अधिकार से सम्बन्धित अनुच्छेद 31 की प्रमुख प्रथम व्यवस्था यह है कि यह सभी व्यक्तियो पर लागू होती है, केवल नागरिको तक ही सीमित नही है। "इण्डो चाइना स्टीम नेवीगेशन कम्पनी बनाम जसजीतसिंह" वाले एक प्रसिद्ध मुकदमे मे इस आशय का उच्चतम न्यायालय द्वारा एक निर्णय दिया गया।

अनुच्छेद 31 की दूसरी विशेषता यह है कि उक्त अनुच्छेद किसी व्यक्ति/व्यक्तियों द्वारा किए गए सम्पत्ति के अधिकार के उल्लघन, अतिक्रमण या सम्पत्ति हरण आदि के सन्दर्भ मे लागू नही होता। इसका कारण यह है कि उक्त अनुच्छेद का सम्बन्ध व्यक्ति/व्यक्तियो की सम्पत्ति के अधिग्रहण किये जाने से है।

तीसरी विशेषता एक प्रकार से दूसरी का ही प्रतिपक्ष है। इन दोनों से यही निष्कर्ष निकलता है कि इस अनुच्छेद का उद्देश्य व्यक्तियो की सम्पत्ति की केन्द्रीय या राज्य सरकार द्वारा किए जाने वाले अतिक्रमणो से रक्षा करना है।

अनुच्छेद 31 (1) इस सिद्धान्त का ही प्रतिपादन करता है कि ससद बहुमत के प्रतिनिधि के रूप म सम्पूर्ण प्रभुता सम्पन्न है और उसे यह निर्णय करने का अधिकार है कि एक व्यक्ति का उसकी सम्पत्ति पर कब और किन परिस्थितियों म अधिकार नही रहता।

परन्तु सविधान के प्रारम्भ के कुछ ही समय बाद जमीदारो ने मौलिक अधिकारों के आधार पर इन उपबन्धों को चुनौती दे दी। पटना इलाहाबाद और नागपुर के उच्च न्यायालय इस समर के युद्ध स्थल बने। पटना उच्च न्यायालय ने

'कमलेश्वर बनाम बिहार राज्य के मुक्दमे।[1] के निर्णय मे बिहार भूमि सुधार विधेयक, 1950 को अमान्य घोषित कर दिया। न्यायालय का निर्णय अनुच्छेद 14 द्वारा प्रदत्त समानता के आधार पर था न कि अनुच्छेद 31 द्वारा प्रदत्त सम्पत्ति के अधिकार के आधार पर। इलाहाबाद उच्च न्यायालय ने उत्तर प्रदेश जमीदारी उन्मूलन व भूमि सुधार अधिनियम 1950 को प्रत्येक प्रकार से मान्य घोषित किया। नागपुर उच्च न्यायालय[3] ने भी राज्य के पक्ष मे निर्णय दिया। जमीदार इससे सन्तुष्ट नही हुए और उन्होने सर्वोच्च न्यायालय मे अपील कर दी।

प्रथम संशोधन एवं न्यायिक पुनरावलोकन —

जब यह देखा गया कि इस प्रकार की वैधानिक लडाई मे व्यर्थ समय नष्ट होगा और जनसाधारण मे निराशा एवं सरकार के प्रति अविश्वास उत्पन्न होगा तो इस स्थिति का सामना करने के लिए अन्य उपायो व साधनो की खोज हुई। न्यायपालिका भूमि सुधारो के सम्बन्ध मे बाधा उपस्थित न कर सके इस उद्देश्य से 1951 मे संविधान का प्रथम संशोधन हुआ। फलस्वरूप नये अनुच्छेद 31(A) और '31 (B)' द्वारा भूमि सुधार कानूनो को सुरक्षा प्रदान की गई।[4] व्यवस्था की गई कि इन कानूनो की वैधता पर आपत्ति नही उठाई जायेगी। इस संशोधन के द्वारा संविधान मे नवी अनुसूची जोड दी गई। इन व्यवस्थाओ का यह परिणाम हुआ कि सरकार के आर्थिक न्याय सम्बन्धी कार्यक्रमो मे सम्पत्ति के अधिकार की व्यवस्था बाधक नही रह सकी।

तुरन्त पश्चात् 'शंकरी प्रसाद बनाम केन्द्र' के मुकदमे[1] मे निम्न आधारो पर इस संशोधन की वैधता को चुनौती दी गई।

---

1 All India Reporter, 1951, Patna 91

2 Surya Pal Singh v/s State of U P, All India Reporter, 1951 Allahabad 674

3 Ganpatrao Pande v/s State 1, All India Reporter 1955 Note of Unreported Case 1341

4 Notwithstanding anything in the foregoing provisions of this part, no law providing for the acquisition of any estate or of any rights therein or for the extinguishment or modification of any such right shall be deemed to be void on the ground that it is inconsistent with, or takes away or or abridges any of the right conferred by any provisions of this part

(i) संविधान के अनुच्छेद 13 (2) के अन्तर्गत यह संशोधन अवैध था क्योंकि इसमे मूल अधिकारो को समाप्त अथवा सीमित किया गया है।

(ii) संशोधन विधेयक का प्रभाव, चूंकि उच्च न्यायालयो के क्षेत्राधिकार को (226 वें अनुच्छेद के अन्तर्गत) व सर्वोच्च न्यायालय के क्षेत्राधिकार को (132 व 136 वें अनुच्छेद के अन्तगत) नियन्त्रित होता था, अत इस संशोधन को उन प्रावधानो का संशोधन समझा जाना चाहिए तथा राज्यो की स्वीकृति के अभाव मे इसे गैर कानूनी घोषित किया जाना चाहिए जो कि इन प्रावधानो म धारा 368 के अन्तर्गत आवश्यक थी।

अनुच्छेद 13 (2) म व्यवस्था है। "राज्य ऐसा कोई कानून नहीं बना सकेगा जो इस भाग म दिये गये अधिकारो को समाप्त या सीमित करता हो और इस धारा के विरोध म बनाये गये कानून का विरोध वाला भाग निरर्थक समझा जावेगा"।[1] न्यायालय का मत था कि अनुच्छेद 13 (2) के अन्तगत 'कानून' (Law) शब्द का तात्पर्य साधारण कानून से ही है, न कि संवधानिक संशोधन से। दूसरा तर्क भी इसके द्वारा रद्द कर दिया गया। न्यायालय के अनुसार विरोध किया गया संशोधन 'या तो शब्दो मे या प्रभाव म (either in terms or in effect) उच्च न्यायालय व सर्वोच्च न्यायालय की शक्तिया सम्बन्धी प्रावधानो म कोई परिवर्तन नहीं करता है। संविधान के भाग तृतीय मे गारन्टी प्राप्त सर्वोच्च न्यायालय एव राज्यो के उच्च न्यायालयो की शक्तिया (मूल अधिकारो की क्रियान्विति मे) अभी वही है, जैसी कि पहले थी।

1965 मे वही प्रश्न पुन 'सज्जन सिंह बनाम राजस्थान राज्य के मुकदमे म उठाया गया। वे ही दो आधार जो कि प्रथम संशोधन विधेयक की वैधता के विरोध मे शकरी प्रसाद बनाम केन्द्र के मुकदमे मे उठाये गये थे, पुन संविधान के सातवें संशोधन अधिनियम 1964 के विरोध म उठाये गये। प्रथम आधार पर तो भी ज्यादा जोर नहीं दिया गया तथा पूरा प्रयास दूसरे पर केन्द्रित किया गया। न्यायालय दूसरे आधार के विरोध म व संशोधन के समथन म निर्विरोध था। तो भी यह मूल अधिकारो मे संशोधन करने की संसदीय शक्ति की पूर्णता के बारे म उतना दृढ़ नहीं था, जितना वह 1951 म था। मुख्य न्यायाधीश की धारणा थी कि विरोध किये

---

1 'The State shall not make any law which takes away or abridges the rights conferred by this Part, and any law made in contravention of this clause shall, to the extent of the contravention, be void"

गये सशोधनो मे उच्च न्यायालयो की (अनुच्छेद 226 के अन्तर्गत) शक्ति पर केवल 'आकस्मिक एव अप्रत्यक्ष रूप से' (incidently and indirectly) ही आक्रमण किया गया था। विषय की आत्मा के अनुसार (pith and substance) सशोधन मूल अधिकारो को गारन्टी प्रदान करने वाले प्रावधानो म किये गये थे, अत वे केवल ससदीय शक्ति मे अन्तर्निहित हैं तथा उनके लिए राज्यो की स्वीकृति आवश्यक नही है क्योकि उन पर धारा 368 लागू नही होती है। व्याख्या के तौर पर मुख्य न्यायाधीश ने सुझाव दिया की वह सशोधन अवैध हो जावेगा, अगर उसने अनुच्छेद 226 व 227 के अन्तर्गत उच्च न्यायालयो की शक्ति पर प्रत्यक्ष रूप से आक्रमण किया हो, जब तक कि इसने अनुच्छेद 368 के अधीन आधे राज्यो की स्वीकृति प्राप्त नही कर ली हो। मुख्य न्यायाधीश श्री गजेन्द्र गडकर ने आगे स्वीकार किया कि सविधान मे विरोधाभास है क्योकि जहा अनुच्छेद 226 जो कि तुलनात्मक रूप से कम महत्वपूर्ण प्रावधान है वह राज्यो की स्वीकृति के पश्चात् ही सशोधित किया जा सकता है जबकि अनुच्छेद 32 के अन्तर्गत प्रावधान जो कि मूल अधिकारो से सम्बन्धित है (अर्थात् जो अधिक महत्वपूर्ण है), केवल अकेली ससद द्वारा ही सशोधित किया जा सकता है, राज्यो की स्वीकृति आवश्यक नही है। उन्होने ससद से एक समुचित सवैधानिक सशोधन से इस विरोधाभास को हटाने की प्रार्थना की। सज्जनसिंह के मुकदमे के निर्णय ने मूल अधिकारो की सशोधन क्षमता पर न्यायिक राय को विभाजित कर दिखाया। एक ओर गजेन्द्र गडकर के नेतृत्व मे बहुमत पक्ष का दृष्टिकोण था कि अनुच्छेद 13 (2) के अन्तर्गत शब्द 'कानून' (Law) मे 'सवैधानिक कानून (Constitutional Law) सम्मिलित नही है, जबकि हिदायतुल्ला एव मधोलकर को इस बात पर सन्देह था कि सविधान निर्माताओ की इच्छा मूल अधिकारो को सशोधन प्रक्रिया मे पहुचाने की थी। सज्जनसिंह मुकदमे के निर्णय का जो खरा परिणाम सामने आया, वह यह था कि यद्यपि मूल अधिकारो म सशोधन न कर सकने की अपील कुछ काल के लिए स्थगित कर दी गई, तथापि उसे रद्द नही कर दिया गया। इसके विपरीत इसने आगे के लिए इसके स्थान पर इसी प्रकार के विधेयक हेतु मार्ग साफ कर दिखाया।

चतुर्थ सशोधन—

पहला सशोधन जमीदारी उन्मूलन कानूनो के सम्बन्ध म था, जिनसे देश की भूमि व्यवस्था मे महत्वपूर्ण सुधार किए गए। तत्पश्चात् अनुच्छेद 14, 19 तथा 31 की परिभाषाओ के बारे मे न्यायालय ने जो निर्णय दिए उनके कारण केन्द्रीय सरकार तथा राज्य सरकारो को सम्पत्ति अधिकारो पर प्रभाव डालने वाले समाज कल्याण सम्बन्धी अन्य कदमो (कानूनो) को लागू करने मे कठिनाइयो का सामना करना पडा क्योकि इस प्रकार की व्याख्या से 'मुआवजा' वहा भी आवश्यक हो गया जहा

कि सम्पत्ति अधिकारों को वास्तविक रूप से प्रतिबंधित करने वाले केवल आर्थिक नियम (economic regulations) पास किये गए हों। यह एक विवाद का विषय बन गया। न्यायालय भी उसमें एकमत नहीं था। चूंकि अनुच्छेद 31 (2) मुआवजे के बारे में तो कहता है किन्तु मात्रा (quantum) के बारे में मौन है। वास्तव में सच्चाई तो यह है कि सम्पत्ति के अधिकार के सम्बन्ध में प्रारम्भ से ही कुछ प्रश्न ऐसे थे जिनका स्पष्ट उत्तर नहीं दिया गया था और उनमें से एक यह था कि क्या न्यायालय को यह अधिकार होगा कि वह यह देख सके कि मुआवजा उचित है या अनुचित अर्थात् पर्याप्त है या अपर्याप्त। इस सम्बन्ध में सूरज गोपाल बनाम प० बंगाल' था द्वारकादास श्री निवास बनाम शोलापुर स्पि० क० के अतिरिक्त सर्वाधिक महत्वपूर्ण निर्णय सर्वोच्च न्यायालय ने बेला बनर्जी बनाम पश्चिमी बंगाल मुकदमे में दिया। उच्चतम न्यायालय ने इस सिद्धान्त की पुष्टि करते हुए घोषणा की कि यद्यपि यह सत्य है कि विधान मण्डल को उन सिद्धान्तों को निर्धारित करने का अधिकार होगा जिसके आधार पर यह निर्धारित किया जाय कि अमुक सम्पत्ति का मुआवजा क्या दिया जाय परन्तु इन सिद्धान्तों में यह सुरक्षा होनी चाहिए कि जो कुछ सम्पत्ति के बदले में दिया जा रहा है वह मुआवजा है—"अर्थात् वह न्याय संगत ढंग से उस सम्पत्ति की हानि की क्षतिपूर्ति करता है" (Just equivalent of what the owner has been deprived of') अर्थात् ये सिद्धांत ऐसे होने चाहिए कि निर्धारित प्रतिकार सच ही में क्षतिपूर्ति हो अथवा उसका यथार्थ मूल्य चुकाया जाना चाहिए। उच्चतम न्यायालय ने यह भी कहा कि ऐसे प्रत्येक मामले में मुआवजा अनिवार्यतः दिया जायेगा और मुआवजे के औचित्य के निर्णय का अन्तिम आधार न्यायालयाधीन ही होगा।

इस प्रकार न्यायालय ने घोषित किया कि सार्वजनिक उद्देश्य के लिए ली गई व्यक्तिगत सम्पत्ति का मुआवजा दिखावटी (illusory) नहीं होना चाहिए अपितु अधिग्रहण की गई सम्पत्ति के अनुपात में होना चाहिये। पश्चिमी बंगाल सरकार शरणार्थियों के आवासों के लिए जमीन प्राप्त करना चाहती थी। विभाजन के पश्चात् भूमि की कीमतें चढ़ गई थीं। अतः उसने यह कानून बनाया जिसके अनुसार मुआवजा जमीन प्राप्ति की तारीख से पूर्व की तारीख (दिसम्बर 31, 1946) के समय की बाजार कीमत के हिसाब से चुकाया जाना चाहिए। इस प्रावधान का उद्देश्य भूमि कीमतों को आगे बढ़ने से रोकना था। न्यायालय ने घोषणा की कि चूंकि विधेयक में प्राप्त भूमि के अनुपात में न्याय संगत मुआवजा की व्यवस्था नहीं की गई है, अतः वह अवैध है।

संविधान सभा में समन्वित राय यह थी कि मुआवजे की मात्रा के बारे में अन्तिम निर्णायक संसद होनी चाहिए। उन मामलों के अतिरिक्त जहां मुआवजा

दिखावटी हो, न्यायालयों को मुआवजे के बारे मे व्यवस्थापिका के विषय मे हस्तक्षेप नही करना चाहिए। बेला बनर्जी निर्णय ने मुआवजे के प्रश्न पर व्यवस्थापिका को मुआवजा निर्धारण के बारे मे लचीला दृष्टिकोण अपनाने से मना करके चुनौती दी। बाजार कीमत हमेशा क्षतिपूर्ति का न्यायिक निर्धारक नही होती है। इनके अतिरिक्त अन्य तत्व भी हैं जैसे—राज्य की चुकाने की क्षमता, अधिग्रहण की जाने वाली सम्पत्ति का उद्देश्य, मालिक का लाभ जो कि वह प्राप्त कर चुका हो, तथा सम्पत्ति अधिकारो का उद्गम एव स्रोत आदि जो कि हमे ध्यान मे रखना चाहिये। न्यायालय का मुआवजे के लिये बाजारी कीमत का मापदण्ड यथार्थवादी नही था। इन निर्णयो के परिणाम स्वरूप उन सभी मामलो मे मुआवजा देना आवश्यक हो गया जिनमें व्यक्ति अपनी सम्पत्ति से च्युत किया गया था और न्यायालय ने यह घोषणा की कि यह मुआवजा प्राप्त सम्पत्ति की बाजार कीमत के बराबर मे होना चाहिए।

अतएव सघीय कार्यपालिका द्वारा आर्थिक क्षेत्र मे प्रगतिशील कदम उठाने के लिये यह स्पष्ट करना आवश्यक हो गया कि निजी सम्पत्ति के अनिवार्य अर्जन तथा अधिग्रहण के विषय मे सरकार का क्या अधिकार है? क्षतिपूर्ति के लागू करने की न्यायालय की सत्ता विकास योजनाओ को बनाने एव उन्हे कार्यान्वित करने की राह मे बाधक थी। इस बाधा को दूर कर सरकार एक नये समाज की रचना के लिए मुक्त हस्त होकर कार्य करना चाहती थी। अतएव सविधान मे चतुर्थ सशोधन करवाया गया। सशोधन का उद्देश्य द्विपक्षीय था। प्रथम, राज्य द्वारा अर्जन की जाने वाली सम्पत्ति के मामलो मे मुआवजा देने के उत्तरदायित्व को प्रतिबन्धित करना तथा द्वितीय मुआवजा की मात्रा के बारे मे व्यवस्थापिका को अन्तिम निर्णायक बनाना। सविधान सशोधन अधिनियम (चतुर्थ) 1955 द्वारा अनुच्छेद 31 (2) मे निम्न शब्द जोडे गये—

"इस प्रकार के कानून को इस आधार पर किसी न्यायालय म चुनौती नही दी जावेगी कि कानून द्वारा प्रतिपादित मुआवजा पर्याप्त नही है।"[1]

अर्थात् इस सशोधन के प्रमुख उपबन्ध के अनुसार अनुच्छेद 31 के अन्तर्गत 'क्षतिपूर्ति' या 'मुआवजा अब सविधान के अनुसार वाद योग्य (Justiciable) विषय नही रहा। सशोधन मे यह नही कहा गया कि विषय म अनिवार्यत अर्जित सम्पत्ति का प्रतिकर नही दिया जायेगा, न ही इसकी यह इच्छा है कि प्रतिकर देना बन्द कर दिया जाए। इसमे यही कहा गया कि अर्जन के प्रत्येक मामले म प्रतिकर

1 31-2 "No such law shall be called in question in any court on the ground that the compensation provided by that law is not adequate"

अनुच्छेद 31 (A) का सरक्षण लागू नही होता था, अवैध घोषित कर दिया गया, क्योकि उनकी व्यवस्थाए अनुच्छेद 14, 19 और 31 के प्रतिकूल थी।

अत 'सम्पदा' शब्द की व्याख्या करने के लिए सविधान का सत्रहवा सशोधन पारित किया गया। इसमे सम्पदा के अर्थ को विस्तृत करते हुए भौतिक विकास सम्बन्धी सभी जमीनो का रैयतवारी बन्दोबस्त के अन्तर्गत कर दिया गया। साथ ही नवी अनुसूची जो पहले सशोधन द्वारा सविधान मे जोडी गई थी, उसमे चौथे सशोधन द्वारा सात तथा सत्रहवें द्वारा भूमि सुधार सम्बन्धी चवालीस अन्य राजकीय कानून जोड दिये गए। अब परिणाम यह हुआ कि भूमि सुधार सम्बन्धी ये 64 कानून जो देश के समाज कल्याण, भूमि सुधार और जमीदारी उन्मूलन कार्यक्रमो का प्रतिनिधित्व करते हैं इस आधार पर कि ये किसी मौलिक अधिकार का उल्लघन करते हैं, अवैध घोषित नही किए जा सकेंगे।

'सम्पत्ति अधिकार से सम्बन्धित अनुच्छेद 31, 31 (A), 31 (B) और नवी अनुसूची मे दी गई अद्यतन व्यवस्थाए जहा एक ओर व्यक्ति के सम्पत्ति अधिकार के समुचित निर्वाह मे राज्य के हस्तक्षेप से व्यक्ति की रक्षा करती है वहा वे देश की समृद्धि के कल्याण और भूमि सुधार सम्बन्धी कानूनो के पालन मे बाधा भी उपस्थित नही करती। वास्तव मे व्यष्टि और समष्टि दोना के हितो की एक साथ रक्षा करने और उनमे सन्तुलन बनाए रखने का उचित प्रयास किया गया है।"

सविधान के अन्तर्गत कानूनी व्यवस्था एव प्रक्रिया विधि का शासन स्थापित कर न्यायपालिका को कार्यपालिका तथा व्यवस्थापिका के कार्यों की सवैधानिकता की जाच का अधिकार देती है। विधि का प्राधिकार का इतिहास यह बतलाता है कि इस अधिकार का सामाजिक प्रवाह के विरुद्ध अतिरजित प्रयोग असन्तोष एव क्षोभ का प्रादुर्भाव करते लगता है। स० रा० अमरीका मे 19 वी शताब्दी के उत्तरार्द्ध से ही न्यायपालिका द्वारा प्रशासकीय कार्यों मे हस्तक्षेप से न्यायिक पुनरीक्षण को प्रतिबधित करने की जोरदार माग होने लगी थी। इगलैण्ड मे भी विधि के प्राधिकार को परिमित करने के उद्देश्य से प्रशासकीय अधिकारियो को न्यायिक शक्तियो से सम्पन्न इसलिए किया गया जिससे अनेक विषयो मे उनके कार्य न्यायिक पुनरीक्षण के क्षेत्र से बाहर रहे।

और जैसी कि मान्यता बनायी जा सकती है कि ससदीय जनतन्त्र अथवा ऐसे देशो म जहा उत्तरदायी सरकार हो, ऐसी स्थिति एक बार विकास की प्रक्रिया मे अवश्य आती है। हमारे देश म भी वाजरावेलु मुडालियर बनाम स्पेशल डिप्टी कलक्टर मुकदमे मे 'भूमि अधिग्रहण (मद्रास सशोधन) विधेयक को तथा मेटल कारपोरेशन आफ इण्डिया बनाम केन्द्र मुकदमे म (मेटल कारपोरेशन एक्ट, 1965 का दिखावटी मुआवजे (अपर्याप्त मुआवजे के आधार पर सर्वोच्च न्यायालय द्वारा

बल्कि यह न्यायालय द्वारा प्रवर्तित है अन्यथा सविधान की सम्पूर्ण योजना ही विनष्ट हो जायेगी। इस प्रकार गोलकनाथ मुकदमे म निर्णय दिया गया कि ससद को मूल अधिकारो मे सशोधन का अधिकार नही है, अत भविष्य म सविधान के भाग तृतीय म कोई रद्दो बदल नही किया जा सकता।

टिप्पणी —

गोलकनाथ मुकदमे मे दिये गये निर्णय की अनेक आलोचको ने निम्न आधारो पर आलोचना की,

(i) यह मानना कि सविधान मे सशोधन करने की शक्ति ससदकी समग्र विधायी शक्ति मे पायी जाती है, कठिन, है। अगर यह तर्क स्वीकृत कर लिया जाता है, तो तब ससद सविधान मे सशोधन केवल केन्द्रीय सूची के विषयो के सम्बन्ध मे ही, (न कि राज्य सूची के विषयो के सम्बन्ध मे करने म) समर्थ हो सकेगी। किन्तु अनुच्छेद 358 के अनुसार, ससद सातवीं अनुसूची की किसी भी सूची अर्थात् राज्य सूची के विषय मे भी आधे राज्यो से अधिक की स्वीकृति के पश्चात् सशोधन, कर सकती है। बहुमत के अनुसार, सविधान मे सशोधन की शक्ति ससद की अवशिष्ट (Residuary) शक्ति द्वारा की जाती है। अगर एसा है तो अनुच्छेद 123 के अन्तर्गत अध्यादेश जारी करने की शक्ति के तहत राष्ट्रपति द्वारा अध्यादेश प्रसारित कर सविधान को सशोधित किया जाना चाहिए। इसमे केवल एक प्रतिबन्ध है कि अध्यादेश को अपने होने वाले अधिवेशन के छ सप्ताह के भीतर ससद द्वारा अनुमोदित किया जाना आवश्यक है बहुमत की 'सविधान मे सशोधन करने की शक्ति समग्र विधायी शक्ति का एक भाग है,' सवैधानिक सशोधन को अध्यादेश द्वारा सम्भव बनावेगा। किन्तु यह कहा जाता है कि यह न तो सकल्पित है और न इच्छित यह भी कहा जाता है कि यह मानना कि सविधान मे सशोधन की शक्ति व्यवस्थापिका की अवशिष्ट शक्ति से आवृत है तक एव सम्पूर्ण विधि परम्परा के विरुद्ध है। यह केवल सयोग है कि भारतीय सविधान मे ससद को अवशिष्ट शक्ति प्रदान की गई है। अमेरिका के सविधान के अधीन अवशिष्ट शक्ति राज्यो को प्रदत्त की गई है, तथापि वहा के सविधान मे की गई व्याख्या म सशोधन करने की क्षमता कांग्रेस (ससद) मे ही है।[1]

(ii) अनुच्छेद 13 (2) मे निहित शब्द 'कानून' की व्याख्या, जो कि बहुमत ने स्वीकार की है, किसी भी दूसरी न्यायिक सत्ता (Judici

1 See Seervai "Constitutional Law of Indıa" P 1094, (1967)

प्रवैध घोषित कर दिये जाने के बाद गोलकनाथ बनाम पंजाब राज्य के मुकदमे म उच्चतम न्यायालय के निर्णय के फलस्वरूप विधि के शासन का सिद्धा त नाजुक दौर मे फस गया था ।

(2) गोलकनाथ मुकदमा और उसके बाद संघर्ष का युग

(Golak Nath Case and After An era of confrontation)

गोलकनाथ बनाम पंजाब राज्य के मुकदमे म [1] मुख्य न्यायाधीश सुब्बाराव के नेतृत्व मे एक वे बहुमत (6 5) ने घोषणा की कि ससद सविधान म इस प्रकार का सशोधन नही कर सकती जिसस उसमे अन्तर्निहित मूल अधिकार समाप्त अथवा सीमित हो जाए। बहुमत की धारणा थी कि मूल अधिकार सर्वोच्च महत्व के है (transcendental) तथा वे जनता से वचित न किये जा सकने वाले अधिकार है (inalienable rights of the people)। न्यायाधीशो ने महसूस किया कि अगर वे इस प्रकार व्याख्या स्वीकार करते है जिससे ससद को मूल अधिकारो को समाप्त या सीमित करने का अधिकार प्राप्त हो जाता है तो वह समय आ सकता है जबकि ये अधिकार पूर्णत समाप्त कर दिये जावेंगे तथा भारत धीरे धीरे अधिनायकवादी शासन के अधीन पहुच जावगा। बहुमत ने घोषणा की कि

(i) अनुच्छेद 368 के अन्तर्गत सविधान मे सशोधन करने की शक्ति नहीं पायी जाती है अपितु वह ससद की सर्वोपरि समग्र विधायी शक्ति का भाग है।

(ii) अनुच्छेद 13 (2) म वर्णित शब्द कानून' (Law) मे न केवल ससद द्वारा अपनी साधारण विधायी शक्ति के अ तगत बनाया गया कानून ही सम्मिलित है अपितु इसम उसके द्वारा क्रियान्वित सवधानिक शक्ति के अन्तगत किय जान वाल सशोधन भी है। अत वह सशोधन जो मूल अधिकारो को समाप्त या सीमित करे, अवैध है।

(iii) अनुच्छेद 368 के अ तगत सविधान म मूल अधिकारो को समाप्त या सीमित करने की सत्ता नही है।

(iv) सविधान निमाताओ का मूल अधिकारों को ससद द्वारा सशोधन योग्य बनाने हेतु विचार नही था।

(v) सविधान म सशोधन अन्य तरीको जैसे न्यायिक प्रक्रिया द्वारा तथा नवीन सविधान सभा आहूत करके किया जाना चाहिए।

इस मुकदमे म सर्वोच्च न्यायालय का यह भी कथन है कि मूल अधिकारो पर सामाजिक नियन्त्रण के विधान की वरीयता पर ससद की राय अन्तिम नहीं है

---

1 All India Reporter, 1967 Supreme Court 1643

बल्कि यह न्यायालय द्वारा प्रवर्तित है अन्यथा सविधान की सम्पूर्ण योजना ही विनष्ट हो जायेगी। इस प्रकार गोलकनाथ मुकदमे म निर्णय दिया गया कि ससद का मूल अधिकारो मे *सशोधन का अधिकार नही है, अत भविष्य म सविधान के भाग तृतीय* म कोई रद्दो बदल नही किया जा सकता।

टिप्पणी —

गोलकनाथ मुकदमे मे दिये गये निर्णय की अनेक आलोचको ने निम्न आधारो पर आलोचना ने की,

(i) यह मानना कि सविधान मे सशोधन करने की शक्ति ससदकी समग्र विधायी शक्ति मे पायी जाती है, कठिन, है। अगर यह तर्क स्वीकृत कर लिया जाता है, तो तब ससद सविधान मे सशोधन केवल केन्द्रीय सूची के विषयो के सम्बन्ध मे ही, (न कि राज्य सूची के विषयो के सम्बन्ध मे करने मे) समर्थ हो सकगी। किन्तु अनुच्छेद 358 के अनुसार, ससद सातवी अनुसूची की किसी भी सूची अर्थात् राज्य सूची के विषय मे भी आधे राज्यो से अधिक की स्वीकृति के पश्चात् सशोधन, कर सकती है। बहुमत के अनुसार, सविधान मे सशोधन की शक्ति ससद की अवशिष्ट (Residuary) शक्ति द्वारा की जाती है। अगर एसा है तो अनुच्छेद 123 के अन्तगत अध्यादेश जारी करने की शक्ति के तहत राष्ट्रपति द्वारा अध्यादेश प्रसारित कर सविधान को सशोधित किया जाना चाहिए। इसम केवल एक प्रतिबन्ध है कि अध्यादश को अपने होने वाले अधिवेशन के छ सप्ताह के भीतर ससद द्वारा अनुमोदित किया जाना आवश्यक है बहुमत की *'सविधान मे सशोधन करने की शक्ति समग्र विधायी शक्ति का एक* भाग है,' सवैधानिक सशोधन को अध्यादेश द्वारा सम्भव बनायेगा। किन्तु यह कहा जाता है कि यह न तो सकल्पित है और न इच्छित यह भी कहा जाता है कि यह मानना कि सविधान मे सशोधन की शक्ति व्यवस्थापिका की अवशिष्ट शक्ति से आवृत है, तर्क एव सम्पूर्ण विधि परम्परा के विरुद्ध है। यह केवल सयोग है कि भारतीय सविधान म ससद को अवशिष्ट शक्ति प्रदान की गई है। अमेरिका के सविधान के अधीन अवशिष्ट शक्ति राज्यो को प्रदत्त की गई है, तथापि वहा के सविधान म की गई व्याख्या मे सशोधन करने की क्षमता काग्रेस (ससद) मे ही है।[1]

(ii) *अनुच्छेद 13 (2) मे निहित शब्द 'कानून' की व्याख्या,* जो कि बहुमत ने स्वीकार की है, किसी भी दूसरी न्यायिक सत्ता (Judici

1 See Seervai "Constitutional Law of India' P 1094, (1967)

("highly representative body") कहा है। क्या तब अन्य सविधान सभा को मूल अधिकारो मे सशोधन की योग्यता के प्रश्न पर निर्णय करने हेतु बुलाना आवश्यक इच्छित एव यथेष्ट है, जबकि यह ससद मे स्वीकृत करके किया जा सकता हैं ? तीन सवैधानिक सशोधनो मे प्रथम सशोधन ('जिसे शकरी प्रसाद बनाम केन्द्र,' 1951 के मुकदमे मे वैध घोषित किया गया था,) जो मूल अधिकारो को सीमित करने हेतु पारित किया गया था, अतरिम ससद द्वारा ही पास किया गया था, जो कि सविधान सभा के रूप म काय कर चुकी थी। अत यह सशोधन उन्ही व्यक्तियो का काय था जिन्होने भारतीय सविधान का निर्माण किया था। यह प्रदर्शित करता है कि ससद की सशोधन करने की शक्ति (जिसमे गारन्टी प्राप्त मूल अधिकार के प्रावधान भी सम्मिलित हैं) सविधान निर्माताओ के द्वारा भी स्वीकार की गई थी। भारत जैसे अधिक जनसख्या वाले देशो मे अन्य सुझाव जनमत सग्रह(Refrendum) की व्यवस्था अप्रब धनीय, अ यवहारिक एव अत्यधिक खर्चीली होगी।[1]

(vi) गोलकनाथ मुकदमे मे न्यायालय का बहुमत इस परिणाम पर इसलिए पहुचा क्योकि न्यायाधीश यह मान बैठे कि सशोधन की शक्ति का ससद म निहित करना असुरक्षित होना था। इस पर सहमत होना अधिक यथाथवादी होगा की अनुचित सवैधानिक सशाधन के विरुद्ध कानूनी प्रतिब धो की अपेक्षा राजनीतिक प्रतिबन्ध अधिक यथेष्ट होता है[2] कानूनन, एक व्यक्ति यह कह सकता है कि मूल अधिकारों मे सशोधन अधिक कठिनाई से किया जाना चाहिए। इसके लिए सविधान मे तीन चौथाई बहुमत की व्यवस्था आवश्यक की जा सकती है किन्तु सम्पूर्ण सवैधानिक सशोधन का परित्याग जनतन्त्र के सिद्धांत के अनुकूल दिखाई नही देता।

(vii) भारतीय सवैधानिक विकास म सवैधानिक परिवतन लाने का भार ससद पर आ पडा है। यह आवश्यक भी था क्योकि सामाजिक व आर्थिक परिवतन करना था। किन्तु अगर व्यवस्थापिका के पास

1 See Gae 'Amendment of Fundamental Rights', Journal of the Indian Law Institute 475-510 (1967)

2 S P Sathe 'Amendability of Fundamental Rights Golak Nath and After, 196? Supreme Court Journal, pp 33 37

> उचित सवैधानिक परिवतन करने की शक्ति नही होती, तो यहाँ तक कि यात्रा की मजिल की थोडी दूरी भी पार नही की जा सकती थी। अ त मे भारतीय जनत त्र का जीवन इसके द्वारा आर्थिक चुनौतियो का सतोषप्रद ढग से मुकाबला करने पर ही निभर करता है। यह ठीक है कि, सर्वोच्च यायालय या उच्च न्यायालय को भार तीय भूमि सुधारो की क्रियान्विति म देरी एव धीमी गति के लिए दोषी नही ठहराया जा सकता तथा यह स्वीकार करते हुए भी कि न्यायालय ने आर्थिक सुधारो के आगे कोई महत्वपूर्ण विरोध नही किया, इस तथ्य को झुठलाया नही जा सकता है कि अगर सविधान मे सशोधन नही किये जाते, तो यायालय ऐसा कर सकता था।

यद्यपि बहुमत इस निष्कर्ष पर पहुचा कि ससद मूल अधिकारो को सवैधानिक सशोधन से समाप्त या सीमित करने की शक्ति नही रखती तथापि इसने भूत का भविष्य के साथ सामजस्य बिठाने मे कठिनाई अनुभव की क्योकि यायालय इस तथ्य की उपेक्षा नही कर सका कि सविधान म मूल अधिकारो को सीमित करने वाले कितने ही सशोधन किये जा चुके हैं। इस प्रकार पहले के वर्षों मे की गई व्याख्या से कितने ही सन्देह उत्पन्न हो सकते थे। मुख्य यायाधीश सुब्बाराव ने यह घोषणा करके उसको टाल दिया कि नई व्याख्या ही (कि ससद मूल अधिकारो को समाप्त या सीमित करने हतु उनमे सशोधन नही कर सकती) आगे कायरत होगी। इसका तात्पय है कि वह व्याख्या जो सर्वोच्च न्यायालय ने 'शकरी प्रसाद बनाम केन्द्र के मुकदमे मे सुनाई गई थी यानि 26 जनवरी 1950 स 27 फरवरी 1967 जिस दिन गोलकनाथ मुकदमे का निणय सुनाया गया था—तक प्रभावी मानी गई कि तु 27 फरवरी 67 के अन तर भविष्य मे सविधान के तीसरे खण्ड म समाविष्ट मूल अधि कार समाप्त करने एव सीमित करने की शक्ति ससद को नही रहगी।

यही ससदीय-सर्वोच्चता और यायालय की स्वतन्त्रता तथा सर्वोचता का विवाद प्रारम्भ हो जाता है। इसी मुकदमे के उपरान्त मूल अधिकारो एव नीति निर्देशक तत्वों मे सघर्ष की स्थिति पैदा हो जाती है। इसी मुकदमे के निणय के तदन्तर यह विवाद भी प्रारम्भ होता है कि आर्थिक जनतन्त्र की स्थापनाथ मूल अधि कार अध्याय से सम्पत्ति अधिकार को समाप्त किया ज ए तथा नीति निदेशक तत्वो को निर्णायक बनाने के लिए ससद की सर्वोच्चता प्रतिष्ठित की जाए तथा इसका राज नीतिक स्वतन्त्रता से सामजस्य बिठाया जाए।

गोलकनाथ निणय के पश्चात् 'बाम्बे टाउन प्लेनिंग एक्ट 1955 (Bombay Town Planning Act 1955) की वैधता को 1969 मे सर्वोच्च न्यायालय मे शांतिलाल मगनदास बनाम गुजरात राज्य' के मुकदमे मे चुनौती दी गई। न्यायाधीश

शाह ने इस विधेयक को वैध करार देते हुए घोषणा की कि अगर व्यवस्थापिका द्वारा निश्चित की गई मुआवजे की राशि को इस आधार पर न्यायालय म चुनौती नही दी जा सकती कि वह न्यायपूर्ण नही है तो मुआवजे के निर्धारण हेतु निश्चित किये गये सिद्धातो (Principles specified for determination of compensation) को भी इस आधार पर चुनौती नही दी जा सकेगी कि उन सिद्धातो द्वारा निर्धारित मुआवजा न्याय सगत' ('Just eq-ivalent") नही है। विद्वान न्यायाधीश ने आगे इस बिल्कुल स्पष्ट करते हुए कहा

'व्यवस्थापिका द्वारा निर्धारित सिद्धातो पर निश्चित मुआवजे को न्यायालय मे कुछ इस प्रकार की अनिश्चित धारणा पर चुनौती नही दी जा सकती कि वह न्याय सगत अथवा फेयर' नही है। सिद्धात इस आधार पर 'चैलेंज' किये जा सकते हैं कि वे मुआवजे क निर्धारण मे अप्रतिरूप हैं ('that they are irrelavent to the determination of compensation) न कि इस तर्क पर कि जो कुछ उन सिद्धांतो की क्रियान्विति के परिणामस्वरूप पुरस्कृत किया जाता है, न्याय-सगत या ठीक नही है।"

यह कानून की अत्युत्तम व्याख्या थी। इस निर्णय मे न्यायाधीश शाह ने कहा "इस न्यायालय द्वारा घोषित कानूनो (चतुर्थ सशोधन के पूर्व) ने धारा 39 म अन्तर्निहित राज्य के नीति निर्देशक तत्वो के प्रभावी बनाने मे गम्भीर बाधाए खडी की है।" एक दूसरी जगह 'बेला बेनर्जी एव 'सुबोध गोपाल' के निर्णयो का उल्लेख करते हुए उन्होने कहा कि इन दो मुकदमो ने सुलझाने की अपेक्षा उलझनें खडी की हैं।' उन्होने महसूस किया कि 'वजरावेलु निर्णय' म न्यायाधीश सुब्बाराव की धारणाए मुआवजे के सिद्धातो के न्यायिक पुनरावलोकन के क्षेत्र के बारे म 'निर्णय के उद्देश्य हेतु आवश्यक नही थी' और उन्होने घोषणा की कि 'मेटल कारपोरेशन मुकदमे का गलत ढग से निर्णय किया गया तथा उसे रद्द कर दिया जाना चाहिए।"[1] न्यायाधीश शाह के निर्णय ने सकेत दिया कि न्यायालय अब उन रूकावटो को सुधार रहा है जो कि मेटल कारपोरेशन एव वाजरावेलु मुकदमो मे इसके निर्णयो ने व्यवस्थापिका पर थोप दी थी। वास्तव मे यह निर्णय भविष्य की न्यायिक स्वीकृति का सकेत था। कुछ क्षेत्रो म यह महसूस किया गया कि इस प्रकार की न्यायालय द्वारा की गई सम्पत्ति के अधिकारो की व्याख्या के प्रकाश म गोलकनाथ निर्णय आर्थिक सुधारो के मार्ग मे एक तात्कालिक अवरोध न बने।

किन्तु यह आशा तब निराशा मे परिणित हो गई जब सर्वोच्च न्यायालय ने 1970 म सरकार के दो लोकप्रिय कदमो को अवैध घोषित कर दिया। आर सी

1 All India Reporter 1969, Supreme Court, p 648,651, 653,

(3) पूर्ण जनतन्त्र अथवा सामाजिक न्याय के लिए देश की आकस्मिक छटपटाहट और तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों का योगदान, दूसरे शब्दों में राजनीतिक जनतन्त्र तथा आर्थिक जनतन्त्र के बीच सामंजस्य की समस्या।

(1) न्यायपालिका के निर्णयों को लेकर कहा जाने लगा था कि इससे जन प्रतिनिधि संस्था की सर्वोच्च सत्ता की अवमानना हुई है। जनतन्त्र में जन अभिव्यक्ति ही प्राथमिक और सर्वोच्च है जिस पर पुरातन और रूढ़िवादी न्यायपालिका का प्रतिबंध नहीं होना चाहिए। यह आवाज वामपंथी क्षेत्र से आ रही थी। इस क्षेत्र की धारणा प्रसिद्ध वामपंथी पत्रिका 'लिंक' (Link) के विचारों में प्रतिध्वनित होती है।[1]

जबकि दक्षिणपंथी राजनीतिक दल इस प्रकार के वामपंथी प्रयासों से शंकित होकर संविधान को बचाने, न्यायालय की पवित्रता और स्वतन्त्रता की रक्षा की बात करने लगे। स्पष्टतः दो विचारधाराएं बन गईं। एक विचारधारा, जो जनमत के अधिक अनुकूल थी और श्रीमती गांधी जिसके प्रतीक रूप में समक्ष आई कि अंतिम प्रभुसत्ता संसद के हाथों में ही रहनी चाहिए, दूसरी ओर स्वतन्त्र, जनसंघ आदि दक्षिणपंथी दलों ने मूल अधिकारों की पवित्रता में तानाशाही हस्तक्षेप का विरोध किया जिसे मात्र तब पूंजीवादी पक्ष एवं भूतपूर्व राजा-महाराजाओं का समर्थन ही प्राप्त था।

(2) दूसरा प्रमुख विवाद मूल अधिकारों और नीति निर्देशक तत्वों में समन्वय स्थापित करने की समस्या से सम्बन्धित रहा है। भारत में न्यायिक पुनरावलोकन

"There is no scope for doubt that the framers of the Constitution wanted without any ambiguity, to vest in Parliament the right to amend the Constitution according to changing circumstances. Infact they were conscious that Parliament would have much greater moral and political authority than even the Constituent Assembly ... the consensus was that a handful of individuals could not be allowed to block the nation's march to its goals of breaking the monopolies, abolishing privileges and privy purses and restore to Parliament the soverign right to amend the Constitution and take country towards socialism."

1 Link, 25 July, 1971 "Directive Principles or Fundamental Rights" pp 5-6

का अध्ययन यह बताता है कि वह स्वयं में किसी स्थिति को अभिव्यक्त नहीं करता है अपितु गतिवान व बदलते हुए स्वरूप को इंगित करता है। यह बात सबसे अधिक इसी सन्दर्भ में हमारे सामने आती है, जब हम यह देखने का प्रयास करते हैं कि राज्य के नीति निर्देशक तत्वों एवं मूल अधिकारों के सन्दर्भ में न्यायालय का दृष्टिकोण परिवर्तित होता हुआ दिखाई देता है। मोटे रूप से इस विकास में उतार चढ़ाव की स्थिति बनती दिखाई देती है। (i) प्रारम्भ में ऐसा दीखा कि न्यायालय न नीति निर्देशक तत्वों को महत्वपूर्ण तो माना परन्तु अधिकारों की तुलना में उनको गौण स्थान दिया। इसे नीति निर्देशक तत्वों के सम्बन्ध में 'निम्न स्थान का चरण' (The stage of subsidiary placement) कहा जाता है। 'चम्पाकम दुरैराजन बनाम मद्रास राज्य' के मुकदमे में न्यायालय ने कहा कि नीति निर्देशक तत्वों को मूल अधिकारों के अध्ययन के अनुकूल बनना है और उससे गौण स्थिति में रहना है।" (ii) आगे चलकर एक संक्रमण (transition) की स्थिति आई और यह विचारधारा पनपी कि तत्वों के प्रति उदासीनता नहीं बरती जा सकती और इसलिए यह कहना कि वे हर परिस्थिति में अधिकारों से गौण हैं, ठीक नहीं होगा। कमलेश्वर सिंह बिहार राज्य' मुकदमे में, जिसका सम्बन्ध जमींदारी की समाप्त करने से था इस धारणा को बल मिला। न्यायालय ने कहा 'भूमि के ऊपर राज्य का स्वामित्व अथवा नियंत्रण राज्य के नीति निर्देशक तत्वों को कार्यान्वित करने की दिशा में एक प्रारम्भिक कदम है और इसलिए यह कदम सार्वजनिक हित से सम्बन्धित है या सार्वजनिक हित के मापदण्ड पर पूरा उतरता है।" यही बात न्यायालय ने केरल ऐजुकेशन बिल के सम्बन्ध में अपना परामर्श देते हुए कही। वहां भी यही प्रश्न था कि कानून के द्वारा सार्वजनिक हित की पूर्ति होती है या नहीं। यहां फिर यह बात उभरती है कि हर परिस्थिति में यह कहना कि नीति निर्देशक तत्व गौण हैं और उनके प्रति उदासीन रहना आदि संविधान की आत्मा के अनुकूल नहीं होगा। (iii) तत्पश्चात यह कहा गया कि तत्वों एवं अधिकारों के बीच एक सुखद समन्वय (state of harmonious construction) बिठाने की कोशिश की जानी चाहिए। यह बात न्यायालय ने कुरैशी बनाम बिहार राज्य' मुकदमे में कही। न्यायालय ने कहा कि

"A harmonious interpretation has to be placed upon the Constitution and so interpreted, it means the State should certainly implement the Directive Principles but it must do so in such a way that its laws do not take away or abridge Fundamental Right for otherwise the protecting provision of chapter third will be a near rope of land" वस्तुतः दोनों के बीच की यह सामंजस्यपूर्ण स्थिति ही संवैधानिक स्थिति है। नीति निर्देशक तत्व अधिकारों के पूरक हैं, विरोधी नहीं। ये

अधिकारों से निम्न स्तर भी नहीं रखते। इसीलिए तो सविधान ने इन्हें मौलिक महत्व का घोषित (Fundamental importance) किया है। मूल अधिकार जनतन्त्र के राजनीतिक और कानूनी पक्ष की अभिव्यक्ति करते हैं, तो नीति निर्देशक तत्व सामाजिक आर्थिक पक्ष को उभारते हैं और इसलिए ये एक दूसरे के पूरक हैं। एक लेखक ने लिखा है —' The Chapter on Fundamental Rights is an exposing of ends, the Chapter of Directive Principles a study of means If one is the philosophy of good life, the other is practice '' और ये दोनों ही स्वय साधन के रूप मे हो जाते हैं उन उद्देश्यों के लिए जो कि सविधान की भूमिका (Preamble) मे प्रस्तुत किये गये हैं। अत य निरन्तरता के स्रोत म बने ('interacting linkage pattern'') दिखाई देते हैं।

परन्तु गोलकनाथ निर्णय के बाद विकास का उपरोक्त क्रम तथा सवधानिक धारणा अवरुद्ध हो जाती है तथा न्यायालय प्रारम्भिक स्थिति म पहुच जाता है[1] और उसकी यह धारणा बन जाती है कि तत्वों का स्थान गौण है क्योंकि उसे भय था कि

1 'While the executive was smarting under the blow of the Supreme Court decision in the Bank Nationalization Case and it rankled in the Legislative heart, the Government was once again, beleaguered by the decision of the Supreme Court in the Privy-Purse Case striking down the 'midnigh order' of derecognization of the rulers The Government ha lost its Constitution Amendment Bill for the Abolition of Privy Purses in the Rajya Sabha by a fraction of a vote and restored to the device of issuing an executive order to achieve the object which it had intended to achieve by the still born constitution amendment In quashing the order of derecognition, the Supreme Court had, in essence questioned the power of the executive to undo or efface certain provisions of the Constitution But, in a country like ours where the executive is a part of the legislature and where the legislature is led by the executive, the set back suffered by the Government in the Privy Purse Case appered to them to the proverbial last straw on the camal s back'' L M Singhvi 'Law And Justice Seminar, Jan 1972 No 149 p 72

ससद संशोधन करके नहीं इस गौण स्थान को मुख्य स्थान मे परिणित कर दे अथवा ऐसी परिस्थिति न उत्पन्न हो जाए कि मूल अधिकारो को इसलिए हानि पहुँचाई जाए ताकि नीति निर्देशक तत्वों को कार्यान्वित किया जावे। अत उसने गोलकनाथ निर्णय मे घोषणा की कि ससद मूल अधिकारो मे संशोधन नहीं कर सकती और इस प्रकार आगे चलकर उसने सामाजिक न्याय हेतु पारित बैंको के राष्ट्रीयकरण वाले अधिनियम तथा भूतपूर्व राजाओ के प्रिवी पर्सेज एव विशेषाधिकारो को समाप्त करने वाले राष्ट्रपति के अध्यादेश का अवैध करार दिया। और इस प्रकार मूल अधिकारो एव नीति निर्देशक तत्वो के बीच सुन्दर सामजस्य की स्थिति अवरुद्ध हो गई। न्यायालय एव मूल अधिकारों की आलोचना प्रत्यालोचना होने लगी। यह चर्चा का विषय हो गया कि नीति निर्देशक तत्वो की कोई पवित्रता (sanctity) है या नहीं। और अगर है तो क्या मूल अधिकारो की उपस्थिति तथा उनकी असीमितता नीति निर्देशक तत्वो के मार्ग मे बाधा है तथा इन दोनो के बीच ऐसी स्थिति मे कैसे सम्बन्ध बिठाया जाये आदि। वस्तुत राजनैतिक नेतृत्व के समक्ष यही प्रमुख समस्या थी। विवाद की तीसरी स्थिति द्वितीय स्थिति से करीब-करीब जुडी हुई है।

(3) पचम लोकसभा निर्वाचन विवाद जनता की अदालत में—

ऐसी उलझनपूर्ण व अस्थायी स्थिति से निपटने हेतु तत्कालीन भारतीय सत्तारूढ राजनैतिक नेतृत्व (प्रधानमन्त्री श्रीमती गाधी) ने राष्ट्रपति को ससद भग कर पुन निर्वाचन की सलाह दी। ससद को भग करने के बाद राष्ट्र के नाम एक सदेश मे श्रीमती गाधी ने कहा कि "हम न केवल सत्ता मे रहना चाहते है बल्कि हम उस सत्ता को अपनी जनता के जीवन को अच्छा बनाने के लिए और न्याय सगत सामाजिक व्यवस्था का आश्वासन देने के भी इच्छुक हैं। नये चुनाव इसलिए जरूरी हो गये कि वतमान परिस्थितियो मे सरकार अपने घोषित कार्यक्रमो और अपने आश्वासनो को पूरा करने मे कठिनाई का अनुभव कर रही है। उन्होने आगे कहा कि "एक राष्ट्र की जिन्दगी म ऐसा समय आता है जब सरकार को वतमान समस्याओ को हल करने के लिए गैर मामूली कदम उठाने पडते हैं, अब वह समय आ गया है।" मध्यावधि चुनाव की घोषणा के बाद एक पत्रकार स मेलन मे श्रीमती गाधी ने प्रश्नो के उत्तर मे सविधान संशोधन की बात स्वीकार की कि तु सवैधानिक सभा के गठन की सम्भावना से इन्कार किया। स्पष्ट है कि मध्यावधि चुनाव का मुद्दा और खतरनाक उत्तरदायित्वपूर्ण कदम श्रीमती गाधी ने जनता की उस साधारण भावुक नाडी को पकड कर उठाया था जिसके अतगत वह सदैव ही समाजवादी समाज की रचना का स्वागत करेगी। उसी समय इन्दिरा कांग्रेस ने अपने चुनाव घोषणा पत्र मे कहा था—"सविधान का चौथा परिच्छेद राज्य के नीति निर्देशक-सिद्धांत के नाम से जाना जाता है और शासन से यह उम्मीद की जाती है कि

अधिकारों से निम्न स्तर भी नहीं रखते। इसीलिए तो संविधान ने इन्हें मौलिक महत्व का घोषित (Fundamental importance) किया है। मूल अधिकार जनतन्त्र के राजनीतिक और कानूनी पक्ष की अभिव्यक्ति करते हैं, तो नीति निर्देशक तत्व सामाजिक आर्थिक पक्ष को उभारते हैं और इसलिए ये एक दूसरे के पूरक हैं। एक लेखक ने लिखा है —"The Chapter on Fundamental Rights is an exposing of ends, the Chapter of Directive Principles a study of means If one is the philosophy of good life, the other is its practice" और ये दोनों ही स्वयं साधन के रूप में हो जाते हैं, उन उद्देश्यों के लिए जो कि संविधान की भूमिका (Preamble) में प्रस्तुत किये गये हैं। अतः यह निरन्तरता के स्रोत में बंधे ("interacting linkage pattern") दिखाई देते हैं।

परन्तु गोलकनाथ निर्णय के बाद विकास का उपरोक्त क्रम तथा संवैधानिक धारणा अवरुद्ध हो जाती है तथा न्यायालय प्रारम्भिक स्थिति में पहुंच जाता है[1] और उसकी यह धारणा बन जाती है कि तत्वों का स्थान गौण है क्योंकि उसे भय था कि

1 'While the executive was smarting under the blow of the Supreme Court decision in the Bank Nationalization Case and it rankled in the Legislative heart, the Government was once again beleaguered by the decision of the Supreme Court in the Privy-Purse Case striking down the 'midnight order' of derecognization of the rulers The Government has lost its Constitution Amendment Bill for the Abolition of Privy Purses in the Rajya Sabha by a fraction of a vote and restored to the device of issuing an executive order to achieve the object which it had intended to achieve by the still born constitution amendment In quashing the order of derecognition, the Supreme Court had in essence questioned the power of the executive to undo or efface certain provisions of the Constitution But, in a country like ours where the executive is a part of the legislature and where the legislature is led by the executive, the set back suffered by the Government in the Privy Purse Case appered to them to the proverbial last straw on the camal's back" L M Singhvi, "Law And Justice" Seminar, Jan 1972 No 149 p 72,

ससद सशोधन करके नही इस गोण स्थान को मुख्य स्थान मे परिणित कर दे अथवा ऐसी परिस्थिति न उत्पन्न हो जाए कि मूल अधिकारो को इसलिए हानि पहुँचाई जाए ताकि नीति निर्देशक तत्वो को कार्यान्वित किया जाव । अत उसने गोलकनाथ निर्णय मे घोषणा की कि ससद मूल अधिकारो मे सशोधन नही कर सकती और इस प्रकार आगे चलकर उसने सामाजिक न्याय हेतु पारित बैंको के राष्ट्रीयकरण वाले अधिनियम तथा भूतपूर्व राजाओ के प्रिवी पर्सेज एव विशेषाधिकारो को समाप्त करने वाले राष्ट्रपति के अध्यादेश को अवैध करार दिया। और इस प्रकार मूल अधिकारो एव नीति निर्देशक तत्वो के बीच सुखद सामजस्य की स्थिति अवरूद्ध हो गई । न्यायालय एव मूल अधिकारो की आलोचना प्रत्यालोचना होने लगी । यह चर्चा का विषय हो गया कि नीति निर्देशक तत्वो की कोई पवित्रता (sanctity) है या नही । और अगर है तो क्या मूल अधिकारो की उपस्थिति तथा उनकी असीमितता नीति निर्देशक तत्वो के माग म बाधा है तथा इन दोनो के बीच ऐसी स्थिति मे कैसे सम्बन्ध बिठाया जाये आदि । वस्तुत राजनैतिक नेतृत्व के समक्ष यही प्रमुख समस्या थी । विवाद की तीसरी स्थिति द्वितीय स्थिति से करीब करीब जुडी हुई है ।

(3) पचम लोकसभा निर्वाचन विवाद जनता की अदालत में—

ऐसी उलझनपूर्ण व अस्थायी स्थिति से निपटने हेतु तत्कालीन भारतीय सत्तारूढ राजनैतिक नेतृत्व (प्रधानमन्त्री श्रीमती गाधी) ने राष्ट्रपति को ससद भग कर पुन निर्वाचन की सलाह दी । ससद को भग करने के बाद राष्ट्र के नाम एक सदेश मे श्रीमती गाधी ने कहा कि "हम न केवल सत्ता मे रहना चाहते है बल्कि हम उस सत्ता को अपनी जनता के जीवन को अच्छा बनाने के लिए और न्याय सगत सामाजिक व्यवस्था का आश्वासन देने के भी इच्छुक है । नये चुनाव इसलिए जरूरी हो गये कि वतमान परिस्थितियो मे सरकार अपने घोषित कायक्रमो और अपने आश्वासनो को पूरा करने मे कठिनाई का अनुभव कर रही है । उन्होने आगे कहा कि "एक राष्ट्र की जिन्दगी मे ऐसा समय आता है जब सरकार को वतमान समस्याओ को हल करने के लिए गैर मामूली कदम उठाने पडते हैं, अब यह समय आ गया है ।" मध्यावधि चुनाव की घोषणा के बाद एक पत्रकार स मेलन मे श्रीमती गाधी ने प्रश्नो के उत्तर म सविधान सशोधन की बात स्वीकार की किन्तु सवैधानिक सभा के गठन की सम्भावना से इन्कार किया । स्पष्ट है कि मध्यावधि चुनाव का वृहत और खतरनाक उत्तरदायित्वपूर्ण कदम श्रीमती गाधी ने जनता की उस साधारण भावुक नाडी को पकड कर उठाया था जिसके अन्तगत वह सदैव ही समाजवादी समाज की रचना का स्वागत करेगी । उसी समय इन्दिरा काग्रेस ने अपने चुनाव घोषणा पत्र म कहा था—"सविधान का चौथा परिच्छेद राज्य के नीति निर्देशक—सिद्धात के नाम से जाना जाता है और शासन स यह उम्मीद की जाती है कि वह

अधिकारो से निम्न स्तर भी नहीं रखते। इसीलिए तो संविधान ने इन्हें मौलिक महत्व का घोषित (Fundamental importance) किया है। मूल अधिकार जनतन्त्र के राजनीतिक और कानूनी पक्ष की अभिव्यक्ति करते हैं, तो नीति निर्देशक तत्व सामाजिक आर्थिक पक्ष को उभारते हैं और इसलिए ये एक दूसरे के पूरक हैं। एक लेखक ने लिखा है —'The Chapter on Fundamental Rights is an exposing of ends, the Chapter of Directive Principles a study of means If one is the philosophy of good life, the other is its practice'' और ये दोनों ही स्वयं साधन के रूप में हो जाते है उन उद्देश्यों के लिए जो कि संविधान की भूमिका (Preamble) मे प्रस्तुत किये गये हैं। अतः यह निरन्तरता के स्रोत में बंधे ("interacting linkage pattern") दिखाई देते हैं।

परन्तु गोलकनाथ निर्णय के बाद विकास का उपरोक्त क्रम तथा संवैधानिक धारणा अवरुद्ध हो जाती है तथा न्यायालय प्रारम्भिक स्थिति मे पहुच जाता है[1] और उसकी यह धारणा बन जाती है कि तत्वो का स्थान गौण है क्योंकि उसे भय था कि

1 'While the executive was smarting under the blow of the Supreme Court decision in the Bank Nationalization Case and it rankled in the Legislative heart, the Government was once again beleaguered by the decision of the Supreme Court in the Privy Purse Case striking down the 'midnight order' of derecognization of the rulers The Government has lost its Constitution Amendment Bill for the Abolition of Privy-Purses in the Rajya Sabha by a fraction of a vote and restored to the device of issuing an executive order to achieve the object which it had intended to achieve by the still born constitution amendment In quashing the order of derecognition, the Supreme Court had, in essence, questioned the power of the executive to undo or efface certain provisions of the Constitution But, in a country like ours where the executive is a part of the legislature and where the legislature is led by the executive, the set back suffered by the Government in the Privy Purse Case appered to them to the proverbial last straw on the camal's back' L M Singhvi, 'Law And Justice' Seminar, Jan 1972 No 149 p 72,

संसद संशोधन करके वहाँ इस गौण स्थान को मुख्य स्थान में परिणित कर दे अथवा ऐसी परिस्थिति न उत्पन्न हो जाए कि मूल अधिकारों को इसलिए हानि पहुँचाई जाए ताकि नीति निर्देशक तत्वों को कार्यान्वित किया जावे। अतः उसने गोलकनाथ निर्णय में घोषणा की कि संसद मूल अधिकारों में संशोधन नहीं कर सकती और इस प्रकार आगे चलकर उसने सामाजिक न्याय हेतु पारित बैंकों के राष्ट्रीयकरण वाले अधिनियम तथा भूतपूर्व राजाओं के प्रिवी पर्सेज एवं विशेषाधिकारों को समाप्त करने वाले राष्ट्रपति के अध्यादेश को अवैध करार दिया। और इस प्रकार मूल अधिकारों एवं नीति निर्देशक तत्वों के बीच सुखद सामंजस्य की स्थिति अवरुद्ध हो गई। न्यायालय एवं मूल अधिकारों की आलोचना प्रत्यालोचना होने लगी। यह चर्चा का विषय हो गया कि नीति निर्देशक तत्वों की कोई पवित्रता (sanctity) है या नहीं। और अगर हैं तो क्या मूल अधिकारों की उपस्थिति तथा उनकी असीमितता नीति निर्देशक तत्वों के मार्ग में बाधा है तथा इन दोनों के बीच ऐसी स्थिति में कैसे सम्बन्ध बिठाया जाये आदि। वस्तुतः राजनैतिक नेतृत्व के समक्ष यही प्रमुख समस्या थी। विवाद की तीसरी स्थिति द्वितीय स्थिति से करीब करीब जुड़ी हुई है।

(3) पंचम लोकसभा निर्वाचन विवाद जनता की अदालत में—

ऐसी उलझनपूर्ण व अस्थायी स्थिति से निपटने हेतु तत्कालीन भारतीय सत्तारूढ़ राजनैतिक नेतृत्व (प्रधानमन्त्री श्रीमती गांधी) ने राष्ट्रपति को संसद भंग कर पुनः निर्वाचन की सलाह दी। संसद को भंग करने के बाद राष्ट्र के नाम एक संदेश में श्रीमती गांधी ने कहा कि "हम न केवल सत्ता में रहना चाहते हैं बल्कि हम उस सत्ता को अपनी जनता के जीवन को अच्छा बनाने के लिए और न्याय संगत सामाजिक व्यवस्था का आश्वासन देने के भी इच्छुक हैं। नये चुनाव इसलिए जरूरी हो गये कि वर्तमान परिस्थितियों में सरकार अपने घोषित कार्यक्रमों और अपने आश्वासनों को पूरा करने में कठिनाई का अनुभव कर रही है। उन्होंने आगे कहा कि "एक राष्ट्र की जिन्दगी में ऐसा समय आता है जब सरकार को वर्तमान समस्याओं को हल करने के लिए गैर मामूली कदम उठाने पड़ते हैं, अब वह समय आ गया है।" मध्यावधि चुनाव की घोषणा के बाद एक पत्रकार सम्मेलन में श्रीमती गांधी ने प्रश्नों के उत्तर में संविधान संशोधन की बात स्वीकार की किन्तु संवैधानिक सभा के गठन की सम्भावना से इन्कार किया। स्पष्ट है कि मध्यावधि चुनाव का वृहत और खतरनाक उत्तरदायित्वपूर्ण कदम श्रीमती गांधी ने जनता की उस साधारण भावुक नाड़ी को पकड़ कर उठाया था जिससे अन्ततः वह सदैव ही समाजवादी समाज की रचना का स्वागत करेगी। उसी समय इन्दिरा कांग्रेस ने अपने चुनाव घोषणा पत्र में कहा था—"संविधान का चौथा परिच्छेद राज्य के नीति निर्देशक-सिद्धांत के नाम से जाना जाता है और शासन से यह उम्मीद की जाती है कि वह

उत्तरोत्तर उन सिद्धांतो को अमली जामा पहनायेगा।' यदि किसी मौलिक अधिकार और निर्देशक सिद्धांत में संघर्ष हो जाये तो (स्पष्टत शास्त्री शैली की ओर संकेत करते हुए कहा गया था कि) 'हाल के कुछ अदालती फैसलो ने नीति निर्देशक तत्वो को अच्छी तरह अमल में लाना नामुमकिन कर दिया है।"

'सम्पत्ति संविधान, संसद और न्यायालय ये वे कुछ शब्द है जो 1969 से भारतीय राजनैतिक शब्दावली में छाये हुए हैं। 1967 मे गोलकनाथ कांड (इस कांड की संज्ञा देना अपने आप मे वृहद् महत्व का परिचायक है) के निर्णय के साथ ही राजनीतिज्ञो का ध्यान संविधान मे संशोधन या उसे बदलने सम्पत्ति के अधिकार को मौलिक अधिकारो से अलग करने या उसकी सीमा बाधने और संसद तथा न्यायालय का कार्य क्षेत्र निर्धारित करने की ओर आकृष्ट हुआ था। किन्तु 1969 में बैंक राष्ट्रीयकरण अध्यादेश और 1970 मे भूतपूर्व नरेशो की मान्यता समाप्त करने से सम्बन्धित आदेश को सर्वोच्च न्यायालय द्वारा रद्द कर दिये जाने के बाद उपर्युक्त इंगित शब्दो का लेकर अच्छा खासा विवाद उठ खड़ा हुआ। इससे स्वयं को प्रगतिशील कहे जाने वाले एक तबके ने सर्वोच्च न्यायालय पर खुले आम छींटाकशी की। न केवल साम्यवादियो ने बल्कि सत्तारूढ़ दल के कुछ जिम्मेदार नेताओ ने भी यह कहकर निर्णय की आलोचना की कि वे प्रगति में बाधक हैं। मार्क्सवादी साम्यवादी दल ने तो संविधान को कागज की रद्दी का टुकड़ा कह कर इस बदल डालने की घोषणा की। जबकि समाजवादी पार्टियो एवं कांग्रेस ने उसमें आवश्यक संशोधन करने की मांग उठायी। कुछ तबको ने सर्वोच्च न्यायालय को प्रतिक्रियावादी न्यायालय कहकर वर्तमान न्याय व्यवस्था की अवमानना भी की। लोकसभा के मध्यावधि चुनाव के मूल में इस विवाद की कहीं न कहीं यह भावना विद्यमान रही है। विभिन्न राजनैतिक दलो ने इसी प्रश्न को अपने घोषणा पत्रो में चुनाव का मोहरा भी बनाया।"

इस प्रकार यदि हम यह कहे तो किंचित भी अत्युक्ति नहीं होगी कि इन चुनावो के माध्यम से श्रीमती गांधी पूर्व चर्चित तीनो प्रश्नो–(मूल अधिकारो एवं नीति निर्देशक तत्वो मे उत्पन्न संघर्षमय स्थिति संसद न्यायपालिका में सर्वोच्चता का विवाद तथा पूर्ण जनतन्त्र की आकांक्षा जिसके मूल में सामाजिक न्याय की स्थिति समाहित है) का समाधान चाहती थी। अत हम मध्यावधि चुनाव की घोषणा को व्यापक रूप से इन तीन प्रश्नो के समाधान हेतु श्रीमती गांधी द्वारा लिया गया जनमत संग्रह (Referendum) कह सकते है।

मार्च 1971 के प्रारम्भ में ही लोकसभा के लिए देश मे मतदान हुआ। दूसरे सप्ताह में अधिकांश परिणाम सामने आ गये जो कांग्रेस (जे) या सही अर्थों मे पूर्णतः इंदिरा गांधी के नेतृत्व के पक्ष मे गये। इंदिरा कांग्रेस को प्रचण्ड 2/3

बहुमत लोकसभा म मिला जिसे प्रेक्षक अपनी राज्य म कभी कभी इस चुनाव को 'प्रधानमन्त्री का चुनाव' भी कह देते है। "मध्यावधि चुनाव के पूण प्रगतिशील नीतियो के पालन मे जो बाधाए बताई जाती थी, वे अब दो तिहाई से अधिक बहुमत मिलने पर नही रहेगी और प्रधानमत्री को अपने क्रातिकारी उपाय लागू करने का निद्वन्द्व अवसर मिलेगा।"

और चुनाव परिणामो की शव परीक्षा के उपरा त नयी सरकार अस्तित्व मे आ गयी— जनता की ओर से माग आने लगी—"चुनावो मे प्रधानमन्त्री की कल्पना तीत सफलता के पीछे कोटि कोटि मतदाताओ की व्यग्रता छिपी हुई है, उसे पहचाना जाये और अनुकूल स्थिति का पूरा पूरा लाभ उठाया जाये। इन्दिरा गाधी अपनी समाजवादी नीतियो के लिए जनता का जो आदेश चाहती थी, वह उन्हे मिल गया है और जिन ताकतो को वह रास्ते मे रोडा समझती थी, उनका सफाया हो गया है।" भारतवष के कोने कोने से यह आवाज आ रही थी—"मध्यावधि चुनावो के परिणामो से स्पष्ट हो गया है कि जनता बहुत दुखी है, इसी कारण उसने इन्दिरा गाधी के 'गरीबी हटाओ' रूपी समाजवाद के थोकवादो को ही औपधि मान कर काग्रेस के आगे लगातार पाचवी बार आत्म समपण किया है लेकिन यह समपण वह समर्पण नही है जो कि वह पिछले 21 वर्षो से काग्रेस को करती आ रही थी, बल्कि यह इदिरा गाधी के थोकवादो का सौदा है।"

अत ससद के बजट अधिवेशन मे ही 28 जुलाई, 1971 को लोकसभा मे दो सविधान सशोधन विधेयक पेश किये गये।

(4) 24 वॉ सशोधन अधिनियम —

जैसाकि पूर्व मे सकेत किया जा चुका है कि 27 फरवरी, 1967 के 'गोलकनाथ मुकदमे' मे सर्वोच्च न्यायालय के फलस्वरूप ससद को मूल अधिकारो के तृतीय अध्याय मे सशोधन का अधिकार नही रह गया था। इस फैसले को लेकर तब से ससद और ससद के बाहर अनेक स्तरो पर बहस चलती रही थी। अधिकतर ससद सदस्यो का मत था कि क्या बुनियादी नहीं है, इस पर अतिम निर्णय देने का अधिकार सुप्रीम कोर्ट को नही बल्कि ससद को होना चाहिए। 4 अगस्त 1971 को पारित 24वें सशोधन विधेयक का उद्देश्य भी ससद की सर्वोपरिता स्थापित कर समाज की प्रगति के माग मे आने वाले राहु केतुओ को हटाते हुए जनता को सामाजिक आर्थिक न्याय सुलभ कराना था। इस विधेयक को स्वर्गीय नाथ पै का 'स्थायी स्मारक' कहा गया है क्योकि सबसे पहले श्री नाथ पै ने ही ससद को चेतावनी दी थी कि जनमत की सर्वोपरिता कायम करने के लिए सविधान के बुनियादी अधिकारो म सशोधन करने का अधिकार ससद को सौपना जरूरी है। भारत जैसे विकासशील समाज म

बुनियादी अधिकार के नाम पर किसी ऐसी चीज को लादा नहीं जा सकता जो कि उसकी इच्छाओं और आकांक्षाओं के प्रतिकूल हो।

लोकसभा मे विधेयक को व्यापक समर्थन मिला। स्वतन्त्र, जनसंघ एव नाम जद सदस्य श्री फ्रेंक एंटनी को छोड़कर सभी ने विधेयक का समर्थन किया। बहस मे भाग लेते हुए श्री सिद्धार्थ शकर राय ने कहा 'जनतन्त्र मे ससद सर्वोच्च और सार्वभौम है और न्यायपालिका ससद से बडी नहीं है न्यायपालिका का काम कानूनो एव सविधान की व्याख्या करना मात्र है।' उन्होंने पडित नेहरू के इन शब्दो का भी उल्लेख किया कि "ससद के निर्णय पर कोई अदालत या न्यायाधीश फैसला नही दे सकता।' विधेयक पर बहस मे जनसंघ के नेता श्री अटल बिहारी वाजपेयी ने बोलते हुए कहा कि "सविधान ससद एव सर्वोच्च न्यायालय से उच्च है, अगर बुनियादी अधिकारो मे सशोधन करना ही है तो जनमत सग्रह द्वारा किया जाना चाहिए, तभी मेरा दल इसका समर्थन कर सकता है।' स्पष्ट है कि वाजपेयी भी सशोधन से तो सहमत थे परन्तु वे उसके तरीके से असहमत थे। इसी तरह कुछ सदस्यो व राजनैतिक पार्टियो ने यह शका व्यक्त की कि ससद को यह अधिकार देने मे कुछ खतरे भी उत्पन्न हो सकते हैं, जैसे कि अल्पसख्यको के बुनियादी अधिकारो को छीना जा सकता है, वाणी की स्वतन्त्रता रद्द की जा सकती है और परोक्ष रूप से एक तानाशाही कायम की जा सकती है। परन्तु ये आशकाए आलोचको के अनुसार बहुत हद तक तर्कहीन थी क्योकि कोई भी सरकार तभी ऐसा कर सकती है, जबकि उसे ऐसा करने के लिए जनमत से स्वीकृति प्राप्त हो। अगर जनमत ही गलत हो जाय या स्वय जनता ही तानाशाही कायम करने की इच्छा रखती हो तो इसमे सविधान क्या कर सकता है? सविधान के बावजूद भी तानाशाही कायम हो सकती है (जैसा कि 1975 मे हम देख चुके हैं) जनता की अन्तिम इच्छा के प्रतिकूल पड़ने पर सविधान एक कागज के पुर्जे से अधिक महत्व नही रखता। भारतीय जनमत की प्रतिभा को देखते हुए इस तरह की आशकायें फिजूल और अप्रासगिक प्रतीत होती है। लोकतन्त्र मे भारतीय जनता का विश्वास बहुत गहरा है और वह इसका प्रमाण दे भी चुकी है।

इस सन्दर्भ मे सविधान के बुनियादी अधिकारों मे सशोधन सम्बन्धी विधेयक का भारी बहुमत द्वारा पास हो जाना अप्रत्याशित नही था। विधेयक के पक्ष मे 384 और विरोध मे 23 मत पडे तथा सदन ने 25 के विरुद्ध 378 मतो से श्री वाजपेयी का यह सशोधन अस्वीकार कर दिया जिसमे इस मामले को सलाह के लिये सर्वोच्च न्यायालय मे भेजने की बात कही गई थी। उनका एक और सशोधन भी मौखिक मतदान द्वारा अस्वीकार कर दिया गया, जिसमे जनता की राय जानने के लिए विधेयक को प्रसारित करने की माग की गई थी। तत्कालीन प्रधानमंत्री श्रीमती गाधी ने इसे लोकतन्त्र के विकास मे एक मील का पत्थर करार दिया और कहा कि इससे

देश की गरीब जनता का भला होगा। उन्होने कहा कि, इस विधेयक से सविधान के बुनियादी अधिकार का किसी तरह का निरादर नही हुआ है। उन्होने अपना पक्ष पुष्ट करते हुए तर्क दिया कि इतिहास पर गौर करने से पता चलता है कि परिवर्तन को स्वीकार न कर पाने के कारण अनेक परम्परायें और सस्थाए नष्ट होकर रह गई हैं। उन्होने अल्पसख्यको के अधिकारो से सम्बन्धित शकाओ का समाधन प्रस्तुत करते हुए कहा कि ससद इनकी रक्षा कर सकती है, केवल सविधान मे इनका उल्लेख करना काफी नही। लोकतान्त्रिक अधिकारो तथा आदर्शों की दिशा मे जनता जितनी शिक्षित होगी, अल्पसख्यको के अधिकार उतने ही निश्चित होगे। श्रीमती गाँधी ने कहा कि परिवर्तन जीवन का सत्य है और हम चाहे या न चाहे, परिवर्तन को रोक नही सकते।

5 नवम्बर 1971 को यह विधेयक राष्ट्रपति के हस्ताक्षर के साथ अधिनियम बन गया।

इस अधिनियम के अन्तर्गत अनुच्छेद 13 एव 368 मे परिवर्तन किए गए हैं जो इस प्रकार हैं —

(i) सँविधान के अनुच्छेद 13 मे निम्न खण्ड (जो कि नम्बर 4 कहा गया है) जोडा है

"Nothing in this article shall apply to any amendment of this Constitution made under Article 368"

अत यह खण्ड स्पष्ट करता है कि अनुच्छेद 13 म अन्तर्निहित आदेश सवधानिक सशोधनो पर लागू नही होगा। सवैधानिक सशोधन इस धारा मे उल्लिखित शब्द 'कानून' (law) नही माना जायेगा और इसलिए यह अगर मूल अधिकारो को समाप्त या सीमित करता है, तो अवैध नही माना जावेगा।

(ii) अनुच्छेद 368 मे इसने निम्न परिवर्तन किए है —

अनुच्छेद 368 के 'मार्जीनल नोट' (या शीर्षक) के "Procedure to amend the Constitution" के स्थान पर अब निम्न शब्द होंगे

"Power of Parliament to amendment the Constitution and procedure thereof"

(iii) अनुच्छेद 368 मे निम्न क्लाज और जोडा गया है

"Notwithstanding anything in this Constitution, Parliament may in exercise of the constituent power amend by way of addition variation, or repeal any provision of this Constitution in accordance with the procedure laid down in this article"

(iv) अनुच्छेद 368 म पहले से उल्लिखित प्रावधान मे निम्न स्पष्टीकरण किया गया —

पहले का उल्लेखित प्रावधान	"It shall be presented to the President for his assent and upon such assent having given to the bill"
संशोधित प्रावधान	"It shall be presented to the President who shall give his a sent to the bill, and there upon '

(v) 368 में अनुच्छेद मे निम्न खण्ड भी जोडा गया जा इस तथ्य पर जोर देता है कि

"Nothing in article 13 shall apply to any am ndment made under this article

(5) 25 वा संशोधन अधिनियम —

24वें संशोधन अधिनियम का उद्देश्य 25वें संशोधन विधेयक के लिए वांछित धरातल तैयार करना भी था। इस विधेयक को यद्यपि 24वें संशोधन विधेयक के साथ ही प्रस्तुत कर दिया गया था फिर भी पाचवी संसद के दूसरे अधिवेशन मे ही काय सूची मे लिया गया।

विधयक के पाचवो लोकसभा के प्रथम अधिवेशन मे प्रस्तुत होने के बाद तत्कालीन केन्द्रीय विधि मत्री श्री एच आर गोखले ने लोकसभा मे बताया कि सम्पत्ति अधिग्रहण और उसे बेचन के अधिकारो के सम्बन्ध मे सविधान के अनुच्छेद 19(1) एफ की बाधा को हटाने के लिए विधेयक प्रस्तुत करने का फैसला किया गया है। विधेयक मे अनुच्छेद 31 की पुनर्व्याख्या करने के लिए अनुच्छेद 31 (2) और 31 (सी) जोडने का फैसला किया है। अनुच्छेद 31 की पहली धारा म मुआवजा ('Compensation') शब्द की यायालय द्वारा की गई व्याख्या स बचन के लिए इस शब्द को हटा कर 'राशि' (amount) शब्द लगाने की सावधानी बरती गई है और सम्पत्ति अधिग्रहण सम्बन्धी नियमो को न्यायालय की परिधि से बाहर रखने का अधिकार सरकार को दिया गया है। नयी व्यवस्था के अनुसार सम्पत्ति अधिग्रहण के सिलसिले में नियमानुसार जो राशि व्यक्ति को दी जायेगी, उसको इस आधार पर किसी न्यायालय मे चुनौती नही दी जा सकती कि वह पूरी नही है या नकदी में नही दी गई।' नयी धारा (31 सी) में नीति निर्देशक तत्वो की पूर्ति हेतु बनाये गय

सरकारी कानूनो को मूल अधिकारो की कीमत पर ऊंचा स्थान प्रदान किया गया है।[1]

किंतु लोकसभा के द्वितीय अधिवेशन के दौरान सरकार ने विधि आयोग के सुझावानुसार प्रस्तुत विधेयक में 2–3 संशोधन पेश करने का निश्चय किया—

---

1 By the Constitution (twenty fifth) Amendment Act clause (2) has b•en substituted Now Article 31(2) says "No property shall be comulsorily acquired or requisitioned save for a public purpose and save by authority of a law which provides for acquisition or requisitioning of the property for an amount which may be fixed by such law or which may be determined in accordance with such principles and givenin such manner as may be specified in such law and no such law shall be called in question in any court on the ground that the amount so fixed or determined is not adequate or that the whole or any part of such amount is to be given otherwise than in cash' After clause 2 (A) the following clause has been inserted

"2 (B) Nothing in sub clause (f) of clause (l) of Article 19 shall affect any such law as is referred to in clause (2) The Bill adds one new article viz article 31–C to the Constitution, It will read as follows 'Notwithstanding anything contained in article 13 no law giving effect to the policy of the State towards securing the principles specified in claase (b) or clause (c) of Article 39 shall be deemed to be void on the ground that it is inconsistent with or takes away or abridges, any of the rights conferred by Article 14 Article 19 & Article 31—and no law containing a declaration that it is for giving effect to such policy shall be called in question in any court on the ground that it does not give effect to such policy It has been further said that provided that ' where such law is made by the legislature of a State, the provisions of this Article shall not apply there to unless such law having been reserved for the consideration of the President, has received his assent"

(i) धर्म और भाषा के आधार पर किसी भी अल्पसंख्यक समुदाय द्वारा स्थापित और प्रशासनिक किसी भी विद्यालय की सम्पत्ति का जबर दस्ती अधिग्रहण करते समय 'बाजार भाव' (Market Value) से कम मुआवजा नही दिया जावेगा।

(ii) निदेशक सिद्धान्तो के अमल के लिए संसद या विधान सभाए जो कानून बनाए, वे दो तिहाई बहुमत से पास हो।

(iii) उन कानूनों का न्यायालय जाच सके कि वे निदेशक सिद्धान्तो के अनुकूल हैं या नही।

परन्तु विधयक के लोक सभा में बहस हेतु प्रस्तुत किए जाने के एक दिन पूर्व ही सत्तारूढ काग्रेस संसदीय दल के कड़े विरोध के परिणामस्वरूप सरकार को विधेयक के तीन प्रस्तावित संशोधनो को वापिस लेना पड़ा। काग्रेस कार्यकारिणी के अधिकाश सदस्यो ने उसे मूल रूप में ही पास करने का आग्रह किया, अन्यथा चेतावनी दी कि संशोधन का मूल आग्रह और आत्मा ही समाप्त हो जावगी। विशेष तौर से उग्रपथी युवा वर्ग ने आरोप लगाया कि निहित स्वार्थी तत्त्वो के दबाव में आकर सरकार विधेयक के मूल उद्देश्य नष्ट करना चाहती है। श्री चन्द्र शेखर, अमृत नाहटा, डी पी सिंह और कृष्णकात ने उपयुक्त तीन संशोधनो को पेश करने के लिए सरकार की आलोचना की। फलत सरकार को अगले ही दिन उन संशोधनो को जिनकी सूचना विधि मन्त्री दे चुके थे, वापिस लेना पड़ा। श्री गोखले ने अपने संक्षिप्त भाषण में 25वें संशोधन विधेयक को सवैधानिक इतिहास का सीमा चिन्ह बताते हुए इसे नये युग का सूत्रधार घोषित किया। श्री गोखले ने बताया कि इस विधेयक की आवश्यकता बैंक राष्ट्रीयकरण केस' में सर्वोच्च न्यायालय के फैसले के कारण पड़ी।[1]

तत्कालीन शिक्षा मन्त्री श्री सिद्धार्थ शकर राय ने कहा कि विधयक सवैधानिक दृष्टि से सही, आर्थिक दृष्टि से उचित और नैतिक दृष्टि से न्यायपूर्ण है। सदन में कुछेक आलोचनाओ को छोडकर सम्पूर्ण सदन का अतुल समर्थन विधयक को मिला और इस प्रकार सविधान में 25 वा संशोधन 20 के मुकाबले 351 मतो के भारी बहुमत से पारित कर दिया गया, जिससे सीमा से अधिक सम्पत्ति को सार्वजनिक कार्यों के लिए बाजार दर पर मुआवजा दिए बिना ही अधिग्रहित किया जा सकेगा

1 The 25th amendment bill is a land mark in constitutional history, beginning a new era, a measure would remove the road-blocks to social justice in the battle between haves and havenots"

और उसे न्यायालय मे चुनौती भी नही दी जा सकेगी। इस प्रकार हम इस निष्कष पर पहुचते हैं कि सम्पत्ति के अधिकार जो पहले मूल अधिकार था, इस सशोधन के परिणामस्वरूप, के धरातल और वायुमण्डल को परिवर्तित कर दिया गया है। राष्ट्रपति की स्वीकृति के साथ यह भी अधिनियम बन गया।

(6) सघर्ष की स्थिति समाप्त सर्वोच्च न्यायालय द्वारा केशवानन्द भारती मुकदमे का निर्णय—

An End of an Era of Confrontation —

चूकि गोलकनाथ निर्णय मे न्यायाधीश हिदायतुल्ला की धारणा थी ससद को मूल अधिकारो को समाप्त या सीमित करने की शक्ति प्रदान करने वाला कोई भी सशोधन भविष्य मे असफलता से ग्रसित हो सकता है, क्योकि यह ऐसा प्रयत्न समझा जा सकता है जो कि वह अप्रत्यक्ष मे करना चाहे जो कि प्रत्यक्ष मे नही किया जा सकता। इसी प्रकार भूतपूर्व मुख्य न्यायाधीश सुब्बाराव ने भी मत व्यक्त किया था कि ससद सविधान की धारा 368 को सशोधित करके भी उस कम नही कर सकती क्योकि जो काम एक कदम मे नही किया जा सकता उसे दो कदमो मे भी नही किया जा सकता। अत जब सर्वोच्च न्यायालय मे 24 वें, 25वें, व और भी सवैधानिक सशोधनो की वैधता को चुनौती दी गई, यह एक जटिल प्रश्न था कि क्या वह अब गोलकनाथ निर्णय की घोषणा का उल्लघन किए जाने के आधार पर इन सशोधनो को अवध करार देगा अथवा उस निर्णय को रद्द करते हुए या अक्रियान्वित (inoperative) करते हुए अपनी स्थिति पर दुबारा विचार करेगा।

और अन्त मे, केशवानन्द भारती बनाम केरल राज्य[1] के मुकदमे मे 23 अप्रेल, 1973 को सर्वोच्च न्यायालय की 13 सदस्यीय सवैधानिक पीठ ने 1 700 पृष्ठो के 11 निर्णयो मे बहुमत से स्वीकार कर ही लिया कि ससद को मूल अधिकारों मे इस प्रकार सशोधन करने का अधिकार है जिससे सविधान के मूल स्वरूप या उसकी भावना मे परिवतन न हो परन्तु न्यायालय ने अपना यह अधिकार सुरक्षित रखा कि वह इस बात की छानबीन कर सके कि यह सशोधन वंध है या नही। निर्णय के प्रमुख मुद्दे निम्नाकित हैं—

(1) सवसम्मति से यह पाया गया कि मूल अधिकार सशोधनीय हैं। अत गोलकनाथ निर्णय रद्द किया गया तथा चौबीसवा सशोधन विधेयक 1971 को वैध घोषित किया गया।

---

1 (1973) 2 एस० नि० प० 1910, A I R 1973 Supreme Court 1461,

(ii) 13 न्यायाधीशों में से 9 ने यह निर्णय दिया कि अनुच्छेद 368 संसद को संविधान के मूल ढांचे में परिवर्तन (to alter the "basic structure or frame work of the Constitution") का अधिकार प्रदान नहीं करता है।

(iii) 25वें संशोधन अधिनियम 1971 के सेक्शन 2 की प्रथम दो धाराएं (अ व ब) वैध हैं जिसके अन्तर्गत अनुच्छेद 31 (2) में 'मुआवजे' ('compensation') शब्द की जगह 'राशि' ('amount') शब्द रखा गया था।

(iv) 25वें संशोधन अधिनियम 1971 के सेक्शन 3 का प्रथम खण्ड वैध है किन्तु इसका द्वितीय खण्ड अर्थात् अनुच्छेद 31 (सी) का द्वितीय भाग चार के मुकाबले 9 के बहुमत से अवैध घोषित किया गया, जिसमें अनुच्छेद 39 (बी) (सी) में लिखित नीति निर्देशक तत्वों को लागू करने वाले नियम को न्यायालय के क्षेत्र से बाहर रखा गया था।[2] अतः अब अनुच्छेद 31 (सी) न्यायिक पुनरावलोकन के लिये खुला हुआ है।

(v) 29वें संशोधन अधिनियम को वैध घोषित किया गया।

(vi) 26 वें संशोधन अधिनियम के निर्णय का अधिकार 5 न्यायाधीशों की संवैधानिक पीठ को दिया गया।

इस प्रकार इस निर्णय के सम्भावित परिणामों को इस प्रकार देखा जा सकता है —

(i) संविधान के किसी भाग में संशोधन करने की संसद की शक्ति की उद्घोषणा करते हुए भी सर्वोच्च न्यायालय अपने पास इन सब संशोधन किये जाने वाले विधायी कार्यों के न्यायिक पुनरावलोकन का अधिकार रखता है।

(ii) सर्वोच्च न्यायालय इस बात का निर्धारण तथा निर्णय देने में अंतिम सत्ता होगा, कि संविधान के मूल ढांचे में परिवर्तन की मात्रा किस सीमा तक समझी जावेगी।

---

2 The words "and no law containing a declaration that it is for giving effect to such policy shall be called in question in any court on the ground that it does not give effect to such pol cy", were struck down as unconstitutional and invalid

(iii) न्यायपालिका इस प्रकार के कदमों के पुनरावलोकन का अधिकार रखेगी, जो यह घोषित करते हों कि ये वास्तविक रूप से राज्य के नीति-निदेशक तत्वों को क्रियान्वित करने की दृष्टि से उठाये गये हैं[5]।

(iv) न्यायाधीशों ने यह स्पष्ट कर दिया है कि यद्यपि यह तृतीय सदन के रूप में नही बैठे हैं, तो भी, वे अपने इस अधिकार को सुरक्षित रखेंगे जिसके अन्तर्गत इस प्रकार के कानून को चुनौती दी जाती है, जो कि व्यवस्थापिका के स्वयं के द्वारा ही निर्मित समानता व न्याय के आधार को आघात पहुचाता है। अतः वर्तमान परिस्थिति मे सर्वोच्च न्यायालय ने 'सतुलित दृष्टिकोण (a balanced view of its own role) अपना कर एक अनुकूल वातावरण बनाया है।

(v) तो भी, इन बातों के बीच स्पष्ट रेखा खींचना अत्यन्त मुश्किल और कष्टदायक होगा सविधान के सशोधन तथा इसके मूल स्वरूप मे परिवर्तन करने के बीच (between an amending the Constitution and changing its basic character), मूल अधिकारों को सीमित करने तथा उनको पूर्णत समाप्त करने के बीच (between an abridgement of Fundamental Right and their total abrogation), तथा सामाजिक आर्थिक सुधारों और मूल विधि के लोकतान्त्रिक चरित्र की सुरक्षा के बीच (between socio-economic reforms and safeguarding the democratic character of the basic law)।

(vi) केवल वहाँ जहाँ सरकार का प्रत्येक अग अपने अधिकारों की उत्साह के साथ सुरक्षा करता है तथा साथ ही अन्य अगो के अधिकारो की सुरक्षा करने के लिए मजबूर किया जाता है, वस्तुत नागरिक स्वतन्त्रता प्राप्त कर सकते हैं तथा लोकतन्त्र जीवित रह सकता है। किसी एक अंग को अन्य दो अगो पर पूर्ण मालिकापान हक प्राप्त कर लेने की इजाजत नहीं दी जानी चाहिए।

(vii) इस समय मात्र सम्पत्ति का अधिकार ही खतरे मे हैं, न कि व्यक्तिगत स्वतन्त्रता, समानता व भाषण की आजादी के अधिकार।

(viii) अगर सरकार सामाजिक आर्थिक सुधारों की क्रियान्विति में अब असफल होती है, तो वह उसकी स्वय की सामर्थ्य हीनता समझी जावेगी, न कि कोई सवैधानिक प्रतिबन्ध।

(ix) अ त म अभी मूल अधिकारों के संशोधन सम्बन्धी निर्णयों की कड़ी में यह अंतिम निर्णय नहीं है क्योंकि सर्वोच्च न्यायालय के लिए अपने पूर्ववर्ती निर्णय नजीर मात्र हैं। फिर भी वास्तव में सर्वोच्च न्याया लय के इस निर्णय ने निस्सन्देह ही संघर्ष की स्थिति को समाप्त करने की शुरूआत की।

(7) संविधान के मूल ढांचे में संशोधन करने के अधिकार का निरुत्तर प्रश्न —

श्रीमती गांधी ने रायबरेली चुनाव के सिलसिले में इलाहाबाद उच्च न्यायालय के फैसले के विरुद्ध सर्वोच्च न्यायालय में जो याचिका दाखिल की थी, उसकी सुनवाई 25 अगस्त 1975 को पुन शुरू हुई। पिछली सुनवाई 11 अगस्त को हुई थी और उसे न्यायालय ने इसलिए स्थगित कर दिया था ताकि प्रतिवादी श्री राजनारायण के वकील श्री शांतिभूषण 21 अगस्त तक संविधान के 39 व संशोधन अधिनियम (1975) और चुनाव कानून संशोधन 1975 के विषय में अपनी प्रस्थापनाएं प्रस्तुत कर सकें। श्रीमती गांधी के वकील श्री ए के सेन ने 39 वें संशोधन की मुख्य व्यवस्थाओं का जिक्र करते हुए कहा कि उसके ■ दम म मुकदमे का फैसला किया जाना चाहिए। यानी उनका आग्रह था कि संशोधन के बाद मुकदमे पर विचार करने का न्यायालय का अधिकार खत्म हो गया है।

श्री राजनारायण के वकील श्री शांतिभूषण ने 39 वें संशोधन की वैधता पर आक्रमण किया उन्होंने 1973 के केशवानन्द भारती के उस मुकदमे का जिक्र किया जो मूल अधिकारों से संबंधित था और जिसमे 13 न्यायाधीशों म से 7 ने अपना फैसला देते हुए कहा था कि अनुच्छेद 368 के अन्तर्गत संसद को संविधान मे ऐसा कोई संशोधन करने का अधिकार नहीं है, जिससे उनका मूल ढांचा बिगड़ता हो। श्री शांतिभूषण न यह दलील दी कि संविधान में जो संशोधन किया गया है, उससे उसका मूल ढांचा प्रभावित होता है। चूंकि न्यायिक समीक्षा और लोकतन्त्र दोनों ही संविधान के मूल तत्व हैं। अत एक संविधायी संस्था द्वारा इन दोनों को प्रभावित करने वाला कोई संशोधन न्यायोचित नहीं है।

महाधिवक्ता श्री नीरेन डे ने तर्क दिया कि विचाराधीन संशोधन से संविधान के मूल ढांचे पर कोई भी विपरीत असर नहीं पड़ता। यह संशोधन न तो संसद के अधिकारों और विधायिका की क्षमता से बाहर है और न ही इससे समानता की मौलिक धारणा को हानि पहुंचती है।

19 सितम्बर, 1975 को सर्वोच्च न्यायालय की 5 सदस्यीय खण्डपीठिका ने संविधान के 39वें संशोधन पर अपना मत व्यक्त करते हुए प्रधान मन्त्री श्रीमती इन्दिरा गांधी के अभियोग के तथ्यों के सिलसिले में दोनों पक्षों के वकीलों को प्रकाश डालने का आदेश दिया क्योंकि न्यायाधीशों के अनुसार इससे संवैधानिक संशोधन

के सम्ब ध मे वास्तविकता को समझने मे मदद मिलेगी । इस सदभ मे उन्होने श्री शातीभूषण के इस अनुरोध को स्वीकार नही किया कि सवैधानिक सशोधन पर न्यायालय पहले अपना फसला दे ।

21 अक्टूबर, 1975 को सर्वोच्च न्यायालय ने रायबरेली के चुनाव से सम्बद्ध प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गाधी की अपील पर अपने निणय को आरक्षित करते हुए यह आदेश दिया कि 10 नवम्बर, 1975 से सविधान मे सशोधन करने के ससद के अधिकार की पुनसमीक्षा की जायेगी । यह काय 10 नवम्बर से चलेगा इस आदेश मे कहा गया कि न्यायालय दो मुद्दो पर तक की सुनवाई करेगा—(1) जैसा कि केशवानन्द भारती के मुकदम मे प्रतिपादित किया गया था कि क्या ससद का सविधान मे सशोधन करन का अधिकार मूल ढाचे के सिद्धान्त से बाधित होता है । और (2) क्या बैंक राष्ट्रीयकरण के मुकदमे मे सही निणय दिया गया था ?

7 नवम्बर, 1975 को सर्वोच्च न्यायालय की पाच सदस्यीय खण्डपीठ[1] ने श्रीमती गाधी के रायबरेली लोकसभाई चुनाव, 1971 को वैध ठहराते हुए इलाहाबाद उच्च न्यायालय के फसले को सवसम्मति से निरस्त कर दिया तथा 39 वें सशोधन अधिनियम को सिवाय क्लाज 4 के, वध करार दिया । इस खण्डपीठ मे केवल मुख्य न्यायाधीश श्री ए एन रे ने इस सशोधन विधयक के प्रथम तीन क्लाजो पर अपनी टिप्पणी दी । इनके अनुसार इन क्लाजो के सम्बन्ध मे ससद ने अपनी सीमाओं का उल्लघन नही किया ।

जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं कि केशवनन्द भारती के मुकदमे मे 6 न्यायाधीशो ने यह निणय दिया था कि सशोधन का अधिकार सर्वांगीण (प्लनरी) है और उसमे स कोई सीमा निकाल कर उसे बाधित नही किया जा सकता । 6 अन्य न्यायाधीशो ने यह निणय दिया कि मौलिक अधिकारो सहित सविधान के जो मूल तत्व हैं उन्ह सशोधन की किसी प्रक्रिया से समाप्त नही किया जा सकता । 13 वें न्यायाधीश श्री एच आर खन्ना इस नतीजे पर पहुचे थे कि सशोधन करने के अधिकार मे सविधान को रद्द करने (एब्रोगेट) का अधिकार शामिल नही है न ही उसमें सविधान के मूल तत्व या ढाचे को परिवर्तित करने का मूल अधिकार शामिल है ।

श्री खन्ना इस नतीजे पर भी पहुचे थे कि सविधान के मूल ढाचे को रक्षित करते हुए सशोधन का अधिकार सर्वांगीण होगा और इसमे सविधान के विभिन्न

---

1 'इन्दिरा नेहरू गाधी बनाम राजनारायण (1976) । उम नि प 1/A I R 1976 Supreme Court 1207

अनुच्छेदों को संशोधन करने का अधिकार होगा। इसमे वे विषय भी शामिल हैं जिनका सम्बन्ध मूल अधिकारों से हैं। मौलिक अधिकारों के किसी भी अंश को लेकर इस आधार पर कि वे उस अधिकार के मूल तत्व हैं, यह दावा नहीं किया जा सकता है कि वे अधिदेशात्मक (मैनडेटरी) प्रक्रिया की गिरफ्त से मुक्त हैं।

श्री खन्ना ने यह भी कहा था कि सम्पत्ति का अधिकार संविधान के मूल ढाचे में नहीं आता और नैसर्गिक या मानवीय अधिकारों के नाम पर संशोधन के अधिकारों को बाधित नहीं किया जा सकता।

उन न्यायाधीशों के विभिन्न निर्णयों और उनकी विभिन्न भाषा के कारण अदालतों और वकीलों के लिए यह परिभाषित और निश्चित करना मुश्किल हो गया था कि संविधान के वे मूल तत्व क्या हैं जिन्हे परिवर्तित नही किया जा सकता। अब सर्वोच्च न्यायालय की सम्पूर्ण पीठ इस बात का फैसला करेगी कि क्या मूल ढाचे का सिद्धान्त संशोधन के अधिकार को बाधित करता है, इसका अर्थ यह भी होता है कि न्यायालय केशवनन्द भारती के मुकदमे पर भी पुनर्विचार कर सकता है और पूर्व निर्णय को उलट सकता है। इस मामले मे वह न परिवर्तित किये जा सकने वाले संविधान के मूल तत्वों का स्पष्टीकरण भी कर सकता है और उन्हे परिभाषित भी।

न्यायालय ने यह स्पष्ट कर दिया कि सुनवाइयां सीमित दिनों तक होगी। यानी पांच दिन अपीलकर्ताओ के मौखिक तर्क के लिए, पांच दिन केन्द्र और राज्य की सरकारो के लिए और पांच दिन दोनों तरफ के जवाबों की प्राप्ति के लिए।

संविधान की मूल ढाचे सम्बन्धी पुनर्समीक्षा का आदेश सर्वोच्च न्यायालय की उस खण्डपीठ ने दिया जिसकी अध्यक्षता स्वयं मुख्य न्यायाधीश श्री ए एन रे कर रहे थे। उन्होने यह आदेश दिया कि कुछ सिविल अपीलें और याचिकाएं जो कि फैसले के लिए न्यायालय मे पडी हैं, 10 नवम्बर को सुनवाई के लिए प्रस्तुत की जाय। उनके संग में इस विषय पर विचार होगा तथा इस बात पर भी विचार किया जायेगा कि क्या 1970 मे बैंक राष्ट्रीयकरण के मामले मे सही निर्णय दिया गया था। इस प्रकार के मुद्दो की संख्या और उनका सम्बन्ध ज्यादातर उद्योगो के राष्ट्रीयकरण और मुआवजे के भुगतान के कानूनो से था। इस तरह के मुकद्दमे कोयला खानों तथा कपडा और चीनी मिल के मालिको ने दायर कर रखे थे उनमे से कुछ मुकद्दमे तो 1971 से ही निर्णय की इन्तजार मे थे। इन मालिकों ने उद्योगो के राष्ट्रीयकरण के सरकारी फैसले को चुनौती दी थी। उन्हें विश्वास था कि 1973 मे केशवानन्द भारती के मुकद्दमे मे और 1970 मे बैंक राष्ट्रीयकरण के मुकद्दमे में सर्वोच्च न्यायालय ने जो फैसले दिये, उनसे उनके संस्थानों के राष्ट्रीयकरण के बाद मुआवजे के भुगतान के प्रश्न पर न्यायालय में अनुकूल निर्णय हो सकता है। आमतौर

पर अपीलकर्ताओ और याचिका दाखिल करने वालो को यह विश्वास था कि सार्वजनिक उद्देश्य से सरकार ने जो सम्पत्ति अधिग्रहीत की, उसका मुआवजा एकपक्षीय या भ्रातिवार (इल्यूजरी) होने की जगह पर वास्तविक और उचित होना चाहिए।

भारत सरकार की पैरवी करने वाले महान्यायवादी श्रीनीरेन डे और महानुप्रार्थी लालनारायण सिन्हा अन्य मुकद्दमो के सिलसिले मे केशवानन्द भारती तथा बक राष्ट्रीयकरण के मुकद्दमो के फैसलो पर निरन्तर पुनर्विचार करने का आग्रह कर रहे थे। उनका तर्क यह भी था कि इन दोनो मुकद्दमो मे सही फैसले नही दिये गये और उन पर पुनर्विचार करने की आवश्यकता है। कुछ और मुकद्दमो के सिलसिले मे भी श्री डे ने यह दलील दी थी कि न्यायालय को केशवानन्द भारती के मुकद्दमे के फैसले पर पुनर्विचार करना चाहिए क्योकि सर्वोच्च न्यायालय से लेकर उच्च न्यायालयो तक मे ऐसे अनेक मुकद्दमे दाखिल किये है जिनमे विभिन्न कानूनो और अनुच्छेदो को इस आधार पर चुनौती दी गयी है कि वे सविधान के मूल ढाचे का अतिक्रमण करते हैं।

सम्पत्ति के अधिकार के प्रसग मे अनुच्छेद 31 म किये गये 25 वें सशोधन पर आक्रमण करते हुए कहा गया था कि उसमे मुआवजा' शब्द की जगह पर राशि' शब्द रख दिया गया है और इस प्रकार राज्य को यह अधिकार प्राप्त हो गया है कि वह बिना कोई मुआवजा दिये हुए किसी की भी सम्पत्ति जब्त कर सकता है और इस प्रकार 19 (1) के अन्तगत जिन अधिकारो की गारन्टी दी गयी है वे समाप्त किये जा सकते है। सशोधन के औचित्य को सिद्ध करने वालो का तर्क दूसरा था। उनके अनुसार 'मुआवजा' शब्द अनुच्छेद 31 (2)] पर बहस के दौरान सविधान सभा मे इस भय की अभिव्यक्ति हुई थी कि यदि बाजार दर से राज्य को पूरा मुआवजा देना पडा तो उसकी वजह से उसके ऊपर बहुत बोझ आ पडेगा क्योकि प्राय बाजार भाव बहुत बढा चढा होता है। उस उक्त यह गम्भीर आशका व्यक्त की गई थी कि यदि मुआवजे की राशि का फैसला अदालतो को करना होगा तो राज्यो को आदेश दिया जायेगा कि वे बाजार कीमत से पूरे मुआवजे का भुगतान करें। इस पर स्वर्गीय पडित जवाहरलाल नेहरू ने सविधान सभा मे कहा था कि "विद्वान वकीलो ने हमें यह बताया कि इस उपखण्ड के उचित विन्यास के बाद आमतौर पर न्यायालय न तो इसमे आता है, न ही उसे आना चाहिए। मुआवजा या मुआवजा देने के सिद्धात का निर्णय ससद करती है और उन्हें आम तौर पर चुनौती नही दी जानी चाहिए।'

तमिलनाड सरकार ने 10 नवम्बर 1975 को सर्वोच्च न्यायालय की पूरी पीठ के सामने यह दलील दी कि सात मूल तत्व हैं जो कि सविधान को अपरिवत्-

नीय ढाचा ('unalterable infr.. stru ure) प्रदान करत हैं किन्तु यह बात भी भी कही कि सम्पत्ति का अधिकार मूल तत्वो म नही हैं तथा इन्हें समाप्त किया जा सकता है। उनके अनुसार ये मूल तत्व हैं —

(1) गणतन्त्रीय एव लोकत त्रीय सरकार तथा सविधान का धर्म निरपेक्ष चरित्र।

(ii) सविधान की सघवाद प्रवृत्ति।

(iii) विधि नियम की मान्यता।

(iv) केन्द्रीय एव प्रान्तो के स्तर पर सरकार के तीनो अगों मे शक्तियो का पृथक्करण।

(v) न्यायिक पुनरावलोकन की अवधारणा की प्रमुखता।

(vi) विभिन्न स्वतन्त्रताओ, मूल अधिकारो तथा निर्देशक सिद्धान्तो (सिवाय सम्पत्ति अधिकार के) से सुरक्षित व्यक्ति का सम्मान, और

(vii) चुनाव कानून की स्वच्छ, निष्पक्ष एव स्वतन्त्र पद्धति तथा विधि के अधीन नागरिकों की समानता।

द्वितीय प्रश्न जो कि 1969 के 'बैंको के राष्ट्रीयकरण सम्बन्धी मुकदमे' के निर्णय की सत्यता से सम्बन्धित था, तामिलनाडु सरकार के एडवोकेट जनरल श्री गोविन्द स्वामीनाथन तथा श्री ए वी रगम ने यह मत अभिव्यक्त किया कि इस मामले म तमिलनाडु सरकार भारत सरकार के महाधिवक्ता के मत का समर्थन करेंगे।

श्री ए० एन० पालकीवाला, जो कि एक नजरबन्दी तथा कुछ कोयला खाना (जिनका राष्ट्रीयकरण कर दिया गया था) के मालिकों की ओर से पैरवी कर रहे थे, ने सर्वोच्च न्यायालय की पूरी पीठ के समक्ष प्रारम्भिक आपत्तिया उठाई जो कि सविधान मे सशोधन करने की ससद की शक्ति के प्रश्न पर केन्द्रित थी। इन्होने कहा कि न्यायालय अपने मूल अधिकारो के निर्णय पर पुनर्विचार नही कर सकता, जबकि इस निर्णय के प्रकाश मे निर्णित होने हेतु कुछ मामले सविधानिक पीठ के समक्ष विचाराधीन हैं। अगर पूरी पीठ भी ऐसा कर 'सकती' हो, तो भी उसे ऐसे समय नहीं करना 'चाहिए।' उनके अनुसार अगर यह अपने 1973 के निर्णय को बदल देगी तो एक अनहोनी स्थिति उत्पन्न हो जायेगी। उन्होंने दलील दी कि एक ही समय दो विपरीत निर्णय लागू नही किये जा सकते।"

कर्नाटक सरकार ने मत व्यक्त किया कि ससद की सविधानीय शक्ति असीमित है। उसे सविधान के स्वरूप का (अपनी इस शक्ति के कारण) अंतिम निर्णायक होना चाहिए।

अत्यन्त नाटकीय ढंग से, सर्वोच्च न्यायालय में 13 नवम्बर 1975 को प्रातः मुख्य न्यायाधीश श्री ए. एन. रे ने यह घोषणा की कि केशवानन्द भारती के निर्णय की समीक्षा कर रही 13 न्यायाधीशों वाली बेंच को भंग किया जाता है। इस घोषणा में मुख्य न्यायाधीश महोदय ने कहा कि गत दो दिनों में काल्पनिक रूप में तर्क पेश किए जा रहे थे। उन्होंने निर्देश दिया कि प्रथमतः सवैधानिक पीठ आंध्र प्रदेश के मामले को सुनेगी, जहाँ कि मूल ढाँचे का प्रश्न उठाया गया था। तत्पश्चात् अगर इस सवैधानिक पीठ का ऐसा मत होगा, तो इससे बड़ी पीठ बैठेगी।

(8) 42वाँ संविधान (संशोधन) अधिनियम
निदेशक तत्वों के मुकाबले मूल अधिकारों का अवमूल्यन
(Devaluation of Fundamental Rights Vis a Vis Directive Principles)

आपातकाल में प्रस्तुत 44 वें संविधान विधेयक (जो पारित होने पर 42वाँ संशोधन अधिनियम घोषित किया गया) के उद्देश्यों एवं कारणों में बताया गया था कि संविधान में अन्तर्निहित जनतान्त्रिक संस्थाओं में से किसी की निम्नता करने का इरादा नहीं है। (It was not intended to 'denigrate' any of the democratic institutions provided in the Constitution') लेकिन वास्तव में 42वें संशोधन अधिनियम द्वारा मूल अधिकारों पर जो प्रहार किये गये हैं, उनसे इनका महत्व नगण्य हो गया है। इस तथ्य से कोई इन्कार नहीं कर सकता है कि मूल अधिकार लोकतन्त्र के आधारों में से एक महत्वपूर्ण आधार है (One of the foundations of democracy), क्योंकि इनसे लोगों की व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की राजनीतिक सत्ता के मुकाबले रक्षा (to ensure the freedom of the people individually against the collective weight of the political authority which the people set up for themselves under the lable of democracy) होती है। इसे भी कोई अस्वीकार नहीं कर सकता कि भारत अधिकारों की शाश्वत घोषणा (Universal Declaration of Rights, 1948) तथा मानव अधिकारों के सरक्षण के अन्तर्राष्ट्रीय प्रपत्र का एक पक्ष होने के कारण इस बात से प्रतिज्ञाबद्ध है कि "मानव-परिवार के समस्त सदस्यों के अटूट अधिकारों की मान्यता दुनिया की आजादी, न्याय व शांति की आधारशिला है।" इससे पूर्व 41वें संशोधन अधिनियम, 1976 द्वारा केन्द्र एवं राज्यों द्वारा बनाये गये 64 कानूनों को नवीं अनुसूची में शामिल किया जाकर न्यायिक समीक्षा से बाहर कर दिया गया था।

इससे तनिक ही स्पष्ट हो सकता है कि अध्याय 3 के मूल अधिकारों को 1949 के मूल संविधान में महत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया गया था तथा इन्हें

अनुच्छेद 13 (2) द्वारा न्यायिक सुरक्षा प्रदान की गई थी। इसके अपवाद केवल अनुच्छेद 33 (Armed Forces), अनु 34 (Martial Law) एव अनु 358 359 (Emergency) थे। लेकिन 42 वें सशोधन अधिनियम द्वारा इन्हे अनुच्छेद 31-A, 31-B (नवी अनुसूची के साथ), 31-C, 31-D एव 51-क (मूल कर्त्तव्य) आदि अपवादो से भी सीमित कर दिया गया।

(a) यद्यपि अनु '31 A' एव '31 B' 1951 मे ही शामिल कर लिये गये थे तथा भूमि सुधार सम्बन्धी व्यवस्थापन को करीब करीब मूल अधिकारो तथा न्यायिक पुनरावलोकन के क्षेत्र से बाहर कर दिया गया था। लेकिन जहाँ 1974 तक अनु '31 B' अनु 31 A' की भाति केवल भूमि सुधार तक ही सीमित था, वहा 1975 76 मे सरकार ने 1951 के प्रथम सविधान सशोधन अधिनियम के उद्देश्यो एव कारणो की अनदेखी कर दी तथा 1973 म केशवानन्द भारती के मामले मे सर्वोच्च न्यायालय द्वारा दी गई इस राय का कि अनु '31 B' मात्र अनु '31-A' के अन्तर्गत आने वाले मामलो तक ही सीमित नही है, का लाभ उठाया और जन प्रतिनिधित्व अधिनियम (Representation of the People Act), एकाधिकार एव निषेधात्मक व्यापार चलन अधिनियम (Monopolies and Restrictive Trade Practices Act), आन्तरिक सुरक्षा अधिनियम (MISA), विदेशी मुद्रा नियमन अधिनियम (Foreign Exchange Regulation Act) आदि को 39वें सविधान सशोधन द्वारा तथा 'मोटर व्हीकल्स एक्ट एव आपत्तिजनक सामग्री प्रकाशन निषेध अधिनियम, 1976 (Objectionable Matter Act, 1976) को 40वें सशोधन अधिनियम द्वारा इन विभिन्न अधिनियमो को नवी अनुसूची मे शामिल करके न्यायिक पुनरावलोकन के क्षेत्र से बाहर कर दिया। तात्पर्य यह है कि चू कि नवी अनुसूची को विस्तृत करने की प्रवृत्ति को काफी बढा दिया गया, अत सरकार जब चाहे किसी भी विषय से सम्बन्धित विशेष अधिनियम को जिसे वह *सामाजिक एव* आर्थिक उन्नति के लिए आवश्यक समझे, मूल अधिकारो एव न्यायिक पुनरावलोकन से बाहर कर सकती है।

(b) इसी प्रकार क्या 42वें सशोधन द्वारा अनुच्छेद '31 C' मे परिवतन करके इसे अपने अतिवाद पर पहुचाने की कोई आवश्यकता थी? अनु '31 C' वस्तुत 25वें सविधान (सशोधन) अधिनियम, 1971 द्वारा अनु 39 के खण्ड (b) एव (ग) मे *उल्लिखित निदेशक तत्वो की क्रियान्विति हेतु बनाये गये* किसी विधायन को अनु 14, 19 एव 31 के क्षेत्र से बाहर करने हेतु सविधान मे शामिल किया गया था ताकि निजी सम्पत्ति को पूजीवादी बुराइयो तथा इस पर आधारित आर्थिक व्यवस्था को समाप्त किया जा सके। जनता ने इसका कोई विरोध भी नही किया तथा न्यायालय ने भी इसे 'केशवानन्द भारती' के मामले मे वैध ठहराया। किन्तु

42वें सशोधन अधिनियम ने अनु '31-C' को अध्याय 4 मे वर्णित किसी भी निदेशक तत्व की क्रियान्विति हेतु लाये गये विधायन को भी शामिल करने हेतु विस्तृत कर दिया और इस प्रकार इस सशोधन अधिनियम द्वारा सभी निदेशक तत्वो को मूल अधिकारो पर प्राथमिकता प्रदान कर दी गई । सशोधन विधेयक के उद्देश्यो एव कारणो के अनुसार यह 'सामाजिक-आर्थिक सुधार (Socio economic reform)' या गरीबी व अज्ञानता को दूर करने वाली क्रांति (revolution which would end poverty and ignorance) को प्राप्त करने हेतु आवश्यक था । लेकिन वास्तव मे 'सभी' निदेशक तत्व 'इस उद्देश्य' से ही सम्बन्धित नही है । अर्थात् इस अधिनियम के पश्चात् अब कहा जा सकता है कि एक नागरिक को, ऐसी शर्त की क्रियान्वित हेतु लाये गये विधेयक की, जो चाहे राष्ट्र के विरुद्ध कितनी भी असम्मान जनक हो और जिसके द्वारा चाहे कितना ही प्रदेश विदेशी राज्य को दे दिया जाये (अनु 51) अथवा कोई भी ऐसा व्यवस्थापन, जिसके द्वारा कार्यपालिका को न्याय पालिका से पृथक करने की व्यवस्था हो (अनु 50), अथवा ऐसे विधेयक जिसमे ग्राम पचायतो को शक्तिया प्रदान करने की बात हो (अनु 40) आदि, आदि की आलोचना करने अथवा अपना विरोध जाहिर करने की आजादी प्राप्त नही होगी, भले ही जबकि वास्तव मे इस प्रकार की विधियो से 'सामाजिक-आर्थिक क्रान्ति का कोई दूर का सम्बन्ध नही है, जिसके कारण अनु '31-C' को व्यापक किया गया ।

यह स्पष्ट है कि निदेशक तत्वो के क्षेत्र (इनकी सख्या भी 42 वें सशोधन अधिनियम द्वारा '39 A' व '48 A' आदि को शामिल करके बढा दी गई है) के फैलाव को देखते हुए कहा जा सकता है कि मूल अधिकारो की स्थिति दयनीय हो गई है और इस प्रकार लोकतन्त्र के एक बुनियादी स्तम्भ की समाप्ति नही तो, कम से कम अवमूल्यन अवश्य (devalued, if not denigrated) ही कर दिया गया है ।

आश्चर्य की बात तो यह है कि सरकार की ओर से इनके लिए यह कहा गया था कि यह सब मूल अधिकारो के ऊपर निदेशक तत्वो की प्रमुखता की पुन स्थापना करने हेतु (*to restore the primacy of the Directives over the* Fundamental Rights) किया गया है, जैसाकि 1949 के सविधान निर्माताओ की इच्छा थी । यद्यपि यह सही कि 1949 का सविधान विभिन्न विचारधाराओ के समन्वय का परिणाम था, लेकिन निस्सदेह ही स्वतन्त्रता सग्राम व सविधान सभा मे मूल अधिकारो एव निदेशक तत्वो (के बीच सम्बन्ध निर्धारित करने के विवाद) का इतिहास इस बात की पुष्टि नही करता है कि सविधान निर्माता मूल अधिकारो पर निदेशक तत्वो को कोई प्रमुखता देना चाहते थे, अपितु वस्तु स्थिति, इसके विपरीत, इस प्रकार थी —

(i) साम्राज्यवादी शासन के अत्याचार की प्रतिक्रिया स्वरूप हमारे स्वतन्त्रता सेनानियो ने भारतीय राष्ट्रीय काग्रेस के माध्यम से 1918 मे ही माग की थी कि मोटेग्यू चैम्सफोर्ड रिपोर्ट मे इसे स्वीकार्य बनाने हेतु भारतीयो के अधिकारो की घोषणा को शामिल किया जाना चाहिये,

(ii) 1928 मे इस माग को पुन नेहरू कमेटी में शामिल किया गया तथा कहा गया कि इन अधिकारो को मूल अधिकारो के रूप मे सुरक्षित किया जाना चाहिए, जिन्हे किसी परिस्थिति म वापस नही किया जा सके।

(iii) 1935 के भारतीय सरकार अधिनियम के बनने से पूर्व सम्पन्न गोलमेज सम्मेलन मे भारतीय नेताओ ने प्रस्तावित सविधान अधिनियम मे अधिकार पत्र (Bill of Rights) को शामिल करने हेतु दबाव डाला।

(iv) इसी दौरान कराची अधिवेशन म "लाखो भूखो को वास्तविक आर्थिक आजादी दिलाने" के राज्य के एक सकारात्मक कर्त्तव्य ने 1933 मे काग्रेस को मूल अधिकारो की घोषणा स्वीकृत करने हेतु प्रेरित किया।

(v) प्रथम बार 1945 मे सप्रू कमेटी ने महसूस किया कि किसी भी भावी सविधान मे प्रस्तावित अधिकारो म वादयोग्य (Justiciable) एव वाद अयोग्य (non justiciable) अधिकारो (राज्य के कर्त्तव्यो से उत्पन्न होने वाले) को शामिल किया जाना चाहिए, किन्तु इस वर्गीकरण को विधि विशेषज्ञो पर छोड दिया गया।

(vi) अधिकारो के वर्गीकरण क इस काय का दायित्व सर बी० एन० राव द्वारा वहन किया गया, जिसे 1948 के सविधान क प्रारूप म स्वीकृत किया गया। 1949 मे स्वीकार किये गये सविधान मे इस वर्गीकरण की व्यवस्था को मूल अधिकार (अध्याय तृतीय) एव नीति निदेशक तत्व (अध्याय चतुर्थ) के रूप मे कायम रखा गया।

(vii) सविधान सभा मे सविधान के प्रारूप पर विचार विमर्श के दौरान यह स्पष्ट कर दिया गया था कि मूल अधिकारो की व्यवस्था राज्य के प्रत्येक अग पर कानूनी प्रतिबन्धो के रूप म की जा रही है। दूसरी ओर जहा तक नीति निर्देशक तत्वो का सम्बन्ध है कुछ सदस्यो ने यहा तक सुझाव दिया कि चूकि ये न्यायालय म वाद योग्य नही है, अत इन्हे मात्र पीछे परिशिष्ट' (Appendix) मे जोड दिया जाना

चाहिए । किन्तु इसे सविधान निर्माताग्रो द्वारा यह कह कर अस्वीकृत कर दिया गया कि ये काल्पनिक ग्राकाक्षाग्रो (pious wishes) से ग्रधिक है तथा यह इरादा किया जा रहा है कि भावी व्यवस्थापिकाग्रो एव कार्यपालिकाग्रो को विधि निर्माण के समय ग्रथवा प्रशासन चलाते समय इनको (नीति निदेशक तत्वो) क्रियान्वित करना चाहिए । किन्तु किसी ने भी यह नही कहा कि मूल ग्रधिकारो एव निदेशक तत्वो मे विवाद की सूरत मे ग्रधिकारो को तिलाजली दे दी जाए । ग्रर्थात् निदेशक तत्वो के पीछे 'राजनीतिक' कारण ग्रधिक था ।"

(viii) उपयुक्त इतिहास मात्र यह दिखता है कि मूल ग्रधिकारो एव नीति निदेशक तत्वो का उद्गम समान है, न कि यह बात कि निदेशक तत्वो को किसी रूप मे उच्चतर समझा जावे । दूसरी ग्रोर इसके विपरीत, इसे भी ग्रनदेखा नही किया जा सकता है कि मूल ग्रधिकारो की सलाहकार समिति द्वारा प्रस्तुत प्रथम ग्र तरिम रिपोट केवल वाद योग्य ग्रधिकारो (मूल ग्रधिकारो) से सम्बन्धित थी । इस प्रकार वाद ग्रयोग्य ग्रधिकारो (निदेशक तत्वो) को पूरक रिपोट के लिए छोड दिया गया था । ग्रन्तरिम रिपोट के कुछ शब्दो को यहा उद्धृत करना इस दृष्टि से उपयोगी होगा कि सरदार पटेल की ग्रध्यक्षता मे गठित समिति का मूल ग्रधिकारो के बारे मे क्या दृष्टिकोण था-—

"हम इन ग्रधिकारो को सविधान मे वाद योग्य बनाने को ग्रत्यधिक महत्व देते हैं । (We attach great importance to the constitution making these rights justiciable) प्रमुख मामलो मे व्यक्ति के ग्रधिकार की सुरक्षा ग्रमरीकी सविधान का तथा ग्राधुनिक लोकतात्रिक सविधानो की खास विशेषता है । राज्य के विरुद्ध ग्रदालत मे व्यक्ति की सुरक्षा ग्रनावश्यक प्रतिबन्धो द्वारा सीमित नही की जायेगी" (The right of citizen to have redr ■ against the state in a court shall not be fettered by undue restrictions

जैसाकि उपयुक्त इतिहास से प्रतिबिम्बित हो रहा है कि सविधान निर्माताग्रो की इच्छा यह रही है कि व्यक्तिगत स्वतन्त्रता एव सामाजिक कल्याण ग्रादि दोनो उद्देश्यो को एक साथ रखते हुए एव बिना किसी एक की उपेक्षा के (both the goals of individual liberty and social welfare should be achived, by reading them together without silencing either of them प्राप्त होने चाहिए ।

यही न्यायालय द्वारा 1952 से 1973 (केशवानन्द भारती के मामले) तक सामंजस्यपूर्ण संबंध स्थापित करने की प्रक्रिया द्वारा (by the process of harmonious construction) किया गया। कोई न्यायालय संभवतः अनुच्छेद 13 और 37 के होते यह नहीं कह सकता था कि वाद अयोग्य अधिकारों के वाद योग्य अधिकारों पर प्रमुखता दी जानी चाहिए। दूसरी ओर, चूंकि न्यायालयों ने अनु 14 (विवेकयुक्त वर्गीकरण), 19 (विवेकयुक्त प्रतिबन्ध) एवं 31 (सार्वजनिक उद्देश्य) की तमाम बाधाओं की, निर्देशक तत्वों की क्रियान्वित हेतु निर्मित कानूनों का वैध ठहराने में, उपेक्षा की और इस प्रकार संविधान निर्माताओं की इच्छा मुताबिक कार्य किया। किन्तु दूसरी ओर 1976 के संशोधन निर्माताओं ने अनु 14 19, एवं 31 पर 'सभी' (all) निदेशक तत्वों का उन्मुक्त करने हेतु पूर्ण आघात पहुंचाया। इस प्रकार अब इन सब प्रतिबन्धों के बाद मूल अधिकारों वाले अध्याय की व्यवस्थापिका पर कोई खास सीमाएं नहीं रही। इस प्रकार की व्यवस्थापिका की सम्प्रभुता (Sovereignty of legislature) की इच्छा 1949 के संविधान द्वारा नहीं की गई थी।

(c) इसी प्रकार 42वें संविधान (संशोधन) अधिनियम 1976 द्वारा "आपात काल के लाभों को स्थायी बनाने हेतु" अनु 14, 19, व 31 आदि विभिन्न मूल अधिकारों का एक और अपवाद घोषित करते हुए एक और नया अनुच्छेद '31 D जोड़ा गया है जो संसद को 'राष्ट्रविरोधी गतिविधियां अथवा राष्ट्र विरोधी संस्थाओं के निवारण या प्रतिनिषेध करने' की शक्ति देता है। जबकि इस उद्देश्य की बहुत कुछ पूर्ति हेतु 39 वें व 40वें संशोधन अधिनियमों द्वारा नवीं अनुसूची को को विस्तृत किया जाकर, कर दी गई थी। अब 43 वें संशोधन अधिनियम द्वारा इस नये अनुच्छेद को हटा दिया गया है।

(d) 42वें संशोधन अधिनियम द्वारा संविधान में अनुच्छेद '51-A' (मूल कर्त्तव्य) के प्रवेश की भी मूल अधिकारों की गारन्टी के प्रति वही विपरीत भूमिका होगी (यद्यपि उस मात्रा में नहीं, जब अगर, इनके उल्लंघन पर प्रस्तावित दण्ड का प्रावधान कर दिया जाता)। यहां हमारा तात्पर्य यह नहीं है कि ये मूल कर्त्तव्य किसी प्रकार हानिकारक हैं या अनावश्यक हैं अपितु यह दिखाना है कि मूल अधिकारों के ऊपर इस अधिनियम द्वारा किये गये अनुच्छेद '31 C' के संशोधन के अतिरिक्त और कुल कितना अधिक भार डाल दिया गया है। क्योंकि, अगर न्यायालय को एक साथ संविधान के सभी अध्यायों को पढ़ना पड़े एवं निदेशक तत्वों के साथ मूल अधिकारों को सामंजस्यपूर्ण संबंध स्थापित करना पड़े तो यह कर्त्तव्य (Fundamental Duty) को लागू करने हेतु बनायी गयी विधि को अनु 14, के अन्तर्गत 'विवेकयुक्त वर्गीकरण, अनु 19 के अधीन 'विवेकयुक्त प्रतिबन्ध' अथवा अनु 31

के तहत 'सावजनिक उद्देश्य के रूप मे स्वीकार करते हुए वैध ठहराने के लिए बाध्य है।'

नीति निदेशक तत्व एव 42 वा सशोधन

(1) अनु 31–C जिसे 25 वें सशोधन अधिनियम द्वारा जोडा गया था मे 42 वें सशोधन द्वारा सशोधन किया जाकर उसमे सभी नीति निदेशक तत्वो को शामिल कर दिया गया है और इस प्रकार सभी नीति निदेशक तत्वो को मूल अधिकारो पर प्राथमिकता प्रदान की गई है। इस सशोधन ने तीन नये तत्वो अनु 39-A, 43 A, 48 A) को भी शामिल किया है। 39 f म परिवतन के बाद यह व्यवस्था की गई है कि बच्चो को स्वस्थ ढग से विकसित होने के लिए सुविधाए एव अवसर प्रदान किये जायेंगे और उन्हे स्वतन्त्रता की ऐसी स्थितिया उपलब्ध कराई जायेंगी जिनमे उनकी शिशुता एव शैशव का शोषण के विरुद्ध सरक्षण हो सके और उनके नैतिक एव भौतिक पतन को रोका जा सके।

(2) राज्य के नीति निदेशक तत्वो म एक और अनु 39 A जोडा गया है। इस अनुच्छेद के अनुसार व्यवस्था की गई है कि राज्य ऐसी व्यवस्था करेगा जिससे वैधानिक ढाँचा इस प्रकार काय कर सके कि लोगो को न्याय प्राप्त हो। राज्य यह भी व्यवस्था करेगा कि सभी के लिए न्याय के अवसर समान हो। राज्य यह भी व्यवस्था करेगा कि वाछित व्यक्तियो को विधिक सहायता प्राप्त हो सके। इस नीति निदेशक सिद्धान्त मे यह भी व्यवस्था की गई है कि राज्य कानून बनाकर ऐसी व्यवस्था स्थापित करेगा जिसमे व्यक्तियो को मजबूरी के कारण अन्याय सहना न पडे।

(3) 42 वें सशाधन द्वारा सविधान मे एक और अनु 43 A जोडा गया है। इस अनुच्छेद के अनुसार राज्य कानून बनाकर ऐसे कदम उठायगा जिससे श्रमिक प्रबन्ध मे हिस्सा ले सके तथा विभिन्न सस्थानो मे सहयोग कर सके।

(4) 42 वे सशोधन म एक और अनुच्छेद 48 A जोडा गया है। इस अनु द्वारा यह व्यवस्था की गई है कि राज्य चतुर्दिक वातावरण का शुद्ध रखने का प्रयास करेगा तथा वन प्राणियो के जीवन के सरक्षण के लिए प्रयास करेगा।

42 वें सशोधन मे स्पष्ट रूप से यह कहा गया है कि प्रत्येक नागरिक का यह मूल कत्तव्य होगा कि वह वन प्राणियो तथा वातावरण एव जगलो का सरक्षण करेगा तथा जीवो के प्रति उदार रहेगा वा दूसरी तरफ राज्य के नीति निदेशक तत्वो द्वारा राज्य पर यह उत्तरदायित्व डाला कि वे वन प्राणियो की रक्षा करे तथा जगलो के सरक्षण के साथ-साथ प्रदूषण को समाप्त करे।

निष्कषत 42 वे सविधान (सशोधन) अधिनियम द्वारा राज्य के नीति निदेशक तत्वो को मूल अधिकारो से अधिक श्रेष्ठ घोषित किया गया है। सशोधित व्यवस्थाओ

के अनुसार यदि व्यक्ति के मूल अधिकार तथा राज्य के नीति निदेशक तत्वों में विरोधाभास हो तो निदेशक तत्व प्रवृत्त होंगे।

(9) न्यायिक पुनरावलोकन और 42 वां एवं 43 वां संविधान संशोधन अधिनियम

42 वें संविधान संशोधन अधिनियम 1976 ने संविधान की मूल विशेषताओं (basic features of the Constitution) को भारी आघात पहुंचाया है। यह अधिनियम अब तक पारित सभी संशोधन में सबसे बड़ा है। इसके द्वारा संविधान में दो नये अध्याय (Part IVA तथा Part XIVA) और 12 नये अनुच्छेद (31D, 32A, 39A, '43A, 48A, 131A 139A 144A, 226A', '228A', 257A'329A) जोड़े गये हैं तथा 50 अनुच्छेदों में संशोधन किए गये हैं। यहां हम न्यायिक पुनरावलोकन पर इस अधिनियम द्वारा पहुंचाये गये कुठाराघात की चर्चा कर रहे हैं। इस क्षेत्र में बहुत ही महत्वपूर्ण संशोधन किए गये हैं। इस उद्देश्य से संशोधन अधिनियम ने 6 नये अनुच्छेद 32A 131A, 139A 144A, 226A, 228A जोड़े हैं तथा 5 अनुच्छेद 145, 225 226, 227, 228 में संशोधन किए हैं, इसे हम निम्न बिन्दुओं के आधार पर देख सकते हैं।

(1) साधारण कानूनों का न्यायिक पुनरावलोकन (*Judicial Review* of ordinary Laws)—प्रथमतः यह द्रष्टव्य है कि हम यहां संवैधानिक संशोधन अधिनियमों के न्यायिक पुनरावलोकन की बात नहीं कर रहे हैं क्योंकि अनुच्छेद 368 के अन्तर्गत प्रयुक्त होने वाली शक्ति संवैधानिक (Constituent) शक्ति है, न कि विधायी शक्ति (legislative power)। अक्सरतः इस अन्तर को भुला दिया जाता है।

(A) 1949 के संविधान के अन्तर्गत संघीय एवं प्रान्तीय कानूनों में न्यायिक पुनरावलोकन की दृष्टि से कोई अन्तर नहीं रखा गया था क्योंकि दोनों ही व्यवस्थापिकायें समान रूप से संविधान द्वारा व्यवस्थापन शक्ति पर लगे प्रतिबन्धों के अन्तर्गत आती थी। सर्वोच्च न्यायालय को जहां संघीय एवं प्रान्तीय व्यवस्थापिका के किसी कानून को अनुच्छेद 32 132 136 के तहत अवैध करने की शक्ति प्राप्त थी वहां उच्च न्यायालय को भी किसी कानून को अनुच्छेद 226 के अन्तर्गत अवैध ठहराने का अधिकार था। 42 वें संशोधन अधिनियम ने, पहली बार संघीय एवं प्रान्तीय कानूनों में निम्न प्रावधान करके पुनरावलोकन की दृष्टि से अन्तर कर दिया

(i) नया अनुच्छेद 32A राज्य विधियों की विधि मान्यता का प्रश्न उच्चतम न्यायालय के क्षेत्राधिकार से परे कर देता है। यह उपबन्धित करता है कि वह अनुच्छेद 32 के अधीन किसी भी कार्यवाही में किसी राज्य विधि की विधि मान्यता पर विचार नहीं करेगा, जब तक कि उसमें किसी केन्द्रीय विधि की विधि मान्यता प्रश्नगत न हो। इसका तात्पर्य यह हुआ कि अगर प्रान्तीय कानून में एक मूल अधि-

कार का भी उल्लघन होता है, पीडित पक्ष सर्वोच्च न्यायालय मे नही जा सकता। ऐसी दशा मे वह उच्च न्यायालय द्वारा अनुच्छेद 226 या 228 के अन्तगत किये गये निर्णयो के विरुद्ध सर्वोच्च न्यायालय म अपील के रूप मे जा सकता है, जब तक कि उसी आधार पर वह अनुच्छेद 32 के अन्तगत याचिका द्वारा एक केन्द्रीय कानून की सवैधानिकता को चुनौती नही देता। यह सर्वोच्च न्यायालय के भार को निश्चय ही पूर्ण रूप से कम कर सकता है किन्तु यह सर्वोच्च न्यायालय के क्षेत्राधिकार पर अवश्य ही कुठाराघात है।

जनता पार्टी की सरकार बनने के पश्चात् तैंतालीसवा साविधानिक सशोधन अधिनियम, 1977 द्वारा इस नये अनुच्छेद (32A) को निकाल दिया गया है। (द्रष्टव्य है कि साधारण कानूनो का न्यायिक पुनरावलोकन 1949 के सविधान का मूल आधार था जैसाकि स्वय तत्कालीन विधि मन्त्री ने 2 अप्रैल 1976 को अपने भाषण मे स्वीकार किया था तथा जैसाकि सविधान के अनु 13 एव 2‹4 (1) मे स्पष्ट रूप से कहा गया है तथा मूल अधिकारो एव शक्तियो के सघीय बटवारे के अतिरिक्त भी अनेक आदेशात्मक प्रावधान है जिनके उल्लघन पर तत्सम्बन्धी कानून अवैध माना जायगा, e g Arti les—Proviso to Article 3 31 (3), 107 (5), 196 (5), 199 (4), 217 (3) 286 299 (1) 301 & 304 यद्यपि इन प्रावधानो को 42 वें सशोधन द्वारा हटाया नही गया किन्तु न्यायिक पुनरावलोकन की शक्ति, जैसाकि हमने देखा काफी छीन ली गई)।

(ii) दूसरी ओर तदनुसार, उच्च न्यायालय का सघीय कानून को अवैधानिक करने का अधिकार भी 42 वे सविधान सशोधन अधिनियम, 1976 द्वारा छीन लिया गया है। इसके लिए अनुच्छेद 131A जोडा गया है जो केन्द्रीय विधियो की विधि मान्यता से स बधित प्रश्नो के बारे मे उच्चतम न्यायालय को अनन्य क्षेत्राधिकार प्रदान करता है। जहा उच्च न्यायालय को समाधान हो जाय कि उसके या उसके अधीन किसी न्यायालय मे केन्द्रीय विधि और राज्य विधि दोनो की सवैधानिक वैधता का प्रश्न अन्तगरत है और मामले के निपटारे के लिए ऐसे प्रश्नो का निर्धारण आवश्यक हो तो वह उन प्रश्नो का उच्चतम न्यायालय के विनिश्चय के लिए भेजेगा। यदि उच्च न्यायालय इस प्रकार का प्रमाण पत्र नही देता है तो उच्चतम न्यायालय, यदि महान्यायवादी के आवेदन पर सतुष्ट है कि एसा है उन मामलो के विनिश्चय के लिए स्वय कार्यवाही कर सकता है। जोडे गये नये एक और अनुच्छेद 139A उच्चतम न्यायालय को महत्वपूर्ण मामलो को उच्च न्यायालय से अपने पास वापस मगाने की शक्ति प्रदान करता है। इसके अनुसार यदि भारत मे महान्यायवादी के आवेदन पर उच्चतम न्यायालय को यह समाधान हो जाता है कि ऐसे मामले जिनमे समान या सारत समान विधि के प्रश्न उच्चतम न्यायालय और एक या अधिक उच

न्यायालयो या दो या अधिक न्यायालयो के समक्ष लम्बित है और ऐसे प्रश्न व्यापक महत्व के सारवान प्रश्न हैं तो उच्चतम न्यायालय ऐसे मामलो को अपने पास मगा लेगा और उसका निपटारा स्वय करेगा। इस प्रकार अनुच्छेद '139A' '131A' से विस्तृत है। अनुच्छेद '131A' के अधीन केवल उन मामलो को उच्च न्यायालयो से मगाया जा सकता था जिनमे केन्द्रीय विधि या केन्द्रीय एव राज्य दोनो विधियो से सम्बन्धित प्रश्न अन्तग्रस्त हैं जबकि अनुच्छेद 139A के अधीन उन सभी मामलो को उच्च न्यायालयो से मगाया जा सकता है जिनमे व्यापक महत्व का प्रश्न अन्तग्रस्त है। इस अनुच्छेद का खण्ड (2) उच्चतम न्यायालय को यह शक्ति प्रदान करता है कि यदि वह न्याय करने के लिए उचित समझता है तो उच्च न्यायालय मे लम्बित या अपीलीय वाद को किसी अन्य उच्च न्यायालय को अन्तरित (transfer) कर सकता है।

अनुच्छेद '131A सविधान के 43 वें सशोधन अधिनियम, 1977 द्वारा सविधान से निकाल दिया गया है। इस प्रकार पुन 42 वें सशोधन अधिनियम की पूर्व स्थिति ला दी गई है।

(iii) 42 वें सशोधन अधिनियम 1976 द्वारा जोडे गये नये अनुच्छेद '226A' केन्द्रीय विधियो की विधि मान्यता के प्रश्न को उच्च न्यायालयो के क्षेत्राधिकार से परे करता है। यह अधिकार अब केवल उच्चतम न्यायालय को ही प्राप्त है। यह सशोधन नये अनुच्छेद '131A के समकक्ष तदनुसार ही जोडा गया है। अनुच्छेद '226A' भी 43 वें सशोधन अधिनियम, 1977 द्वारा अब निकाल दिया गया है।

(iv) अनुच्छेद 226 मे भी 42 वा सशोधन अधिनियम सशोधन करता है। मूल अनुच्छेद 226 यह उपबन्धित करता है कि अनुच्छेद 32 मे किसी बात के होते हुए भी प्रत्येक उच्च न्यायालय को उन समस्त क्षेत्रो मे, जिनके सम्बन्ध मे वह अपने क्षेत्राधिकार का प्रयोग करता है सविधान के भाग 3 मे प्रदत्त मूलाधिकार के प्रवर्तित कराने के लिए तथा 'किसी अन्य प्रयोजन के लिए' सम्बन्धित राज्यो मे किसी व्यक्ति या प्राधिकारी को समुचित मामलो मे किसी सरकार को ऐसे निर्देश या आदेश या लेख जिनके अन्तर्गत बन्दी प्रत्यक्षीकरण परमादेश प्रतिषेध, अधिकार पृच्छा और उत्प्रेषण के प्रकार के लेख (writs) भी है, जारी करने की शक्ति होगी।

सविधान के 42 वें सशोधन अधिनियम 1976 ने वर्तमान अनुच्छेद के स्थान पर नया अनुच्छेद 226 रखा है। इस सशोधन ने उच्च न्यायालय के लेख क्षेत्राधिकार की पुन परिभाषा की है और इसके क्षेत्र को परिसीमित किया है। नये अनुच्छेद मे 'किसी अन्य प्रयोजन के लिए" शब्दावली को नही रखा गया है जिसके अधीन उच्च न्यायालयो ने हर प्रकार के विधिक अधिकार के सरक्षण करने के क्षेत्राधिकार की शक्ति

धारण कर लिया था। नय अनुच्छेद के अनुसार उच्च न्यायालय अपने लेख क्षेत्राधिकार प्रयोग अब केवल निम्नलिखित अधिकारो के सरक्षण करने के लिए करेंगे—

(a) भाग 3 मे प्रदत्त अधिकारो के प्रवतन के लिए, अथवा

(b) सविधान के किसी अन्य उपबन्ध या किसी अधिनियम या अध्यादेश या तद्धीन दिए किसी आदेश नियम विनियम, उपविधि या लिखित (Instruments) के उपबन्ध के उल्लघन के कारण हुई सारवान् क्षति के प्रतितोष के लिए, अथवा

(c) उपखण्ड (b) मे निर्दिष्ट किसी उपबन्ध के अधीन किसी प्राधिकारी द्वारा या उसके समक्ष किन्ही कार्यवाहियो में किसी अवैधता के कारण न्याय की सारवान् निष्फलता के कारण हुई क्षति के प्रतितोष के लिए।

किन्तु उक्त दोनो मामलो (b) और (c) मे नया खण्ड (3) यह अपेक्षा करता है कि याची को न्यायपालिका को इस बात से सन्तुष्ट करना होगा कि उसके पास कोई अन्य उपचार उपलब्ध नही हैं, यदि न्यायालय के विचार मे ऐसा कोई अन्य उपचार उपलब्ध है (भले ही वह उपचार पर्याप्त हो या अपर्याप्त) तो न्यायालय उसकी याचिका ग्रहण नही करेगा।

नया खण्ड (4) उच्च न्यायालयो की अन्तरिम आदेश शक्ति पर-निबन्धन लगाता है। इसके अनुसार खण्ड (1) के अधीन किसी याचिका मे उच्च न्यायालय तब तक कोई अन्तरिम आदेश जारी नही करेगा जब तक कि—

(क) याचिका के बारे मे पक्षकार (सरकार) को सूचना न दे दी गई हो।

(ख) पक्षकार को सुनवाई का अवसर न दे दिया गया हो। खण्ड (5) मे खण्ड (4) का एक अपवाद है। इसके अनुसार यदि उच्च न्यायालय को इस बात का समाधान हो जाए कि याची को होने वाली हानि की क्षतिपूर्ति धन के द्वारा नही की जा सकती है तो वह खण्ड (4) की अपेक्षाओ से उसे अभिमुक्त (exempted) कर देगा और आपवादिक उपाय के रूप मे अन्तरिम आदेश जारी कर सकेगा ?

किन्तु खण्ड (4) के अधीन प्रदत्त इस सीमित शक्ति का प्रयाग भी ऐसे मामलो मे नहीं किया जा सकता है जहा ऐसे आदेश का प्रभाव—

(i) किसी लोक महत्व के मामले म,

(ii) कारावास से दण्डनीय किसी अपराध के मामले मे

(iii) किसी लोकोपयोगी सकम या परियोजन की निष्पादन कायवाही मे

(iv) ऐसे किसी निष्पादन के लिए सरकार द्वारा किसी सम्पत्ति के अर्जन मे विलम्ब की सम्भावना हो। [खण्ड (6)]

(v) सविधान के (बयालीसवें सशोधन) अधिनियम 1976 द्वारा अनुच्छेद 227 से अधिकरण (tribunal) शब्द को निकाल दिया गया है और इस प्रकार यह

स्पष्ट कर दिया गया है कि उच्च न्यायालयों का अब अधिकरणों पर निरीक्षण व नियन्त्रण की शक्ति नहीं होगी। इनके निर्णयों के विरुद्ध पीड़ित व्यक्ति अनुच्छेद 136 के अन्तर्गत उच्चतम न्यायालय में अपील कर सकता है। इस संशोधन के परिणामस्वरूप गरीब नागरिकों को काफी कठिनाई होगी और उन्हें उच्चतम न्यायालय जाने के लिए काफी धन खर्च करना पड़ेगा।

निम्नलिखित मामलों के विनिश्चय के लिए अब अधिकरणों की स्थापना की जायेगी—

(i) कर विवाद (ii) विदेशी मुद्रा तथा आयात निर्यात (iii) औद्योगिक और श्रमिक विवाद (iv) भूमि सुधार (v) नगर सम्पत्ति की अधिकतम सीमा (vi) संसद तथा राज्य विधान मण्डलों के सदस्यों के निर्वाचन सम्बन्धी मामले (vii) आवश्यक खाद्य वस्तुओं के उत्पादन उपाप्ति, प्रदाय और वितरण या कीमत नियन्त्रण से सम्बन्धित विवाद। इन मामलों को उच्च न्यायालयों की अधिकारिता से परे कर दिया गया है। कहा गया कि ऐसा इस कारण किया गया है ताकि सामाजिक और आर्थिक सुधार विषयक कानूनों को न्यायालयों में चुनौती न दी जा सके। और उनके कार्यान्वयन में विलम्ब न हो सके। (viii) अनुच्छेद 226 के अधीन उच्च न्यायालयों की शक्ति को नये अनुच्छेद 131A" (इस नये अनुच्छेद को अब संविधान से निकाल दिया गया है) के अधीन कर दिया गया है जिसके अधीन उच्च न्यायालय को अपने अधीनस्थ न्यायालयों से संविधान के निर्वचन से सम्बन्धित मामलों को अपने पास मंगाने की शक्ति प्राप्त है।

(vi) नये अनुच्छेद '228A' के अनुसार उच्च न्यायालय किसी भी राज्य विधि को केवल न्यायपीठ के 2/3 बहुमत से ही असंवैधानिक घोषित कर सकता है। ऐसे न्यायपीठ में न्यायाधीशों की संख्या पाँच से कम नहीं होनी चाहिए। किन्तु जिन न्यायालयों में न्यायाधीशों की संख्या 5 से कम है उनमें सभी न्यायाधीशों को पीठ (Bench) में बैठना आवश्यक होगा और कोई भी विधि तब तक असंवैधानिक घोषित नहीं की जायेगी जब तक कि सभी न्यायाधीशों की संख्या 5 से कम है उनमें सभी न्यायाधीश उसे अवैध न घोषित कर दें। इस प्रयोजन के लिए गठित पीठ के न्यायाधीशों की संख्या की गणना करते समय उन न्यायाधीशों को सम्मिलित नहीं किया जायेगा जो व्यक्तिगत या धन सम्बन्धी पक्षपात के कारण अयोग्य (disqualifed) कर दिये गये हैं।

43 वें संशोधन अधिनियम, 1977 द्वारा इस नये अनुच्छेद 228A' को भी संविधान से निकाल दिया गया है।

(vii) 42 वें संशोधन अधिनियम, 1976 द्वारा जोड़ा गया नया अनुच्छेद "144A' का खण्ड (1) यह उपबन्धित करता है कि किसी भी केन्द्रीय विधि या

राज्य विधि को उच्चतम न्यायालय तब तक असंवैधानिक घोषित नही करेगा, जब तक कि इस प्रयोजन के लिए बैठने वाले न्यायाधीश अपने दो तिहाई बहुमत से उसे असाविधानिक अभिनिर्धारित न कर दे। ऐसे प्रयोजन के लिए बैठने वाले न्यायपीठ मे न्यायाधीशो की न्यूनतम सख्या सात होगी। प्रस्तुत सशोधन के पूर्व संविधान द्वारा कोई भी इस प्रकार की न्यूनतम गणपूर्ति की सख्या विहित नही की गई थी। न्यायालय बहुमत द्वारा अपने निर्णय लिया करते थे। '144A के खण्ड (2) अनुसार अब किसी विधि को 2/3 बहुमत से असंवैधानिक घोषित किया जा सकता है। इस अनुच्छेद से दो कठिनाई होगी। प्रथम यह कि न्यायपीठ के बहुमत के न्यायाधीशो के विधि के अवैध मानने के बावजूद विधि वध बनी रहेगी और दूसरा यह कि न्यायालय का समय का भी काफी नुकसान होगा क्योंकि न्यायपीठ का गठन सात से कम न्यायाधीशों से नही बनेगा।

मार्च 1977 के ससदीय निर्वाचन के पश्चात् उच्चतम न्यायालय ने अपने एक विनिश्चय मे इस अनुच्छेद के शीघ्रातिशीघ्र सविधान से निकालने की सिफारिश की। न्यायालय के अनुसार इस अनुच्छेद से उच्चतम न्यायालय का समय का भी नष्ट होगा क्याकि महत्वहीन मामलो के निपटारे के लिए भी न्यायाधीशो की एक निश्चित सख्या न्यायपीठ मे बैठना आवश्यक है। जनता सरकार बनने के पश्चात् 43 वें सशोधन अधिनियम द्वारा इस नये अनुच्छेद '144A को सविधान से निकाल दिया गया है।

(B) सविधान (42 वा सशोधन) अधिनियम, 1976 द्वारा न्यायिक-पुनरावलोकन के क्षेत्र म एक गहरा आघात और पहुचाया। सविधान (25 वा सशोधन) अधिनियम 1971 द्वारा पहले ही अनुच्छेद 31 मे 'C' क्लाज जोड कर संसद और राज्य विधान मण्डलो को अनुच्छेद 39 (c) और (d) मे उल्लिखित नीति निदेशक तत्वो को प्रभावी बनाने के लिए विधि बनाने की शक्ति प्रदान करता है। ऐसी विधियो को अनुच्छेद 14 19 और 31 के आधार पर चुनौती नही दी जा सकती है (उल्लेखनीय है कि इस अनुच्छेद का दूसरा भाग जो यह कहता है कि "जिस विधि (संसद या राज्य मे विधान मण्डल की) मे यह घोषणा हो कि वह अनुच्छेद 39 के खण्ड (c) या खण्ड (d) मे उल्लिखित तत्वो के सुनिश्चित करने के लिए राज्य की नीति को प्रभावी करने के लिए, उस पर किसी न्यायालय में इस आधार पर आपत्ति नहीं की जायेगी कि ऐसी नीति का प्रभावी नहीं करती" की काफी आलोचना की गई थी क्योंकि यह राज्य विधान मण्डल को ही ... यह सुरक्षा प्रदान करता है, अत ऐसे सर्वोच्च न्यायालय ने 'केशवानन्द भारती बनाम केरल राज्य' के ऐतिहासिक मुकदमे म सविधान के आधार-भूत तत्व के विरुद्ध होने के कारण अवैध घोषित कर दिया।

42 वें संशोधन अधिनियम, 1976 द्वारा इस अनुच्छेद '31-C' के क्षेत्र को और व्यापक कर दिया गया तथा इसमें सभी नीति निदेशक तत्वों को शामिल कर दिया गया है। यद्यपि 42 वां प्रविधान संशोधन अधिनियम समस्त नीति निदेशक तत्वों को मूल अधिकारों पर प्राथमिकता प्रदान करता है। प्रस्तावित 45 वें संविधान संशोधन (जिसे बदल कर 44 वां कहा गया है) विधेयक में इस सम्बन्ध में 42 वें संशोधन के पूर्व की स्थिति कायम करने की व्यवस्था की गई है।

(C) इसी प्रकार से एक और नया अनुच्छेद '31-D' जोड़कर 42 वें संशोधन अधिनियम द्वारा संसद को "राष्ट्र विरोधी गतिविधियों या संस्थाओं के निवारण या प्रतिषेध करने की शक्ति देता है। ऐसी विधि को इस आधार पर शून्य नहीं माना जायेगा कि वह अनुच्छेद 14, 19 या 31 द्वारा प्रदत्त अधिकारों में से किसी से असंगत है या उसे न्यून करती है।

43 वें संशोधन अधिनियम द्वारा इस नये अनुच्छेद "31-D" को भी संविधान में निकाल दिया गया है।

(2) संवैधानिक संशोधन अधिनियमों का पुनरावलोकन (Judicial Review of Constitution Amedment Acts)

अब इस तथ्य को मान लिया जाये कि भारतीय संविधान मौलिक कानून रूप में एक कानूनी (legal instrument as the fundamental law) है तो यह स्वीकार किया जाना चाहिए कि एक संवैधानिक संशोधन अधिनियम भी, अगर यह अनुच्छेद 368 द्वारा स्वयं प्रतिबन्धित संशोधन शक्ति की सीमा का उल्लंघन करता है (the limitations imposed on the amending power by Art 368 itself), न्यायिक पुनरावलोकन का विषय होना चाहिए। यह अनुच्छेद संसद को संवैधानिक शक्ति (constituent power) प्रदान करता है (विशेष बहुमत के रूप में और राज्यों की विधान सभाओं द्वारा कुछ मामलों में अनुमोदन द्वारा)। बसु[1] ने इस सम्बन्ध में लिखा था कि (i) भारतीय संविधान का कोई भाग असंशोधनीय नहीं है (No part of the Constitution of India is unamendable) (ii) संशोधन शक्ति अनुच्छेद 368 द्वारा प्रदत्त की गई है बिना किसी निहित आरक्षणों के (The Constituent power to amend has been conferred by article 368, without any implied reservations) सिवाय उन

1 D D Basu 'Limited Government & Judicial Review pp 86, 134, 547 and 'Constitutional Law of India, Practice Hall of India, 1977

शर्तों के जो स्वय अनुच्छेद 368 द्वारा लादी गई है (excepting the conditions imposed by article 368 itself) (iii) सविधान मे किसी भी मामले में सशोधन हेतु कोई सविधान सभा आयोजित करने की आवश्यकता नही है (No Constituent Assembly need be convened to amend the Constitution in any respect), (iv) एक सवैधानिक सशोधन अधिनियम का इस आधार पर न्यायिक पुनरावलोकन नही किया जा सकता कि अनुच्छेद 368 द्वारा प्रदत्त अधिकार का दुरुपयोग किया गया है (A constitution Amendment Act would not be open to judicial review on the ground of abuse of the power conferred by article 368 or an excessive use thereof)

42 वें सशोधन अधिनियम द्वारा न केवल उपयु क्त बातों को शामिल किया गया है अपितु इनसे भी आगे जाकर अनुच्छेद 368 म नये खण्ड (4)[1] एव (5)[2] जोडकर सवैधानिक सशोधन अधिनियम को यायिक पुनरावलोकन की सीमा से बाहर कर दिया गया है ।खड(4) यह उपबधित करता है कि अनुच्छेद 368 के अधीन किए गए सविधान के सशोधन (जिसमे भाग 3 भी शामिल है) या जिसके इस प्रकार किए जाने का तात्पय है, चाहे वे 42 वें सशोधन के पूव या पश्चात् किए गए हो, किसी न्यायालय मे इस आधार पर प्रतिवाद नहीं किया जायेगा कि इस अनुच्छेद द्वारा विहित प्रक्रिया के अनुसरण मे नही किया गया है । सक्षेप मे, खण्ड (4) यह स्पष्ट कर देता है कि अनुच्छेद 368 के अधीन पारित किसी भी सवधानिक सशोधन की वैधता को किसी भी न्यायालय मे किसी भी आधार पर (यहा जिसमे प्रक्रिया भी शामिल है) चुनौती नही दी जा सकती है । खण्ड (5) सन्देह के निवारण के लिए

1 "No amendment of this constitution (including the provisions of part III) made or purporting to have been made under this article [whether before or after the commencement of section 55 of the Constitution (42nd Amendment) Act, 1976] shall be called in question in any court on any ground" (Inserted by the Constitution 42nd Amendment Act, 1976)

2 'For the removal of doubts it is hereby declered that there shall be no limitation whatever on the constituent power of Parliament to amend by way of addition, variation or repeal the provisions of this Constitution under this article' (Inserted by the Constitution 42nd Amendment Act, 1976)

यह घोषणा करता है कि इस अनुच्छेद के अ तगत सविधान के उपब धो का सशोधन जोड़कर, परिवतन कर या निरसन (repeal) करके करने के लिए ससद की विधायी शक्ति (constituent power) पर भी परसीमन (limitation) न होगा।

यह सशोधन केशवानन्द भारती बनाम केरल राज्य के मामले म उच्चतम न्यायालय द्वारा दिये गये निणय से उत्पन्न इस कठिनाई को दूर करने के लिए पारित किया गया जिसमें अभिनिर्धारित किया गया था कि ससद द्वारा सविधान की शक्ति का प्रयोग सविधान के मूल ढाँचे म परिवतन करने के लिए नही किया जा सकता। (उल्लेखनीय है कि भारती के मामले म मुख्य विचारणीय मुद्दा यह था कि- सविधान के अनुच्छेद 368 में ससद को जो सशोधन शक्ति प्राप्त है उसकी सीमा क्या है ? सरकार की ओर से दलील दी गई कि ससद की यह शक्ति असीमित तथा अनियन्त्रित है। 'पिटीशनरो की ओर से यह कहा गया था कि ससद का सविधान के सशोधन की शक्ति असीमित या अनियन्त्रित नही है। अनुच्छेद 368 के अधीन संसद को प्रदत्त शक्ति उसे सविधान के आधारभूत या मूल तत्वो को विकृत या नष्ट करने की अनुमति नही देती है। सविधान ही ससद का जनक है। अत वह सविधान में विहित मूल तत्व के अनुसार ही अपनी शक्ति का प्रयोग कर सकती है। ये मू- तत्त्व सविधान की प्रस्तावना म निहित है। उच्चतम न्यायालय ने बहुमत से गोलक नाथ मुकदमे म दिए गये निणय को उलटते हुए यद्यपि यह तो माना कि ससद को मूल अधिकारो मे सशोधन करने की शक्ति प्राप्त है किन्तु न्यायालय ने कहा कि यद्यपि अनु 368 के अन्तगत ससद को सविधान मे सशोधन की काफी विस्तृत शक्ति प्राप्त है किन्तु वह असीमित नही है और वह ऐसा सशोधन नही कर सकती है जिससे सविधान के मूल तत्व या उसका बुनियादी ढाचा नष्ट हो जाये[1] ससद को इसी परिधि के भीतर अपनी शक्ति का प्रयोग करना है। मुख्य न्यायाधीश के अनु धार मूल ढाँचे मे निम्नलिखित तत्व है —

---

1 In 'Keshavananda V State', A 1973 S C 1461, a majority of 7 6 in a full Bench of 11 invalidated the second part of Art 31C inserted by the Constitution (25th Amendment) Act 1971, on the ground that it sought to take away the principle of judicial review which was one of the 'basic features' of the Constitution even though they held (over ruling Golaknath) that Fundamental Rights did not constitute one of such basic features as to fetter the amending power conferred by Art 368'

(i) सविधान की सर्वोपरिता, (ii) सरकार का गणतन्त्रात्मक और प्रजातन्त्रात्मक रूप (iii) सविधान का धर्म निरपेक्ष स्वरूप, (iv) विधान मण्डल, कार्यपालिका और न्यायपालिका के बीच शक्तियो का पृथक्करण और (v) सविधान की सघात्मक प्रकृति।

यहा यह प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि क्या 42 वे सविधान सशोधन के पश्चात् भी न्यायपालिका सविधान-सशोधन-कानूनो की न्यायिक समीक्षा कर सकती है ?

(a) अनु 368खड (4) स्पष्ट रूप से सविधान सशोधन की न्यायिक समीक्षा को वर्जित करता है किन्तु जब तक केशवानन्द भारती का विनिश्चय उच्चतम न्यायालय द्वारा उलट नही दिया जाता है तब तक न्यायालय सशोधनो की विधि मान्यता पर इस आधार पर विचार कर सकता है कि क्या इससे सविधान के मूल ढाचे पर कोई आघात पहुचाता है।

(b) यद्यपि अनुच्छेद 368 के खण्ड (1) के अनुसार प्रक्रिया का पालन करना आवश्यक है,[1] किन्तु नये खण्ड (4) के अनुसार यह आवश्यक नही है। इन खण्डो मे विरोध की स्थिति मे क्या होगा ? क्या प्रक्रिया के पालन नही करने पर इसे न्यायालय मे चुनौती दी जा सकेगी।[2]

---

1 This obligation was made clearer by insertion of cl (1), by the Constitution (24th Amendment) Act 1971, as follows 'Notwithstanding anything in this Constitution Parliament may amend any provision of the Constitution in accordance with the pro edure laid down in this article ' Prior to 1976, thus there could be l ttle doubt that the words "in accordance with the proc dure article" constituted a 'legal' limitation, so that the court could invalidate a Constitution Amendment Act on the ground of procedural 'ultra vires'

2 'This is obviously a radical change We are not, in the present context, considering whether these clauses would be effective to checkmate cl (1) which has not be repealed expressly or impliedly, and which has to be read with cls (4)-(5), according to the principle of 'h construction '

(c) क्या संविधान को इस प्रकार परिवर्तित किया जा सकता है कि इसे अपने वर्तमान स्वरूप में पहचाना ही न जा सके। 42वें संशोधन में यह बात निहित है। किन्तु संविधान निर्माताओं का संशोधन की शक्ति में ऐसी शक्ति शामिल करने का कोई आशय नहीं था। इसी प्रकार संशोधन शक्ति में संविधान को बिल्कुल समाप्त करने की भी शक्ति शामिल नहीं की जा सकती है।

मूल कर्त्तव्य

संविधान के 42वें संशोधन अधिनियम 1976 द्वारा संविधान के भाग IV के पश्चात् नया भाग IV A जोड़ा गया है, जिसके द्वारा पहली बार संविधान में नागरिकों के मूल कर्त्तव्य (Fundamental Duties) का समावेश किया गया है। इसके लिए नये अनुच्छेद 51A के अनुसार भारत के प्रत्येक नागरिक का यह कर्त्तव्य होगा कि वह—

(a) संविधान का पालन करे और उसके आदर्शों, संस्थाओं, राष्ट्रध्वज और राष्ट्रगान का आदर करे (to abide by the Constitution and respect its ideal and institutions, the National Flag and the National Anthem,)

(b) स्वतन्त्रता के लिए हमारे राष्ट्रीय आन्दोलनों को प्रेरित करने वाले उच्च आदर्शों को हृदय में संजोए रखे और उनका पालन करे (to cherish and follow the noble ideals which inspired our national struggle for freedom)

(c) भारत की प्रभुता, एकता और अखण्डता की रक्षा करे और उसे अक्षुण्ण बनाए रखे (to uphold and protect the sovereignty, unity and integrity of India),

(d) देश की रक्षा करे और आवाहन किए जाने पर राष्ट्र की सेवा करे (to defend the country and render national service when called upon to do so),

(e) भारत के सभी लोगों में समरसता और समान भ्रातृत्व की भावना का निर्माण करे, जो धर्म भाषा और प्रदेश या वर्ग पर आधारित सभी भेदभाव से परे हों, ऐसी प्रथाओं का त्याग करे जो स्त्रियों के सम्मान के विरुद्ध हैं (to promote harmony and the spirit of common brotherhood amongst all the people of India transcending religious, linguistic and regional or sectional diversities, to renounce practices derogatory to the dignity of women),

(f) हमारी सामाजिक संस्कृति की गौरवशाली परम्परा का महत्व समझे और उसका परिरक्षण करे (to value and preserve the rich heritage of our composite culture),

(g) प्राकृतिक पर्यावरण को, जिसके अन्तर्गत वन, झील, नदी और अन्य जीव भी हैं रक्षा करे और उनका संवर्द्धन करे तथा प्राणीमात्र के प्रति दयाभाव रखे (to protect and improve the natural environment including forests, lakes rivers and wild life, and to have compassion for living creatures),

(h) वैज्ञानिक दृष्टिकोण, मानववाद और ज्ञानार्जन तथा सुधार की भावना का विकास करे (to develope the scientific temper, humanism and the spirit of inquiry and reform),

(i) सार्वजनिक सम्पत्ति को सुरक्षित रखे और हिंसा से दूर रहे (to safe guard public property and to abjure violence),

(j) व्यक्तिगत और सामूहिक गतिविधियों के सभी क्षेत्रों में उत्कर्ष की ओर बढ़ने का सतत् प्रयास करे, जिससे राष्ट्र निरन्तर बढ़ते हुए प्रयत्न और उपलब्धि की नई ऊंचाइयों को छू ले (to strive towards excellence in all spheres of individual and collective activity, so that the nation constautly rises to higher levels of endeavour and achievement),

मूल्यांकन—संविधान में मूल कर्त्तव्यों वाला यह भाग 'स्वर्णसिंह समिति' की सिफारिशों के अनुसार जोड़ा गया था। इससे अब हमारा संविधान मानव अधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा (Universal Declaration of Human Rights) के अनुच्छेद 29 (1) तथा जापान, चीन एवं सोवियत संघ के संविधानों के नजदीक आ गया है। संविधान में मूल कर्त्तव्यों के शामिल करने की आवश्यकता प्रतिपादित करते हुए समिति का विचार था कि जहां संविधान में नागरिकों के मूल अधिकारों का उल्लेख किया गया है, वहां मूल कर्त्तव्यों का भी समावेश होना चाहिए।, अधिकार और कर्त्तव्य एक दूसरे के अन्योन्याश्रित होते हैं। प्रस्तुत संशोधन संविधान में इस कमी को दूर करने के लिए पारित किया गया है।

इन मूल कर्त्तव्यों की कानूनी उपयोगिता नीति निदेशक तत्वों की भांति ही है (1949 में पारित संविधान के अनुसार ही, क्योंकि 42वें संशोधन से निदेशक तत्वों को महत्वपूर्ण स्थान प्रदान कर दिया गया)। जहां निदेशक तत्व बिना किसी दण्ड के प्रावधान के राज्य को निर्देश देते हैं, वहां कर्त्तव्य, बिना इनके उल्लंघन करने पर दण्ड देने के (without any legal sanction for their violation), नागरिकों को सम्बोधित किये गये हैं, यह आशा की गई है कि नागरिक को स्वयं का

मॉनीटर' होना चाहिए जब वह अपने मूल अधिकारो को क्रियान्वित कर रहा है, यह स्मरण रखते हुए कि अनुच्छेद 51 A मे अन्तर्निहित कर्त्तव्यो का भी निभाते जाना है तथा अगर वह कर्त्तव्यो की परवाह नही करता है तो उस अधिकारो के लायक नही कहा जा सकता। उदाहरणार्थ एक व्यक्ति अनु० 51 A (1) के कर्त्तव्य का उल्लघन करते हुए सविधान की प्रति को जलाता है तो वह यह माग नही कर सकता कि उस मीटिंग मे जहा उसने वह प्रति सरकार के खिलाफ प्रदर्शन के रूप मे जलाई अनु० 19 मे प्राप्त अभिव्यक्ति एव एकत्र होने की स्वतन्त्रता के द्वारा उसे यह सरक्षण मिलना चाहिए यह ठीक है कि कर्त्तव्य कानूनी रूप से अदालतो मे क्रियान्वयन योग्य नही है, किन्तु अगर राज्य इन कर्त्तव्यो मे से किसी के उल्लघन किये जाने वाले कृत्य को प्रतिबन्धित करने वाली विधि बना देता है तो न्यायालय उसे तत्सम्बन्धी मूल अधिकारो के ऊपर विवेकयुक्त प्रतिबध (reasonable restriction) के रूप मे वैध ठहरायेगा, वैसे ही, जैसे कि उन्होंने (न्यायालयो ने) 1949 के सविधान के अधीन (यानि अनुच्छेद 31 C के शामिल किए जाने एव इस विस्तृत किये जाने से पूर्व) नीति निदेशक तत्व को क्रियान्वित किये जाने वाले किसी कानून को वैध घोषित किया (Cf Mumbai Kamgar Sabha V Abdulbhai, A 1976 S C 1455, para 29)

किन्तु कुछ विद्वानो ने कर्त्तव्यो को शामिल किए जाने की आलोचनाए भी की है—

(1) सशोधन समिति (स्वर्णसिंह कमेटी) का यह कहना गलत है कि भारतीय सविधान मे केवल मूल अधिकारों पर बल दिया गया है और समाज के प्रति नागरिको के मूल कर्त्तव्यो का कोई उल्लेख नही किया गया था। किन्तु सविधान के उपबन्धो पर ध्यान देने से यह स्पष्ट हो जाता है कि हमारे सविधान ने जहा नागरिको के मूल अधिकार प्रदान किए है, वही उन पर कर्त्तव्यो को भी अधिरोपित किया है। नागरिक अपने मूल अधिकारो का प्रयोग सार्वजनिक हित के विरुद्ध नही कर सकता है। राज्य को लोकहित मे उसके मूल अधिकारो पर नियन्त्रण लगाने की शक्ति प्राप्त है।

(ii) आलोचको के अनुसार यह ध्यान देने की बात है कि विश्व के किसी प्रजातान्त्रिक सविधान मे (केवल जापान को छोडकर) मूल कर्त्तव्यो का कोई उल्लेख नही किया गया है। ब्रिटेन, कनाडा और आस्ट्रेलिया मे नागरिको के अधिकार और कर्त्तव्य कॉमन लॉ और न्यायिक निर्णयो द्वारा विनियमित होते है। अमेरिका के सविधान मे केवल मूल अधिकारो का ही उल्लेख है। इनके बावजूद भी इन सभी देशो के नागरिक कर्त्तव्य परायण है और समाज और देश के प्रति उत्तरदायित्व का पूर्णरूपेण निर्वाह करते है।

(iii) फिर यह एक महत्वपूण प्रश्न है कि मूल कत्तव्यो के उल्लघन करने पर नागरिको का किस प्रकार दडित किया जाये। दूसरा प्रश्न यह है कि इस बात का अवधारण कस किया जाय कि किसी नागरिक ने अपने मूल कत्तव्यो का उल्लघन किया है या नही।

(iv) इसके अतिरिक्त, नागरिको द्वारा मूल कत्तव्यो का समुचित पालन किया जाए, इसके लिए यह अत्य त आवश्यक है कि उसके विषय मे उन्ह पूरी जानकारी हो। भारत की अधिकाश जनता निरक्षर है और उ हे सविधान द्वारा प्रदत्त अधिकारो और कत्तव्यो का कोई ज्ञान नही है। इसके लिए यह आवश्यक है कि उन्ह इसके विषय मे जानकारी दिलाई जाये। ऐसा तभी सम्भव होगा, जब जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे, चाहे वह शिक्षण सस्था हो, या उनके काम करने के केन्द्र हो इनके विषय म उन्ह शिक्षा देन की समुचित व्यवस्था की जाए।

(v) अन्त मे यह कहा जा सकता है कि अनुच्छेद 51 A की भाषा बडी विशद है और इसके अथ तथा विस्तार के बारे मे अभी तक भ्रामक स्थिति है। इस स्थिति का, जैसे भी हो, निराकरण आवश्यक है।

(11) न्यायिक-पुनरावलोकन, मूल अधिकार व नीति निदेशक तत्व तथा 45 वा[1] सविधान सशोधन विधेयक

आपात काल के दौरान 42वे सशोधन अधिनियम द्वारा सविधान मे जो मनमाने परिवतन किये गये थे, उससे विधायिका, न्यायपालिका और कायपालिका के बीच सत्ता के सतुलन का कायपालिका के पक्ष मे, केन्द्र और राज्यो के बीच सत्ता के सन्तुलन का के द्र के पक्ष मे तथा आर्थिक शक्ति के सतुलन का राज्य के पक्ष मे झुकाव कर दिया गया था। प्रधानमन्त्री की सत्ता स्थापित करने के नाम पर अन्य सभी स्तरो पर जेयूएन ऑयोरिटी' को कमजोर करने का प्रयास वस्तुत काग्रेसी शासन का तानाशाही दिशा मे भटकाव था। गाधी और नेहरू के मूल्यो की हत्या करन वाले इस प्रकार के सवधानिक सशोधनो को ही गाधी और नेहरू की क्राति को आगे बढाने वाला बताया जाकर व्यक्तिगत सत्ता को दृढ करने के भरसक प्रयत्न किये गये। माच 1977 के ससदीय निर्वाचन मे काग्रेस की घोर पराजय के साथ सीजरी 'न रूल' की समाप्ति हुई, काग्रेस 'सिस्टम' के 'ब्रेक डाऊन' क साथ जनता सरकार की स्थापना हुई। 'भारतीय साधारण जनता ने अपनी असाधारण प्रतिभा का परिचय दते हुए अपन अमूल्य मत द्वारा सामाजिक आर्थिक पुनर्निर्माण एव गुणात्मक क्रान्ति के लिए

1 सरकार ने इसे बदलकर 44वा सशोधन घोषित किया है जो कि लोकसभा द्वारा सवसम्मति से दि० 23-8-78 को पारित किया जा चुका है।

अपनी आकांक्षा अभिव्यक्त की तथा विश्वास किया गया कि जनता–सरकार विभिन्न संवैधानिक मूल्यो, संस्थाओ एव परिपाटियो के स्वस्थ संस्थापीकरण करने की दिशा मे मार्ग प्रशस्त करेगी । सरकार ने इसके लिए पहले 43वां संविधान संशोधन विधयक 1977 पारित करवाया, जिसके द्वारा–उच्च न्यायालयो एव उच्चतम न्यायालयो को पुन केन्द्रीय एव राज्य विधियो की सांविधानिकता पर विचार करने का अधिकार प्रदान किया गया । 42 वें संशोधन अधिनियम, 1976 की शेष दुष्कृतियो को समाप्त करने के लिए 16 मई 1978 को विधि मन्त्री श्री शांतिभूषण ने लोकसभा म 45वां संशोधन विधेयक पेश किया । जैसा कि उद्देश्यो एव कारणो के वक्तव्य म बताया गया, विधयक का एक प्रमुख उद्देश्य पुन उस स्थिति को आने से रोकना है जिसम एक 'क्षणिक बहुमत (transient majority ') द्वारा संविधान म संरक्षित नागरिको के अधिकारो को छीन लिया जाये ।

(i) मूलभूत तत्वो के लिए जनमत संग्रह—
(Referendum for 'basic features' A New Device)

यद्यपि विधेयक मे संविधान की 'बुनियादी विशेषताए' (basic features') शब्द का प्रयोग नही किया गया है तथापि भावार्थ यही है । विधेयक यह प्रस्तावित करता है[1] कि संविधान में अमुक परिवर्तन जो इसक धर्म निरपेक्ष या जनतान्त्रिक स्वरूप (impairing its secular or democratic charater) को समाप्त करने, मूल अधिकारो को सीमित करने या छीनने वयस्क मताधिकार के आधार पर स्वतन्त्र एवं निष्पक्ष चुनावों को अवरुद्ध या पक्षपात पूर्ण करने तथा न्यायपालिका की स्वतन्त्रता के साथ समझौता करन का प्रभाव डालते हो तभी किये जा सकते है जब वे संसद के दोनों सदनो द्वारा विशेष बहुमत से पारित करने के अतिरिक्त भारत की जनता द्वारा

---

1 "Under the rules of the democratic game Parliament is expected to represent and reflect the will of the people Needless to say, it does so only indirectly and can at times fail to do so altogether as the country learnt to its cost in 1975 The proposed change in Article 368 is an insurance against a party in overwhelming power playing ducks and drakes with the Constitution It underlines the fact that in the ultimate analysis, Parliament is only an instrument of the people s will, not necessarily or always the sole repository of the people's sovereignty , The Indian Express January 3, 1977

जनमत सग्रह (Referendum) मे बहुमत से ग्रनुमोदित कर दिये जावे । ऐसे जनमत सग्रह मे कम से कम 51 प्रतिशत मतदाताग्रो का भाग लेना ग्रावश्यक है । इस व्यवस्था को ग्रनुच्छेद 368 मे सशोधन करके शामिल किया गया है । सवैधानिक सशोधनो के लिए सविधान की वतमान व्यवस्था (ससद मे दो तिहाई बहुमत की ग्रावश्यक्ता) कायपालिका के निरकुश कार्यो के विरुद्ध ग्रपर्याप्त (insufficiout safeguard arbitrary executive actions) साबित हुई है । बिधेयक पर प्रथम वाचन के दौरान लोकसभा मे जनमत सग्रह' की व्यावहारिकता पर ग्रनेक सदस्यो ने शकाए ग्रभिव्यक्त की तथा ग्रनेक विधि शास्त्रियो ने भी इस व्यवस्था की ग्रालोचना की । जनमत सग्रह हमारे देश की ग्रशिक्षित जनसख्या को पृष्ठभूमि मे एक खतरनाक एव कीमती व्यवस्था होगी । ग्राम चुनाव मे मतदान करना तथा जनमत सग्रह भिन्न चीजें हैं क्योकि दोनो मे लोगो के सामने ग्रलग ग्रलग मुद्दे होते हैं चुनाव मे पूववर्ती सरकार की उपलब्धिया या कमियाँ तथा भविष्य के लिए ग्राश्वासन होते हैं नागरिक ग्रासानी से विकल्प चुन सकते हैं । किन्तु जनमत सग्रह मे, मुद्दे ग्रमूत, ग्रत्यन्त पेचीदे तथा कभी कभी तो शिक्षित लोगो की समझ के बाहर होते है । इसके ग्रतिरिक्त जिस क्षणिक–बहुमत' से सुरक्षा प्राप्त करने हेतु यह व्यवस्था लागू की जा रही है, वह भी विवादास्पद है, क्योकि ग्राम चुनावो म ही, जिनमे भारी राजनतिक उत्साह एव जोश रहता है, 60 प्रतिशत से ग्रधिक मतदाता भाग नही लेते है ग्रत कुल मतदाताग्रो के ग्राधे से ग्रधिक लोगो के जनमत सग्रह मे भाग लेने की उम्मीद नही की जा सकती । इसके तात्पय यह हुग्रा कि तमाम मतदाताग्रो के 26 प्रतिशत मतदाता ही (51% of 51%) साठ करोड लोगो की ग्रोर से किसी सशोधन को स्वीकार ग्रथवा ग्रस्वीकार कर सक्ते हैं ।[1] इसके ग्रतिरिक्त प्रस्ताव 'तमाम व्यक्ति जो मतदाता के योग्य हो" ('all persons eligible to be voters') की बात करता है । इसकी व्याख्या करते समय उन सभी व्यक्तियो को शामिल करने हेतु की जा सकती है, जो कि जनमत सग्रह की तारीख तक ग्रपना नाम मतदाता सूची मे पजीकृत कराने के योग्य हो। इसका तात्पय हुग्रा कि प्रत्येक जनमत सग्रह से पूव मतदाता सूचिया ग्राधतन (upto date) की जावे । किन्तु सभवतया सरकार की यह मशा नही प्रतीत होती । द्वितीय, चुनाव ग्रायोग द्वारा घोषित परिणाम को किसी न्यायालय मे चुनोती नही दी जा सकती । क्या इसका तात्पय यह है कि गडबडिया, झूठे मतदान एव सविधान की "बुनियादी विशेषताग्रो' के विरुद्ध किये गये ग्रपराधो के ग्राधार पर भी क्या इसे चुनोती नही दी सक्ती ?

1 "This would also be a kind of "transient majority,' Dr K V Rao '45th Constitutional Amendment Risks of Referendum,' Time of India, August 14, 1978

डॉ० राव के अनुसार प्रस्तावों की सबसे आपत्तिजनक बात यह है कि ये न्यायिक पुनरावलोकन की अवधारणा को प्रत्यक्ष रूप से पुनर्जीवित करेंगे, जो कि काफी चिन्तन के पश्चात् अनु० 368 में खण्ड (4) एवं (5) द्वारा हटा ली गई थी।[1] अब इस विधेयक द्वारा खण्ड 4 (जो उच्चतम न्यायालय द्वारा स्वीकार किया जा चुका है) एवं खण्ड 5 (जिसे इसने अभी तक स्वीकार नहीं किया है) को हटा लेने से हम सांविधानिक संशोधनों के मामलों में भी जानबूझकर न्यायालयों को न्यायिक पुनरावलोकन की शक्ति प्रदान कर रहे हैं। यह क्षणिक बहुमत" के विरुद्ध सुरक्षा हो सकती है किन्तु यह संसद एवं न्यायपालिका के बीच संघर्ष के चिरपरिचित खतरे को पुनर्जीवित करता है। वास्तव में हम न्यायिक हस्तक्षेप (judicial interference) के लिए एक अन्य दरवाजा खोल रहे हैं। चूंकि उच्चतम न्यायालय ने अपने 'बुनियादी विशेषताओं" वाले सिद्धान्त को अभी तक नहीं छोड़ा है, अतः इसका तात्पर्य हुआ कि जनमत संग्रह के पश्चात् भी, प्रस्तावित संशोधन को न्यायालय में अब भी चुनौती दी जा सकती है। इस प्रकार उच्चतम न्यायालय द्वारा जनमत संग्रह के प्रावधान को संविधान के बुनियादी ढांचे में परिवर्तन मानते हुए अवैध ठहराने की संभावना से इन्कार नहीं किया जा सकता।[2]

---

1 A little background will explain the enormous import of what we are attempting to do now After several amendments had been made in Part III over a period of 17 years, the Supreme Court ruled in the celebrated G laknath case' that owing to some loopholes in drafting, Parliament did not have the power to 'abridge or take away' fundamental rights of Part III by way of amendment Parliament reacted by not onlp plugging the loophole but positively claiming the power to amend Part III, Subsequently in the Keshwananda Bharati case, the Supreme Court accepted the position that Parliament could amend any part of the Constitution but put a wider restriction that it should not amend its "basic features"—without defining what they are Parliament reacted by amending Article 368 and taking away the power of courts to decide the validity of constitutional amendments' (op ci)

Referendum Risky Proposition Need For Second Look" By Dr Sadanand Jha, Times of India, August 11, 1978,

"भारत मे सम्प्रभुता ससद मे निहित नही है जैसे कि ब्रिटेन मे हैं। न्यायिक निर्णयो विधि शास्त्रियो की रचनाओ एव ससदीय भाषणों मे यह बात कितने ही बार स्पष्ट की जाती रही है कि ससद न्यायपालिका एव कार्यपालिका सविधान के अन्तगत ही काय करते हैं, जो ही केवल सर्वोच है। और इसलिए भारत के लोग, जिन्होने इस सविधान को स्वय को अर्पित किया है, सम्प्रभु हैं न कि ससद।" यह अवधारणा दोषरहित प्रतीत होती है। किन्तु यह दुधारी तलवार के समान है। यह स्वीकार करने से कि सविधान सर्वोच्च है तथा ससद को इसके अन्तगत ही काय करना है, यह आवश्यक मालूम होता है कि ससद सविधान को नकार नही सकती। यह वस्तु स्थिति अनेक गूढ एव दिलचस्प समस्याओ को उजागर करती है। अगर यह स्वीकार कर लिया जाता है कि ससद सविधान मे दूरगामी सशोधन करने की अधिकारी नही है तो प्रस्तावित जनमत सग्रह के प्रावधान के बारे क्या कहा जायेगा? बिना किसी सदेह के यह निश्चित प्रकार के सशोधनो के सम्ब ध मे समस्त भावी ससदो की शक्तियो पर रोक होगी। यह एक गम्भीर मामला है। प्रश्न यह नही है कि जनमत सग्रह इच्छित है या नही, अपितु यह है कि क्या ससद सविधान मे इस प्रकार का बुनियादी परिवतन करने मे सक्षम है? उच्चतम न्यायालय का इस सम्बन्ध मे क्या रूख होगा? एक अन्य महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि क्या प्रस्तावित जनमत संग्रह के प्रावधान का सविधान मे पजीयन मतदान मे जनता के अनुमोदन पर निभर करेगा? तकनीकी दृष्टि से यह आवश्यक नही है। किन्तु मान कर चला जाए कि यह प्रावधान जनमत सग्रह (मतदान) के लिए प्रसारित नही किया जाता तब क्या भावी समय पर इस प्रावधान को बिना जनमत सग्रह के सविधान से हटाने पर कोई रोक होगी? स्थिति स देह से परे नही। दूसरी ओर अगर यह मतदान के लिए रखा जाता है तो यह खतरा भी सम्भावित है कि न्यूनतम 51 प्रतिशत मतदाता इसमे हिस्सा नही ले अथवा यह कि यह अनुमोदित नही किया जा सके।[1]

1 "It is interesting to examine the voting pattern suggested for a successfull referendum Suppose there are 40 crores *eligible voters when a referendum is held Suppose further* that out of these voters 20 crores and 40 lakhs voters (that is 51 percent) participate in polling and 10,20,00 001 vote in favour of proposal while the rest oppose it In this case the proposal is validly approved On the other hand suppose that 20,39,99 999 voters take part in the poll and all support the proposal on which the referendum is held Then it is not approved The absurdity of such a state of affairs is patent,'

(ii) सम्पत्ति का अधिकार (Right to property)— विधेयक यह भी प्रस्तावित करता है कि सम्पत्ति का अधिकार मूल अधिकार नही रहेगा तथा यह केवल कानूनी अधिकार (legal right) रहेगा। इसके लिए अनुच्छेद 19 से 'F' खण्ड ('to acquire, hold and dispose of property') को निकाला जा रहा है तथा अनुच्छेद 31 को हटाया जा रहा है एव अन्य अनुच्छेद शामिल करके यह व्यवस्था की जा रही है कि कोई भी व्यक्ति विधि के प्राधिकार के बिना अपनी सम्पत्ति से वचित नही किया जायेगा। अनुच्छेद 30 मे एक नया परन्तुक (proviso) और जोड़ा गया है जिससे अल्प सख्यको की सस्थाओ के अर्जन (acquisition of minority institutions) के सम्बन्ध मे मुआवजे के मामले मे अनुच्छेद 31 मे प्राप्त उनके अधिकार सुरक्षित रह सके। अनुच्छेद 31 A को भी कायम रखा गया है ताकि प्रतिपादित सीमा के अन्तर्गत भूमि के अधिग्रहण (acquisition of land within prescribed ceiling) के मामले म मुआवजे के रूप मे व्यक्ति पूरी बाजार कीमत प्राप्त कर सके।

जनता पार्टी ने अपने चुनाव घोषणा मे भी सम्पत्ति के अधिकार को मूलभूत अधिकारो से हटाने की बात कही थी। देश की अदालतो मे सविधान सम्बन्धी कई प्रमुख मुकदमे इसी अधिकार को लेकर चले हैं। सविधान के लागू होने के बाद जब जमीदारी जागीरदारी प्रथा की समाप्ति की गई तो यह अनुच्छेद आडे आ गया और इससे उबरने के लिए सविधान मे पहला सशोधन पेश करना पड़ा था एव नवी अनुसूची जोड़कर यह प्रावधान किया गया कि इस सूची मे जिन कानूनो को रख दिया है, उन्हे अदालतों मे चुनौती नही दी जा सकती। यदि उस समय सम्पति अधिकार सम्बन्धी अनुच्छेद को ही मूल अधिकारो से अलग कर दिया जाता तो भूमि सीलिंग के कानूनो म अड़चने नहीं आती। 'गोलकनाथ व केशवानन्द भारती' के नाम के ऐतिहासिक मुकदमे भी सम्पत्ति के मूल अधिकारो को लेकर चले तथा इसके साथ यह प्रश्न भी जुड गया कि सरकार को मूल अधिकारो मे रद्दो बदल का अधिकार है या नही, मुआवजे का प्रश्न अदालतो के दायरे म है या नही और यह विवाद कार्यपालिका और न्यायपालिका के बीच वर्षों तक चलता रहा। राजाओ के प्रीविपर्स व बैंकों के राष्ट्रीयकरण के कदमो को भी इसी अनुच्छेद के आधार पर अदालतो मे चुनौतियां दी गई।

अब तक के अनुभव ने यह सिद्ध कर दिया है कि सम्पत्ति के मूल अधिकार के कारण आर्थिक विषमता को समाप्त करने व सामाजिक आर्थिक न्याय की स्थापना मे भारी विघ्न बाधाए उत्पन्न हुई है और भूमिपति व सम्पतिशाली लोग इस अनुच्छेद की आड में सुधार के कदमो को अटकाते रहे तथा सामाजिक अन्याय एव शोषण के अधिकारो को बचाते रहे। सम्पत्ति के अधिकार को सविधान से हटा दिये जाने

पर वह एक सामान्य कानूनी अधिकार बना रहेगा। अत इस बारे मे कोई भ्रम या परेशानी नही होनी चाहिए। अत सम्पति अधिकार को मूल अधिकारो से हटाने से हमारा जनतत्र मजबूत बनगा।

(iii) मूल अधिकार व नीति निदेशक तत्व—इसी प्रकार से अब सविधान के अनुच्छेद '31-C के क्षेत्र को, जिसमे सम्पति अधिग्रहण को वाद अयोग्य (Not-justiciable) ठहराया गया था, केवल उन विधियो के अधिनियमित करने तक सीमित रखने की व्यवस्था की जा रही है जो ससद और विधान मण्डलो को अनुच्छेद 39 (b) एव (c) मे उल्लिखित नीति निदेशक तत्वो को प्रभावी बनाने के लिए विधि बनाने की शक्ति प्रदान करता है। ये तत्व उपलब्ध सामग्री का समान वितरण तथा सम्पदा के केन्द्रीयकरण को रोकने का निर्देश देते हैं।[1] सविधान के 42 वें सशोधन अधिनियम, 1976 द्वारा अनुच्छेद (31-C) मे सशोधन करके उसके क्षेत्र को और विस्तृत कर दिया गया था तथा उसमे सभी नीति निदेशक तत्वो को शामिल कर दिया गया था। अर्थात् मूल अनुच्छेद 31-C द्वारा केवल दो नीति निदेशक तत्वो को मूल अधिकारो के ऊपर प्राथमिकता प्रदान की गई थी किन्तु 42 वें सविधान सशोधन अधिनियम द्वारा समस्त नीति निदेशक तत्वो को मूल अधिकारो पर प्राथमिकता प्रदान कर दी गई थी। इस प्रकार प्रस्तावित विधेयक द्वारा 2 वे सशोधन के पूर्व की स्थिति पुन कायम की जा रही है। विधेयक के क्लाज 9 द्वारा नीति निदेशक तत्वो मे अनुच्छेद 38 मे कुछ शब्द और जोडे जा रहे है।[2] प्रस्तावित जोड (addition) का उद्देश्य आय (incomes) मे विषमताओ एव प्रादेशिक असन्तुलन को कम करने ('to reduce disparities in incomes as well as regional imbalences") की आवश्यकता पर विशेष बल देना है। वर्तमान खण्ड 38 राज्य को यह निर्देश देता है कि व जनहित की अभिवृद्धि करने ऐसी सामाजिक व्यवस्था

---

1 Art 39 (b) 'That the ownership and control of the *material resources of the community are so distributed as* best to subserve the common good"

Art 39 (c) that the operation of the economic system does not result in the concentration of wealth and means of production to the common detriment"

2 The State shall in particular strive to minimise the inequalities in status, facilities and opportunities, not only amongst individuals but also amongst groups of people residing in different areas or enganged in different vocation,'

की स्थापना का प्रयास करे जिसमें सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय ("a social order in which justice, social, economic and political") प्रत्येक व्यक्ति के लिए सुनिश्चित हो। ये ही वे निदेश हैं जो संविधान की प्रस्तावना में अन्तर्निहित हैं, जिसके अनुसार राज्य का कर्त्तव्य अपने नागरिकों के लिए सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय प्रदान करना है।

विधेयक में संविधान के अनुच्छेद 21 में अन्तर्निहित जीवन और स्वतन्त्रता के अधिकार (Right to life and liberty) एवं अनुच्छेद 20 को (यह विधेयक के पारित करते समय जोड़ा गया था) आपातकाल (बाह्य एवं आन्तरिक दोनों) में स्थगित नहीं किए जा सकने हेतु अनुच्छेद 359 में संशोधन प्रस्तावित किया गया है अर्थात् आपात काल के दौरान राष्ट्रपति के आदेशों से भी लोगों का जीवन और सम्पत्ति अधिकार के प्रवर्तन का निलम्बन नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार अनुच्छेद 358 के अन्तर्गत आपात काल की उद्घोषणा के प्रवर्तन के दौरान अनु० 19 में वर्णित मूल अधिकार (Fundamental right to freedom) के स्वतः निलम्बन (automatic suspension) की वर्तमान व्यवस्था को अब संशोधित कर इसे केवल बाह्य (external) आपात काल के दौरान तक सीमित किया जा रहा है। अर्थात् आन्तरिक-आपात काल की उद्घोषणा के प्रवर्तन के दौरान इस अनु० में वर्णित मूल अधिकार स्वतः निलम्बित नहीं होंगे।

विधेयक में एक नया अनुच्छेद 361 A जोड़ा जाकर संसद एवं विधान-मण्डलों की कार्यवाहियों के प्रकाशन के अधिकार को सांविधानिक सुरक्षा प्रदान की जा रही है। यहां तक कि आपात काल के दौरान व्यवस्थापिकाओं की कार्यवाहियां समाचार पत्र प्रकाशित कर सकेंगे। आपात काल के दौरान सत्ता के संभावित दुरुपयोग पर इससे भी काफी अंकुश रहेगा।

इसी प्रकार संविधान की नवीं अनुसूची (protection against judicial scrutiny) से 'मीसा' (Misa), रिप्रेजेंटेशन ऑफ दि पीपुल्स एक्ट, 'प्रीवेन्शन ऑफ पब्लिकेशन ऑफ ऑब्जेक्शन मेटरस एक्ट, आदि विभिन्न अधिनियमों को भी प्रस्तुत विधेयक द्वारा हटाया जा रहा है क्योंकि ये समाप्त (repeal) किये जा चुके हैं। कांग्रेस ने सम्पत्ति के अधिकार को प्रारम्भ में ही मूल अधिकारों से हटाने का साहसिक कदम नहीं उठा कर नवीं अनुसूची बनाने का विचित्र तरीका अपनाया। बाद में इस नवीं अनुसूची का दुरुपयोग किया गया तथा मीसा, आपत्तिजनक सामग्री छापने जैसे अनेक सामान्य कानूनों को भी इस सूची में रख कर इन्हें न्यायालयों की परिधि से अलग कर दिया गया। अतः अब जब कि सम्पत्ति की धारा मूल अधिकारों से हटाई जा रही है, तो फिर नवीं अनुसूची की जरूरत नहीं रहेगी और शासन द्वारा जनता की अन्य आजादियों का हड़पने का खतरा भी खत्म होगा।

(iv) उच्च न्यायालयों का क्षेत्राधिकार—

45वें सशोधन विधेयक द्वारा सविधान के ग्रनुच्छेद 226 (Power of High Courts to issue certain writs) मे भी सशोधन करके उच्च न्यायालयो पर लेख क्षेत्राधिकार एव ग्रन्य निर्देश जारी करने पर लगाये गये प्रतिबन्धो को हटाया जा रहा है, दृष्टव्य है कि 42 वें सशोधन द्वारा उच्च न्यायालय के लेख-क्षेत्राधिकार की पुन परिभाषा की गई थी।[1] सशोधित ग्रनुच्छेद मे "किसी ग्रन्य प्रयोजन के लिए' ('For any other purpose") शब्दावली को नही रखा गया, जिसके ग्रधीन उच्च न्यायालयो के पास प्रत्यक्ष या ग्रप्रत्यक्ष रूप से हर प्रकार के विधिक ग्रधिकार के

---

1 "The writ Jurisdiction of a High Court under Art 226 of the 1949—Constitution has been curtailed in various directions by the 42 nd Amendment Act Under the amended Article a High Court shall have power to issue a writ in the nature of prerogative writs only for the following purposes

(A) Enforcement of Fundamental Rights The existing jurisdiction on this point will be continued, subject to changes when the constitutionality of an Act is challenged in such proceeding [vide Art 226 A, 228 A (1)]

(B) Where there has been a violation of any mandatory provision of the Constitution other than the Fundamental Rights provided there is no other remedy [Art 226 (1) (b), (3)]

(C) where there has been a contravention of any statutory law, including subordinate legislation, subject to the following conditions

(i) It will not extend to contravention of laws relating to the matters specified in Arts 323 A–B

(ii) In other cases of violation of statutory law, this remedy will not be available—

(a) Where an alternative remedy is available under the constitution or any statutory law [Art 226 (3)]

संरक्षण करने के क्षेत्राधिकार की शक्ति निहित थी। अब 45 वें संशोधन विधेयक द्वारा पुनः यह शब्दावली ('For any other purpose") शामिल करके 42 वें संशोधन की पूर्व स्थिति की पुनर्स्थापना की जा रही है तथा उच्च न्यायालयों को पुनः मूल अधिकारों के अतिरिक्त "किसी अन्य प्रयोजन के लिए" भी लेख-क्षेत्राधिकार (writ jurisdiction) प्रदान किया जा रहा है।

इसी प्रकार 45वें संशोधन विधेयक द्वारा 42 वे संशोधन अधिनियम द्वारा संविधान में जोड़े गये नये भाग (Part XIV-A Tribunals) को संविधान से निकाला जा रहा है। द्रष्टव्य है कि इस नये अध्याय में दो नये अनुच्छेद रखे गये Art 323 (A) एवं (B) इन अनुच्छेदों के अधीन संसद को विभिन्न मामलों के विनिश्चय के लिए विभिन्न प्रकार के अभिकरणों (Tribunals) की स्थापना की शक्ति दी गई थी। साथ ही 42वें संशोधन अधिनियम द्वारा अनु० 227 से 'अधिकरण' शब्द को निकाल दिया गया था और यह स्पष्ट किया गया था कि उच्च न्यायालयों को अब अधिकरणों पर निरीक्षण या नियन्त्रण की शक्ति नहीं होगी। इनके निर्णयों के विरुद्ध पीड़ित व्यक्ति अनु० 136 (special leave to appeal by Supreme Court) के अन्तर्गत ही उच्चतम न्यायालय में अपील कर सकता है। साथ ही इस अधिनियम द्वारा दो नये अनुच्छेद 226 A एवं 228 A जोड़कर भी उच्च न्यायालयों के क्षेत्राधिकार को काफी सीमित तथा न्यायिक प्रक्रिया को काफी जटिल बना दिया गया था। कुछ सुधार तो, जैसे अनु० 226 A एवं 228 A आदि नये अनुच्छेदों को 43 वे संशोधन अधिनियम, 1977 द्वारा संविधान से हटा कर, कर दिये गये थे। और अब 45वें संशोधन विधेयक में अन्य बातों को लिया गया है

(b) The Court shall have no power to issue on exparte interim stay or injunction or similar other [cl (4)] An interim order can be issued only after notice to the respondents and giving them an opportunity to be heard [cls (4)-(5)] but no interim order shall be available at all in the cases specified in cl (6)

(D) where proceedings by or before any authority have been vitiated by any illegality, provided such illegality has caused injury and a substantial failure of justice [cl (1) (c)] and there is no other remedy for the redress of such injury

तथा उच्च यायालयों को पुन 42 वे सशोधन के पूर्व का क्षेत्राधिकार प्रदान किया जा रहा है। इसी प्रकार इस विधेयक द्वारा अनु० 217 मे सशोधन करके उच्च यायालयों मे बनाये जाने वाले यायधीशो के लिए पुन 10 वर्ष के अनुभव की आवश्यकता निश्चित की जा रही है।

(v) उच्चतम यायालय का क्षेत्राधिकार व राष्ट्रपति प्रधानमन्त्री आदि के चुनाव विवाद —

सविधान के (39 वे सशोधन) अधिनियम, 1975 द्वारा सविधान के अनु० 71 मे सशोधन करके राष्ट्रपति या उपराष्ट्रपति के चुनाव से सम्बन्धित विवादों के निपटारे की शक्ति उच्चतम यायालय से छीन ली गई थी तथा ससद द्वारा पारित विधि के अधीन बनाये गये प्राधिकारी या सस्था (body) मे निहित कर दी गई थी। यद्यपि इस प्रकार की बाद मे कोई विधि पारित नही की गई, किन्तु उच्चतम-यायालय का इस सम्बन्ध मे क्षेत्राधिकार नही रह गया था। अब 45 वे सशोधन विधेयक के क्लाज 10 द्वारा इस अनुच्छेद 71 मे सशोधन करके उच्चतम यायालय को पुन यह अधिकार प्रदान किया जा रहा है।

इसी तरह से सविधान के (39 वें सशोधन) अधिनियम, 1975 द्वारा सविधान मे एक नया अनुच्छेद–329 A (spec al provision as to elections to parliament in the case of Prime Minister and Speaker) जोड़ा जाकर प्रधानमन्त्री और लोक सभा के अध्यक्ष के निर्वाचन-विवाद को यायालय की अधिकारिता से परे कर दिया गया था तथा ससद द्वारा पारित विधि के अधीन बनाये गये प्राधिकारी या सस्था को यह अधिकार प्रदान कर दिया गया था। अब 45 वे सशोधन विधेयक के क्लाज 37 द्वारा इस नये अनुच्छेद (329 A) को सविधान से निकाला जा रहा है।

(vi) निवारक नजरबन्दी प्रावधान—(Preventive Detention Provision)

45 वे सशोधन विधेयक द्वारा सविधान के अनुच्छेद 22 म सशोधन करके किसी व्यक्ति को सलाहकार बोर्ड (Advisory Board) की पुष्टि के बिना नजर बन्द करने की अवधि तीन महीने से घटा कर दो माह किया जा रहा है। साथ ही इस विधेयक द्वारा अनु० 22 (7) (a) को सविधान से निकाला जा रहा है, ताकि बिना सलाहकार बोर्ड की राय या पुष्टि के व्यक्ति की नजरबन्दी की इस अवधि को और आगे बढाने (a period longer) की ससद की शक्ति समाप्त की जा सके।

आपात काल में मीसा के कटु अनुभव की याददाश्त ताजा होने के कारण लोक सभा में निवारक नजरबन्दी के पूरे प्रावधान को संविधान से नहीं हटाने के कारण सरकार को सत्ता एवं विपक्षी पक्ष के अनेक सदस्यों[1] के क्रोध का शिकार होना पड़ा। सदस्यों ने 'बिना मुकदमे के नजरबन्दी' ('detention without trial') की व्यवस्था की कटु आलोचना की।

45 वां संशोधन विधेयक (जिसे बदल कर 44 वां संशोधन विधेयक घोषित किया गया) लोकसभा द्वारा पारित किया जा चुका है किन्तु राज्य सभा ने इसकी पांच व्यवस्थाओं को अस्वीकृत करते हुए लोकसभा को लौटा दिया।"

---

1 'Mr Ram Jethmalani, a leading lawyer and Janta member declared that he was not going to support this clause, "whatever the consequences' He said reliance on preventive detention was characteristic of tyranical, weak, incompetent and corrupt governments' A Muslim League member, Mr G M Bantwala called it tragic that preventive detention legislation is going to be a subject matter of 'normal peacetime legislation" The vital question is detention with out trial," he emphasised "That smacks of a feudal society,' and it was "a lawless law' and was repugnant to democracy' Times of India, August 11, 1978

2 The Constitution (44th Amendment) Bill will come before the Lok Sabha in the winter session as passed by the Rajya Sabha (on 30th August 1978) where the opposition majority voted down five vital clauses The clauses voted down relate for repealing a provision for appointment of administrative tribunals, restoring to the fundamental rights chapter primacy over the directive principles, provision for vesting the electorate with the sovereign power to approve or reject in a referndum any amendment prejudicially affecting the basic features and restoration of the subjects of education and forest to State List from the Concurrent List,

अब सरकार के सामने दो विकल्प हैं—या तो वह समय बीतने दे तथा इस विधेयक की अवधि समाप्त (lapse) हो जाने दे या फिर पुन लोक सभा म इसे पारित करवा कर अधिनियम बनाने का प्रयास करे। प्रथम विकल्प मे यह खतरा है कि वह चुनाव-घोषणा पत्र मे जनता को दिए गए वचन को पूरा नही कर सकने की दशा म लोगो का उसे कोपभाजन होना पडेगा तथा साथ ही 42 वे सशोधन की दुष्कृतिया ज्यो की त्यो कायम रहेगी। अत विधि मत्रालय ने कैबीनेट को दूसरा विकल्प चुनने की सिफारिश की है।

3

व्यवस्था के अग : सघीय कार्यपालिका राष्ट्रपति एव प्रधानमन्त्री

विधि शास्त्रियो के अनुसार भारतीय राष्ट्रपति सवशक्तिमान है, जबकि राजनीति शास्त्रियो का यह तक है कि वह मात्र एक सवैधानिक अध्यक्ष है जो शक्ति का नही बल्कि प्रभाव का प्रयोग करता है। यद्यपि भारत मे ससदीय शासन से सम्ब धित सिद्धा त व व्यवहार ने अब तक राजनीति शास्त्री क मत की पुष्टि की है फिर भी नाम मात्र के अध्यक्ष के वास्तविक कायपालिका बन जाने की सम्भावनामो के पक्ष म तक दिय जाते रहे हैं, कभी एक स्वत त्र राष्ट्रपति का विकल्प प्रस्तुत कर जैसाकि के० एम० मुशी ने किया और कभी साझा मन्त्रिमण्डल की स्थिति मे उसकी सम्ब धित भूमिका की सम्भावनामो के नाम पर जिसने 1969 के राष्ट्रपति के चुनाव को इतना अधिक विवादास्पद बना दिया था।

जो विवाद चलता आ रहा था, वह सविधान की धारा 71 (1) के सम्ब ध मे था जिसम यह व्यवस्था है कि 'राष्ट्रपति को उसके कार्यों के सम्पादन के सम्बन्ध मे सहायता व परामश देने के लिए एक मन्त्रिमण्डल होगा जिसका सर्वोच्च पद प्रधानम त्री का होगा।' इस व्यवस्था को लेकर ही डी० एन० बनर्जी ने यह मत प्रकट किय, "आवश्यक प्रश्न यह है कि क्या राष्ट्रपति हर स्थिति म अपनी परिषद की सलाह मानने के लिए कानूनी रूप से बाध्य है। मेरा यह अनुरोध है कि वह इसके लिए बाध्य नही है।"[1] इसी प्रकार ग्लेड हिल ने कहा, यह तक दिया जा सकता है कि सविधान म राष्ट्रपति के तानाशाह बनने से बचाव के लिए पर्याप्त व्यवस्थाए

---

1 "पोजिशन आफ दि प्रेसीडेन्ट ऑफ इडिया", दि माडन रिव्यु, कलकत्ता, दिस 1950 पृ 458

नही है विना सविधान का उल्लघन किए हुए राष्ट्रपति अधिनायकवादी सरकार की स्थापना कर सकता है ।"[1] इस विवाद को स्वय भारत के प्रथम राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र प्रसाद ने फिर से उठाया था । भारतीय विधि सस्थान मे एक भाषण क दौरान उन्होने इस तथ्य की ओर ध्यान आकृष्ट किया कि "सविधान मे कोई ऐसी सुनिश्चित व्यवस्था नही है जिसके अनुसार राष्ट्रपति अपनी मत्रि परिषद् के परामश के अनुसार काय करने के लिये बाध्य हो ।'[2] उन्होने इस आवश्यकता पर बल देत हुए कहा कि 'वैज्ञानिक पद्धति से इस सन्दभ मे अध्ययन और परीक्षण होने चाहिए ताकि राष्ट्रपति के कार्यों और शक्तियो की सीमाओ का आभास हो सके ।" कुछ दिना बाद श्री नेहरू ने एक सवाददाता सम्मेलन मे यह घोषणा की कि डा० प्रसाद के ये विचार "आकस्मिक' है ।[3] चाहे कुछ भी हो, भारत के प्रथम राष्ट्रपति की हैसियत से दिए गए डा० राजेन्द्र प्रसाद के उक्त विचारो ने तत्कालीन विधि मन्त्री श्री ए० के० सेन के शब्दो मे "सविधान के क्रियान्वन के बाद से सर्वाधिक प्रमुख राजनतिक विवाद का रूप ले लिया ।'

इस विवाद के सन्दभ म राष्ट्रपति को प्रदान की गई भूमिका के बारे मे कहा जा सकता है कि, सविधान सभा म हुए विचार विमश ने तीन मुद्दो को स्पष्ट कर दिया ।[4] प्रथम तो यह है कि सविधान निर्माताओ का सुस्पष्ट अभिप्राय ससदीय सरकार को स्वीकार करना था । द्वितीय, ससदीय शासन व्यवस्था को अगीकृत करने के स्वाभाविक परिणाम के रूप मे उन्होने यह स्वीकार किया कि भारत का राष्ट्रपति ब्रिटेन के सम्राट की ही भाति एक सवैधानिक अध्यक्ष होगा और वह इस शासन की मा यता प्राप्त अभिसमयो (Conventions) के प्रति बाध्य होगा जैसे मन्त्रियों के परामश के अनुसार उस काय करना होगा । तृतीय, सविधान निर्माताओ का यह आशय था कि राष्ट्रपति का सवैधानिक अध्यक्ष बनाया जावे लेकिन इस बात के भी प्रमाण हैं कि व उसे नाम मात्र का अध्यक्ष ही नही बनाना चाहते थ ।

यदि यह मान लिया जाए कि राष्ट्रपति सविधान निर्माताओ के 'इरादो' स निर्देशित होने के लिए बाध्य नही है तो उस स्थिति मे सविधान की वास्तविक व्यवस्थाओ से उत्पन्न अवस्था क्या होगी ?

---

1 "दि रिपब्लिक आफ इण्डिया" लन्दन, 1951

2 दि हिन्दुस्तान टाइम्स, 30 नवम्बर, 1960

3 दि हिन्दुस्तान टाइम्स, 26 माच, 1961 पृ० 6

4 के आर बम्बवाल दि प्रेसिडेन्ट ऑफ इण्डिया : लिमिट्स आफ [illegible] इण्डियन जरनल आफ पोलिटिकल साइन्स, खण्ड XXVII, 3 द दिसम्बर अ क VI 23 36

राष्ट्रपति की शक्तियों के सम्बन्ध में समस्त विवाद 53 (1)[1], 74 (1)[2] 75 (2)[3] तथा 75 (3)[4] धाराओं की व्याख्या पर आधारित है। इन धाराओं का दृढ़ व सुनिश्चित मत यह स्पष्ट करती है कि अनिवार्यतः एक मंत्रि परिषद होनी चाहिए और राष्ट्रपति बिना उसकी सलाह के कार्य नहीं कर सकता।

एक उत्तरदायी मंत्रिमण्डल के (धारा 75 3 के अनुसार मन्त्रि परिषद सामूहिक रूप से लोक सभा के लिए उत्तरदायी है) के साथ-साथ एक ऐसे राष्ट्रपति की भी व्यवस्था जो अपनी इच्छानुसार मन्त्रियों को बर्खास्त कर (धारा 75 2 यह व्यवस्था करती है कि मन्त्री राष्ट्रपति के प्रसाद पर्यन्त अपने पद पर रहेंगे) सके, अन्तर्विरोधी है। अत मंत्रिमण्डलीय उत्तरदायित्व के सिद्धान्त को सुस्पष्ट अभिव्यक्ति के लिए राष्ट्रपति के समानार्थक संवैधानिक स्थिति के रूप में ग्रहण करना चाहिए। एक महत्वपूर्ण निर्णय द्वारा सर्वोच्च न्यायालय ने इस दृष्टिकोण का समर्थन किया।[1]

स्पष्टतः राष्ट्रपति द्वारा निरंकुश शक्तियों के प्रयोग को किसी कानूनी व्यवस्था की अपेक्षा राजनतिक अथवा अभिसामयिक व्यवस्था द्वारा ही रोका जा सकता है। मन्त्रिपरिषद से टकराव में अन्ततोगत्वा राष्ट्रपति की ही हार होगी और कोई भी राष्ट्रपति इस प्रकार मन्त्रियों की सलाह के विरुद्ध अपनी सत्ता स्थापित करने का प्रयास नहीं करेगा। गत वर्षों के दौरान राष्ट्रपति के वास्तविक कार्यों व व्यवहारों से प्राप्त प्रमाणों के आधार पर इस धारणा की पुष्टि होती है। सहमति स्वरूप

---

1 Article 53 (1) The Executive power of the Union shall be vested in the President and shall be exercised by him either directly or through officers sub-ordinate to him in accordance with this Constitution'

2 Article 74 (1) There shall be a Council of Ministers with the Prime Minister as its head to aid and advise the President in the exercise of his functions' (Prior to the 42nd Amendment Act 1976)

3 Article 75 (2) The Ministers shall hold office during the pleasure of the President'

4 Article 75 (3) The Council of Ministers shall be collectively responsible to the House of the People

रामनवाया बनाम पंजाब सरकार (1955, 2 एस सी आई 255)

अर्जित राय यह है कि राष्ट्रपति ने अब तक सविधान निर्माताओं की इच्छानुसार काम किया है अर्थात वह एक सवैधानिक अध्यक्ष ही रहा है। लेकिन जैसाकि बी एन राव ने कहा है कि मन्त्रियो की सलाह पर काम करने का यह अथ नही होता कि मन्त्रियो के प्रथम विचारो को ही तत्काल मान लिया जाय। वह किसी भी प्रस्तावित मसौदे पर अपनी आपत्तिया स्पष्ट कर सकता है। और आवश्यक होने पर मन्त्रि परिषद के सदस्यो से उन पर पुनर्विचार का आग्रह कर सकता है। उसे बिल्कुल अन्तिम स्थिति मे मन्त्रियो के परामश को मानना है।[1] इस प्रकार भारतीय राष्ट्रपति को ब्रिटिश सम्राट की ही भांति तीन परम्परागत अधिकार प्राप्त है—सलाह लिए जाने का अधिकार प्रोत्साहन का अधिकार तथा चेतावनी का अधिकार है। इस प्रकार आइवर जनिंग्स ने जो कुछ ब्रिटिश सम्राट के लिए कहा, वह भारतीय राष्ट्रपति पर भी समान रूप से लागू होता है। साधारण नीतियो के सम्बन्ध मे उसका प्रभाव 'महत्वपूर्ण हो सकता है लेकिन वही निर्णायक घटक नही होता। यह सलाहकारी है, न कि निर्णायक।"[2]

निष्कष रूप से कहा जा सकता है कि, जैसाकि विगत वर्षों म कहा जाता रहा है कि क्या भारतीय राष्ट्रपति तीन चौथाई ब्रिटिश सम्राट व एक चौथाई अमेरिकी राष्ट्रपति रहेगा, या वह भारतीय मुकुट बनकर प्रकट होगा या क्या डा राजेन्द्र प्रसाद डा० राधाकृष्णन, डा० जाकिर हुसैन एव श्री वी वी गिरी आदि द्वारा स्थापित सविधानवाद की परम्पराए भारतीय भूमि म गहरी बैठ चुकी है या नहीं आदि प्रश्नो का उत्तर भविष्य के गर्भ म निहित है तथा भारत के भावी राजनतिक वातावरण पर निभर है। जब तक भारत के राजनैतिक परिवेशो म कोई बुनियादी परिवतन नही होता और जब तक सविधान की भाषा इसकी अन्तरात्मा पर हावी नही होती, तब तक तर्कों के आधार पर यह विश्वास किया जा सकता है कि भारतीय राष्ट्रपति इसी निर्धारित वाछनीय नीति पथ पर चलेगा।

कुछ समय पूव बी एन राव ने यह लिखा था कि 'कोई भी व्यक्ति भारतीय राष्ट्रपति के भविष्य की इससे सुखद कल्पना नही कर सकता कि वह अधिकाधिक

बी एन राव इण्डियाज कान्स्टीट्यूशन इन दि मेकिंग, 1960 पृ० 382
केबीनेट गवनमेण्ट लन्दन, तृतीय सस्करण 1959 पृ० 339

ब्रिटिश सम्राट की भांति हो—कानूनी शक्ति से परे, दलगत संघर्षों से दूर तथा नैतिक सत्ता प्राप्त ।'[1]

राष्ट्रपति का चुनाव—यहाँ भूमिका के रूप में यह ध्यान में रखना होगा कि राष्ट्रपति की स्थिति का आधार है—चुनाव प्रणाली । संविधान सभा में मोटे रूप से यह निश्चित किया गया कि भारत की राजनीतिक व्यवस्था में इसका क्या स्थान होगा तथा इसको बनाए रखने के लिए कौनसी प्रणाली उपयुक्त होगी इस सम्बन्ध में यह महत्वपूर्ण है कि हम उन विकल्पों को दोहरायें जो इसके चुनाव के क्रम में संविधान सभा के समक्ष थे ।

(A) राष्ट्रपति का प्रत्यक्ष रूप से चुनाव—इस बारे में बहुत बातचीत हुई । इसके पक्ष में तीन बातें उभरी व कहा गया कि राष्ट्रपति का पद स्वतन्त्र आधार का होना चाहिए —

(i) यदि राष्ट्रपति प्रत्यक्ष चुना जायगा तो वह जनता का वास्तविक प्रतिनिधि होगा । इससे उसकी शक्ति का नैतिक बल प्राप्त होगा तथा परिणामतः राष्ट्रीय हित में प्रधान मन्त्री पर अपना प्रभाव जता सकेगा ।

(ii) इस प्रणाली से राष्ट्रीय एकता को बढ़ावा मिलेगा क्योंकि सम्पूर्ण देश के लोग एक साथ मिलकर राष्ट्रपति चुनेंगे । स्वाभाविक है कि इससे राष्ट्र निर्माण में सहयोग मिलेगा ।

(iii) प्रत्येक देश की जनता में 'हीरो वरशिप' की भावना होती है । वह किसी नेता को अपनी श्रद्धा व निष्ठा के बिन्दु के रूप में देखना चाहते

---

1 पूर्वोक्त, पृ० 382 साथ ही विस्तृत अध्ययन के लिये देखिए—
एच एम जैन 'एक्ज्यूटिव पोजीशन आफ दि प्रेसिडेन्ट', दि यूनियन एक्जीक्यूटिव, इलाहाबाद, चैतन्य पब्लिसिंग हाउस 1969
कुरेशी, जेड एम 'स्ट्रगल फॉर राष्ट्रपति भवन ए स्टडी आफ प्रेसिडेन्शियल इलेक्शन्स', देहली, विकास पब्लिसिंग हाउस 1973 पृ० 139 117
राव, के वी 'पार्लियामेन्ट्री डेमोक्रेसी आफ इण्डिया ए त्रिटिकल स्टडी' कलकत्ता, वर्ड प्रेस, 1965, पृ० 27–63
फ्रेगटन, लेसी 'इण्डिया इनसाइटस पब्लिक इस्यूज इन प्राइवेट परसपेक्टिव", ओरियन्ट लोंगमेन 1972 अध्याय प्रथम पृ० 15–46
एच एन पण्डित दि प्राइम मीनिस्टरस प्रेसीडेन्ट ए यू गवनमेन्ट गान ट्रायल (1974) एस चान्द एण्ड कम्पनी ।

है और यदि राष्ट्रपति का चुनाव प्रत्यक्ष होता है तो इस 'हीरोवरशिप' की भावना की सतुष्टि हो सकेगी। इससे देश के जनतन्त्र को खतरा नही होगा क्योकि वास्तविक शासक राष्ट्र का प्रधान मन्त्री है। राष्ट्रपति 'हीरोवरशिप' के रूप मे उभरता भी हु तो वह सवैधानिक अध्यक्ष बना रहेगा। भारत म भी इग्लैण्ड जैसी परिस्थिति हो जायेगी। यहा पर इस सम्बन्ध मे बेजहाट की धारणा को दोहराया गया। उसने कहा था कि इग्लैण्ड के सविधान के दो भाग हैं—(i) मर्यादा से सम्बन्धित (ii) कुशलकाय सचालन से सम्बन्धित। जहा तक मर्यादा सम्बन्धी पक्ष का सम्बन्ध है, उसका अध्यक्ष सम्राट है। वह एकता, देशभक्ति, राष्ट्रप्रेम व निष्ठा का केन्द्र है। कुशल काय सचालन के पक्ष का अध्यक्ष प्रधानमन्त्री है। वह यर्थाथ की राजनीति का प्रबन्ध करता है। इस प्रकार दोनो मिलकर देश की व्यवस्था को सुचारू रूप से चलाते हैं। इसलिए भारत म यह कहा गया कि प्रत्यक्ष चुनाव से राष्ट्रपति एकता व देश भक्ति का केन्द्र बन जायगा और प्रधानमन्त्री कुशल काय कलापो से सम्बन्धित रहेगा। दोनो मिलकर मनोवैज्ञानिक व राजनैतिक मान्यताओ की पूर्ति करते हुए देश का राजनैतिक विकास करेंगे।

परन्तु इन तर्कों से कही अधिक मजबूत तक ये, जो इस मान्यता के विरोध मे दिए गए —

(i) यह बात दोहराई गई कि ससदीय प्रणाली म राष्ट्रपति का प्रत्यक्ष चुनाव ससदीय प्रणाली का निषेध है जैसे ही राष्ट्रपति के प्रत्यक्ष चुनाव का प्रावधान होगा, वह हमे अध्यक्षात्मक व्यवस्था की ओर ले जायगा, जो हमारी मूल धारणा के विरुद्ध होगा।

(ii) यदि राष्ट्रपति को सवैधानिक अध्यक्ष ही बनाना है तो प्रत्यक्ष चुनाव का कोई महत्व ही नही होगा। देश मे प्रधानमन्त्री का चुनाव व्यावहारिक राजनीति म प्रत्यक्ष कहा जा सकता है। अब तक राजनीति म प्रधान मन्त्री के नाम स चुनाव जीते व हारे गए हैं। इसलिए एक व्यक्ति को प्रत्यक्ष चुनकर राजनीतिक व्यवस्था को विशेष लाभ प्राप्त नही होगा। प्रधान मन्त्री एव राष्ट्रपति क बीच इससे तनाव की स्थिति हो सकती है।

(iii) अगर यह मान भी लिया जाए कि राष्ट्रपति को तटस्थ होना चाहिए एव स्वतन्त्र होकर उसे राष्ट्रीय हितो का सरक्षण करना चाहिए तो भी इस स्थिति से राष्ट्रपति की स्वतन्त्र स्थिति व राष्ट्र के की कल्पना को बल नही मिलेगा। प्रत्यक्ष चुनाव उसे

रीच सायेगा। चुनाव के आवरण से ही दलीय स्वरूप स्पष्ट हो जायगा व व्यवहार म अपन कार्यों म इस दलीय पक्षपात का बनाव रखेगा।

संविधान सभा के समक्ष दूसरा विकल्प था —

(B) केवल संसद द्वारा राष्ट्रपति का चुनाव—इस सुझाव को नाम मात्र का समर्थन प्राप्त था तथा इसके विरोध म अधिक बातें कही गई। इसके पक्ष म केवल यह कहा गया कि चूंकि मुख्य रूप से राष्ट्रपति केन्द्र का अध्यक्ष होगा, इसलिये ससद के दोनो सदन मिलकर उसका चयन कर। यह भी कहा गया कि यदि ऐसा होगा तो राष्ट्रपति को हटाये जाने के ससद के महाभियोग के अधिकार का विवेकयुक्त आधार बन सकेगा। जब ससद उसे चुनेगी तो यह स्वाभाविक होगा कि वह उसे पद स हटा सके। यह भी कहा गया कि ससद द्वारा चुनाव राष्ट्रपति को सवैधानिक अध्यक्ष बनने म बाधक नही होगा क्योकि उसके चुनाव म निश्चयात्मक ढग से प्रधान मन्त्री की महत्वपूर्ण भूमिका रहेगी।

परन्तु इस व्यवस्था के विरोध मे भी कही अधिक प्रभावशाली तर्क दिये गये—

(i) ससद द्वारा राष्ट्रपति का चुनाव मोटे रूप से प्रधान मन्त्री के चुनाव की स्थिति को पुनः दोहरा देगा और इस प्रकार से जो व्यक्ति चुना जावेगा उसका वह सम्मान या प्रभाव प्राप्त नही होगा, जो कि प्रधान मन्त्री को प्राप्त है। इसलिए यह व्यवस्था उचित नही है।

(ii) राष्ट्रपति सघीय व्यवस्था का अध्यक्ष है इसलिए उसके चुनाव मे राज्यो की महत्वपूर्ण भूमिका होनी चाहिए। यदि ससद ही चुनाव करती है तो यह दलीय चुनाव होगा। केन्द्र म जो दल प्रधान है राष्ट्रपति उसी का प्रतिनिधि बनकर रह जायेगा। इस प्रकार चुना गया व्यक्ति केन्द्रीय सरकार का अध्यक्ष तो हो सकता है, किन्तु यह न्याय सगत ढग स सघीय सरकार का अध्यक्ष नही कहा जा सकता।

(C) सविधान सभा के समक्ष इस सम्बन्ध म तीसरा सुझाव यह आया कि ष्ट्रपति का चुनाव विशेष "इलेक्टोरल कॉलेज" द्वारा किया जाए परन्तु प नेहरू ा इस व्यवस्था की आलोचना के साथ ही यह सुझाव समाप्त हो गया। कहा कि इसमे धन समय व उत्साह का व्यथ मे व्यय होगा, अत इसम कोई विशेष नही दिखाई देता है।

(D) अन्त म जो विकल्प स्वीकार किया गया तथा जो स्वय मे इन विकल्पो ली जुली व्यवस्था कहा जा सकता है, उसके निश्चित उद्देश्य थे —

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

अब हम एक सदस्य के मत को निम्न सूत्र से इस प्रकार निकालेंगे—

$$\frac{\text{राज्य की जनसख्या}}{\text{विधान सभा के निर्वाचित सदस्यो की कुल सख्या}} - 1000$$

$$= \frac{2\,08{,}49\,840}{208} - 1000$$

$$= \frac{100239}{1000}$$ (239 को छोड़ दिया जायेगा, क्योकि वह 500 से कम है)

$$= 100$$

इस प्रकार इस राज्य के प्रत्येक सदस्य को 100 मत देने का अधिकार होगा और विधान सभा का कुल मत $100 \times 208 = 20800$ होगा।

उपखण्ड (c) के अनुसार प्रत्येक सदन के प्रत्येक निर्वाचित सदस्य के मतो की सख्या वही होगी जो अनुच्छेद 55(2) के उपखण्ड (a) एव (b) के अधीन राज्यो की विधान सभाओ के सदस्यो के लिए नियत सम्पूर्ण मत सख्या को ससद के दोनो सदनो के निर्वाचित सदस्यो की कुल सख्या से भाग देने से आये जिसमे आधे से अधिक भिन्न को एक गिना जायगा और यदि कम है तो उसकी उपेक्षा की जायगी। उक्त गणना के अनुसार मान लो कि राज्य विधान सभाओ के सदस्यो की कुल मत सख्या 74940 है और ससद के दोनो सदनो मे कुल 750 निर्वाचित सदस्य है तो ससद के प्रत्येक सदस्य को निम्नलिखित मत देने का अधिकार होगा—

$$= \frac{\text{राज्य विधान सभाओ के मतो की कुल सख्या} = 74940}{\text{ससद के निर्वाचित सदस्यो की कुल सख्या} = 757}$$

$= 99\frac{23}{25}$, क्योकि भिन्न $\frac{23}{25}$ आध से अधिक है

इसलिए प्रत्येक सदस्य के मत मे एक मत और जोड़ दिया जायेगा, अर्थात् एक सदस्य $99 + 1 = 100$ मत देने का अधिकारी होगा।

इस प्रकार के मतो के मूल्य के आधार पर मतों की गणना की जाती है और यदि प्रथम वरीयता (First Preference) के मतो की गणना मे किसी उम्मीदवार को जीत के लिए आवश्यक पचास प्रतिशत से अधिक मत नही मिल पाते, तो द्वितीय वरीयता (Second Pr ference) के मतो की गणना कर उसके आधार पर चुनाव का फैसला किया जाता है।

राष्ट्रपति पद की अवधि (Term of office of President)—अनुच्छेद 56(1) के अन्तगत राष्ट्रपति अपने पद ग्रहण करने की तारीख से 5 वष तक की अवधि तक पद धारण करेगा। अनुच्छे 57 के अधीन वह उस पद के लिए पुनर्निर्वाचित किया जा सकता है इसके विपरीत अमेरिका के सविधान मे 22वें सशोधन के द्वारा यह प्रतिबन्ध लगा दिया गया है कि एक व्यक्ति दो बार से अधिक राष्ट्रपति पद के लिए नही चुना जा सकता है। इसके पूव वहा भी ऐसा कोई प्रतिबन्ध नही था। अब्राहम लिकन तीसरी बार अमेरिका के राष्ट्रपति निर्वाचित किए गए थे।

भारत मे पाच साल के पहले ही राष्ट्रपति अपना पद त्याग सकता है। यह स्तीफा उपराष्ट्रपति को सम्बोधित किया जायेगा [Art 56-1(a)]

राष्ट्रपति की अर्हताएँ—अनुच्छेद 58 के अनुसार राष्ट्रपति के पद के लिए खड होने वाले व्यक्ति को निम्नलिखित अर्हताए (Qualifications) रखनी चाहिए —

(i) उसे भारत का नागरिक होना चाहिए,

(ii) उसे 35 वष की आयु का होना चाहिए अर्थात् वह 35 वष की आयु पूरी कर चुका हो,

(iii) लोक सभा का सदस्य निर्वाचित होन की अहता रखनी चाहिए, और

(iv) उसे भारत सरकार अथवा किसी राज्य सरकार के अधीन अथवा उक्त सरकारो म मे किसी के अधीन नियन्त्रित स्थानीय या अन्य प्राधिकारी (any local or other authority subject to the control of the said Governments) के अधीन कोई लाभ का पद (office of profit) धारण किए हुए नही होना चाहिये किन्तु अनुच्छेद 58 (2) की व्याख्या (Explanation) के अनुसार निम्नलिखित व्यक्तियो को राष्ट्रपति निर्वाचित होने के लिए कोई लाभ का पद धारण किए हुए नही समझा जाएगा—(क) राष्ट्रपति या उप राष्ट्रपति (ख) राज्यो के राज्यपाल (ग) सघ या राज्यो का मन्त्री। अभिप्राय यह हुआ कि ये लोग राष्ट्रपति होने की अहता रखते हैं।

राष्ट्रपति पर महाभियोग लगाने की प्रक्रिया—अनुच्छेद 61 के अनुसार राष्ट्रपति पर महाभियोग (impeachment) का आरोप ससद के किसी सदन द्वारा लगाया जा सकता है [अनु 56-1 (b)] के अन्तगत राष्ट्रपति को सविधान का अतिक्रमण (Violation of the Constitution) करने पर अनु 61 म उपबन्धित रीति से किये गये महाभियोग द्वारा पद से हटाया जा सकता है।] लेकिन ऐसा कोई भी आरोप तब तक नही नही लगाया जायगा, जब तक कि—(a) प्रस्तावित आरोप

एक सकल्प (resolution) के रूप न न हो जो कि कम से कम 14 दिन की लिखित सूचना देने के बाद प्रस्तुत किया गया हो तथा जिस पर सदन के कम से कम 1/4 सदस्यो ने हस्ताक्षर करके प्रस्तावित करने का विचार किया हो, (b) ऐसे सकल्प को उस सदन के समस्त सदस्या क कम स कम 2/3 बहुमत ने पारित कर दिया हो।

अनु 61 (3) के अनुसार यह व्यवस्था की गई है कि जब ससद के किसी सदन द्वारा इस प्रकार का आरोप लगाया जा चुका है तब दूसरा सदन उस दोषारोप की जाँच (Investigation) करेगा। जाच या तो सदन स्वय करेगा या किसी यायालय या न्यायाधिकरण के द्वारा करायेगा जिसको उस सदन द्वारा निर्दिष्ट किया जायेगा। राष्ट्रपति को इस जाच म स्वय उपस्थित होकर या वकील द्वारा अपना बचाव प्रस्तुत करन का अधिकार होगा।

अनु 61 (4) मे कहा गया है कि यदि जाच क बाद वह सदन अपने समस्त सदस्यो क कम से कम 2/3 बहुमत स एक सकल्प पारित करके यह घोषित कर देता है कि राष्ट्रपति पर लगाया गया आरोप सिद्ध हो चुका है तो उसे सकल्प का प्रभाव उसके पारित होने की तिथि स राष्ट्रपति को अपने पद से हटाया जाना होगा। अमरिका म राष्ट्रपति पर महाभियोग राजद्रोह', घूस लेने और अन्य अपराध करने के आधार पर लगाया जा सकता है तथा वहा यह कार्यवाही केवल निम्न सदन द्वारा आरम्भ की जा सकती है।

श्री वी वी गिरी के चुनाव का राजनैतिक पक्ष—अब तक के इतिहास मे 1969 मे सम्पन्न राष्ट्रपति का चुनाव विशेष महत्व का रहा है। इस चुनाव में विजयी श्री वी वी गिरी के चुनाव का राजनैतिक पक्ष क्या रहा, यह देखने के लिए हम उन मुद्दो की ओर जाना पड़ता है जो मूल रूप से इस चुनाव मे उठाये गये—

(1) कांग्रेस दल से सम्बन्धित मुद्दे —(1) राष्ट्रपति के इस चुनाव म प्रथम प्रश्न यह उठाया गया कि कांग्रेस जो देश की राजनीतिक व्यवस्था का प्रबल दल था उसके सगठन एव सरकार—दानो म कौनसा पक्ष प्रमुख था अर्थात् राष्ट्रपति के चुनाव मे दल के नेता के रूप म प्रधानमन्त्री की भूमिका प्रमुख रहेगी या दल के सगठन के रूप म सिंडीकेट का पक्ष प्रबल होगा यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न था।

अब तक इस सम्बन्ध म प्रधानमन्त्री की भूमिका प्रमुख रही थी। पहली बार सिंडीकेट न अपना पक्ष प्रबल करने का प्रयत्न किया। तत्कालीन प्रधानमन्त्री ने एक पत्रकार को इस सम्बन्ध म बताया कि प्रश्न का सम्बन्ध उम्मीदवारों से नहीं था, अपितु मूल प्रश्न था—प्रधानमन्त्री बनाम सिंडीकेट। श्रीमती गांधी ने कहा कि यदि वह रेड्डी का नाम प्रस्तावित करती तो सिंडीकेट श्री गिरी का नाम देते। यह प्रधानमन्त्री व सिंडीकेट क बीच शक्ति परीक्षण था।

(ii) इसका काग्रेस दल एव इसकी कार्यशैली से एक और जुडा हुआ पक्ष था। अब तक काग्रेस समर्थित विचार के आधार पर काय करती आ रही थी पर तु इस बार उम्मीदवारो के प्रश्न पर मतदान के आधार पर बहुमत से निर्णय लिया गया। कांग्रेस की काय शैली की दृष्टि स प्रश्न था समन्वय बनाम बहुमत (Consensus Vs Majority), जिसके फलस्वरूप श्री सजीव रेड्डी बहुमत के आधार पर काग्रेस की ओर से उम्मीदवार घोषित किये गये।

(iii) इस चुनाव का काग्रेस दल से सम्बधित एक महत्वपूर्ण प्रश्न यह भी था कि राष्ट्रपति के चुनाव मे मतदान दलीय अनुशासन के आधार पर होगा या अन्तरात्मा की आवाज के आधार पर होगा। श्रीमती गाधा के पक्षकारो ने उस समय अन्तरात्मा के आधार पर श्री वी वी गिरी को मत दिया।

(b) राजनीतिक व्यवस्था की दृष्टि से महत्वपूर्ण प्रश्न – इस चु ाव मे प्रश्न उठाया गया कि राजनीतिक व्यवस्था म राष्ट्रपति व ्धानम त्री के पारस् ्रिक सम्ब ध क्या होगे ? क्या राष्ट्रपति चली आ रही सवधानिक स्थिति मे व प्रध न मन्त्री वास्तविक स्थिति म ही रहेगा अथवा इस स्थिति मे परिवतन आयेगा ?

अब तक परम्परा यह रही थी कि राष्ट्रपति वह व्यक्ति होगा जिसको प्रधान मन्त्री का समथन होगा। यह तभी सम्भव होगा, जब राष्ट्रपति व प्रधानम त्री एक दूसरे का विरोध न करे व मिल कर काय करे। परन्तु इस चुनाव मे (कहा जाता है कि) यह प्रयास था कि सिन्डीकेट व विरोधी दलो द्वारा समर्थित उम्मीदवार राष्ट्रपति हो जाए एव उसकी सहायता से प्रधानमत्री के पद को कमजोर बनाया जाए। इस समय एक महत्वपूर्ण प्रश्न यह भी उठाया गया कि राष्ट्रपति की भूमिका ऐसी स्थिति मे क्या होगी, जब किसी दल को केन्द्र मे निश्चित बहुमत प्राप्त न हो, एव परिणामत मिली जुली सरकार बने। यह 1967 का बदला हुआ सन्दभ था, जिसमे राष्ट्रपति को परिस्थितिगत विवेक काफी मात्रा मे मिलने की गु जाइश थी। इसलिए इस चुनाव मे दोनो पक्षो का यह प्रयास था कि राष्ट्रपति उस व्यक्ति को बनाया जावे जो आगामी 1971–72 के चुनावो मे किसी दल को निश्चित बहुमत प्राप्त न होने की सम्भावित स्थिति मे उनके प्रभाव मे रहे। भविष्य की दृष्टि से यह प्रश्न उठा कि मिली जुली सरकार मे राष्ट्रपति की भूमिका क्या होगी ? किन्तु इसका निश्चयात्मक उत्तर नही मिला।

(c) इसी चुनाव मे तीसरा प्रश्न जुडा हुआ था—दलो के समथन की रूप रेखा क्या रही। जनसघ, स्वतन्त्र एव भारतीय क्राति दल ने श्री देशमुख को पहली पसन्द के मत देना स्वीकार किया। प्रजा समाजवादी दल बटा हुआ था। जहां तक जनसघ व स्वतन्त्र पार्टी को दूसरी पसन्द के मतो का प्रश्न है व श्री रेड्डी को मिले। भारतीय क्राति दल की पहली व दूसरी पसन्द श्री गिरी व रेड्डी के बीच बट गई।

कांग्रेस (संगठन) ने श्री रेड्डी का समर्थन किया एव श्रीमती गांधी की कांग्रेस ने श्री गिरी का। भारतीय साम्यवादी दल, संयुक्त समाजवादी दल व डी एम के एव अकाली दल आदि ने श्री गिरी का समर्थन किया। निर्दलीय उम्मीदवारो ने भी श्री गिरी का साथ दिया।

इस प्रकार से विभिन्न दलो के संगठन व समर्थन की रूपरेखा से इस बात से भूमिका बनती दिखाई दी कि चुनाव के बाद दलो का आपसी गठबन्धन किस प्रकार का होगा।

गिरी के चुनाव के राजनैतिक प्रभाव—श्री वी वी गिरी का राष्ट्रपति पद के लिए विवाद कांग्रेस-विभाजन का अवसर बना। हो सकता था कि विभाजन टल जाता यदि राष्ट्रपति पद का यह विवाद नही उठा होता। यह अवसर अधिक था, कारण कम। इस चुनाव से ऐसा लगता है कि हमारी केबीनेट प्रणाली प्रधान मन्त्रीय प्रणाली के रूप मे विकसित होने लगी। राष्ट्रपति के चुनाव म प्रधानमन्त्री के पद की मर्यादा पुन बन जाती है। श्रीमती गाधी ने भी कहा कि यह व्यक्ति की नहीं प्रधानमन्त्री पद की जीत है। देश मे चौथे चुनाव के पश्चात् राष्ट्रीय शक्तियो के नये गठबन्धन की व्यवस्था बनने वाली थी। उसकी रूपरेखा इस चुनाव से बनती शुरू होती है। यह दीखने लगा कि जो भविष्य में ध्रुवीकरण होगा, उसम एक ओर दक्षिण पथी दल एक दूसरे के नजदीक आयेंगे। दूसरी ओर कांग्रेस (सत्तारूढ), भारतीय साम्यवादी दल, डी एम के आदि नजदीक आयेंगे, इनकी स्थिति मध्य मार्गी होगी, यद्यपि झुकाव वाम पथ की दिशा मे होगा। मार्क्सवादी साम्यवादी दल अत्यधिक वाम का प्रतीक होगा। अन्य दल अपने व्यक्तित्व की खोज इसी त्रिमुखी धुरी के बीच करते रहेगे। अन्त मे एक और बात दिखाई दी कि मुख्यमन्त्री की भूमिका अस्थाई रूप से काफी महत्वपूर्ण हो गई है। इस कारण यह प्रश्न भी उठा कि भविष्य म मुख्य मन्त्री प्रधान मन्त्री का पद प्रशस्त करेंगे तथा प्रधान मन्त्री मुख्य मन्त्री का पद-प्रशस्त नही करेंगे। मुख्य मन्त्री के बढ़ते प्रभाव के सन्दर्भ मे यह शंका भी उठी कि सम्भवत समाजवाद की दिशा म जाना और भी कठिन हो जायगा क्योंकि मुख्य मन्त्री अपने राजनीतिक समर्थन के हित मे यह स्वीकार नही करेंगे कि भूमि सुधार, शहरी सम्पत्ति की सीमा निर्धारण आदि कार्यक्रम क्रियान्वित हो। इसलिए विधान सभा के पाचवें आम चुनावों की पूर्व संध्या पर सत्तारूढ़ दल की ओर से यह प्रयास किया गया कि वे लोग राज्य में मुख्यमन्त्री बने, जिनकी प्रधानमन्त्री के प्रति स्वामिभक्ति के अतिरिक्त सामाजिक न्याय के आदर्श व समाजवाद के कार्यक्रमो में विश्वास हो। इस सन्दर्भ म तत्कालीन प्रधानमन्त्री श्रीमती गाधी के विरुद्ध यह कहा गया कि वह अपने व्यक्तित्व का निर्माण कर रही है तथा वह चाहती है कि समाजवाद की आड में राज्यों मे कमजोर व्यक्ति मुख्यमन्त्री हो, जो उन्हें चुनौती नहीं दे पायें।

निर्वाचन सम्बन्धी विवाद—प्रसशोधित अनुच्छेद 71 यह उपबन्धित करता था कि राष्ट्रपति (या उपराष्ट्रपति) के निर्वाचन से उत्पन्न या सम्बन्धित सभी शकाओ और विवादो की 'जाच' और 'विनिश्चय' उच्चतम न्यायालय द्वारा किया जायेगा। किन्तु यदि राष्ट्रपति का निर्वाचन न्यायालय द्वारा शून्य घोषित कर दिया जाता है तो उनके द्वारा अपने पद की शक्तियो के प्रयोग में, किये गये कार्य [illegible] नही होगे। इस सविधान के अधीन रहते हुए, ससद को विधि द्वारा राष्ट्रपति और उपराष्ट्रपति के निर्वाचन से सम्बन्धित किसी विषय का विनियमन करने का अधिकार है।[1]

राष्ट्रपतीय और उपराष्ट्रपतीय निर्वाचन (सशोधन) अधिनियम 1974 यह उपबन्धित करता है कि राष्ट्रपतीय निर्वाचन के अभ्यर्थी के [illegible] 10 मतदाताओ द्वारा प्रस्तावित तथा 10 मतदाताओं द्वारा [illegible] और उपराष्ट्रपति के पद के लिए अभ्यर्थी का नाम 5 [illegible] और 5 मतदाताओ द्वारा समर्थित होना चाहिए। [illegible] व्यक्तियो को राष्ट्रपति के निर्वाचन के लिए [illegible] है।

सविधान (39 वा सशोधन) अधिनियम, 1975—

सविधान के 39 वें सशोधन अधिनियम द्वारा राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति, प्रधान मन्त्री और लोक सभा के अध्यक्ष के [illegible] को न्यायालयों की अधिकारिता से परे कर दिया गया है। [illegible] समिति (Forum) की स्थापना का [illegible] करके स्थापित करेगी। इस अधिनियम द्वारा अनुच्छेद 71 को [illegible] किया [illegible]

और संविधान के भाग XV मे एक नया अनुच्छेद 329A (Special provision as to elections to Parliament in the case of prime Minister and

(i) The original clause (4), which was added by the 11th Amendment Act 1961, has been made the Proviso to clause (1)

(ii) The jurisdiction of the Supreme Court [under original clause (1)] has been taken away and has been vested in such authority or body, which may here after be setup by Parliament in exercise of the power conferred upon it by new clause (1) which corresponds to 'old' clause (3)

(iii) The 'new' clause (3) has been inserted to give complete immunity from constitutional challenge to any law made by Parliament under clause (1)

(iv) Now clause (4) corresponds to 'old' clause (2), with out any substantial change

Thus we can summarise the position under following heads

(A) Law prior to 1975 Under the original Article, the jurisdiction to decide disputes relating to the election of a President or Vice President, was in the Supreme Court

(B) After August 10, 1975 After Parliament makes a law under the power conferred by Cl (2), the answer to all questions relating to this subject shall have to be gathered from that Act of Parliament

It is to be noted however that though the 39th Constitutional Amendment Act came into force on the 10th August 1975 no law has been made by the Fifth Parliament (upto 22nd March, 1977) creating any statutary authority to decide doubts and disputes relating to election of a President or a Vice-President as contemplated by 'new' Cl (2) Therefore during this period, there was a void in this sphere, because the S, C, had lost its jurisdiction,

sp aker) जोड़ा गया। इस प्रकार इस अधिनियम द्वारा यथा संशोधित अनुच्छेद 71 अब यह उपबन्धित करता है कि संसद विधि द्वारा राष्ट्रपति और उपराष्ट्रपति के निर्वाचन सम्बन्धी या उससे सम्बद्ध किसी मामले को कानून द्वारा विनियमित कर सकेगी।

मार्च 1977 के संसदीय निर्वाचन के पश्चात—स्थिति पुन बदल गई। जनता सरकार ने उक्त पदाधिकारियों के निर्वाचन विवादों का पुन उच्चतम न्यायालय की अधिकारिता में दे दिया है राष्ट्रपति तथा उपराष्ट्रपति निर्वाचन (संशोधन) अधिनियम, 1977 द्वारा संशोधन करके उच्चतम न्यायालय को ही ऐसी शक्ति प्रदान कर दी गई है तथा 45 वें संशोधन विधेयक द्वारा भी अनु 71 म संशोधन किया जा रहा है।

राष्ट्रपति का पद एव 42 वा संविधान (संशोधन) अधिनियम, 1976

राष्ट्रपति के सम्बन्ध में संविधान म अन्तर्निहित व्यवस्था की व्याख्या समय समय पर भिन्न भिन्न तरीके से की गई। कारण यह था कि संविधान बनाने वालो ने यह सोचा था कि राष्ट्रपति और प्रधानमन्त्री सौहार्दपूर्वक (मित्रवत) कार्य करेंगे अर्थात् प्रधानमन्त्री के द्वारा दिया गया परामर्श राष्ट्रपति मानेगें ही। परन्तु जब विभिन्न राज्यो और केन्द्र मे भिन्न भिन्न राजनैतिक दलो की सरकारें बनी तो सर्वथा नित्य संकट पैदा हुआ। उदाहरण के लिए प० बंगाल म अजय मुकर्जी की सरकार को राज्यपाल द्वारा पदच्युत कर दिया गया, जिसके विरुद्ध न्यायालय में प्रार्थना की गई। न्यायालय ने निर्णय दिया कि राज्यपाल उस सरकार को भी पदच्युत कर सकता है जिसे सदन में पूरा विश्वास प्राप्त हो और तक यह प्रस्तुत किया गया कि जिसे नियुक्ति करने का अधिकार है उसे पदच्युत करने का भी अधिकार है। इसी नियम को केन्द्र म भी लागू किया जा सकता है, जिसके अर्थ यह होगे कि राष्ट्रपति प्रधानमन्त्री को भी पदच्युत कर सकता हैं।[1] यह स्थिति किसी भी समय महान संवैधानिक संकट

1 Article 74 (1) substituted by the Constitution (42nd Amendment) Act 1976 says, 'There shall be a council of ministers with the Prime Minister at the head to aid and advise the President who shall, in the exercise of his functions, act in accordance with such advice' Thus, this has been made explicit, beyond doubt, by the substitution of cl (1), by the 42nd Amendment Act 1 76 that all the powers that are vested by the Constitution in the President, must be exercised in 'all' situations on the advice of the Ministers responsible to the Legislature

उपस्थित कर सकती थी। अत आपातकाल के दौरान 42 वें सशोधन के द्वारा इस प्रकार की अनिश्चितता को केन्द्र से हटा दिया गया है। राज्यो की स्थिति ज्यों की त्यो है। 42 वें सशोधन के द्वारा जो व्यवस्थाएँ स्वीकार की गई है व निम्नलिखित है-

अनुच्छेद 74 के खण्ड 1 मे परिवर्तन किया गया। इस परिवर्तन के अनुसार "एक मन्त्रिपरिषद होगी जिसका प्रधान, प्रधानमन्त्री होगा। मन्त्री परिषद का कार्य होगा कि वह राष्ट्रपति की सहायता करे तथा परामर्श दे तथा राष्ट्रपति उसी परामर्श के अनुसार कार्यकारिणी की शक्तियों का प्रयोग करेगा।" इस सशोधन का अब प्रभाव यह हुआ है कि राष्ट्रपति प्रधानमन्त्री के द्वारा दिये गये परामर्श को अस्वीकार नही कर सकता।

विधान सभाओ के भग करने का केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल का फैसला एव श्री बी डी जत्ती द्वारा हस्ताक्षर मे विलम्ब

मार्च 1977 के चुनाव परिणामो के पश्चात् केन्द्र मे प्रथम बार बनी गैर काग्रेसी यानि जनता सरकार ने उन नौ विधान सभाओ को भग करने का निर्णय लिया जिन राज्यो म मार्च के चुनावो मे जनता ने काग्रेस को बुरी तरह पराजित कर दिया था। किन्तु कार्यवाहक राष्ट्रपति श्री बी डी जत्ती ने मन्त्रिपरिषद की सलाह को तुरन्त मानने म झिझक दिखाई और अटक बताई उसके कारण ऐसा लगा कि देश मे एक सर्वथा नये प्रकार का राजनीतिक सकट उपस्थित हो गया है। यह एक ऐसा मुद्दा था जिसके विषय मे देश का जनमत सर्वोच्च न्यायालय का अभिमत और सघ निर्देश सहितायें—असन्दिग्ध और निर्विवाद थी और मन्त्रिपरिषद ने सर्वानुमति से निश्चय किया था जो राष्ट्रपति के लिए सामान्यतया मान्य था और 42 वें सवैधानिक सशोधन के अनुसार अनिवार्य रूप से बन्धनकारी था। तब फिर सहज ही यह प्रश्न उठता है कि कार्यवाहक राष्ट्रपति ने समायोचित एव विधि विधान सगत आचरण करने म अपेक्षित तत्परता क्यो नही दिखाई और क्यो वे सवैधानिक राजनीति के चक्कर मे जान बूझ कर भूल गये। यह कहना पड़ेगा कि 24 घन्टे देरी करके श्री जत्ती ने राष्ट्रपति पद की निष्पक्षता, गरिमा, सविधान की मर्यादा और ससदीय लोकतन्त्र की परिपाटी को जबर्दस्त आघात पहुचाया।

एक समाचार पत्र ने इस बारे मे लिखा कि "कार्यवाहक राष्ट्रपति श्री जत्ती ने घोषणा पर हस्ताक्षर करने में आनाकानी और देरी क्यो की ? जवाब साफ है। स्व फखरुद्दीन अली अहमद ने भी मन्त्रिमण्डल की सहमति के बिना आपातकाल की घोषणा पर हस्ताक्षर कर दिये थे। क्यो ? इसलिए कि श्रीमती गाधी और काग्रेस का हित साधन उसी में था। यही बात श्री जत्ती के लिए कही जाय तो आश्चर्य क्यो होना चाहिए ? दोनो का मनोनयन एक खास किस्म के हालात म श्रीमती गांधी और उनकी काग्रेस ने किया था। भले ही राष्ट्रपति का पद दलीय सकीर्णताओ से ऊपर

हा, लेकिन उस पद पर कौन आसीन होता है और किन हालात मे होता है, यह महत्वपूर्ण है।"

इसी प्रकार का आरोप लगाते हुए जनता पार्टी के महामन्त्री श्री मधु लिमये ने 23 मई 1977 को भोपाल में आयोजित एक सवाददाता सम्मेलन मे कहा कि श्री जत्ती की यह आनाकानी वास्तव मे भू० पू० प्रधानमन्त्री श्रीमती इदिरा गाधी की सत्ता म वापसी का षडयन्त्र था। उन्होने कहा कि आनाकानी जन विद्रोह को जन्म देती जिससे देश म सैनिक शासन लागू किया जा सकता था। उन्होने इसे भयकर घटनात्मक सकट की सज्ञा दी।

सविधान की धारा 356 म प्रावधान है कि राष्ट्रपति किसी राज्यपाल के प्रतिवेदन पर अथवा 'अन्यथा' इस बात से सतुष्ट हो जाय कि राज्य मे ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई है कि वहा सवैधानिक प्रावधानो के अनुसार शासन नही चल सकता तो वे राज्य सरकारो का काम या राज्यपाल के अधिकार स्वय ग्रहण कर सकते हैं और राज काज सविधान के अनुसार चले, ऐसी व्यवस्था कर सकते हैं। ससदीय लोकतन्त्र व्यवस्था म राष्ट्रपति की 'सन्तुष्टि' का तात्पर्य निर्विवाद रूप से मन्त्रिमण्डल की सतुष्टि है और 42 वें सशोधन के बाद यह 'सन्तुष्टि' अनिवार्य और निर्बाध है। ऐसी स्थिति मे कार्यवाहक राष्ट्रपति की मन्त्रिपरिषद की सलाह पर सोच विचारने की बात और समय टालने का प्रयास समुचित और सगत प्रतीत नही हुआ। इससे एसी अफवाहो और प्रवाद को बढावा मिला, जिन्हे टाला जा सकता था। विलम्ब का कारण यदि समस्या के सवैधानिक पहलू को तोलना था तो तत्कालीन गृहमन्त्री श्री चरणसिंह की सलाह के बाद से लेकर उच्चतम न्यायालय मे याचिकाएँ दाखिल किए जाने व उन पर बहस और न्यायालय का निर्णय सामने आने तक इतना समय मिला और सविधान के विभिन्न पहलुओ को इतना स्पष्ट कर दिया गया कि उसके बाद और नाप तौल की आवश्यकता नही थी।

जहा तक सविधान और उसकी व्यवस्थाओ पर न्यायपालिका के मत का ताल्लुक है, इस मामले मे उसका निर्देश स्पष्ट है। सविधान के अनुच्छेद 74 मे कहा गया है कि राष्ट्रपति मन्त्रिमण्डल की सलाह से काम करेगा। अनुच्छेद 356 मे, जिसके अधीन राष्ट्रपति को विधान सभाएँ भग करने का अधिकार प्राप्त है, कहा गया है कि राष्ट्रपति की सतुष्टि होने पर ही प्रदेशो की विधान सभाएँ भग करने का आदेश जारी किया जा सकता है। लेकिन यह अनुच्छेद भी राष्ट्रपति को एकाकी अधिकार प्रदान नही करता कि 'सतुष्टि न होने पर', वे आदेश जारी करने म सकोच कर। सविधान की व्यवस्थाओ का अलग अलग भाष्य करने के बजाय उन्हे सम्पूर्ण रूप म ही लिया जाना चाहिए। इस सवैधानिक भावना से काम करने पर अनुच्छेद 356 और 74 को साथ रखना होगा। सविधान इस मामले मे बहुत स्पष्ट है कि

जानकारी और जरूरी सलाह मिल जाने के बाद राष्ट्रपति के लिए अनिवार्य है कि वे उसके अनुरूप कार्य करें। संविधान में 42 वें संशोधन के द्वारा तो राष्ट्रपति मंत्रिमण्डल की सलाह मानने को बाध्य है। 42 वें संशोधन से पूर्व भी उच्चतम न्यायालय के सामने ऐसे मुद्दे उठाये गये थे और तब उसने यही फैसला सुनाया था कि राष्ट्रपति को मंत्रिमण्डल की राय से काम करना चाहिए।

ऐसे मौके आ सकते हैं जब राष्ट्रपति को संसद या मन्त्रिमण्डल का फैसला स्वीकार न हो। कुछ मामलों में तो संविधान का निर्देश यह है कि संसद यदि किसी विधेयक को तीन बार पास करके राष्ट्रपति के पास भेजती है और राष्ट्रपति उस पर हस्ताक्षर करने से इन्कार करते हैं तो उसे पारित समझा जायेगा। लोकसभा और बहुमत के समर्थन से गठित मंत्रिमण्डल से टकराव होने पर राष्ट्रपति की निन्दा करने की संवैधानिक व्यवस्था की भावना भी यही है कि राष्ट्रपति जन प्रतिनिधि मन्त्रिमंडल की सलाह से काम करें और टकराव की नौबत न आने दें।

इस प्रकार अध्यादेश पर हस्ताक्षर करने से यद्यपि एक सांविधानिक संकट टल गया, किन्तु श्री जत्ती के इस आचरण ने राष्ट्रपति पद की प्रतिष्ठा और मर्यादा को काफी धक्का पहुंचाया। उनके इस आचरण पर राजनीतिक चर्चाएं हुई और यहाँ तक कि उनके भवन के समक्ष प्रदर्शन भी हुये। मन्त्रिपरिषद की सलाह न मानने पर उनके समक्ष दो ही विकल्प थे। प्रथम या तो वे विरोध पक्ष के नेता से सरकार बनाने का कहते, जो सम्भव नहीं था, क्योंकि उनके साथ बहुमत नहीं था, और दूसरा, मन्त्रिपरिषद् का त्यागपत्र स्वीकार करें और देश में चुनाव करायें। यह चुनाव केवल एक बात पर लड़ा जायेगा कि क्या राष्ट्रपति का कार्य संवैधानिक था या नहीं। यदि वही दल पुनः लोकसभा में बहुमत दल के रूप में आता है तो राष्ट्रपति के लिए अपने पद पर बना रहना सम्भव नहीं क्योंकि जनता ने उनकी बात को अस्वीकार कर दिया। ऐसी स्थिति में उन्होंने यही बेहतर समझा कि वह मन्त्रिपरिषद की सलाह को मानें। अतः राष्ट्रपति यदि अपने को राजनीति में डालता है तो उसका परिणाम उसके लिए और देश दोनों के लिए अच्छा नहीं होगा।

रेड्डी छठे राष्ट्रपति निर्विरोध निर्वाचित—

पांचवें राष्ट्रपति श्री फखरूद्दीन अली अहमद की असामयिक मृत्यु के उपरान्त छठे राष्ट्रपति पद के लिए सर्व सम्मत उम्मीदवार के लिए 9 जुलाई 1977 को कांग्रेस संसदीय दल के नेता यशवंतराव चव्हाण ने प्रधानमंत्री श्री मोरारजी देसाई को सूचित किया कि उनका दल लोकसभाध्यक्ष नीलम संजीव रेड्डी की उम्मीदवारी का समर्थन करता है। इससे पूर्व कांग्रेस संसदीय दल की बैठक में इस सम्बन्ध में निर्णय किया गया था। उसी दिन जनता पार्टी के महासचिव मधु लिमये ने सूचना दी कि कांग्रेस के अलावा सी पी एम, अन्ना द्रमुक, क्रांतिकारी समाजवादी दल,

फारवड ब्लाक, सी पी आई और अकाली दल भी श्री रेड्डी की उम्मीदवारी से सहमत है। यो अकाली दल पहले ही यह घोषणा कर चुका था कि वह हर हालत मे जनता पार्टी के उम्मीदवार का समथन करेगा।

64 वर्षीय श्री रेड्डी की उम्मीदवारी का सारे देश म स्वागत हुआ। सवसम्मत उम्मीदवार होने के नाते वह निर्विरोध राष्ट्रपति निर्वाचित हुए। किसी अन्य उम्मीद वार को नामाकन पत्र की वैधता के लिए अपेक्षित निर्वाचक मण्डल के 10 सदस्य प्रस्तावक के रूप मे नही मिल सके।

श्री रेड्डी ने 1969 मे काग्रेस उम्मीदवार के रूप म राष्ट्रपति का चुनाव लडा था। किन्तु तब अन्तरात्मा की आवाज पर तत्कालीन प्रधानमन्त्री श्रीमती गाधी और उन के समथकों न श्री गिरी का समथन किया। श्री रेड्डी चुनाव हार गये। फिर काग्रेस बटी। अब आशा की जानी चाहिए कि उनके राष्ट्रपति भवन मे प्रवेश से सत्तारूढ दल और विपक्ष के बीच एक नया अध्याय शुरू होगा और राष्ट्रीय महत्व के प्रश्नो पर न केवल ठोस निणय लिए जा सकेंगे बल्कि उन पर प्रभावशाली ढग से अमल भी किया जा सकेगा।

45 वा (44 वां) सशोधन विधेयक —इस विधेयक मे 42 व सशोधन अधिनियम द्वारा अनुच्छेद 74(1) म जो परिवतन किया गया था, उसे सशोधित कर राष्ट्रपति को पुन यह अधिकार दिया गया है कि वह मन्त्रिपरिषद की सलाह का पुनर्विचार के लिए लौटा स ता है किन्तु मन्त्रिपरिषद द्वारा पुनर्विचार करने के पश्चात् भेजी गई सलाह (reconsidered advice) राष्ट्रपति मानने हेतु बाध्य होगा।

आपात अधिकार सवैधानिक उपबन्ध एव राजनीतिक यथार्थ

भारत का सविधान जिस समय बन रहा था, उस समय उपमहाद्वीप और एशिया महाद्वीप की जो स्थिति थी, उसको देखते हुए सविधान के निर्माताओं के मन मे यह विचार आना अस्वाभाविक नही था कि देश पर कभी भी बाहरी या आतरिक विपत्ति आ सकती है। जिन परिस्थितियो मे देश का विभाजन हुआ था, उन परि स्थितियो मे यह सोचना वाजिब भी था। इसलिए अपनी आजादी को बनाय रखने के लिए सविधान सभा ने भारत के नय सविधान मे यह व्यवस्था शामिल की कि आतरिक या वाह्य सकट के समय केन्द्रीय सरकार के हाथ मे असाधारण अधिकार दे दिए जाये ताकि वह विकट परिस्थितियो का मुकाबला बिना किसी विलम्ब के कर सके।

सविधान मे आपात उपबन्ध मूल व्यवस्थाए —भारतीय सविधान मे 42वें सशोधन के पूव भाग उपबन्ध (Emergency Provisions) के अन्तर्गत लिखा गया है अनुच्छेद 352 (1) यदि राष्ट्रपति को समाधान हो जाए कि गम्भीर

आपात विद्यमान है जिससे कि युद्ध या बाह्य आक्रमण या आभ्यान्तरिक अशान्ति से भारत या उसके राज्य क्षेत्र के किसी भाग की सुरक्षा संकट में है, तो उद्घोषणा द्वारा उस आशय की घोषणा कर सकेगा।

अनुच्छेद 352 (2) खण्ड (1) के अधीन की गई उद्घोषणा—

(a) उत्तरवर्ती उद्घोषणा द्वारा द्वारा प्रतिसंहृत की जा सकेगी,

(b) संसद के प्रत्येक सदन के समक्ष रखी जायेगी,

(c) दो मास की समाप्ति पर प्रवर्तन में न रहेगी जब तक कि संसद के दोनों सदनों के संकल्पों द्वारा वह उस कालावधि की समाप्ति से पहले अनुमोदित न कर दी जाय।

परन्तु यदि ऐसी कोई उद्घोषणा उस समय निकाली गयी है जबकि लोक सभा का विघटन हो चुका है अथवा लोकसभा का विघटन इस खण्ड के उपखण्ड (c) में निर्दिष्ट दो मास की कालावधि के भीतर हो जाता है तथा यदि उद्घोषणा का अनुमोदन करने वाला संकल्प राज्य सभा द्वारा पारित हो चुका है। किन्तु ऐसी उद्घोषणा के विषय में लोकसभा द्वारा उस कालावधि की समाप्ति से पहले कोई संकल्प पारित नहीं किया गया है तो उद्घोषणा उस तारीख से जबकि लोकसभा अपने पुनर्गठन के पश्चात् प्रथम बार बैठती है, तीस दिन की समाप्ति पर प्रवर्तन में न रहेगी जब तक कि उक्त तीस दिन की कालावधि की समाप्ति से पूर्व उद्घोषणा का अनुमोदन करने वाला संकल्प लोकसभा द्वारा पारित नहीं हो जाता।

अनुच्छेद 352 (3) यदि राष्ट्रपति का समाधान हो जाए कि युद्ध या बाह्य आक्रमण या आभ्यान्तरिक अशांति का संकट सन्निकट है तो चाहे वास्तव में युद्ध अथवा ऐसा कोई आक्रमण या अशांति नहीं हुई तो भी भारत के राज्य क्षेत्र में किसी भाग की सुरक्षा इस प्रकार से संकट में है, ऐसी घोषित करने वाली आपात की उद्घोषणा की जा सकेगी।

अनुच्छेद 353 जब आपातकाल की उद्घोषणा प्रवर्तन में है तब—

(a) इस संविधान में किसी बात के होते हुए भी, संघ की कार्यपालिका शक्ति का विस्तार किसी राज्य को इस विषय में निदेश देने तक होगा कि वह राज्य अपनी कार्यपालिका शक्ति का किस रीति से प्रयोग करे।

(b) किसी विषय के सम्बन्ध में विधि बनाने की संसद की शक्ति के अन्तर्गत ऐसी विधियां बनाने की शक्ति भी होगी जो उस विषय के बारे में संघ अथवा संघ के पदाधिकारियों और प्राधिकारियों को शक्तियां देती तथा कर्त्तव्य सौंपती हो अथवा शक्तियों का दिया जाना और कर्त्तव्यों का सौंपा जाना प्राधिकृत करती हो चाहे वह विषय ऐसा हो जो संघ सूची में प्रगणित नहीं है।

अनुच्छेद 352 के लागू हो जाने के बाद सघ की कायपालिका की शक्ति का विस्तार हो जाता है। ससद की कानून बनाने की शक्ति बढ जाती है। वह ऐसी विधिया भी बना सकती है जो इस विषय के बारे मे सघ अथवा सघ के पदाधिकारियो और प्राधिकारियो को शक्तिया देती है। यानि सघीय सूची मे जो विषय नही है उन के भी कानून बनाने का अधिकार मिल जाता है, सघीय कायपालिका और ससद के अधिकार बढ जाते हैं। सक्षेप मे यह व्यवस्था उस तथ्य की सूचक है कि जब देश पर सकट आता है तो कानूनी बारीकिया लुप्त हो जाती है और देश को सगठित करन का यह एक आधार हो जाता है। एक शब्द म यह स्थिति एकात्मक राज्य का वाता वरण तैयार करती है इसी का आभास अनुच्छेद 356 से भी मिलता है।

अनुच्छेद 356 (1) यदि किसी राज्य के राज्यपाल या राजप्रमुख (राज-प्रमुख शब्द को सविधान से सप्तम सशोधन अधिनियम 1956 द्वारा हटा लिया गया) से प्रतिवेदन मिलने पर या अन्यथा राष्ट्रपति का समाधान हो जाए कि ऐसी स्थिति पैदा हो गई है जिसमे कि उस राज्य का शासन इस सविधान के उपब धो के अनुसार नही चलाया जा सकता तो राष्ट्रपति उद्घोषणा द्वारा—

(a) उस राज्य की सरकार के सब या कोई कृत्य, तथा यथास्थिति, राज्य पाल (या राजप्रमुख) अथवा राज्य के विधान मण्डल को छोड कर राज्य के किसी निकाय या प्राधिकारी मे निहित या एतद् द्वारा प्रयोक्तव्य सब या कोई शक्तिया अपने हाथ म ले सकेगा।

(b) घोषित कर सकेगा कि राज्य के विधान मण्डल की शक्तिया ससद द्वारा या उसके प्राधिकार के अधीन प्रयोक्तव्य होगी,

(c) राज्य के किसी निकाय या प्राधिकारी से सबद्ध इस सविधान के किन्ही उपब धो के प्रवतन को पूणत या अ शत निलबित करने के लिए उपबन्ध सहित ऐसे प्रासगिक और आनुषगिक उपब ध बना सकेगा जैसाकि राष्ट्रपति को उद्घोषणा के उद्देश्य को प्रभावी दिखायी करने के लिए आवश्यक या वाछनीय दिखलाई दे।

भारत के शासन विधान का आधार लोकतन्त्र है और इसके आमुख म एक सम्पूण प्रभुत्व सम्पन्न, लोकतन्त्रात्मक गणराज्य की कल्पना की गई जिसमे उसके समस्त नागरिको को सामाजिक आर्थिक और राजनीतिक न्याय, विचार अभिव्यक्ति, विश्वास, धम और उपासना की स्वतन्त्रता को आधार माना गया है। ऐसी स्थिति मे इस बात का भी ध्यान रखा गया है कि उसके हको का स्थगन एक आपात्कालीन स्थिति म ही किया जावे और जैसे ही उस असाधारण स्थिति म सुधार हो, उसको सारी स्वतन्त्रताए वापिस मिल जायें। अत अनुच्छेद 352 में भी इस बात की व्यवस्था की गई है कि जब तक ससद के दोनो सदन दो मास की कालावधि के भीतर उद्घोषणा के अनुमोदन का सकल्प नही करते वह उद्घोषणा दो मास की

समाप्ति के बाद कायम नही रहेगी। एक बात का और ध्यान रखा गया है कि अगर लोकसभा विघटित हो गई हो, या उद्घोषणा के बाद विघटित हो फिर भी अगर राज्य सभा (जिसका अन्त नही होता) ने अनुमोदन कर दिया हो तो यह आवश्यक होगा कि लोक सभा के फिर से संगठित होने पर महीने भर के अन्दर इसके अनुमोदन का प्रस्ताव पास करे। यदि ऐसा प्रस्ताव नही पारित होते तो वसी अवस्था में भी उद्घोषणा का अन्त हो जाता है। अर्थात् राष्ट्रपति की उद्घोषणा जनता के प्रतिनिधियो द्वारा अनुमोदन शीघ्रातिशीघ्र आवश्यक है।

अनुच्छेद 358 जब आपात उद्घोषणा प्रवर्तन में है तब अनुच्छेद 19 की किसी बात से राज्य की कोई ऐसी विधि बनाने की अथवा कार्यपालिका की कोई ऐसी कार्यवाही करने की भाग 3 में परिभाषित शक्ति जिसे वह राज्य उस भाग में अन्त विष्ट उपबन्धो के अभाव में बनाने अथवा करने के लिए सक्षम होता निबन्धित नही होगी, किन्तु इस प्रकार निर्मित कोई विधि उद्घोषणा के प्रवर्तन में न रहने पर अक्षमता की मात्रा तक तुरन्त प्रभाव शून्य हो जायेगी सिवाय उन बातो के जो विधि के इस प्रकार प्रभाव शून्य होने से पहले की गयी या की जाने से छोड़ दी गई थी।

अनुच्छेद 359 (1) जहा आपात की उद्घोषणा प्रवर्तन में है वहा राष्ट्रपति आदेश द्वारा घोषित करेगा कि भाग 3 द्वारा दिये गये अधिकारो में से ऐसे को प्रवर्तित करने के लिए जैसा कि इस आदेश मे वर्णित हो किसी न्यायालय के प्रचलन का अधिकार तथा इस प्रकार वर्णित अधिकारो को प्रवर्तित कराने के लिए किसी न्यायालय में लम्बित सब कारवाहिया उस कालावधि के लिए जिसमें कि उद्घोषणा लागू रहती है अथवा उससे छोटी ऐसी कालावधि के लिए जैसा कि आदेश में उल्लिखित की जाये, निलम्बित रहेगी। (2) उपरोक्त प्रकार दिया गया आदेश भारत के समस्त राज्य क्षेत्र मे अथवा उसके किसी भाग में विस्तृत हो सकेगा। (3) खण्ड 1 के अधीन दिया गया प्रत्येक आदेश यथासम्भव शीघ्र संसद के प्रत्येक सदन के समक्ष रखा जायेगा।

अनुच्छेद 360 (1) यदि राष्ट्रपति को समाधान हो जाए कि ऐसी स्थिति पैदा हो गई है जिसमे भारत अथवा उसके राज्य क्षेत्र के किसी भाग का वित्तीय स्थायित्व या साख संकट में है तो उद्घोषणा द्वारा इस बात की घोषणा कर सकेगा।

(2) अनुच्छेद 352 के खण्ड (2) के उपबन्ध इस अनुच्छेद के अधीन निकाली गई उद्घोषणा के सम्बन्ध मे वैसे ही लागू होंगे जैसे कि वह अनुच्छेद 352 के अधीन निकाली गयी आपात की उद्घोषणा के लिए लागू होते है।

(3) उस कालावधि मे जिसमें कि खण्ड (1) मे वर्णित कोई उद्घोषणा प्रवर्तन मे रहती है संघ की कार्यपालिका शक्ति किसी राज्य को वित्तीय औचित्य

सम्बन्धी ऐसे सिद्धान्तों का पालन करने के लिए निर्देश देने तक जैसा कि निर्देशों में उल्लिखित है तथा ऐसे अन्य निर्देश देने तक जिन्हें राष्ट्रपति उस प्रयोजन के लिए देना आवश्यक और समुचित समझे, विस्तृत होगा।

(4) इस संविधान में किसी बात के होते हुए भी—(a) ऐसे किसी निर्देश के अन्तर्गत—(i) राज्य के कार्यों के सम्बन्ध में सेवा करने वाले व्यक्तियों में सब या किन्हीं वर्गों के वेतनों और भत्तों में कमी की अपेक्षा करने वाले उपबंध (ii) धन विधेयकों अथवा अन्य विधेयकों को जिन पर अनुच्छेद 207 के उपबंध लागू हैं, राज्य के विधान मण्डल के द्वारा उनके पारित किये जाने के पश्चात् राष्ट्रपति के विचार के लिए रक्षित करने के लिए उपबंध भी हो सकेंगे।

आपातकालीन घोषणा : राजनैतिक पर्याय—

25 जून 75 को भारत में तीसरी बार आपात स्थिति लागू होने के पश्चात् (राष्ट्रपति ने अनुच्छेद 352 (1) के दूसरे उपखण्ड जिसका सम्बन्ध आन्तरिक अशांति से है के अन्तर्गत यह उद्घोषणा की थी) संविधान की उपर्युक्त सभी व्यवस्थाओं का इस्तेमाल किया गया। उदाहरण के लिए 27 जून 1975 को राष्ट्रपति ने अनुच्छेद 359 (1) के अन्तर्गत एक आदेश जारी किया जिसके अनुसार संविधान के अनुच्छेद 14, 21 और 22 में दिये गये अधिकारों को लागू करने के सिलसिले में किसी भी नागरिक जिनमें विदेशी नागरिक भी शामिल हैं द्वारा अदालत में याचिका दायर करने के अधिकार को निलंबित कर दिया गया। इस सिलसिले में अदालतों के विचाराधीन मामलों को भी आपात स्थिति की अवधि तक स्थगित कर दिया गया। यह आदेश जम्मू और कश्मीर को छोड़कर पूरे भारत संघ में लागू हो गया। बाद में 19 महीनों के दौरान केन्द्र सरकार ने अनेक ऐसे आदेश जारी किए जिनसे नागरिकों के मौलिक अधिकारों पर गम्भीर प्रभाव पड़ता है। यद्यपि 25 जून 1975 को घोषित आपात स्थिति से पहले भी देश में आपात स्थिति मौजूद थी फिर भी केन्द्रीय सरकार ने उसे केवल बाहरी खतरे के सन्दर्भ में लागू रखा था। 1971 में भारत-पाक युद्ध के समय यह आपात स्थिति घोषित की गयी थी। बाहरी [illegible] मुकाबला करने के अतिरिक्त तत्कालीन केन्द्रीय सरकार ने इस घोषित [illegible] अपने राजनीतिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए इस्तेमाल किया था। [illegible] अभिव्यक्ति और नागरिक [illegible] अधिनियम के विभिन्न दुरुपयोग [illegible] बड़े पैमाने पर नागरिक अधिकारों और स्वतन्त्रताओं के [illegible] पहले इस देश में कभी नहीं हुआ था। [illegible] विशेषता यह थी कि न केवल राष्ट्रपति के आदेशों द्वारा [illegible] निलंबन किया गया [illegible] और [illegible] प्रावधानों (अनुच्छेद 33 से लेकर 42 में [illegible]

आपातकाल की उद्घोषणा एवं 38 वां संशोधन अधिनियम

आपात काल की घोषणा पर न्यायालय में आपत्ति न किये जा सकने की व्यवस्था करने के लिए संसद ने संविधान में 38वां संशोधन करने वाले विधेयक को 23 जुलाई 1975 को अपनी स्वीकृति दे दी। इस विधेयक में आपात कालीन घोषणा करने के पूर्व उस पर राष्ट्रपति की 'संतुष्टि' को अदालत के अधिकार क्षेत्र से बाहर रखने की व्यवस्था की गई थी। इसी प्रकार विधान मण्डलों का अधिवेशन न चलने के दौरान राज्यपालों व केन्द्र शासित प्रदेशों के प्रशासकों द्वारा जारी अध्यादेशों को भी अदालती कार्यवाही की सीमा से बाहर रखने की भी इस विधेयक में व्यवस्था की गई थी।

38वें संविधान संशोधन अधिनियम द्वारा अनुच्छेद 123,[1] 213,[2] 239B[3] 352[4]

---

1 cl (4) was inserted in Article 123 by the Constitution 38th Amendment Act, 1975, retrospectively (Notwithstanding anythin in this Constitution, the satisfaction of the President mentioned in clause (1) shall be final and conclusive and shall not be questioned in any court on any ground)

2 Cl (4) was inserted in Article 213 by the Constitution 38th Amendment Act 1975 retrospectively ('Notwithstanding anything in this Constitution, the satisfaction of the Governor mentioned in clause (1) shall be final and conclusive and shall not be questioned in any court on any ground')

3 cl 4 was inserted in Article 239B by the Constitution 38th Amendment Act, 1975 retrospectively, (Notwithstanding any thing in this constitution the satisfaction of the administrator mentioned in clause (1) shall be final and conclusive and shall not be questioned in any court on any ground)

4 cls (4)-(5) were inserted in Article 352 by the Constitution 38th Amendment Act, 1975 (with retrospective effect (cl 4 'The power conferred on the President by this Article shall include the power to issue different Proclama-

व 360 मे सशोधन किया गया है तथा अनुच्छेद 352, 356[1] 359[2] एव

---

tions on different grounds, being war or external aggression or internal disturbance or imminent danger of war or external aggression or internal disturbance, whether or not the is a proclamation already issued by the President under clause (1) and such proclamation is in operation' Cl 5 'Notwithstanding anything this Constitution,—(a) the satis faction of the President mentioned in clause (1) and clause (3) shall be final and Conclusive and shall not be quest ineded in any court or any ground, (b) subject to the provisions of clause (2), neither the Supreme Court nor any other court shall have jurisdict on to entertain any question, on any ground, regarding the validity of—(i) a declaration made by Pro lamation by the president to the effect stated in clause (1), or (ii) the continued operation of Such Proclamation)

1 cl (5) was inserted in Article 356 by the Constitution 38th Amendment Act 1975, with retrospective effect(cl 5 Notwithstanding anything in this Constitution the sati faction of the President mentioned in clause (1) shall be final and conclusive and shall not be questioned in any court on any ground')

2 cl (1 A) was inserted in Article 359 by the Constitution 38th Amendment Act 1975, with retrospective effect, (cl 1 A while an order made under clause (1) mention ing any of the rights conferred by Part III is in operation, nothing in that Part conferring those rights shall restrict the power of the State as defined in the said Part to make any law or to take any executive action which the State would but for the provisions contained in that Part be competent to make or to take, but any law so m de shall, to the extent of the incompetency cease to have effect as soon as theorder aforesaid ceases to operate, except as sespectsthings done or omitted to be done before the law so ceases to have affect')

360[1] दो और खण्ड जोड़े गये। तत्कालीन विधि मन्त्री ने इस अधिनियम के बनने से पूर्व कहा था कि 'आपात स्थिति की घोषणा के बाद भी सारे मौलिक अधिकारों को स्थगित नहीं किया गया। उन्हीं को स्थगित किया गया है, जो आपात स्थिति की घोषणा के उद्देश्यों के प्रतिकूल बैठते हैं। आपात स्थिति खत्म हो जाने पर वह पुनः लागू हो जायेंगे। जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है कि आपात स्थिति में अनुच्छेद 358 के अन्तर्गत अनुच्छेद 19 में उल्लिखित सभी मूल अधिकारों का निलम्बन हो जाता है लेकिन आपातकालीन स्थिति की उद्घोषणा के प्रवर्तन में न रहने पर ये अधिकार फिर जागृत हो जाते हैं। आपात स्थिति में केन्द्र तथा राज्य की विधि बनाने की शक्तियाँ अपरिमित हो जाती है। अनुच्छेद 358 में इस बात का ख्याल रखा गया है कि ऐसी परिस्थितियों में जो काम किये गये हों या जिन आवश्यक कामों को नहीं किया गया उनके लिए सरकार के विरुद्ध कार्रवाई नहीं हो सकती, कोई मुकदमा नहीं चलाया जा सकता। उदाहरण के लिए इस सिलसिले में यदि सरकार ने किसी के मकान को जब्त कर लिया है चाहे वह गलत तरीके से ही क्यों न किया गया हो तो उसके विरुद्ध न्यायालय में कोई शिकायत नहीं हो सकती। इसी तरह अगर दिल्ली का कोई आदमी मद्रास जा रहा हो और उस पर प्रतिबंध लगा दिया गया हो कि उसका दिल्ली छोड़ना राष्ट्र या देश के हित में उचित नहीं होगा और उस आदमी के मद्रास न पहुंचने की वजह से उसका कुछ इतना घाटा हो जाता है जो उसके जाने से नहीं होता तो इसकी क्षतिपूर्ति करने की कोई कारवाही वर्जित होगी। आपात कालीन स्थिति के बाद क्षतिपूर्ति की कारवाही नहीं हो सकती।

लेकिन अनुच्छेद 359 के अन्तर्गत जिन मूल अधिकारों का निलम्बन किया गया है उन पर आधारित जितने अधिकार यहाँ के नागरिक के होते हैं उन कामों के लिए आपात काल की उद्घोषणा की समाप्ति के बाद ही मुकदमे नहीं लाये जा

---

1. cl (5) was inserted in Article 360 by the Constitution 38th Amendment Act 1975 with retrospective effect (cl 5 'Notwithstanding anything in this Constitution, (a) the satisfaction of the President mentioned in clause (1) shall be final and conclusive and shall not be questioned in any court on any ground, (b) subject to the provisions of clause (2), neither the Supreme Court nor any other court shall have jurisdiction to entertain any ground, regarding the validity of—(i) a declaration made by proclamation by the President to the effect stated in clauses (1), or (i) *the continued operation of such Proclamation*

सकते थे। अनुच्छेद 359 मे नये सशाधन के बाद ऐसे मुकदमे नही लाये जा सकते है। शत सिफ यही है कि ऐसी परिस्थितियो से जो नुकसान पहुँचता है, वह आपात कालीन स्थिति मे अगर सीमित हो तभी मुकदमा नही लाया जा सकता लेकिन अगर उसका प्रभाव उस उद्घोषणा समाप्ति के बाद भी जारी है तो मुकदमा फिर भी लाया जा सकता है। उदाहरण के लिए मानलें कि सरकार ने किसी का मकान जब्त कर लिया और उसकी मरम्मत नही की। जब्ती की वजह से उसका किराये का जो नुकसान हुआ या वह उस मकान मे रहने के अधिकार से वचित हुआ तो आपात स्थिति लागू होने के दौरान वह अपने दुखडे को रोने से तो फिर भी वचित रहता है। फिर भी अगर सरकार ने आपात स्थिति मे उस घर मे किसी सरकारी कमचारी को रहने का अधिकार दे दिया और वह सरकारी उद्घोषणा की समाप्ति के बाद भी उस घर को खाली करने के लिए तैयार नही है। कारण कुछ भी हो चाहे वह अवकाश मुक्त हो गया हो और चाहे उसको कोई दूसरा सरकारी निवास नही मिला हो तो इसके चलते नागरिक का जो नुकसान होगा इसके लिए आपातकाल के दौरान भी न्यायालय मे जा सकता है। इसे एक और उदाहरण से समझा जा सकता है। आपात स्थिति मे उस घर की हिफाजत या देखभाल नही हुई और उद्घोषणा के खत्म होने के बाद भी सरकार ने उस घर को कब्जे में रखा है और वह घर गिर जाता है या बरबाद हो जाता है तो उसकी जिम्मेदारी सरकार पर होगी।

इस सशोधन के द्वारा अनुच्छेद 359 को 358 के बराबर कर दिया गया है और पीछे एक इतिहास है। 1962 मे चीनी आक्रमण के बाद जब बहुत ■ लोग गिरफ्तार हुये थे और कुछ लोगो की यह धारणा थी कि उन पर लगाये गये आरोप निमूल हैं और उन्ह उनके अधिकारो से गलत तरीके से वचित किया गया तो उन लोगो ने हिरासत या नजरबन्दी के दौरान हुई अपनी क्षति के लिए मुकदमे किये। दिल्ली, इलाहाबाद और कलकत्ता की अदालतो मे ऐसे मुकदमे दायर हुए थे। गलत आदेशो के कारण नागरिको को जो क्षति हुई उसके हरजाने की रकम इतनी बडी होती कि किसी सरकार के लिए उसका भुगतान उसकी शक्ति के बाहर होता। इस लिए उन मुकदमो के दायर करने के बाद ही तुरन्त सरकार ने कानून बनाया जिससे नागरिको को उन अधिकारो से वचित किया गया और कहा गया कि आपात कालीन स्थिति के अन्तगत जितने भी काम सस्त और सही होगे उनके खिलाफ किन्ही अव सरो पर भीसरकार के विरुद्ध मुकदमा नही किया जा सकता। अब फिर सवाल होता है कि कानून की अवैधता की जाच हो इसका तो अवसर ही नही आया। लेकिन एसी परिस्थितिया फिर आ सकती है, देश मे आपात कालीन स्थिति मे समस्याए उठ सकती है—ऐसा वक्त आ सकता है कि जनता की सुरक्षा के लिए उसके लिए आव श्यक वस्तुओ के अभाव को दूर करने के लिए और राष्ट्रहित मे बहुत से ऐसे कदम उठाने आवश्यक हो, जो उपयुक्त होते हो और जिनसे कुछ नागरिको को सिफ

असुविधाए ही नही होती हा, भारी नुकसान पहुचता हा। फिर भी राष्ट्र या देश के हित म नागरिको या कभी कभी इस तरह के दुःख उठाने ही होते हैं। इन्ही परिस्थितियो पर विचार करने के बाद अनुच्छेद 359 म सशोधन किया गया।

अनुच्छेद 360 म सशोधन के पीछे भी एक रहस्य है। अनुच्छेद 352 म जिन परिस्थितियो म आपात कालीन स्थिति की उद्घोषणा की जा सकती है यानी युद्ध या बाह्य आक्रमण या अभ्यातरिक अशांति से भारत या उसके राज्य क्षेत्र के किसी भाग की सुरक्षा के सकट का समाधान होना और इस बात का समाधान होना, कि गम्भीर आपात स्थि त विद्यमान है आवश्यक है। तभी राष्ट्रपति उद्घोषणा द्वारा आपात कालीन स्थिति लागू कर सकते हैं। लेकिन अनुच्छेद 360 म वित्तीय आपात स्थिति का उल्लेख किया गया है। अगर अनुच्छेद 352 की परिस्थिति म राष्ट्र में सभी कामो के करने की शक्ति हो जाती तो अनुच्छेद 360 म फिर एक नई आपात स्थिति का जिक्र नही होता। हमारे शासन विधान के निर्माताओ ने जब इसका उल्लेख अलग से किया और शासन विधान म इसको अलग स्थान दिया तो उन्होंने ऐसा सोच समझ कर किया था। और वित्तीय स्थिति से उत्पन्न होने वाले सकट का मुकाबला करने के अलग तरीके सोचे थे। 1974 म विद्यमान स्थिति को यहा उदाहरण के तौर पर ले। तस्करो जमाखोरो, काला बाजारियो के विरुद्ध अभियान चलाये गये थे। उन लोगो के कामो की अवैधता तो स्पष्ट ही थी। चूकि अनुच्छेद 360 के अन्तर्गत कोई उद्घोषणा नही हुई और अनुच्छेद 352 के अन्तर्गत की गई उद्घोषणा का वित्तीय सकट के निवारण के लिए उपयोग नही किया जा सकता। 1976 म ससद म विधि म त्री का ध्यान इस खामी (त्रुटि) की ओर आकर्षित किया गया था। लोगो का अनुमान है कि अनुच्छेद 360 के सशोधन द्वारा उन्ही खामियो को दूर करने की चेष्टा की गई है।

अनुच्छेद 19 एव अभ्यातरिक आपात स्थिति

8 जनवरी 1976 को भू पू. राष्ट्रपति स्व० श्री फखरुद्दीन अली अहमद ने एक आदेश जारी किया। इस आदेश के अन्तर्गत यह व्यवस्था की गई कि जब तक देश मे आपात कालीन लागू रहेगी तब तक कोई भी व्यक्ति सविधान के अनुच्छेद 19 मे लिखित अधिकारो को क्रियान्वित कराने के लिए किसी अदालत म नही जा सकेगा। इससे पहले 27 जून 1975 को राष्ट्रपति ने एक अधिसूचना जारी करके सविधान के अनुच्छेद 14, 21 और 22 को आपात स्थिति लागू रहने तक के लिए निलम्बित कर दिया था। इस नये आदेश मे कहा गया कि अनुच्छेद 19 म दिए गए अधिकारो को क्रियान्वित कराने के लिए अगर किसी अदालत मे मामला लम्बित या विचाराधीन होगा तो वह भी आपात कालीन स्थिति की अवधि तक निलम्बित रहेगा।

आपातस्थिति बन्दी प्रत्यक्षीकरण याचिका एव व्यक्तिगत स्वतन्त्रता

व्यक्तिगत स्वतन्त्रता सम्बन्धी बन्दी प्रत्यक्षीकरण याचिकाओ को खारिज करते हुए सर्वोच्च न्यायालय ने 28 अप्रैल 1976 को एक के विरुद्ध चार मतो से निर्णय दिया कि आपात काल के दौरान कोई भी व्यक्ति व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को क्रियान्वित कराने हेतु कोई याचिका इस आधार पर प्रस्तुत नही कर सकता कि, नजरबदी गैर-कानूनी थी या बदनीयती से की गई थी।

इस मुकदमे के सर्वोच्च न्यायालय मे आने का कारण मध्य प्रदेश उत्तरप्रदेश, कर्नाटक, महाराष्ट्र और राजस्थान की व अपील थी, जिनमे इन राज्यो ने यह तर्क प्रस्तुत किया था कि सविधान की 359 वें अनुच्छेद मे विहित अधिकारो का प्रयोग करते हुए मीसा के अन्तर्गत गिरफ्तार व्यक्ति उच्च न्यायालय मे कोई अपील इसलिए नहीं कर सकते क्योकि 27 जून 1975 के राष्ट्रपति के आदेश द्वारा स्वतन्त्रता सम्बन्धी अधिकारो का निलम्बन कर दिया गया। इस रूप मे न्यायालयो मे उस तरह के मुकदमो पर विचार नही किया जा सकता। उच्च न्यायालय ने जब राज्य सरकारो की प्रारम्भिक आपत्तियो को स्वीकार नही किया तो उन्होने सर्वोच्च न्यायालय की शरण ली और परिणाम स्वरूप सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश श्रीअजितनाथ रे ने अपनी ही अध्यक्षता मे पाच न्यायाधीशो की एक खण्डपीठ गठित की थी। पीठ मे श्री राय के अतिरिक्त न्यायधीश श्री एच० आर० खन्ना श्री एच०एम० बेग, श्री चाई, एन० चन्द्रचूड और श्री पी०एन० भगवती थे।

नजरबन्दियो के अधिवक्ता श्री डॉ० एन० एम० घटाटे ने दलील दी थी कि सर्वोच्च न्यायालय को निवारक नजरबन्दी कानून की व्याख्या इस रूप मे करनी चाहिए जिस रूप मे मानव अधिकारो और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के सन्दर्भ मे भारत विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय मचो पर उसे प्रस्तुत किया। भूतपूर्व महा न्यायवादी श्री सी के दफ्तरी, एव श्री सोराबजी का कहना था कि यदि सविधान से मौलिक अधिकारो वाला पूरा अध्याय निकाल भी दिया जाए तो भी सरकार का सामान्य कानून की दृष्टि से ही कार्यवाही करनी पडेगी। इस सदर्भ मे नजरबन्दियो की ही ओर से एक और अधिवक्ता श्री शाति भूषण ने भी कहा कि यदि सविधान ने व्यक्तिगत स्वतन्त्रता सम्बन्धी मामलो मे सर्वोच्च न्यायालय को और उसी के साथ उच्च न्यायालयों को भी मामलो की समीक्षा का अधिकार दिया गया तो उसके पीछे एक उद्देश्य था। सविधान द्वारा जो गारटिया दी गई है, उन्हे कार्यपालिका के किसी आदेश द्वारा छीना या खत्म नही किया जा सकता। सरकार की ओर से महान्यायवादी श्री नीरेन डे एव अतिरिक्त सोलीसीटर जनरल श्री वी पी रमन ने पैरवी की।

सर्वोच्च न्यायालय ने बहुमत से अपने निर्णय मे कहा—(1) राष्ट्रपति के 27 जून 1975 के आदेश को दृष्टिगत रखते हुए कोई भी व्यक्ति उच्च न्या-

अ अनुच्छेद 226 के अधीन उच्च न्यायालय के आदेश की वैधता का, उसके स्पष्टीकरण अथवा अन्य दूसरी याचिका अथवा आदेश अथवा निर्देश हेतु इस आधार पर चुनौती नहीं दे सकता कि आदेश विधेयक के अधीन अथवा उसके अनुकूल नहीं है या गैर कानूनी है अथवा बदनीयती से किया गया है। (ii) मीसा का अनुच्छेद 16 A (9) संवैधानिक रूप से वैध है (iii) अधीनस्थ स्वीकार की जाती है और उच्च न्यायालयों के फैसले निरस्त किए जाते हैं। (iv) उच्च न्यायालयों के सामने रखी हुई याचिकाएं अब इन परीक्षा में निर्धारित किए गए कानून के अनुसार ही निपटायी जायेंगी। न्यायाधीश एच० आर० खन्ना ने अपना एकमात्र विरोधी फैसला देते हुए कहा कि संविधान आपात काल के दौरान उच्च न्यायालयों की बन्दी प्रत्यक्षीकरण याचिकाएं जारी करने की शक्ति को स्थगित करने का किसी सत्ता (authority) को अधिकार प्रदान नहीं करता है।

आपात-उपबन्ध एवं 42वां संविधान संशोधन अधिनियम

42 वें संविधान (संशोधन) अधिनियम 1976 द्वारा अनुच्छेद 352, 353, 356, 357, 358 और 359 में भी संशोधन किए गए हैं. अनुच्छेद 352 में 'सम्पूर्ण भारत के सम्बन्ध में या उसके किसी भाग में' शब्दों को जोड़कर[1] यह स्पष्ट कर दिया गया है कि आपात उद्घोषणा देश के एक भाग में भी लागू की जा सकती है। इसके पूर्व इसका प्रभाव सम्पूर्ण देश पर होता था। इसलिए खंड 2-क (अनु 352 2 a) में 'प्रतिसंहृत' (revoke) के पश्चात् 'परिवर्तित (varied)' शब्द जोड़ दिया गया है।[2] इसका तात्पर्य यह है कि यदि किसी भाग में स्थिति में सुधार हो गया है तो उस भाग में से आपात् स्थिति हटाई जा सकती है, किन्तु अन्य भागों में लागू रह सकती है।

---

1 "in respect of the whole of India or of such part of the territory there of as may be specified in the Proclamation This sentence was inserted by the constitution (42nd Amendment) Act, 1976 in Article 352 (1)

2 "Or varied was inserted in Article 352 (2) a by the constitution (42 nd Amendment) Act, 1976
A new clause '2 A' was also inserted in Article 352 which says 'where a Proclamation issued under clause (1) is varied by a subsequent Proclamation, the provisions of claus. (2) shall, so for as may be, apply in relation to such Subsequent Proclamation as they apply in relation to a Proclamation issued under clause (1) "

ग्रनुच्छेद 352 मे किए गए परिवतन के परिणामस्वरूप ग्रनुच्छेद 353[1], 358,[2] 359 (1) म एक नया (proviso) जोडा गया है । इस पर तुक द्वारा ससद को यह शक्ति दी गई है कि वह उस भाग पर भी ग्रापात् सम्बन्धी लागू कर सके जो उस राज्य से भिन्न है, जिसमे ग्रापात् उद्घोषणा प्रवत्त न मे है, यदि इस भाग की गतिविधियो से भारत के किसी भाग की सुरक्षा सकट मे है ।

ग्रनुच्छेद 356 मे "छ महीने' शब्दो के स्थान पर "एक वप" शब्दो को रखा गया है ।[3] इसका तात्पय यह है कि ग्रब राज्यो मे राष्ट्रपति शासन की प्रारभिक ग्रवधि 1 वप की होगी होगी ।

---

1 A proviso was inserted in Article 353 by the Constitution (42nd Amendment) Act, 1976 which says, ' Provided that where a Proclamation of Emergency is in operation only in any part of the territory of Ind a —(1) the executive power of the Uni n to give directions under clause (a) and to any State other then a State in which or in any part of which the Proclamation of Emregency is in operatoin if and in so for as the security of India or any part of the terr tory thereof is the atened by activities in or in relation o the part of the territory of India in which the Proclamati n of Emergency is in operation

2 'One year' was substituted for 'six months' in Art cle 356 (4) by the Constitution (42nd Amendment) Act, 1976

3 Redrafted cl (2) of Article 357 by the Constitution (42nd Amendment) Act, 1976 'Any law m de in exercise of the power of the legislature of the State by Parliament or the President or other authority r ferred to in sub-claus (a) of clau (1) which Parliament or the Pr sident or such other authority would not, but for the issue of Proclamat on under Article 356, have b en competent to make shall afte the Proclamation has ceased to operate continue in force will altered or repealed or amended by a competent legislalature or other authority

अनु० 357 के खण्ड (2) के स्थान पर एक नया खण्ड[1] रखा गया है जो उन कानूनों को बचाने के लिए है, जो अनु० 356 के अन्तर्गत पहले से ही प्रवर्तन में है।

आपात स्थिति समाप्त

कार्यकारी राष्ट्रपति श्री बी० डी० जत्ती ने एक उद्घोषणा जारी कर 3 दिसम्बर 1971 को लागू की गई आपात स्थिति (बांगला देश के संकट के संदर्भ में बाह्य खतरों से सुरक्षा के लिए) भंग कर दी। इससे पूर्व आंतरिक आपात स्थिति लोक सभा के चुनाव परिणामों के बाद श्रीमती गांधी की सरकार ने ही वापस ले ली थी। आंतरिक आपात स्थिति (25 जून, 1975) के लागू किये जाने के पश्चात् देश भर में विपक्ष के सभी नेता तथा हजारों कार्यकर्त्ता गिरफ्तार कर लिये गये थे। लोकसभा के चुनाव की घोषणा के समय उसमें कुछ ढील की गई थी। बाह्य आपात स्थिति खत्म करने के लिए श्री मोरारजी देसाई ने अनशन भी किया था, किन्तु तब वह वापस नहीं लिया गया था। इसे खत्म किये जाने के सम्बन्ध में गृह मन्त्रालय ने 27 मार्च 1977 को एक प्रेस विज्ञप्ति जारी की। इस प्रकार अब देश में आपात स्थिति पूरी तरह समाप्त हो गई है तथा नागरिकों को समस्त मूल अधिकार पुनः प्राप्त हो गये हैं।

आपात स्थिति : जनता पार्टी द्वारा प्रस्तावित संवैधानिक संशोधन

केन्द्रीय मन्त्री चरणसिंह ने लोकसभा में बताया कि जनता सरकार आपात स्थिति घोषित करने के अधिकार को संविधान से निकालने का विचार कर रही है।

---

1 A same proviso saw added in Article 358 and Article 359(1) by the Constitution (42nd Amendment) Act, 1976 which says "Provided that where a Proclamation of Emergency is in operati ononly inthe part of ferritory of India, any such law may be made, or any such executive may be taken, under this Article in relation to or in any state or union territory in which or in any part of which the Paoclamation of Emergency is not in operation, if and in so far as the security of India or any part of the territory thereof is threatened by activities in or in relation to the part of the territory of India in which the Proclamation of Emergency is in operation,'

सविधान के अनुच्छेद 352 के अन्तगत केन्द्र सरकार आतरिक और बाह्य दोनो प्रकार की आपात स्थिति की घोषणा कर सकती हैं। लोकसभा मे यह घोषणा करते हुए श्री चरणसिंह ने कहा कि ब्रिटेन को छोडकर दुनिया के किसी और देश के सविधान मे आपात स्थिति की व्यवस्था नही है। ब्रिटेन मे भी यह घोषणा केवल युद्ध के समय ही की जा सकती है और आपात स्थिति के दो मास के भीतर आम चुनावो की घोषणा करना जरुरी होगा। गृह मन्त्री ने काग्रेस सदस्यो से कहा कि जो लोग प्रजातन्त्र मे अब विश्वास करने लगे है, उन्हे सवधानिक सशोधन को पारित करवाने मे सरकार की मदद करनी चाहिए। उनके अनुसार ब्रितानी सरकार द्वारा बनाये गये 1935 के 'गवनमेन्ट आफ इण्डिया एक्ट' मे यह व्यवस्था नही थी।

25 जून 1975 को भतपूव प्रधान मन्त्री श्रीमती इन्दिरा गाधी ने आपात स्थिति सम्बन्धी सवैधानिक व्यवस्था का जो दुरुपयोग किया, उससे देश के सभी प्रजातान्त्रिक तत्वो का चिन्तित होना स्वाभाविक है। जनता पार्टी की सरकार द्वारा इस व्यवस्था को ही समाप्त करने के पीछे यह उद्देश्य है कि भविष्य म भी कोई व्यक्ति इस व्यवस्था का दुरुपयोग कर देश को तानाशाही के अन्धेरे मे न धकेल सके। सरकार का रवैया यह है कि सामान्य सकटो का मुकाबला करने के लिए केन्द्रीय सरकार और राज्य सरकारो के पास पर्याप्त कानूनी अधिकार है जिनके इस्तेमाल से देश को अराजकता से बचाया जा सकता है यहा तक कि गम्भीर सकटो जैसे बाढ भूकम्प सूखा या व्यापक साम्प्रदायिक दगे आदि को भी सामान्य कानूनो के अन्तगत ही नियन्त्रित किया जा सकता है। इसलिए कोई कारण नही कि सविधान मे ऐसी व्यवस्था रहने दी जाये जिसका इतना आसानी से निजी स्वार्थों के लिए दुरुपयोग किया जा सके। सविधान का निर्माण करने वाले नेताओ के मन म नही था कि कभी ऐसी स्थिति पदा हो सकती है कि जब कोई प्रधान मन्त्री अपने राजनैतिक स्वार्थो के लिए आपात स्थिति की घोषणा करेगा और राजनैतिक शक्तिया और प्रजातन्त्र को चलाने वाले प्रतिष्ठान खामोशी के साथ ऐसा होने देंगे। शायद यह कल्पना नही की गयी थी कि कोई राष्ट्रपति जो कि सवैधानिक मुखिया होता है केवल निहित स्वार्थों के लिए आपात स्थिति जैसी घोषणा पर हस्ताक्षर करेगा। मगर ऐसा हुआ, इस बात से कोई इन्कार नही कर सकता।

12 जून 1975 को इलाहाबाद उच्च न्यायालय के फसले से श्रीमती इदिरा गाधी की राजनैतिक स्थिरता पर जो असर पडा था उसे राष्ट्रीय सकट का नाम दिया गया और प्रधानमन्त्री पद पर बने रहने के लिए ही नही अपितु अपने पुत्र सजय गाधी के हाथ मे गैर कानूनी ढग से सत्ता सौंपने के उद्देश्य से सविधान की व्यवस्था का फायदा उठाकर जो अधिकार श्रीमती इन्दिरा गांधी ने अपने हाथो म इकट्ठे किये उससे सरकार के हक मे नागरिको की जिन्दगी और मौत का अधिकार

आ गया । जैसा कि स्वाभाविक है कि इस प्रकार और ऐसे उद्देश्यों के लिए प्रयोग करके अधिकारों को हथियाने के बाद सत्तारूढ़ व्यक्ति केवल नागरिक स्वतंत्रता और मताधिकार की आजादी तक ही सीमित नहीं रहता, उसका अतिक्रमण कला, संस्कृति साहित्य, कानून और इतिहास सब पर होता है । ऐसी स्थिति दुबारा न आये इसके लिये कोशिश करना स्वागत योग्य है । मगर कुछ प्रश्न स्वाभाविक रूप में पैदा होते हैं ।

आंतरिक संकट आसानी से देश के सामान्य कानूनों की परिधि में आ जाता है मगर यही स्थिति बाहरी आक्रमण के समय नहीं होगी । 1962 में चीन के आक्रमण के समय आपात स्थिति घोषित की गई थी जो 1968 तक चलती रही । अनुभव यह बताता है कि चीन और पाकिस्तान के आक्रमणों के समय केन्द्रीय सरकार के असाधारण अधिकारों के उपयोग से उतना उपयोगी काम नहीं हो पाया जितना जितना कि स्वयं भारतीय जनता की राष्ट्रीयता और जागरूकता के कारण । ऐसे सभी मौकों पर देश के सभी वर्ग और राजनैतिक दल भले ही वे सत्तारूढ़ दल के विरुद्ध प्रचार करते रहे हों, खुलकर सामने आये और हर प्रकार का सहयोग सरकार और सेना का दिया । इसलिये कुछ लोगों के इस तर्क में सत्यता है कि बाहरी आक्रमण के समय भी आपातस्थिति में दत्त असाधारण अधिकारों के बिना भी काम चलाया जा सकता है पिछले आक्रमणों का अनुभव तो कम से कम इस बात का आश्वासन देता है । मगर कुछ अन्य लोग यह तर्क देते हैं कि यह जरूरी नहीं है कि भविष्य में बाहरी खतरे उसी सीमा तक रहें जिस सीमा तक पहले रहे हैं । पहले की अपेक्षा बड़ा राष्ट्रीय संकट आ सकता है, एक गम्भीर युद्ध देश की स्थिति कैसी बना सकता है इसका उदाहरण वियतनाम का युद्ध है, जहाँ आक्रमण के कारण कोई भी सामान्य सेवा सुचारू ढंग से चलाना मुश्किल हो जाता है । या दूसरे विश्व युद्ध में जर्मन सेनाओं के आक्रमण से ब्रिटेन में जो स्थिति पैदा हो गयी थी, इसलिये सदा के लिए आपात स्थिति की व्यवस्था को संविधान से निकालना शायद उचित नहीं होगा ।

संविधान के अनुच्छेद 352 में आपात स्थिति घोषित करने की जो व्यवस्था है, उसके अंतर्गत नागरिकों के सभी अधिकार स्वतः स्थगित हो जाते हैं यहां तक कि जीवित रहने का अधिकार भी । जनता पार्टी का इस सम्बन्ध अभिमत रहा है कि नागरिक अधिकारों का हनन किसी भी हालत में उचित नहीं है और इसलिए एक महत्वपूर्ण संशोधन प्रस्तावित किया गया तथा 19, 20 एवं 24 अक्टूबर 77 की बैठकों में जनता पार्टी संसदीय दल की कार्यकारिणी द्वारा अनुमोदित कर दिया गया, जिसके पारित हो जाने आपात स्थिति के लागू होने पर भी सरकार नागरिकों के जीने और स्वतन्त्रता के अधिकार का हनन नहीं कर सके । अन्य

मौलिक अधिकार तभी स्वत स्थगित माने जायें, जबकि बाह्य आक्रमण होने पर देश मे आपात स्थिति लागू की गई हो। यदि देश के भीतर सशस्त्र विद्रोह होने के कारण आपात स्थिति लागू की गई तो नागरिको के मौलिक अधिकार स्वत स्थगित नही हो सके, बल्कि विशेष आदेश जारी करके उन्हे स्थगित करना पडेगा। मौलिक अधिकारो का स्थगन केवल आपात स्थिति सम्बन्धी कानूनो के अन्तगत किया जा सकेगा, किसी अन्य कानून के अन्तगत नही।

सशोधन से यह व्यवस्था व्यवस्था करने का निश्चय किया गया कि आतरिक अशाति के कारण आपात स्थिति लागू नही की जा सके, सशस्त्र विद्रोह होने पर भी इसकी घोषणा की जा सके। आपातस्थिति को देश के किसी एक भाग विशेष तक सीमित रखा जा सके। (यह व्यस्था 42वें सशोधन द्वारा की गयी थी और जनता पार्टी सरकार भी इसे बनाये रखने के पक्ष मे है।)

साथ ही यह व्यवस्था भी करना तय रही है कि राष्ट्रपति काबीना स्तर की मन्त्रि परिषद के लिखित परामश पर ही आपात स्थिति लागू करने की घोषणा कर सके। (श्रीमती इन्दिरा गाधी ने स्वय यह स्वीकार किया है कि 25 जून, 1975 को उन्होने बिना केबिनेट की पूव स्वीकृति के राष्ट्रपति से आपात काल लागू करने की घोषणा पर हस्ताक्षर करवा लिए थे)

आपातकाल घोषित करने के अधिकार का दुरुपयोग भविष्य मे और न किया जा सके, इसके लिए यह व्यवस्था करना तय हुआ कि आपात स्थिति की घोषणा किये जाने के एक महीने के भीतर सविधान सशोधन के लिए अपनायी जाने वाली विधि के अनुसार ही ससद से उसका अनुमोदन कराना आवश्यक हो। और छह माह के बाद फिर उसका अनुमोदन कराना आवश्यक हो। इसके साथ ही सशोधन मे यह व्यवस्था भी है कि लोकसभा के दस प्रतिशत सदस्य विशेष अधिवेशन बुलाने की माग कर सकते हैं और यदि आधे सदस्य यह प्रस्ताव पारित करें कि आपात स्थिति आगे बनाये रखने की आवश्यकता नही है तो वह अपने आप समाप्त हो जाये।

इस समय यह व्यवस्था है कि राज्यो मे राष्ट्रपति शासन लागू करने के आदेश को अदालत मे चुनौती नही दी जा सकती और यह कि राष्ट्रपति शासन की अवधि एक एक करके तीन वष तक बढाई जा सकती है। सविधान के 356 की इस व्यवस्था को बदलने का सरकार ने निणय किया। इस सशोधन का जो प्रस्ताव है उसके अन्तगत किसी राज्य मे राष्ट्रपति शासन लिये लागू किया जा सकेगा और इस घोषणा को अदालत मे चुनौती भी दी

यानि राष्ट्रपति शासन सवथा न्याय सम्मत होगा। और यह सम्बद्ध राज्य म जनप्रतिनिधि सरकार की स्थापना को एक वष से अधिक के लिए टाला नही जा सकेगा। केन्द्र राज्य सम्बन्ध सुधारने की दिशा म भी यह एक महत्वपूण कदम होगा।

आपातकाल प्रावधान एव 45वां (44 वा) सशोधन विधेयक—

अतएव 45 वा सविधान सशोधन (जिसे बदल कर 44 वां सशोधन अधिनियम बताया गया) विधेयक मे आपात काल सम्बन्धी व्यवस्थाओ मे कुछ महत्वपूर्ण सशोधन किय गये हैं जिससे भविष्य म कोई भी सरकार आपातकाल के प्रावधानो का दुरुपयोग नही कर सकगी।

लोक सभा ने 45वां (44वा) सविधान सशोधन पारित करके (राज्य सभा द्वारा अभी इसे पारित नही किये जाने के कारण यह अधिनियम नही बन सका है) 4 वें सशोधन द्वारा किय गये पारस्तिजनक प्रावधनो को निरस्त करके देश मे स्वतन्त्रता व विधि सम्मत राज्य की पुनर्स्थापना का माग साफ कर दिया है। प्रस्तुत सशोधन म बदनाम 42वें सशोधन के दुष्प्रभावो को दूर करने के अतिरिक्त नागरिक अधिकारो की अक्षुण्णता तथा आपात काल लागू करने सम्बन्धी प्रावधानो म मूलगामी परिवतन करके भावी खतरो के प्रति समुचित व्यवस्थायें की गई हैं।

Safeguards at a glance —The Constitution (45th Amendment) Bill adopted by the Lok Sabha unanimously on August 23, 1978 as the 44th Amendment Bill contains the following safeguards against future negation of the rights to life and libsrty of the people during an emergency —

(i) An emergency under Article 352 can be proclaimed only to deal with internal "armed rebellion"[1] or external aggression,

1 "The question remains unanswered that whether 'armed rebellion' is really a more precise phase than "internal disturbance" and so less liable to fanciful (mis) interpretations such as Mrs Gandhi employed to justify the declaration of the 1975 emergency? The term is so vague and undefined as to be no less a pootential source of political mischief than 'internal disturbance The country

(ii) The advice to the President to proclaim an emergency shall be rendered by the "Union cabinet"[2] in writing

(iii) The President has the discretion to remit the advice back to the council of ministers for reconsideration but he shall act in accordance with a reconsidered advice,

(iv) The executive will have no powers under Article 359 to suspend Article 20 which ensures against retrospe-

---

has seen armed rebellions (for example the 1973 revolt by the U P Provincial Armed Constabulary and the Naxalite movement) and has been able to deal with them without an emergency having to be declared Would situations like these warrant such a declaration under the present bill ? Should it not be made clear that the emergency will be confined to the specific area (s) where the rebellion is operative and no where else and that it will be lifted as soon as the situation is under control ?

2 The Bill is introducing for the first time expression "Union cabinet" in the Constitution Accordin to Articles 74(1) and 75(3), it is clear that it is the concil of ministers and not the Union Cabinet whose advice is constitutionally binding upon the President, and that the council of ministers has a collective responsibility to the House of the People Therefore the President may reject the advice of the Union cabinet, say of 20 Ministers, to proclaim an emergency on the ground that it is not the advice of the advice of the council of minsters say, comprising 55 ministers The argument that 'normally non cabinet ministers will not adopt anti cabinet course of action does not mean that they can not adopt it'

ctive penal action and Article 21 which guarantee right to life and personal liberty to the citizens

(v) The jurisdiction of the high courts to issue writs in the nature of "habeas corpus" can not be suspended,

(vi) The citizens shall have the right to challenge in the court proclamation of an emergency on grounds of mala fide intentions of the government

(vii) An emergency proclamation shall have to be approved within a month by Parliament[1] by a majority of the strength of each House and two thirds of those present and voting as in the case of all constitution amendments

(viii) Parliment will have the right to revoke the emergency by a resolution, and

(ix) The right to publication of the proceeding of Parliament during an emergency can not be suspended

इस प्रकार कार्यपालिका के आपात काल लागू करने के आधार व अधिकार को सीमित करके जनता पार्टी ने देश मे नागरिक स्वतन्त्रता सवैधानिक शुचिता व कानून के शासन की स्थापना का जो चुनाव वादा किया था उसे इस सशोधन द्वारा पूरा किया जा रहा है। किन्तु राज्य सभा द्वारा इसके पाँच क्लाजो की अस्वीकृति से लोक सभा द्वारा पुन इसे पारित करना होगा।

राष्ट्रपति रेड्डी के वक्तव्य अवाछनीय भ्रम

जनता पार्टी के एक महासचिव श्री नानाजी देशमुख द्वारा राष्ट्रपति श्री नीलम सजीवा रेड्डी से भेंट करके यह बयान जारी किया जाना, कि 'राष्ट्रपति सक्रिय

---

1 To overcome the possible dissolution of the Lok Sabha by the government in question, it is suggested that until a new Lok Sabha is reconstituted after its dissolution, the members of the old House be called for the sole purpose of approving and disapproving the proclamation or continunance of an emergency ' Dr Sadanand Jha Gaps in emergency amendment, Times of India, August 25, 1978

राजनीति मे घुसने का कोई इरादा नही रखते' (तथा यह कि उनका प्रधान मन्त्री पद ग्रहण करने की कोई तम ना नही है) असाधारण घटना है। यह सम्भव है है कि अफवाहो म कोई सत्यता नही हो किन्तु राष्ट्रपति के एक दो बयान अवश्य ही सदेह का जन्म दे सकते है जिनसे यह अथ लगाया जा सके कि व प्रधान मन्त्री से प्रसन्न नही हैं।[1] 4 सितम्बर, 1978 को मद्रास मे स्व राजाजी (राज गोपालाचाय) एव स्व० कामराज को श्रद्धाजलि अर्पित करते हुए राष्ट्रपति द्वारा दिया गया वक्तव्य[2] एव इससे पूव 10 अगस्त, 1978 को काग्रेस (आई) के प्रति निधिमण्डल द्वारा उन्ह ज्ञापन, ('preposterous memorandum) [जिसमे राष्ट्रपति से "देश के वतमान गम्भीर हालात म कोई उपचारिक कदम उठाने" ("to take remedial action to set right the deplorable state of affairs prevailing in the country") का निवेदन किया गया था] दिये जाने पर, श्री रेड्डी द्वारा "उन सब व्यक्तियो का, जो स्वतन्त्रता सग्राम के अग्रणी थे, सावजनिक जीवन मे स्वस्थ मूल्यो की पुनर्स्थापना हेतु एक मच पर इकट्ठा होने का" किया गया आव्हान, तथा 'हीलिंग टच' ('healing touch') देने का आश्वासन आदि आलोचको के मत मे स्थिति को भ्रामक बना सकते हैं। साथ ही ऐसा भी लगता है कि श्री सजीवा रेड्डी उस राष्ट्रपति, जो सभी राजनैतिक दलो के समथन से निर्वाचित हुआ हो, जसाकि वे स्वय हैं तथा उस राष्ट्रपति, जो किसी एक राजनैतिक दल या कुछ दलो क समूह के समथन से निर्वाचित हुआ हो, के बीच अन्तर करन का प्रयास करते दिखायी दे रहे हैं (हालाँकि सुना जा रहा कि श्री रेड्डी ने नानाजी के वक्तव्य के प्रति नाखुशी जाहिर की है) तभी वो वे 'राष्ट्रीय सहमति' (national reconciliation') की यदा कदा बात करते प्रतीत होत हैं।

वस्तु स्थिति यह है कि राष्ट्रपति नहीं, अपितु मात्र प्रधानमन्त्री ही यह काय (राष्ट्रीय सहमति की राजनीति स्थापित करन) अपने केबिनेट व दल के साथियो के सहयोग से, पूरा कर सकता है।[3] यद्यपि यह सत्य है कि देश मे दलीय व्यवस्था

1 Giri Lal Jain 'The Role of the President, Times of India, September 13, 1978

2 The President said Fortunately he (Kamraj) had no son or son in law to spoil his name'

3 However high personal status in the party (Dr Rajendra Prasad), however great the respect for his learning (Dr Radhakrishan an and Dr Zakir Hussain) and however strong his feelings (Mr V V Giri), the President has no choice but to go by the advice of the council of ministers. Nehru led the search for a national consensus on policy, not Dr Prasad and Dr Radhakrishan'

पतनो मुख (decay) है तथा एक सुदृढ दलीय व्यवस्था के बिना ससदीय सरकार की सफलता संदिग्ध रहती है, किन्तु जब तक भारत म ससदीय प्रणाली है, राष्ट्रपति की भूमिका सीमित है एव सीमित रहनी चाहिए।

(ii) प्रधान मन्त्री का पद—ग्रेट ब्रिटेन के विषय मे यह कहा गया है कि वहा की लोकतान्त्रिक राजनैतिक व्यवस्था ससदीय सरकार से केबीनेट सरकार और अन्तत प्रधान मन्त्रीय सरकार म परिणित हुई है। भारत के सन्दर्भ मे भी यह कहा जाता है कि यहा राजनैतिक व्यवस्था उसी प्रकार विकसित हो रही है जैसे कि ग्रेट ब्रिटेन मे। इस विषय म सर्वसम्मति का अभाव है। इस विवाद के बावजूद इससे इन्कार नही किया सकता है कि अधिकाशत प्रधान मन्त्री का पद इस प्रकार की धुरी बनने की प्रवृति रखता है, जिसके ईद गिर्द समूची राजनैतिक व्यवस्था घूमती है। प्रधान मन्त्री का पद व्यक्तित्व अभिमुखीकरण एव सस्थाकरण का मिश्रित रूप रहा है। यद्यपि अभी तक समवत प्रधानमन्त्री के व्यक्तित्व ने सस्थागत रूप की अपेक्षा इस पद के स्वरूप को अधिक प्रभावित किया है, फिर भी इस तथ्य की अपेक्षा नही की जा सकती है कि क्रम से कम दो प्रभुताशाली व सशक्त प्रधान मन्त्रियो (प जवाहरलाल नेहरू व श्रीमती इन्दिरा गाधी) के रूप म व्यक्तित्व सम्बन्धी घटकों ने प्रधान मन्त्री पद के अनेक पक्षो को सस्थाकृत करने के लक्ष्य मे सहायता प्रदान की है।

भारत मे राजनीति के क्षेत्र म ब्रिटेन से जो विभिन्न विरासतें मिली है उनम से एक महत्वपूर्ण विरासत सार्वभौमिक प्रजातन्त्रीय गणराज्य के सवैधानिक ढाचे मे प्रधान मन्त्री को प्रदत्त केन्द्रीय स्थिति है। यद्यपि राष्ट्र का अध्यक्ष राष्ट्रपति कहा गया है तथापि शक्ति सरचना का मूलत ब्रिटेन के समान प्रधान मन्त्री ही अध्यक्ष है।

भारत मे प्रधान मन्त्री पद की स्थिति इतनी महत्वपूर्ण है, इतनी सर्वव्यापी है कि ऐसा लगता है मानो हमारी केबीनेट प्रणाली भी प्रधान मन्त्रीय प्रणाली बन गई हो और समवतया प्रधान मन्त्री के व्यक्तित्व के माध्यम से हमारी ससदीय प्रणाली का स्वरूप अध्यक्षात्मक प्रणाली से मिलता जुलता दिखाई देता है। परन्तु ब्रिटेन एव भारत की स्थिति मे फिर भी दो महत्वपूर्ण अन्तर है—प्रथम विकास क्रम का अन्तर है। भारत मे प्रधान मन्त्री का पद कभी भी 'समकक्षों मे प्रथम' की स्थिति मे नही रहा क्योंकि प नेहरू प्रधान मन्त्री हुये और उनके राष्ट्रीय व्यक्तित्व की छत्रछाया मे प्रधान मन्त्री के पद ने प्रारम्भ मे ही विकास की एक महत्वपूर्ण स्थिति जो ब्रिटेन मे बहुत समय पश्चात् आई, प्राप्त करली थी। इससे भी महत्वपूर्ण अन्तर यह है कि इग्लण्ड मे प्रधान मन्त्री पद के महत्व का सस्थायीकरण (institutionalization of the importance of the Prime Ministership) हो गया है अत व्यक्तित्व का प्रधान मन्त्री की मर्यादा पर उतना अधिक प्रभाव नही पडता है,

जितना भारत म । इसलिए वहा यह जरूरी नही कि प्रधान मन्त्री की गरिमा तभी सशक्त हो, जबकि व्यक्ति सक्षम हो । भारत 1971 के बाद उसी दिशा म जाता हुआ दिखाई दिया, जो प्रारम्भ मे थी । बीच की स्थिति—श्री लाल बहादुर शास्त्री का काल एव श्रीमती गाधी का प्रारम्भिक काल म यह प्रवृत्ति नही थी ।

इस सम्ब ध मे दूसरी बात जो महत्वपूर्ण हैं वह यह है कि प्रधान म त्री का पद हम विकास की प्रक्रिया से गुजरता हुआ दिखाई दता है इसलिए यह काफी नहीं है कि हम केवल सविधान म जो उसकी सूक्ष्म भूमिका मिलती है उसका ही अध्ययन करे और उसके आधार पर यह समझ पाये कि प्रधान मन्त्री के पद की भूमिका क्या है या उसके काय कलाप क्या हैं, अपितु सविधान से बाहर भी प्राधान मन्त्री के पद का अध्ययन करना होगा ।

जहा तक सविधान का सम्ब ध है, उसमे तीन अनुच्छेदो का सम्ब ध मोटे रूप से प्रधान मन्त्री पद से है व हैं —

प्रथम— अनुच्छेद 74 (1) 'राष्ट्रपति के कार्यों म सहायता तथा परामश देने के लिए एक मत्रीमण्डल होगा जिसका अध्यक्ष प्रधान म त्री कहलायगा ,[1]

द्वितीय–अनुच्छेद 75 (1) 'प्रधान मन्त्री की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जायेगी तथा अन्य म त्रियो की नियुक्ति प्रधान म त्री की सलाह से राष्ट्रपति द्वारा की जायेगी ।[2]

तृतीय—अनुच्छेद 78 म प्रधान मन्त्री के कत्त व्य तथा नियुक्ति के विषय म ब्रिटिश परम्परा का पूर्ण निवहन की भारतीय राजनीति मे व्यवस्था है ।[3] यह अनुच्छेद उपव धित करता है कि

---

1 Article 74 (1) "There shall be a Council of Ministers with the Prime Minister as its head to aid and advise the President in the exercise of his functions')

2 Article 75 (1) 'The Prime Minister shall be appointed by the President and the other Minister shall be appointed by the President on the advaice of the Prime Minister")

3 Article 78 It shall be the duty of the Prime Minister (1) To communicate to the President all decisions of the Council of Ministers relating to administration of the affairs of the Union and proposals fo legislation, (2) to furnish such information relating to administration of the

(a) प्रधान मन्त्री मन्त्रि मण्डल के सभी 'निर्णयों' (all decisions) की सूचना राष्ट्रपति को देगा,

(b) वह सघीय कार्यो के प्रशासन एव प्रस्तावित विधेयकों के सम्बन्ध मे ऐसी सूचनाए भी देगा, जिसकी माग राष्ट्रपति करता है।

(c) जब कोई मन्त्री नीति के प्रश्न पर, मन्त्रिमण्डल के समक्ष रखे बिना स्वय निर्णय ले लेता है, ऐसी स्थिति म अगर राष्ट्रपति आवश्यक समझे तो, वह (प्रधान मन्त्री) ऐसे प्रश्नों को मन्त्रिमण्डल के समक्ष विचारार्थ रखेगा।

इस संक्षिप्त रूपरेखा से प्रधान मन्त्री के पद की गरिमा का अनुभव नही होता। प्रश्न उठता है कि सविधान निर्माताओ ने इतना सक्षिप्त रूप से ही प्रधान मन्त्री के बारे मे क्यो कहा ? इसके पीछे यह विश्वास था कि भारत म भी व ही रूढ़िया पनपगी, वे ही मापदण्ड विकसित होगे जो प्रधान मन्त्री पद एव केबीनट प्रणाली के सम्बन्ध म विकसित हुई और बहुत मात्रा म ऐसा हुआ भी है। प्रधान मन्त्री पद के उपरोक्त स्रोत, के साथ साथ राजनीतिक स्रोतो जो भिन्न भिन्न समय पर भिन्न भिन्न भूमिका निभा सकते हैं तथा व्यक्तित्व स्रोत का भी अध्ययन करना पड़ता है। एक ऐसी स्थिति हो सकती है जब प्रधान मन्त्री का राष्ट्रीय व्यक्तित्व, दलीय व्यक्तित्व से अधिक हो जैसाकि नेहरू का था तथा फिर श्रीमती गाधी का दिखाई दिया। एक स्थिति ऐसी भी हो सकती है जब दलीय नेता के रूप म प्रधान मन्त्री के पद को दल के बाहर स कोई चुनौती नही हो किन्तु इस स्थिति म दलीय नेता होने पर भी प्रधान मन्त्री का पद सीमित हो। जब शास्त्री एक मौलिक समझौते के रूप मे प्रधान मन्त्री बने, तब उनकी स्थिति इसी प्रकार की थी। इसी प्रकार श्रीमती गाधी जब प्रथम बार प्रधान मन्त्री बनी तो वह बन्दी की तरह थी, सिन्डीकेट की भूमिका से प्रधान मन्त्री के पद को बल नहीं मिला था। अत चू कि भारत मे प्रधान मन्त्री पद का सस्थायीकरण नही हो पाया, उसका पद व्यक्तित्व एव राजनैतिक स्रोतो पर निर्भर रहा है।

---

affairs of the Union and proposals for legislation as the President may call for, and (3) if the President so require to submit for the consideration of the Council of Ministers any matter on which 'a decision" has been taken by a Minister but which has not been considered by the Council

कांग्रेस शासन काल में प्रधान मन्त्री-पद का विकास-क्रम — प्रधान मन्त्री के पद के विकास के इतिहास में हम भारत के सन्दर्भ में भी कुछ मोटे चरण दिखाई देते हैं। प्रथमतः हम कांग्रेस शासन में प्रधान मन्त्री पद के विकास को दो भागों में बाँट सकते हैं —

(अ) नेहरू का काल (ब) नेहरू के बाद का काल

(अ) जहाँ तक नेहरू के काल में इस पद की स्थिति का सम्बन्ध है नेहरू के व्यक्तित्व से प्रधान मन्त्री के पद का महत्व उभरा और एक दलीय प्रभुत्व व्यवस्था के अन्तर्गत कैबीनेट सदस्य के सन्दर्भ में सर्वोच्च थी ही परन्तु प्रधान मन्त्री की स्थिति कभी भी समकक्षों में प्रथम की स्थिति नहीं थी बल्कि कभी कभी तो विशेषतौर से नेहरू के प्रारम्भिक काल में ऐसा लगता था कि प्रधान मन्त्री का पद कैबीनेट प्रणाली में सबसे अधिक शक्तिशाली है तथा यह प्रश्न उठता था कि क्या हमारी कैबीनेट प्रणाली प्रधान मन्त्री में उन्मुख हो रही है किन्तु मोटे रूप में यह धारणा रही कि प्रधान मन्त्री का पद अधिकतम शक्तिशाली तो है किन्तु अभी तक मन्त्रीय प्रणाली को प्रधान मन्त्रीय प्रणाली नहीं कहा जा सकता क्योंकि नेहरू की कैबीनेट में बहुत से व्यक्ति अपने में इतने महत्वपूर्ण थे कि नेहरू उनकी अवमानना से उपेक्षा नहीं कर सकते थे। वे राष्ट्रीय आन्दोलन में उनके बराबर के साथी थे। वल्लभ भाई पटेल नेहरू से किसी तरह कम नहीं थे। प्रधान मन्त्री का व्यक्तित्व पूरी तरह से प्रत्येक मन्त्री पर छाया हुआ हो और हमारी कैबीनेट प्रणाली प्रधान मन्त्रीय प्रणाली में परिणित हो गई हो नहीं कहा जा सकता।

'नेहरू कैबीनेट प्रणाली की सभी स्थापित परम्पराओं के साथ प्रधान मन्त्री बने। प्रधान मन्त्री बनने से पूर्व राष्ट्रीय नेता होने का महत्व [illegible] उन्हें प्राप्त हुआ था [illegible] उन्होंने राष्ट्रपति द्वारा प्रधान मन्त्री को निर्देशित करने की किसी भी सम्भावना को पूर्णतः नष्ट कर दिया। यह इतनी दृढ़ता के साथ हुआ कि नेहरू की मृत्यु के बाद शास्त्री के प्रधान मन्त्री तथा राधाकृष्णन के राष्ट्रपति होने पर भी यद्यपि राष्ट्रपति प्रभावशाली व्यक्तित्व वाले थे, किन्तु [illegible] उनके पक्ष में नहीं झुका।'[1]

---

1 "Nehru came to power with [illegible] con[illegible] of British cabinet system h[illegible] advan[illegible] of b[illegible]ing a national leader [illegible] P M [illegible] demolished for exampl[illegible] ma[illegible] of the President bein[illegible] the P M [illegible] it so firmly infact [illegible] with [illegible] Prime Minister [illegible] as P[illegible] balance of per[illegible] of [illegible] the balance of [illegible] Prime Mini[illegible] The [illegible] Sept 12, 1971

इससे यह स्पष्ट होता है कि नेहरू काल म एक दिशा म सत्याकरण हुआ और वह था प्रधान मन्त्री एव राष्ट्रपति क सम्ब ध और यह रूढि मजबूती से स्थापित हो गई कि प्रधान मन्त्री वास्तविक कार्यपालिका का अध्यक्ष है तथा राष्ट्रपति नाम मात्र का अध्यक्ष है और आगे चलकर भी इस स्थिति म परिवतन नहीं हो पाया। साथ ही यह परम्परा भी बनी कि प्रधान मन्त्री व अन्य मन्त्रियो के बीच यदि मतभेद होगा तो अन्य मन्त्रियो को अपना पद छोडना पडगा। परन्तु इसका अथ यह नही है कि नेहरू जिस मन्त्री को हटाना चाहते थे उसे हमशा हटाने की स्थिति म थ ही। एक समय तो ऐसा आया कि उन्ह भी कामराज योजना का आवरण रखना पड़ा।

इस चरण मे एक और महत्वपूण बात है कि भारत म शुरू से ही उप प्रधान मन्त्री की व्यवस्था थी और इसकी आवश्यकता इसलिए थी कि पटेल का अपने क्षेत्र म व्यक्तित्व नेहरू के बराबर म था और उन्ह नेहरू क मन्त्री मण्डल म उस समय तक रखना मुश्किल था जब तक उन्ह विशेष स्थान नही दिया जाता और यह उप प्रधान मन्त्री पद स सम्भव था। किन्तु इस रूढि क रूप म नही स्थापित किया गया। वल्लभ भाई पटल की मृत्यु क बाद नेहरू न किसी मन्त्री को एसा नही बनाया। पुन इसी प्रकार की व्यवस्था इन्दिरा गाधी को प्रधान मन्त्री बनाये जाने के बाद श्री मुरारजी देसाई का उप प्रधान मन्त्री बना कर की गई क्योकि ऐसा करना कांग्रेस दल मे एकता बनाए रखने क लिए आवश्यक था। लेकिन कांग्रेस विभाजन (1969) के पश्चात् यह व्यवस्था तोड दी गई।

जहा तक सगठन के अध्यक्ष (यहा कांग्रेस अध्यक्ष) स सम्ब ध का प्रश्न है नेहरू काल म उनम आपस म अधिकाशत तनाव की स्थिति नही आई कभी सम्ब ध अच्छे भी रह तो कभी कभी तनाव की भी स्थिति आई। पर तु यह दोनो पद एक दूसर के पूरक रह हैं। यदि एक, एक दिशा मे और प्रधान मन्त्री दूसरी दिशा म हुये तो काम चल नही सका। नेहरू का व्यक्तित्व इसी प्रकार से मुख्य मन्त्रियो पर छाया हुआ था सिवाय प बगाल के बी सी राय के। जहा तक विरोधी दलो का सबध है, उन पर भी नेहरू क व्यक्तित्व का काफी प्रभाव पडा, अत वह दलीय नेता ही नहीं राष्ट्रीय नेता भी थे। अत यह प्रधान मन्त्री क विकास के काल के प्रथम चरण की रूपरेखा है।

(ब) नेहरू के बाद का काल (Post N-hru era)—जहा तक यह काल है, उसे मोटे रूप से कई भागो मे बाटा जा सकता ह। जैस (i) 1964 मई से जनवरी 1966 तक का काल अर्थात् शास्त्री काल। (ii) श्रीमती गाधी का काल। इस काल का प्रश्न है प्रधान मन्त्री का पद काफी दबी हुई स्थिति मे दिखाई देता है और ऐसा नही है कि यह दबने की प्रवत्ति शास्त्री काल से प्रारम्भ हुई अपितु नेहरू के अन्तिम वर्षों म प्रारम्भ हो चुकी थी परन्तु नेहरू के व्यक्तित्व क कारण इस पद की गरिमा

मे जो कमी आई उसकी अनुभूति इतनी नही हो पाई जितनी शास्त्री काल मे। इसका एक कारण यह था कि शास्त्री स्वय सिण्डीकेट के ऋणी थे, जिसने उन्हे प्रधान मन्त्री बनाया था और उनका नाम एक समझौते पर आधारित था (a compromised candidate) और उसका उद्देश्य था मोरारजी को प्रधान मन्त्री न बनने देना। अत शास्त्री का दबे रह कर काय करना स्वाभाविक था। यही कारण है कि शास्त्री का व्यक्तित्व सिण्डीकेट, आला कमान व मुख्य मन्त्रियो आदि के सन्दभ मे दबा हुआ था तथा श्री राधाकृष्णन जो उस समय राष्ट्रपति थे उनके पद का प्रभाव प्रधान मन्त्री के पद से अधिक था। और विशेषतौर से जब भाषा सम्बन्धी ज्ञा दगे हुए उसमे एक ओर तो यह दिखा कि मुख्य मन्त्रीगण अपना प्रभाव प्रधान मन्त्री के विरुद्ध बढाना चाहते है साथ ही यह भी दिखा कि नौकरशाही प्रधानमन्त्री पर ज्यादा प्रभाव डालने की स्थिति मे है और प्रधान मन्त्री काफी मात्रा मे उस पर निभर है। कैबीनेट म अवश्य शास्त्री की बात का सम्मान किया जाता था और विशेप तौर से इस बात पर कि भारत अणु बम नही बनावेगा इस पर उनके व्यक्तित्व की छाप थी। कामराज ने काग्रेस अध्यक्ष बनने भी उन्होने महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। पाक आक्रमण मे भारत की विजय से उनका व्यक्तित्व उभरा तथा थोड समय मे ऐसा लगा कि प्रधान मन्त्री पद की गरिमा नेहरू काल के प्रधान मन्त्री पद के क्षितिज को छूने वाली है कि तु दुर्भाग्यवश उनकी मृत्यु के साथ यह पूरी तरह नही उभर पाया।

(ii) श्रीमती गाधी का काल (Period of Mrs Gandhi)—श्रीमती गाधी के प्रधान मन्त्रित्व काल का यह एक दशक कई महत्वपूर्ण चरणो से गुजरा है, जिसमे उनकी स्थिति एक सी नही रही है। इस दशक को हम निम्नाकित कालो मे विभाजित कर अध्ययन कर सकते हैं —

(i) जनवरी 1966 से माच 1967 —इस काल मे श्रीमती गाधी एव शास्त्री के प्रारम्भ काल मे कुछ निरन्तरता (continuity) मालूम होती है क्योकि दोनो मे ही प्रधान मन्त्री का पद एक दबी हुई निभरता की स्थिति मे दिखाई देता है। इसका समान कारण है—व परिस्थितिया जिनमे श्रीमती गाधी भी एक समझौते के रूप म उम्मीदवार प्रस्तुत की गई व इस कारण उनका अपना व्यक्तित्व और उस आधार पर प्रधान मन्त्री के पद का व्यक्तित्व नही निखर पाया। उदाहरणस्वरूप इस सदभ म निम्नाकित प्रवृत्तिया रखी जा सकती है —

मुख्य मन्त्री जिनके सहयोग के कारण श्रीमती गाधी प्रधान मन्त्री बन पाई थी तथा मोरारजी नही बन पाये थे, उनका प्रभाव उन पर बहुत मात्रा मे था। वे मुख्य मन्त्रियो का प्रभावित नही कर पाती थी अपितु मुख्य मन्त्री उन्ह प्रभावित करते थे। ऐसा भी लगा कि मुख्य मन्त्रियो की एक सिण्डीकेट बनती जा रही है। इसी

तरह काग्रेस अध्यक्ष, आलाकमान जिनके अधिकाश सदस्यो की सहायता से वह प्रधान म त्री बन पाई थी उनका भी आधिपत्य प्रधान म त्री पर था। ऐसी स्थिति मे यह भी दिखाई दे रहा था कि नौकरशाही का प्रधान मन्त्री पर विशेषतौर से अर्थ व्यवस्था के सन्दर्भ मे काफी प्रभाव था। यहा तक कि श्रीमती गाधी का केबीनेट पर भी अधिक प्रभाव नही था। एस के पाटिल, जगजीवनराम, चव्हाण, रेड्डी ऐसे म त्री थे, जिनका सामुहिक प्रभाव प्रधान म त्री के प्रभाव से कई अधिक था। इस सदर्भ मे यह भी महत्वपूर्ण है कि काग्रेस ससदीय दल के सदस्यो पर भी प्रधान मन्त्री का प्रभाव प्रत्यक्ष नही था बल्कि मुख्य मन्त्रिया के माध्यम से इस प्रभाव की रूपरेखा बनती थी। साथ ही जहा तक राष्ट्रपति के पद से सम्बन्ध है यह अन्तर अवश्य आया कि श्री राधा कृष्णन के समय राष्ट्रपति का जो प्रभाव उभरा था, वह यहा फिर कम हो गया तथा इस सन्दर्भ म प्रधान मन्त्री का पद फिर से उभरने लगा।

इस प्रकार प्रधान मन्त्री की स्थिति एक बन्दी की (more a captive than an independent) अधिक थी। राष्ट्रीय नेतृत्व का तो प्रश्न ही नही था, दलीय व्यक्तित्व मे भी दल के अन्य नेता उनके बराबर था और कई कई अधिक महत्वपूर्ण व्यक्तित्व रखते थे।

(ii) मार्च 1967 से नवम्बर 1969 (After 4th Elections to Congress Split) —इस काल मे श्रीमती गाधी का और इसी के साथ प्रधानम त्री का व्यक्तित्व फिर उभरने लगा था परन्तु इसमे जो महत्वपूर्ण हैं इसके पीछे नकारात्मक तत्व अधिक थे सकारात्मक कम। अर्थात् चतुर्थ चुनावो में जो काग्रेस की लगभग 8 राज्यो मे हार हुई थी, उसकी भूमिका अधिक थी, अपेक्षाकृत श्रीमती गाधी की स्वय की सकारात्मक भूमिका के। एक घटना इस सम्ब ध मे महत्वपूर्ण है डा० जाकिर हुसैन राष्ट्रपति होते हैं यह खुले रूप से प्रधान मन्त्री पद के उम्मीदवार थे और इसके फलस्वरूप जहा तक राष्ट्रपति पर प्रधान म त्री के पद के प्रभाव का प्रश्न है, वह पूरी तरह से प्रधान मन्त्री को उपलब्ध हो जाता है। साथ ही जो ससद मे काग्रेस के सदस्य, थे, वे अब श्रीमती गाधी के प्रत्यक्ष प्रभाव मे थे और अब उन्हे मुख्य मन्त्रियो की मार्फत पहुचने की आवश्यकता न थी। प्रधान मन्त्री का काग्रेस अध्यक्ष के सम्बन्ध मे भी महत्व इसलिए बढ गया था क्योकि कामराज चुनाव म हार गये थे। इसी प्रकार सिण्डीकेट के सभी महत्वपूर्ण उम्मीदवार भी हार गये थे तथा सिण्डीकेट बिखर गई थी। जनता का जो उसे बल प्राप्त था वह खत्म हो गया था इसी सदर्भ मे यह भी महत्वपूर्ण है कि अधिकाश राज्यो मे जहा के मुख्यम त्री काफी प्रभावशाली थे, या तो काग्रेस की हार हो गई थी अथवा काग्रेस की स्थिति बहुत कमजोर हो गई थी। इसलिए मुख्यमत्री प्रधान मन्त्री पर बदलती हुई परिस्थिति म अधिक निर्भर थे, न कि प्रधान मन्त्री उन

पर। केबिनेट मे मुरारजी देसाई उप प्रधान मन्त्री थे, इसलिए केबिनेट के सदस्यो पर पूरा प्रभाव प्रधान मन्त्री का नही था किन्तु प्रधान मन्त्री का पक्ष मुरार जी की तुलना मे सबल था और साथ ही डी० एम० के० एवं भारतीय साम्यवादी दल का समर्थन भी प्रधान मंत्री को प्राप्त था।

(iii) नवम्बर 1969 से जनवरी 1971 (Congress split to the eve of 5th Lok Sabha Elections)—इस काल मे अस्थायी रूप से ऐसा दीखा कि प्रधान मन्त्री की जो बची हुई काग्रेस है, वह अल्प सख्यक हो गई है और इस कारण फिर प्रधान मन्त्री की कुछ कमजोर स्थिति बनने लगती है। उन्हे एक ओर तो कुछ मुख्य मन्त्रियो पर निर्भर रहना पडता है, उससे भी कई अधिक अन्य राजनीतिक दलो पर निर्भर रहना पडता है, विशेषकर डी एम के एवं भारतीय साम्यवादी दल पर। साथ ही जहा तक केबिनेट के सदस्य है, उन पर प्रभाव मे कोई विशेष अन्तर नही आता है क्योकि मुरारजी को पद से हटाने पर यह दीखता है कि प्रधानमत्री मे वह क्षमता है कि वह अपने मत्रियो मे से किसी को भी अपनी इच्छानुसार हटा सकती है परन्तु फिर भी जगजीवन राम व चव्हाण जैसे व्यक्तियो का प्रभाव जमा हुआ दिखाई देता है। साथ ही उनका स्वतत्र व्यक्तित्व भी उभरता दिखाई देता है—राष्ट्रपति पद पर श्री वी वी गिरी को जिताने मे जो उनकी भूमिका रही तथा बैंक राष्ट्रीयकरण का जो कदम उठाया तथा परिणामस्वरूप जो उन्हें जनता का समर्थन मिला, उससे प्रधान मन्त्री के स्वतन्त्र व्यक्तित्व की भूमिका बनती दिखाई देती है। काग्रेस विभाजन के पश्चात् अब सिन्डीकेट जैसी कोई सस्था नही थी जो उसे दबा सके। उनकी कमजोरी अब केवल उनकी अल्पसख्यकता के कारण थी। अत उनका व्यक्तित्व स्वतन्त्र होने की दिशा को उन्मुख होता है। परन्तु अभी उनका व्यक्तित्व स्वय स्वतत्र रूप से पूरी तरह उभर नही पाया है और न प्रधान मंत्री के पद को वह गौरव प्रदान करा सकी है जो नेहरू काल मे प्राप्त था।

(iv) 1971 से आगे का काल (After 5th Lok Sabha Elections)—इस काल मे प्रधान मन्त्री का स्वतन्त्र व्यक्तित्व पूरी तरह अभिव्यक्त होता है और लोक सभा के चुनाव मे कांग्रेस की विजय उनकी विजय कह कर सबोधित की जाती है और जगजीवनराम जो स्वय अपनी निष्ठा मे डिगमिगाते दीखने थे और चव्हाण एव प्रभावशाली मुख्यमत्री आदि अपनी पूरी निष्ठा प्रधान मन्त्री के प्रति अभिव्यक्त करते हैं। इसी सन्दर्भ में बगला देश के प्रश्न पर श्रीमती गान्धी ने जो व्यक्तित्व प्रदान किया, उसने इस स्थिति को और मजबूत कर दिया।

1973 एव 1974 म देश की आर्थिक दशा बिगडने लगी, राष्ट्रपति चुनावों, हिंसात्मक घटनाओं, घेराव व हडतालों आदि के कारण सब गडबड हो गया। इतना

बाद के प्रधान मन्त्री के विरुद्ध दिये गये निर्णय को विरोधी दलों ने शुभावसर समझ कर राष्ट्र व्यापी आन्दोलन छोड़ने का निश्चय किया किन्तु 25 जून 197` प्रधान मन्त्री ने राष्ट्रपति से आपात काल (आंतरिक) की घोषणा करा कर अपने को सर्वोच्च महत्व का सिद्ध कर दिखाया। आपात काल के दौरान ऐसा लगने लगा कि केबीनेट प्रणाली प्रधानमन्त्रीय प्रणाली (अध्यक्षात्मक) में बदल गई है।

मूल्यांकन—संवैधानिक व्यवस्था में प्रधानमन्त्री की स्थिति से संबंधित एक पर्याप्त विचार संगत मूल्यांकन प्रशासनिक सुधार आयोग द्वारा अपनी रिपोर्ट में इस प्रकार किया गया है—

"संविधान सरकार की कार्यपालिका में प्रधान मन्त्री को विशिष्ठ स्थिति प्रदान करता है। वह न केवल मन्त्रिमण्डल का अध्यक्ष समकक्षों में प्रथम ही है—अपितु वह राष्ट्रपति का मुख्य परामर्शदाता भी है। उसकी उच्च स्थिति उसे इस बात का विशिष्ट उत्तरदायित्व सौंपती है कि वह यह देखे कि कार्यपालिका प्रभावशाली रूप से कार्य करती है संयुक्त उत्तरदायित्व का उचित रूप से क्रियान्वन होता है, राजनीति सोद्देश्यात्मक रहते हुए वास्तविक तत्परता के साथ क्रियान्वित की जाती है, तथा प्रशासन जनता की आकांक्षाओं के अनुकूल ही कार्य करता है"[1] तथापि प्रधानमन्त्री के बारे में समकक्षों में प्रथम (Primus interpares) के विचार का ब्रिटेन में परित्याग कर दिया गया है अब भारत के संदर्भ में भी इस विचार का विशेष औचित्य नहीं रहा।

जहाँ तक प्रधान मन्त्री के संस्थागत ढांचा व स्वरूप का सम्बन्ध है संविधान भारत के प्रधान मन्त्री की शक्तियों का उल्लेख नहीं करता है। उपरोक्त विकास क्रम से यह सिद्ध नहीं होता है कि इस पद का संस्थायीकरण हो गया है अपितु वह व्यक्ति प्रधान ही लगता है। यह एक विरोधाभास है कि इसे शक्ति प्रदान करने वाले तत्वों का स्वरूप गत्यात्मक तथा परिवर्ती है। वे तत्व एक ओर जहाँ उसकी शक्ति के कारण हो सकते हैं, वहीं दूसरी ओर वे उसकी दुर्बलता के कारण भी बन सकते हैं। इस दृष्टि से उसके निर्वाचन के स्वरूप (कि यह निर्वाचन किस प्रकार हुआ, सर्वसम्मति से या समझौते के आधार पर तथा उसमें भाग लेने वाले व्यक्ति किस प्रकार के थे) संगठन पक्ष के अध्यक्ष से उसका सम्बन्ध (कि क्या दल का अध्यक्ष प्रधान मन्त्री पर दबाव डालने की क्षमता में है) मन्त्रिमण्डल के सदस्यों से उसका सम्बन्ध (कि कितने

---

1 प्रशासनिक सुधार आयोग रिपोर्ट ऑफ दि मशीनरी ऑफ गवर्नमेन्ट आफ इण्डिया एण्ड इट्स प्रोसीजर्स ऑफ वर्क, नई दिल्ली, गवर्नमेन्ट आफ इंडिया, 1969 पृ० 9

समकक्षी प्रधानमन्त्री के साथ है तथा कितने साथ नहीं है)[1], मुख्यमन्त्रियो के साथ प्रधानमन्त्री का सम्बन्ध (कि क्या मुख्यमन्त्री प्रधानमन्त्री को उनकी महत्ता स्वीकार कराने के लिए बाध्य करने की स्थिति मे है। क्योंकि इस सन्दर्भ मे जहा प्रधानमन्त्री के उत्तराधिकारी के चयन मे उनकी महत्वपूर्ण भूमिका, कांग्रेस कार्यसमिति में उनकी सदस्यता, तथा अपने राज्यो के ससद सदस्यो से प्राप्त स्वामिभक्ति आदि तथ्य मुख्यमन्त्रियो को महत्वपूर्ण शक्ति प्रदान कर सकते हैं जैसाकि नेहरू के देहावसान के तुरन्त बाद हुआ, वहा राज्यपाल की नियुक्ति राष्ट्रपति शासन लागू करने की केन्द्र की शक्ति एव मुख्यमन्त्रियो के पदासीन होने व बने रहने के लिए प्रधानमन्त्री की सहानुभूति आदि बातें मुख्यमन्त्रियो को प्रधानमन्त्री पर आश्रित रहने के लिए विवश कर सकती है तथा एक विरोधी प्रधानमन्त्री एक मुख्यमन्त्री की राजनैतिक मृत्यु का कारण बन सकता है, जैसाकि 1969 के बाद की घटनाए बताती है), गणराज्य के राष्ट्रपति से उसका सबध (कि राष्ट्रपति प्रधानमन्त्री के प्रति मैत्री पूर्ण व्यक्तित्व वाला है या मैत्री विहिन वाला तथा राष्ट्रपति व प्रधानमन्त्री मे से अपनी राजनैतिक प्रतिष्ठा म कौन बढ कर है), गैर कांग्रेसी सरकारो के प्रति दायित्व (कि इन दलो का उसे समर्थन प्राप्त है या नही) तथा कांग्रेस ससदीय दल के साथ उसका सबध (कि सदन मे कितने निष्क्रिय सदस्य है) आदि विभिन्न तत्व प्रधानमन्त्री की वास्तविक स्थिति को दृढ या कमजोर बनाते हैं।[2]

1969 मे राजनैतिक सकट के दौरान भारत के सर्वाधिक विशाल राजनैतिक दल की क्षमता का जो ह्रास हुआ तथा सम्पूर्ण राजनीति की हलचल जो कांग्रेस-

---

1 माइकेल ब्रेचर सक्सेशन इन इडिया, (लन्दन, 1966) मे वी० के० कृष्ण मेनन का कथन।

2 इन विभिन्न तत्वों के विस्तृत अध्ययन के लिए देखिए —
जी एस भार्गव 'यू लीडर', दि टाइम्स आफ इडिया, नई दिल्ली, जून 3, 1964, जी एस भार्गव आफ्टर नेहरू इडियाज न्यू इमेज, नई दिल्ली, एलाइड प्रकाशक, 1966
इन्दर मल्होत्रा 'यू इम्पारटेन्स आफ कांग्रेस प्रेसिडेन्ट' दि स्टेट्समैन, नई दिल्ली, जनवरी 31, 1964
स्टोनले ए कोचेनेक दि कांग्रेस पार्टी [illegible] 1965
जे डी सेठी 'पावर स्ट्रक्चर [illegible]' [illegible]
दिल्ली, फरवरी 19 1969
इन्दर मल्होत्रा एन [illegible]
नवम्बर 10, 1969
रोमेश थापर [illegible]
अगस्त 9 1969

विभाजन के परिणामस्वरूप हुई, उससे सर्वाधिक महत्वपूर्ण तथ्य यह स्पष्ट होता है कि प्रधानमंत्री के पद का संस्थाकरण होना चाहिए। विभाजन के समय प्रधानमन्त्री के पद पर तीव्र प्रहार किये गये तथा देश के गणमान्य लोगो के द्वारा उसे स्वार्थी, धोखेबाज, दुष्ट वरिक 'सुरक्षा के लिए एक खतरा' तक बताया गया। उसे षडयन्त्रकारी भी बताया गया। इस प्रकार प्रधानमंत्री के पद का अपमान किया गया। अत भारतीय राजनीतिक व्यवस्था मे प्रधानमंत्री पद संस्थात्मक बनाया जाना चाहिए ताकि शक्ति के पद सोपानक्रम म उसे सर्वोच्च स्थिति प्राप्त हो सके। प्रधानमंत्री को शक्ति मे, क्रमश राष्ट्रपति को परामर्श तथा सहायता, लोकसभा को भग करना, मंत्रियो की नियुक्ति तथा उन्हे अपदस्थ करना, उप प्रधानमन्त्री पद को पुनर्जीवित करने की अनावश्यकता, उसे कभी भी दलीय संगठन के निर्देशो के प्रति उत्तरदायी होने की अनावश्यकता, संसदीय दल की व्यापक भूमिका, तथा प्रधानमंत्री का सचिवालय का सरकारी तन्त्र का एक दृढ स्थायी अग के रूप में विकसित करने की जरूरत आदि सब न्यूनतम आवश्यकताए है, जिन पर अधिकतम सहमति होना आवश्यक है।[1] यह तर्क दिया जा सकता है कि प्रधानमंत्री को इतने विस्तृत अधिकार देकर उसकी तानाशाही का मार्ग प्रशस्त किया जा रहा है। किन्तु तानाशाही सदैव व्यक्तिगत स्तर पर होती है, जबकि यहा तन्त्र संस्थाकरण के लिए है। इसके अतिरिक्त स्वय

---

1 कृपया इस विषय पर विस्तृत अध्ययन के लिए निम्नलिखित अध्ययन सामग्री देखिए —

हरीश खरे "दि इन्डियन प्राइम मिनिस्टर ए प्ली फोर इन्स्टीट्यूशनलाईजेशन ऑफ पॉवर जे सी पी एस जन मार्च 1971

"मिडटम पोल" दि टाइम्स ऑफ इण्डिया नई दिल्ली, अक्टू 29, 1970

को चेनव ', पोस्ट नेहरू इण्डिया' 'एशियन सर्वे, मई 1966

"सच फार कोहेसन" दि टाइम्स आफ इण्डिया, अक्टूबर 17, 1969,

रजनी कोठारी दि कांग्रेस सिस्टम आन ट्राइल, एशियन सर्वे फर 1967

कुलदीप नायर, बिटवीन दि लाइन्स, नई दिल्ली, 1970,

'ए केबीनेट ऑफ नेसीसिटी', दि टाइम्स, लन्दन मार्च 13,1967,

गिरीश माथुर, 'मोरारजी दि आल्टरनेटिव लाइनर' पेट्रियोट नई दिल्ली जून 16, 1968

बसत चटर्जी "दि कांग्रेस स्प्लिट्स", नई दिल्ली 1970

कांग्रेस बुलेटिन संख्या 6, 1954 पृ 290, दि हिन्दुस्तान टाइम्स, नवम्बर 13, 1969

दि पार्टी एण्ड दि गवनमन्ट' ए आई सी सी इकोनोमिक रिव्यू दिल्ली, खण्ड 21, सितम्बर 5, 1969 क्रमश "

प्रधानमंत्री की सत्ता में कुछ ऐसे अन्तर्निहित नियन्त्रण होते हैं कि जिनकी उपेक्षा कर वह स्वयं के विनाश को ही आमन्त्रित करेगा—जैसे प्रधानमन्त्री को लोकसभा में स्पष्ट बहुमत, अपने दल के प्रति उसका दायित्व, आगामी आम चुनाव में पराजित होने का भय, संघीय ढांचे का बदलता स्वरूप जिसमें राज्यों में विपक्षी दलों की सरकारें बनने की संभावना, मन्त्रिमण्डल के सदस्यों का सहयोग लेने का प्रयास तथा तुरन्त गति से मुखरित होता जा रहा जनमत आदि। अतः भारत में संसदीय लोकतन्त्र को खतरा एक सुदृढ़ प्रधानमंत्री के संस्थाकरण से नहीं है अपितु ऐसे प्रधानमन्त्री से है जिनकी उचित सत्ता को व्यापक रूप से नियन्त्रित कर दिया गया हो। भारत को सक्रिय स्थायित्व एक दृढ़ प्रधानमंत्री के नेतृत्व में ही प्राप्त हो सकता है, उसे यथास्थिति का स्वामित्व नहीं चाहिए, जो एक अध्यक्षात्मक कार्यपालिका अथवा एक उत्तरदायित्व विहिन स्वतन्त्र राष्ट्रपति का परिणाम होगा।

साथ ही यह मौलिक अन्तर भी हमें नहीं भूलना चाहिए कि हमारे यहाँ संघीय व्यवस्था है, जबकि इंगलैंड में एकात्मक व्यवस्था। अतः वहां प्रधानमन्त्री एवं मुख्यमन्त्री की टकराहट का प्रश्न नहीं उठता। इसी प्रकार वहां संगठनाध्यक्ष एवं प्रधानमन्त्री के बीच टकराहट (confrontation between the party president and the prime minister) का प्रश्न भी नहीं उठता, क्योंकि दोनों पद एक ही व्यक्ति के पास होते हैं। भारत की स्थिति भिन्न है, अतः यहां इस पद का विकास इंगलैण्ड की भांति हो, यह जरूरी नहीं है। जो भिन्न परिस्थितियां हमारे देश में विद्यमान हैं उनसे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि संस्थाकरण की मांग करना सरल है, किन्तु इस स्थिति को प्राप्त करना कठिन है।

इलाहाबाद निर्णय 39 वां संशोधन अधिनियम एवं उच्चतम न्यायालय का निर्णय—संविधान के 39 वें संशोधन अधिनियम, 1975 द्वारा संविधान में एक नया अनुच्छेद 329A जोड़ कर प्रधानमन्त्री (एवं स्पीकर) के निर्वाचन सम्बन्धी विवादों को (राष्ट्रपति व उपराष्ट्रपति की ही भांति = संशोधित अनुच्छेद 71) न्यायालयों की अधिकारिता (Jurisdiction) से परे कर दिया गया। इस संशोधन के अनुसार किसी भी ऐसे व्यक्ति के निर्वाचन को जो निर्वाचन के समय प्रधानमन्त्री के पद पर नियुक्त हो जाता है, किसी भी न्यायालय में चुनौती नहीं दी जायेगी। ऐसे विवादों के

गगल, एस सी प्राइम मिनिस्टर एण्ड दि केबीनेट इन इण्डिया, 1972
एच एम जैन "चेन्जिंग रोल ऑफ दि प्राइम मीनिस्टर इन इण्डिया मूविंग टूवर्ड्स ए प्राइममीनिस्टीरियल सिस्टम", जनरल ऑफ दि सोसायटी फॉर दि स्टडी ऑफ गवर्नमेन्ट्स, वाराणसी, Vol VI No 2 & 3, 1973 p 128 तथा चालापति राव जवाहर एंड इण्डिया, क्रिटिक, नं 17

निपटारे के लिए संसद विधि द्वारा एक जनसमिति (Forum) की स्थापना करेगी। ऐसी विधि द्वारा स्थापित प्राधिकारी और उसके निर्णय को किसी भी न्यायालय में चुनौती नहीं दी जायेगी। इस संशोधन अधिनियम की व्याख्या एवं सर्वोच्च न्यायालय द्वारा दिये गये निर्णय के जानने से पूर्व हम इसकी पृष्ठभूमि समझ लेना आवश्यक है–

श्रीमती इन्दिरा नेहरू गांधी—बनाम राजनारायण[1] के मामले में इस संशोधन की वैधता को चुनौती दी गई थी। अपीलार्थी ने यह अपील इलाहाबाद उच्च न्यायालय के उस निर्णय के विरुद्ध फाइल की थी जिसके द्वारा रायबरेली संसदीय निर्वाचन क्षेत्र से लोकसभा के उसके निर्वाचन को शून्य घोषित कर दिया था। उच्च न्यायालय ने अपीलार्थी का (श्रीमती गांधी को) लोकप्रतिनिधित्व अधिनियम, 1951 की धारा 123 (7) के अधीन भ्रष्ट आचरण करने का दोषी पाया और उसे धारा 8(a) के अनुसार 6 वर्ष की कालावधि के लिए निर्रहित (disqualified) कर दिया। उच्च न्यायालय ने यह निर्णय दिया कि अपीलार्थी ने अपने को 29 दिसम्बर 1970 को अभ्यर्थी (candidate) घोषित किया था और अपने निर्वाचन की सम्भावनाओं को अग्रसर करने के लिए राजपत्रित अधिकारी श्री यशपाल कपूर की सहायता प्राप्त करने में कारण भ्रष्ट आचरण की दोषी है, जो 25 जनवरी, 1971 तक भारत सरकार की सेवा में थे।

उच्च न्यायालय में निर्वाचन याचिका के लम्बित रहने के दौरान लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम की धारा 77 में एक अध्यादेश द्वारा संशोधन कर दिया गया जिसे 1974 का संशोधन कहा गया। इसके द्वारा धारा 77 में दो स्पष्टीकरण जोड़ दिये गये। प्रथम स्पष्टीकरण खण्ड यह उपबंधित करता है कि किसी न्यायालय के किसी निर्णय के होते हुए भी किसी अभ्यर्थी के निर्वाचन के सम्बन्ध में किसी राजनीतिक दल या व्यक्तियों या किसी अन्य संगम या निकाय द्वारा अथवा किसी व्यक्ति द्वारा दिये गये व्यय को अभ्यर्थी द्वारा उपगत या प्राधिकृत नहीं माना जायेगा। यह स्पष्टीकरण अमरनाथ चावला के मामले में उच्चतम न्यायालय द्वारा दिये गये निर्णय के प्रभाव को दूर करने के लिए जोड़ा गया था।

उच्च न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध अपील उच्चतम न्यायालय में लम्बित रहने के दौरान संसद ने निर्वाचन (संशोधन) अधिनियम 1975 पारित किया। इसके द्वारा लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम की धारा 28 (a) के स्थान पर नई धारा प्रतिस्थापित (substituted) की गई। नई धारा के अनुसार धारा 99 के अधीन किसी आदेश द्वारा भ्रष्ट आचरण के लिए दोषी पाये गये व्यक्ति का मामला राष्ट्रपति को प्रस्तुत किया जायगा, जो यह निर्णय देगा कि ऐसे व्यक्ति को निर्रहित किया

1 ए आई आर 1975, सुप्रीम कोर्ट 2299, (1976) 1 उम नि प 1

जाये या नही या किया जाये तो 6 वर्ष से अनधिक (कम) कितनी कालावधि के लिए किया जावे । राष्ट्रपति इस मामले मे निर्वाचन आयोग की राय लेने के पश्चात् अपना निर्णय देगा । धारा 6 और 7 द्वारा धारा 77 और 79 मे सशोधन किया गया । तथा धारा 8 द्वारा धारा 123 मे परिवतन किये गये । धारा 10, धारा 6, 7, और 8 को भूतलक्षी प्रभाव (retrospective effect) प्रदान करती है । धारा 6 के अनुसार सरकार की सेवा मे किसी व्यक्ति द्वारा अपने शासकीय कर्त्तव्य के निवहन या किसी प्रबन्ध मे की गई सुविधा या काय म किये व्यय को अभ्यर्थी द्वारा प्राधिकृत नही माना जायेगा । धारा 7 अभ्यर्थी की पुन परिभाषा करती है जिसके अनुसार अभ्यर्थी वह व्यक्ति है जो किसी निर्वाचन मे अभ्यर्थी के रूप मे सम्यक्त नाम निर्दिष्ट किया गया है । धारा 8 यह स्पष्ट कर देती है कि किसी सरकारी सेवक के पद-त्याग के सम्बन्ध मे राजपत्र म किया गया प्रकाशन पद-त्याग के तथ्य का निश्चयात्मक सबूत होगा और प्रकाशन मे कथित तारीख उसके पद त्याग की तारीख होगी ।

इसी दौरान ससद ने सविधान (39 वा सशोधन) अधिनियम, 1975 पारित कर दिया । इस सशोधन द्वारा सविधान मे दो नये अनुच्छेद जोड़े गये अनुच्छेद 71 (इसमे कुछ सशोधन किया गया था) और अनुच्छेद 329A इनके द्वारा निम्न तीनो अधिनियमो को सविधान की नवम अनुसूचि मे रखा गया है लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम, 1951, लोक प्रतिनिधित्व (सशोधन) अधिनियम, 1974 और निर्वाचन विधि (सशोधन) अधिनियम 1975 । नवीन अनुच्छेद 71 (substituted Article71) द्वारा राष्ट्रपति और उपराष्ट्रपति के निर्वाचन सम्बधी विवादो को न्यायालय की अधिकारिता से परे कर दिया गया । अनुच्छेद '329 A' द्वारा प्रधानमन्त्री तथा लोक सभा के अध्यक्ष के निर्वाचन सम्बन्धी विवादो को न्यायालय की अधिकारिता से परे कर दिया गया ।

नये अनुच्छेद 329A मे 6 खण्ड रखे गये, जिनमे तीन खण्ड प्रधानमन्त्री और लोकसभा के अध्यक्ष के भावी निर्वाचनो से सम्बधित है और तीन खण्ड भूत काल मे हुए निर्वाचनो से सम्बधित है, खण्ड (1), (2), (3) का उद्देश्य उक्त व्यक्तियों के भावी निर्वाचनो को न्यायालयो की अधिकारिता से परे करना है । खण्ड (1) इन व्यक्तियो के निर्वाचन विवादो को ससद की विधि द्वारा स्थापित एक जन समिति (forum) को सौंपने का उपबन्ध करता है । खण्ड (2) यह घोषित करता है कि ऐसे विवादो की वैधता को किसी भी न्यायालय मे चुनौती नहीं दी जायेगी । खण्ड (3) यह उपबन्धित करता है कि यदि किसी व्यक्ति के विरुद्ध कोई निर्वाचन विवाद किसी न्यायालय मे लम्बित है और वह व्यक्ति चुनाव के पश्चात् प्रधानमन्त्री या लोकसभा का अध्यक्ष निर्वाचित हो जाता है तो यह विवाद समाप्त हो जायेगा ।

अनुच्छेद 329A का खण्ड (4) प्रधानमन्त्री और लोकसभा के अध्यक्ष के बाद ग्रस्त निर्वाचन का सभी निर्वाचन विधियों के अवरोध से मुक्त करता है। वह ऐसे निर्वाचन निर्णय को किसी निर्णय के होते हुए भी विधिमान्य घोषित करता है। खण्ड (5) यह कहता है कि उच्चतम न्यायालय के समक्ष किसी भी अपील का निपटारा इस उपधारणा के आधार पर किया जायेगा कि अपीलाधीन निर्णय शून्य है, यह कि उस निर्णय में अन्तर्विष्ट निष्कर्ष विधि की दृष्टि में कभी भी अस्तित्व में नहीं थे और यह कि उस निर्णय द्वारा शून्य घोषित निर्वाचन सभी बातों के सम्बन्ध में विधि मान्य बना रहेगा। खण्ड (6) अनुच्छेद 329A को संविधान के शेष भाग के ऊपर अधिमान्यता प्रदान करता है।

प्रत्यर्थी (श्री राजनारायण) ने उपर्युक्त सांविधानिक संशोधन की विधि मान्यता को श्रीमती गांधी द्वारा की गई अपील के प्रत्युत्तर में उच्चतम न्यायालय में निम्न आधारों पर चुनौती दी कि (i) यह संशोधन संविधान के आधारभूत ढांचे या रूपरेखा को प्रभावित करता है और इसलिए अनुच्छेद 368 के अधीन संशोधन की शक्ति से परे है (ii) शक्ति पृथक्करण संविधान का आधारभूत तत्व है अतः प्रत्येक विधिक अधिकारों से सम्बन्धित विवाद को न्यायपालिका पर छोड़ देना चाहिए। खण्ड (4) इस अधिकारिता को छीनता है, अतः शून्य है। (iii) विधानमण्डल का कार्य विधान बनाना है, न कि प्राइवेट विवादों का विनिश्चित करना। प्रस्तुत मामले में संसद ने प्राइवेट विवाद का न्यायिक निर्णय करने का अधिकार प्राप्त करके अपनी संविधायिका शक्ति का अतिलंघन किया है। (iv) लोकतन्त्र संविधान का आवश्यक तत्व है। स्वतन्त्र और निष्पक्ष निर्वाचन किसी भी लोकतान्त्रिक सरकार के सफलतापूर्वक कार्यकरण के लिए आवश्यक है। यह उपबन्ध करके कि प्रधानमन्त्री के निर्वाचन को चुनौती नहीं दी जा सकेगी और उच्च न्यायालय के निर्णय के बावजूद भी उनका निर्वाचन विधिमान्य बना रहेगा, संसद ने लोकतन्त्र की आत्मा को ही नष्ट कर दिया है। (v) समता गणतन्त्रीय संविधान का आवश्यक तत्व है 39 वें संशोधन द्वारा प्रधानमन्त्री और लोकसभा के अध्यक्ष विधि के ऊपर रखे गये हैं। (vi) विधि शासन और न्यायिक पुनरावलोकन भी संविधान के आधारभूत तत्व हैं। विधि के बन्धन से किसी व्यक्ति को मुक्त करना और उसके आचरण को न्यायिक पुनरावलोकन से बाहर रखना संविधान के स्वरूप को नष्ट करना है।

उच्चतम न्यायालय ने तीन और दो के बहुमत से (न्यायाधीश श्री खन्ना, मैथ्यू और चन्द्रचूड़) संशोधन के खण्ड (4) एवं (5) को इस आधार पर असांविधानिक घोषित किया कि वह संविधान के आधारभूत ढांचे या रूपरेखा को प्रभावित करता है अतः अनुच्छेद 368 के अधीन संशोधन शक्ति से परे हैं। वह समता के सिद्धांतों के प्रतिकूल है और इससे विधि शासन को क्षति पहुंचती है या वह नष्ट होता

है अत वह शून्य है । यद्यपि प्रत्येक न्यायाधीश द्वारा बताये गये कारण एक समान नही है किन्तु खण्ड (4) एव (5) को अवैध घोषित किये जाने के कुछ आधारो पर उनकी सहमति थी ।[1] मुख्य न्यायाधिपति श्री ए० एन० राय और बैग ने अपना विसम्मत निर्णय दिया ।

यायालय ने बहुमत से यह अभि निर्धारित किया कि निर्वाचन विधि म 1964 और 1975 के सशोधन अधिनियमो द्वारा किए गए सशोधन विधिमा य है । सशोधन के परिणामस्वरूप अपीलार्थी भ्रष्ट आचरणो का दोषी नही है और उसका निर्वाचन वैध है ।[2]

---

1 There was a consensus on the following grounds for uphol ding unconstitutional Cls (Cls (4)—(5),

(a) Clause (5), being based on clause (4), failed if clause (4) was unconstitutional

(b) Clause (4) was beyond the substantive competence of the amending power conferred by Article 368 Though the power conferred by Article 368 was a 'constituent power, it could only make a law amending the Constitution, it could not abjudicate any election dispute between two parties and pass a declaratory judgment, which was a judicial function (The appeal was, however, allowed on other grounds)

(c) Though Parliament, in exercise of it's constituent power could change the forum to decide on election dispute from the courts to some other body, it did not make any such law to change the forum, while enacting clause (4), what it did was to wipe out the existing forum 'without creating another',, it also wiped out the existing law to be applied to decide an election dispute, without enacting some other law In the result, it validated the election of a particular individual, overriding a judicial decision, without applying uny law at all

2 It is to be noted that while Art 329A makes special p ovi sion relating to the Prime Minister aud speaker at the Unin

39 वें संशोधन अधिनियम, 1975 द्वारा जोड़े गये नये अनुच्छेद 329A के खण्ड (1) के अधीन जनवरी 1977 में राष्ट्रपति द्वारा प्रधानमन्त्री एवं लोकसभा के अध्यक्ष के निर्वाचन सम्बन्धी विवादों के निपटारे हेतु एक सत्ता (authority) की स्थापना के लिए एक अध्यादेश जारी किया गया।

मार्च, 1977 के संसदीय निर्वाचन के पश्चात् स्थिति पुनः बदल गई। जनता सरकार ने उपर्युक्त अध्यादेश (जनवरी 1977 के) को अधिनियम का रूप प्रदान नहीं किया। इस प्रकार अध्यादेश का प्रभाव खत्म हो गया। इसके अतिरिक्त सरकार ने उक्त पदाधिकारियों (प्रधानमन्त्री एवं लोकसभा के अध्यक्ष) के निर्वाचन विवादों को पुनः उच्चतम न्यायालय की अधिकारिता में दे दिया है। 45 (44वें) संविधान संशोधन द्वारा संविधान से उपर्युक्त 'नये' अनुच्छेद 329 A को संशोधन द्वारा हटाया जा रहा है, इसके पूर्व निर्वाचन (संशोधन) अधिनियम 1977 द्वारा संशोधन करके उच्चतम न्यायालय को ही ऐसी शक्ति प्रदान कर दी गई है।

42 वां संशोधन अधिनियम—42 वें संविधान संशोधन अधिनियम, 1976 द्वारा अनुच्छेद 74 के खण्ड (1) में भी परिवर्तन किया गया। इस परिवर्तन के अनुसार "एक मन्त्रिपरिषद होगी, जिसका प्रधान, प्रधानमन्त्री होगा। मन्त्रीपरिषद का कार्य होगा कि वह राष्ट्रपति की सहायता करे तथा परामर्श दे तथा राष्ट्रपति उसी परामर्श के अनुसार कार्यकारिणी की शक्तियों का प्रयोग करेगा।"[1]

इस संशोधन द्वारा उपर्युक्त शब्दों को जोड़कर यह स्पष्ट कर दिया गया है कि राष्ट्रपति मन्त्रिपरिषद की सलाह मानने को बाध्य है। वह प्रधानमन्त्री के परामर्श को अस्वीकार नहीं कर सकता।[2] इस प्रकार राष्ट्रपति एवं प्रधानमन्त्री (मन्त्रिपरिषद)

---

level no corresponding provision has been made in the case of a Chief Minister or the Speaker of a State Assembly, so that they would be governed by the general provision in Art 323 B (2) (f)

1 Substituted cl. (1) says 'There shall be a Council of Ministers with the Prime Minister at the head to aid and advise the president who shall, in the exercise of his functions act in accordance with such advice'

2 The ex Law Minister, late Sh H R Gokhale it is to be noted that, had rejected the motion of a Congress member to add a proviso to give the President a discretion (i) in dissolving Lok Sabha and (ii) when a care taker government

के बीच सम्बन्धो को लेकर होने वाली किसी भी अनिश्चितता को हटा दिया गया है ।

एक युग का अन्त नये युग की शुरुवात

श्री मोरारजी देसाई भारत के चौथे प्रधानमन्त्री

छठे लोकसभा के चुनाव मे तीन दशक तक शासन कर रही कांग्रेस को हराने के पश्चात् जनता पार्टी के नेता 82 वर्षीय श्री मोरारजी देसाई ने 23 मार्च 1977 को प्रधानमन्त्री पद और गोपनीयता की शपथ ग्रहण की । इससे पूर्व श्रीदेसाई को जनता पार्टी का ससदीय नेता चुना गया था, इसकी घोषणा आचार्य कृपलानी ने दल की बैठक मे की । श्री जयप्रकाश नारायण भी इस बैठक मे विद्यमान थे श्री देसाई के नाम का प्रस्ताव श्री राजनारायण ने किया तथा इसका अनुमोदन श्री अटल बिहारी वाजपेयी ने किया । प्रस्ताव का समर्थन जनता पार्टी की तमिलनाडु शाखा के श्री रामचन्द्रन ने किया ।

---

was in office, saying that there was no provision in the existing Constitution for exercise of discretion by the President, under any circumstances (Statesman, Delhi, 30 1976) Another similar motion to add the following words had been rejected 'but in no case against the provisions of the Constitutions' If these words were added, it would enable the President to keep his oath to protect and defend the Constitution' (Art 60)

The problem that would arise in India after the 42nd Amendment is that the obligation of the President having been reduced into an absolute ruler, without 'any exception, he might render himself liable to be impeached if he ventured to act without or contrary to ministerial advice, even under the most intriguing circumstances or however unjustifiable might be the advice tendered by the Prime Minister in the circumstances, e g, if a Prime Minister is again defeated in the Lok Sabha after it has been reelected after a dissolution takes place according to his or her advice, and then he or she advises the President to make a second dissoution' Thus this may give the impression that the President is a more' rubber stamp"

प्रधानमंत्री पद की शपथ लेने के तत्काल बाद श्री मोरारजी देसाई ने देशी और विदेशी पत्रकारो से खचाखच भरे प्रेस कान्फ्रेस मे कहा कि हमारी सरकार शाही ढग के खर्चों मे कटौती करेगी और हमारे मंत्री अपने जीवन म सादगी और ईमानदारी बरतेगें। भारत साम्राज्यवादी नही समाजवादी देश है। श्री देसाई ने कहा कि 'गरीबी मिटाना उनकी सरकार का प्रमुख ध्येय होगा। उनकी सरकार ऐसा कायक्रम अपनाएगी जिससे दस वष बेकारी खत्म हो जाए। सविधान मे आपात स्थिति के विरुद्ध व्यवस्था होगी, श्री देसाई ने कहा। "वाशिंगटन पोस्ट" ने श्री मोरारजी देसाई के भारत के प्रधानमंत्री बनने पर कहा कि उनके नेतृत्व की कसौटी यह होगी कि जिस लोकतत्र ने उ हे सत्तारूढ किया है, उसके प्रति अपनी प्रतिबद्धता को वे कहा तक निभात है।

अमेरिका की राजधानी मे सर्वाधिक लोकप्रिय इस पत्र ने अपनी सम्पादकीय टिप्पणी मे लिखा मोरारजी देसाई को पर्याप्त राजनीतिक अनुभव है।" एक आधुनिक राजनीतिज्ञ के रूप मे उनका व्यक्तित्व शायद न निखर पाया हो लेकिन उनमे दृढता और सकल्प आदि कई ऐसे गुण हैं जो उनके और देश के लिए भी लाभ दायक सिद्ध हो सकते हैं।

नई दिल्ली मे 'न्यूजवीक' तथा 'टाइम मैगजीन' द्वारा विदेश नीति से लेकर आपात स्थिति के दौरान श्रीमती गांधी तथा उनके मत्रिमण्डलीय साथियो द्वारा की गई ज्यादातियो के पुनरावलोकन तक के पूछे गय अलग अलग प्रश्नो का उत्तर देते हुए प्रधानमन्त्री श्री मोरारजी देसाई ने विश्वास व्यक्त किया कि उनकी सरकार जो अन्य दलो को मिलाकर बनाई गई है स्थायी होगी।[1]

45 वा (44 वां) सशोधन और प्रधानमंत्री का पद[2] —

---

1 प्रधानमत्री मोरारजी देसाई के अब तक के कार्यकाल के मूल्यांकन, उनके एव श्री चरणसिंह-गुट के बीच मतभेद के मुद्दों एव इस विचार से प्रधानमन्त्री पद के सम्बन्ध में हो रही बहस के लिए अध्याय 13 व 14 को देखिए।

2 इसके लिए पीछे देखिए राष्ट्रपति का पद एव 45 वां सशोधन।

4

संघीय ससद लोकसभा व राज्यसभा

The Union Parliament

सविधान म भाग V के भ्रध्याय 2 में भ्रनुच्छेद 79 से 122 तक ससद भ्रौर उसके विविध पक्षो का विवरण है। यह सामान्यत विदित तथ्य है कि भारत मे सविधान निर्माताभ्रो द्वारा ससदीय सरकार का विकास ब्रिटिश प्रतिमान के भ्राधार पर किया गया था क्योकि 1919 व 1947 के बीच हजारो भारतीयो ने केन्द्र व प्रान्तो म व्यवस्थापिका एव कार्यपालिका सम्बन्धी भ्रनुभव भ्रर्जित किया। प्रो मोरिस जोन्स ने 1935 के भारत सरकार भ्रधिनियम के बारे मे सही कहा है कि "दासता के सविधान (Slave Constitution) ने प्रान्तो के भ्रनेको राजनीतिज्ञो को व्यवस्थापिका सम्ब धी भ्रनुभव प्रदान किया, शक्ति के हस्तान्तरण के लिए सभी सम्बन्धित व्यक्तियो को तैयार किया, लोकप्रिय उत्तरदायी सरकारो की स्थापना की भ्रौर उन समस्त स्थलो पर इसने भ्रनुभव प्रदान किया, जहा इसकी भ्रावश्यकता थी। भ्रत ब्रिटेन को भारत म प्रतिनिधात्मक ससदीय सरकार सम्ब धी भ्रनुभव प्रदान करने का श्रेय देना भ्रसगत नही होगा।' भ्रत सविधान सभा मे बठे भ्रधिकाश प्रतिनिधियो ने 'ब्रिटिश सविधान की भावना को भ्रगीकृत किया।

भारतीय ससद के तीन भ्रग हैं (i) राष्ट्रपति (ii) राज्य सभा, भ्रौर (iii) लोकसभा।[1] यद्यपि राष्ट्रपति ससद के किसी सदन का सदस्य नही होता है,

---

1 There shall be a Parliament for the Union which shall consist of the President and two Houses to be known respectively as the Council of states and the House of the people (Article 79).

किन्तु वह संसद का एक अभिन्न अंग है तथा वह उसकी कार्यवाहियों में भाग लेता है। वह संसद के सत्र को आहूत करता है, उसे स्थगित कर सकता है और लोकसभा को विघटित कर सकता है। वह संसद द्वारा पारित सभी विधेयकों पर अनुमति देता है। हमारे संविधान में आंग्ल सांविधानिक प्रणाली की ही भांति राष्ट्रपति को विधान मण्डल का अभिन्न अंग माना गया है। भारतवर्ष में व्यापक अर्थ में शक्तियों का पृथक्करण (separation of powers) है। अमेरिका में मान्यता प्राप्त शक्तियों के पृथक्करण का सिद्धान्त हमारे संविधान में लागू नहीं होता है।[1] अमेरिका का राष्ट्रपति विधान मण्डल का आवश्यक अंग नहीं है, क्योंकि वहां शक्ति पार्थक्य का सिद्धान्त अपनाया गया है, जिसके अनुसार सरकार के तीनों अंग एक दूसरे से पूर्णतः पृथक हैं।

संसद का गठन
(Composition of the Parliament)

राज्य सभा की रचना (Composition of the Council of states)–राज्य सभा की अधिकतम सदस्य संख्या 250 है। इनमें से 238 राज्यों और संघीय क्षेत्रों के निर्वाचित प्रतिनिधि होते हैं और 12 ऐसे सदस्यों को राष्ट्रपति नामांकित करता है जो साहित्य, कला, विज्ञान और सामाजिक सेवा के क्षेत्र में विशेष ज्ञान या वास्तविक अनुभव रखते हैं।[2] नामांकित सदस्य राष्ट्रपति के निर्वाचन में भाग नहीं

---

1 Delhi laws Act case, A I R 1951, Supreme Court 332, Jayanti lal Sodhan V F N Ranna, A I R 1964, S C 648 Chandra Mohan V State of U P A I R 1966, S C 1977, Udai Ram Sharma V Union of India, A I R 1968, S C 1138, Indira Nehru Gandhi V Raj Narain, A I R, 1975, S C 2299 (1976)

2 'The Council of States shall consist of (a) twelve members to be nominated by the President in accordance with the provisions of clause (3), and (b) not more than two hundred and thirty eight representatives of the States and of the Union territories' (Art 80) According to clause (3), ' The members to be nominated by the President under sub clause (a) of clause (1) shall consist of persons having special knowledge or practical experience in respect of such matters as the following namely —Literature, science art and social service"

लेत है। अनुच्छेद 80 के खण्ड (4) के अनुसार राज्य सभा के सदस्यों का निर्वाचन राज्य की विधान सभाओं के निर्वाचित सदस्यो द्वारा आनुपातिक प्रतिनिधित्व पद्धति के अनुसार एकल सङ्क्रमणीय मत द्वारा (in accordance with the system of proportional representation by means of the single transferable vote) होता है। खण्ड (5) के अनुसार राज्य सभा के लिए सघीय राज्य क्षेत्रो के प्रतिनिधि ऐसी रीति से चुने जायेंगे, जैसाकि ससद विधि द्वारा विहित करे। खण्ड (2) के अन्तर्गत राज्य सभा मे प्रत्येक राज्य और सघ राज्य क्षेत्रो मे सीटो का आवटन सविधान की चतुर्थ अनुसूची (Fourth Schedule) के अनुसार नियत किया जाता है। निम्नांकित सारिणी (Table) मे राज्य सभा के विभिन्न राज्यो और सघ राज्य क्षेत्रों (Union territories) के प्रतिनिधियो की सख्या दी गई है।

Table

	State and Union Territory	Number of seats
1	Andhra Pradesh	18
2	Assam	7
3	Bihar	22
4	Gujrat	11[1]
5,	Haryana[2]	5
[3]6	Kerala	9
7	Madhya Pradesh	16
8	Tamil Nadu[5]	18[4]
9	Maha rashtra	19[1]

1 Substituted by the Combay Reorganisation Act 1960

2 Inserted by the Punjab Reorganisation Act 1966 (w. e f 1 1 1966)

3 Entries 5 to 21 renumbered as entries 6 to 22, by section 9, Ibid

4 Substituted by the Andhra Pradesh and Madras (Alteration of Boundaries) Act, 1959

5 Name of Madras changed to Tamil Nadu by the Madras State (Alteration of name) Act, 1968,

10	Karnataka[1]	12
11	Orissa	10
12,	Punjab	7[2]
13	Rajasthan	10
14	Uttar Pradesh	34
15	West Bengal	16
16	Jammu and Kashmir	4
17	Nagaland	1[3]
18	Himachal Pradesh	3[4]
[5]19	Manipur	1
20	Tripura	1
21	Meghalaya	1
22	Sikkim[6]	1
23	Delhi	3
24	Pondicherry	1
25	Mizoram	1
26	Arunachal Pradesh	1[5]
		232[7]

राज्य सभा एक स्थाई सदन है। इसका विघटन (dissolution) नहीं होता है किन्तु इसके एक तिहाई सदस्य प्रत्येक दूसरे वर्ष की समाप्ति पर निवृत्त हो

1 Substituted by the Mysore state (Alteration of Name) Act 1973, for 'Mysore' (w e f 14 1 69)

2 Substituted by the Punjab Reorganisation Act, 1966

3 Inserted by the State of Nagaland Act, 1962

4 Amended by the State of Himachal Pradesh Act, 1970, w e f 25 1 1971

5 Entries 19-22 were substituted by the North-Eastern Areas (Reorganisation) Act, 1971

6 Inserted by the Constitution (36th Amendment) Act, 1975

7 Substituted by 'ibid'.

जाते हैं।[1] इस रीति के अनुसार एक सदस्य ■ वर्ष तक राज्य सभा का सदस्य रहता है। भारत का उपराष्ट्रपति राज्य सभा का पदेन (exoff cio) सभापति (chairman) होता है।[2] राज्य सभा अपने सदस्यो में से किसी सदस्य को उप सभापति चुनती है।[3] जब सभापति का पद रिक्त हो या जब उपराष्ट्रपति राष्ट्रपति के रूप मे काय कर रहा हो तब उप सभापति उस पद के कर्त्तव्यो का पालन करता है। यदि उप सभापति का पद भी रिक्त (vacant) हो तो राज्य सभा का ऐसा सदस्य काय करेगा (राज्य सभा द्वारा दूसरे सदस्य को उप सभापति के पद पर चुन जाने तक), जिसे राष्ट्रपति नियुक्त करे।[4] राज्य सभा की किसी बैठक मे सभापति (उपराष्ट्रपति) की अनुपस्थिति के दौरान, उप सभापति सभापति के रूप म काय करेगा। यदि उपसभापति भी अनुपस्थित (absent) हो तो ऐसा व्यक्ति जो कि सभा की प्रक्रिया के नियमो द्वारा निर्धारित हो और अगर ऐसा कोई व्यक्ति भी उपस्थित नही है तो ऐसा अन्य व्यक्ति, जो सभा द्वारा निर्धारित किया जावे सभापति के रूप मे काय करेगा।[5] राज्य सभा के उप सभापति का पद धारण करने वाला व्यक्ति यदि सभा का सदस्य नही रह जाता तो वह अपना पद खाली कर देगा। वह अपने पद से त्याग पत्र भी दे सकता है और सभा अपने तत्कालीन समस्त सदस्यो के बहुमत से 14 दिनो की पूव सूचना देने के पश्चात् प्रस्ताव पारित करके उसे उसके पद से हटा सकती है।[6] इसी प्रक्रिया द्वारा राज्य सभा अपने सभापति (उपराष्ट्रपति) को भी हटा सकती है। राज्य सभा की किसी बैठक में सभापति या उपसभापति को अपने पद से हटाने का कोई प्रस्ताव विचाराधीन हो तब क्रमश सभापति व उप सभापति उस सभा की अध्यक्षता नही करेंगे।[7]

इगलैण्ड मे ऊपरी सदन (upper house) को हाउस ऑफ लार्डस' कहते है। राज्य सभा की भांति हाउस ऑफ लार्ड्स भी स्थायी सदन है तथा उसका विघटन नही होता है। किन्तु राज्य सभा उससे निम्नांकित दृष्टि से भिन्न है, प्रथम, यह है कि हाउस ऑफ लार्ड्स वंशानुगत पियरो की सभा है जो सम्राट द्वारा बनाये जाते हैं, जबकि राज्य सभा निर्वाचित सदस्यो की सभा है। दूसरे हाउस ऑफ लार्ड्स

---

1 Article 83 (1)
2 Article 89 (1)
3 Article 89 (2)
4 Article 91 (1)
5 Article 91 (2)
6 Article 90
7 Article 92 (1)

की सदस्यता जीवन पर्यन्त होती है किन्तु राज्य सभा की सदस्यता केवल 6 वर्ष की होती है। तीसरे हाउस ऑफ लार्ड्स इंग्लैण्ड का सर्वोच्च न्यायालय भी है, जबकि भारतीय राज्य सभा को ऐसा अधिकार प्राप्त नहीं है। राज्य सभा बहुत कुछ अमेरिका के सीनेट से मिलती जुलती है। अमरिका का प्रत्येक राज्य सीनेट में दो प्रतिनिधि भेजता है। यह एक स्थायी सभा है। इसका विघटन नहीं होता है। किन्तु राज्य सभा की भांति सदस्य प्रत्येक दूसरे वर्ष की समाप्ति पर अपने पद से निवृत्त हो जाते हैं। किन्तु राज्य सभा के सदस्यों का चुनाव जनसंख्या के आधार पर अप्रत्यक्ष रूप से यानि विधान सभाओं द्वारा होता है। अमेरिकी सीनेट सदस्य सीधे चुनाव द्वारा चुने जाते हैं। सीनेट हमारी राज्य सभा की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली है। उसे विधान बनाने में कांग्रेस के समान ही शक्ति प्राप्त है। वह धन विधेयक को संशोधित या अस्वीकृत कर सकती है। राष्ट्रपति द्वारा की गई सभी नियुक्तियों के लिए उसकी सम्मति आवश्यक है।

हमारे देश में राज्य सभा तथा राज्य विधान परिषदों को रखने का कड़ा विरोध किया गया है और यह कहा गया कि यह कीमती विलास हैं जिसकी कोई आवश्यकता नहीं है। कई राज्यों ने अपनी विधान परिषदों को समाप्त कर दिया है। राज्यों के बारे में हम इस बात से सहमत हो सकते हैं कि इस सभा (विधान परिषदों का) कोई महत्व नहीं है किन्तु संसद् के एक अंग के रूप में यह आवश्यक है। संक्षेप में, राज्य सभा निम्नलिखित उद्देश्यों को पूरा करती है—(i) यह ऐसी सभा है जिसमें देश के योग्य एवं अनुभवी राजनीतिज्ञ चुनाव की परेशानियां को झेले बिना ही सदस्य बन जाते हैं और इस प्रकार देश को उनके अनुभव तथा ज्ञान का लाभ प्राप्त होता रहता है। (ii) राज्य सभा लोकसभा द्वारा जल्दबाजी में पारित किए गए कानूनों को रोक कर उस पर उसे पुनर्विचार करने का अवसर प्रदान करती है। तीस वर्षों तक केन्द्र में कांग्रेस के एक छत्र शासन के उपरान्त 1977 के संसदीय निर्वाचन के पश्चात् देश में जनता पार्टी की सरकार बनने से राज्य सभा की महत्ता इस दृष्टि से बढ़ी है कि इसमें अपनी कमजोर स्थिति को मद्दे नजर रखते हुए अब सत्तारूढ़ दल यह मानकर नहीं चल सकता कि लोकसभा में पारित करवाये गये विधेयक को राज्य सभा में स्वतः ही स्वीकृति प्राप्त हो जायेगी। कांग्रेस शासन के दौरान संसद के दोनों सदनों में अतुल बहुमत के प्राप्त होने से तत्कालीन सत्तारूढ़ नेतृत्व की ऐसी धारणा बनाना स्वाभाविक था। (iii) वह राज्य के हितों की संरक्षिका है जो संघीय सिद्धान्त के अनुरूप है। किन्तु व्यवहारतः राज्य सभा अब राज्यों के हित के लिए ही कार्य नहीं करती, वरन् राष्ट्रीय हित को ध्यान में रख कर कार्य करती है। यह परिवर्तन सभी संघीय संविधान वाले देशों में हुआ है।

लोकसभा की रचना (Composition of the House of the People)—

लोकसभा जनता की सभा है। इसके सदस्य जनता द्वारा प्रत्यक्ष निर्वाचन द्वारा चुने जाते हैं। अनुच्छेद 81 के अन्तर्गत इसके सदस्यों की अधिकतम संख्या 545 है जिनमें से (a) 525 सदस्यों तक (Not more than five hundred twenty five[1] members) राज्य में मतदाताओं द्वारा प्रत्यक्ष चुनाव से निर्वाचित होंगे, (b) 20 तक (not more than twenty[2] members) संघीय क्षेत्रों (union territories) के प्रतिनिधि होंगे। दो एंग्लो इण्डियन समुदाय के सदस्य राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त किये जायेंगे।[3] राज्यों के प्रतिनिधियों का चुनाव वयस्क मताधिकार (adult suffrage) के आधार पर प्रत्यक्ष मतदान द्वारा होता है अर्थात् भारत के प्रत्येक नागरिक को, चाहे वह स्त्री हो या पुरुष जो 21 वर्ष की आयु पूरी कर चुका है और जो अनिवास (non residence), चित्त विकृति (unsoundness of mind) अपराध (crime) भ्रष्ट या अवैध आचरण (corrupt or illegal practice) के आधार पर अनह (disqualified) नहीं कर दिया गया है, लोकसभा के सदस्यों के चुनाव में मतदान करने का अधिकारी है।[4]

संविधान के 36 वें संशोधन अधिनियम, 1975 द्वारा सिक्किम को भारत का 22 वा राज्य बना लिया गया है और लोकसभा में उसको प्रतिनिधित्व दिया गया है। लोकसभा में 20 जनवरी सन् 1976 में किये गये निर्वाचन सीमा निर्धारण (delimitation of constituency) के अनुसार प्रत्येक राज्य तथा संघ राज्य क्षेत्रों के लिए सीटों का आवंटन इस प्रकार है—

---

1 Number raised from 500 to 525, by the Constitution (31st Amendment) Act 1973

2 The word 'twenty' was substituted by twentfive' by the Constitution (14th Amendment) Act 1962, and the original word 'twenty' has been restored by the Constitution (31st Amendment) Act 1973

3 Article 81 (1) readwith Article 331

4 Article 326 (It is to be noted that Article 326 provides the qualifications for being a voter It has nothing to do with the right to stand for election to any of the Legislatures The 'qualifications for election to Parliament are to be found in Art 84 and for election to a state legislature in Art 173)

Ta le

	राज्य तथा संघ राज्य–क्षेत्र	सदस्य संख्या
1	आन्ध्रप्रदेश	42
2	आसाम	14
3	बिहार	54
4	गुजरात	26
5	हरयाणा	10
6	हिमाचलप्रदेश	4
7	जम्मू एवं कश्मीर	6
8	कर्नाटक	28
9	केरल	20
10	मध्य प्रदेश	40
11	महाराष्ट्र	48
12	मनिपुर	2
13	मेघालय	2
14	नागालैण्ड	1
15	उड़ीसा	21
16	पंजाब	13
17	राजस्थान	25
18	सिक्किम	1
19	तमिलनाडु	39
20	त्रिपुरा	2
21	उत्तरप्रदेश	85
22	पं० बंगाल	42
	संघ राज्य–क्षेत्र	
23	अण्डमान नीकोबार द्वीप समूह	1
24	अरूणाचल प्रदेश	2
25	चण्डीगढ	1
26	दादर और नागर हवेली	1
27	दिल्ली	7
28	गोवा, डामन और डिव	2
29	लक्षद्वीप	1
30	मिजोरम	1
31	पांडिचेरी	1
	कुल योग	542

लोकसभा के सदस्यो के चुनाव के प्रयोजन के लिए प्रत्येक राज्य को प्रादेशिक निर्वाचन क्षेत्रो मे विभक्त कर दिया जाता है। प्रत्येक राज्य को प्रादेशिक निर्वाचन-क्षेत्रो (territorial constituencies) मे ऐसी रीति से विभाजित किया जाता है कि प्रत्येक निर्वाचन क्षेत्र की जनसख्या तथा उसके लिए नियत किये गए सदस्यो की सख्या का अनुपात समस्त राज्य मे एक हो।[1] प्रत्येक राज्य के लिए लोकसभा के स्थानो की सख्या की बाट ऐसी रीति से की जायेगी कि उस सख्या से राज्य की जनसख्या का अनुपात समस्त राज्यों के लिए यथासाध्य एक ही हो।[2] इस प्रकार सविधान लोक सभा के निर्वाचन मे प्रतिनिधित्व की एक रूपता दो प्रकार से स्थापित करने का उपबन्ध करता है—(i) विभिन्न राज्यो से, और (ii) एक राज्य के विभिन्न निर्वाचन क्षेत्रो मे। प्रत्येक जनगणना की समाप्ति पर लोकसभा मे राज्यो को स्थानो पर आवटन और प्रत्येक राज्य का प्रादेशिक निर्वाचन-क्षेत्रो मे विभाजन ऐसी रीति से पुन समायोजित (readjusted) किया जायेगा, जसा कि ससद विधि द्वारा निर्धारित करे। किन्तु इस समायोजन का वर्तमान लोक सभा के प्रतिनिधित्व पर कोई प्रभाव नही पडेगा। इसका प्रभाव लोकसभा के विघटन (dissolution) के पश्चात् पडेगा।[3]

सविधान के (42 वें) सशोधन अधिनियम, 1976 द्वारा अनुच्छेद 81 (3) और 82 म सशोधन किया गया और दोनो मे एक एक पर तुक (Proviso) जोडा गया। अनुच्छेद 81 का नया पर तुक यह उपबन्धित करता है कि अनुच्छेद 81 क प्रयोजन के लिए जनसख्या स तात्पय सन 1971 की जनगणना पर आधारित जनसख्या से है जब तक कि सन् 2000 के पश्चात् की गई पहली जनगणना के आकडे प्रकाशित नही हो जाते है। अनुच्छेद 82 मे जोडा गया नया पर तुक यह उपबन्धित करता है कि जब तक कि सन् 2000 के पश्चात की गयी पहली जनगणना के आंकडे प्रकाशित नही हो जाते है लोकसभा मे राज्यो के स्थानो का आवटन सन् 1971 की जनगणना पर आधारित जनसख्या के आधार किया जायेगा। इसके पश्चात् भी ऐसा पुन समायोजन उसी तारीख से लागू होगा जिसका उल्लेख राष्ट्रपति अपने आदेश मे करेगा। इसका तात्पय यह है कि सन् 2000 के पश्चात् भी पुन समायोजन आवश्यक नही होगा। जब तक ऐसा नही किया जाता, लोकसभा मे राज्या के स्थानो का आवण्टन सन् 1971 की जनगणना के आधार पर दिया जायेगा। यह सशोधन

---

1 Article 81 [2 (b)]

2 Article 81 [2 (a)]

3 Article 82

सरकारी सूत्रा के अनुसार भारत सरकार के परिवार नियोजन के कार्यक्रम में तीव्रता लाने के लिए किया गया।[1]

लोक सभा की अवधि—लोकसभा, यदि पहले विघटित नहीं कर दी जाय (unless sooner dissolved), तो अपने प्रथम अधिवेशन की तारीख से '6 वर्ष' तक चालू रहेगी। संविधान के (42वें) संशोधन अधिनियम, 1976 द्वारा अनुच्छेद 83 के खण्ड (2) में संशोधन करके लोकसभा की अवधि को 'पांच वर्ष' से 'छः वर्ष' कर दिया गया। स्वर्णसिंह समिति ने इस संशोधन को दो आधारों पर न्यायोचित बताया था। प्रथम, यह कि सन् 1971 के संसदीय चुनाव में जनता को दिये गये वचनों को पूरा करने के लिए शासक-दल को पर्याप्त समय दिया जाना चाहिए और दूसरे यह कि चूंकि राज्य सभा की अवधि 6 वर्ष है अतः लोक सभा की अवधि भी उसी के बराबर होनी चाहिए। उपर्युक्त तर्क, निराधार थे। अतः 1977 के संसदीय निर्वाचन में जीतने के पश्चात् प्रस्तावित 45वां संशोधन विधेयक 1978 में जनता सरकार ने इस अवधि को पुनः 5 वर्ष करने का निश्चय किया। किन्तु इसका उत्तरवर्ती प्रभाव (prospective effect) ही होगा।

राष्ट्रपति इस अवधि के पहले भी उसे विघटित कर सकता है। परन्तु उस कालावधि को जब आपात उद्घोषणा प्रवर्तन में है, संसद विधि द्वारा एक वर्ष के

---

1 "In the context of the intensification of the family planning programmes of the government, it is considered that not only the allocation of seats in the House of the people to the states and the total number of seats in Legislative assemblies of the states but also to the extent of parliamentary and assembly constituencies and the reservation of seats for Scheduled Castes and Scheduled Tribes as determined on the basis of the 1971 census, should be frozen till the year 2001 It is accordingly proposed to amend the relevant Articles, namely Articles 81 and 82 relating to the Lok Sabha Article 170 relating to the legislative assemblies of states Article 55 relating to the manner of election of the President, and Articles 330 and 332 relating to reservation of seats for Scheduled castes and Scheduled Tribes in the Lok Sabha and legislative Assemblies of states [Notes on clauses of the Constitution (42nd Amendment) Bill, 1976]

लिए बढ़ा सकती है । इस प्रकार बढ़ाई गई अवधि किसी अवस्था में भी आपात-उद्घोषणा के अन्त हो जाने के बाद छः महीने से अधिक नहीं होगी ।

संसद सदस्यों की अर्हताएं—अनुच्छेद 84 के अनुसार संसद की सदस्यता के लिए किसी व्यक्ति को निम्नलिखित अर्हताएं रखनी आवश्यक है—(a) वह भारत का नागरिक हो (b) राज्य सभा के सदस्य के लिए कम से कम 30 वर्ष की आयु का तथा लोकसभा के सदस्य के लिए कम से कम 25 वर्ष की आयु का होना आवश्यक है, (c) ऐसी अर्हताएं रखता हो जो कि इस बारे में संसद निर्मित किसी विधि के द्वारा विहित की गई हो । उदाहरण के लिए, लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम के अनुसार व्यक्ति का नाम किसी भी निर्वाचन क्षेत्र में मतदाता के रूप में पंजीकृत होना चाहिए । इसके अतिरिक्त उसे निर्वाचन आयोग द्वारा प्राधिकृत किसी व्यक्ति के समक्ष तृतीय अनुसूची में इस प्रयोजन के लिए दिये हुए प्रपत्र के अनुसार शपथ न ले लिया हो ।

सदस्यों की अनर्हताएं (Disqualifications for Membership) - अनुच्छेद 102 के अन्तर्गत कोई व्यक्ति संसद का सदस्य चुने जाने या सदस्य बने रहने के योग्य नहीं है यदि वह निम्नलिखित अनर्हताएं रखता है—(a) यदि वह भारत सरकार अथवा किसी राज्य सरकार के अधीन कोई अन्य लाभ का पद (office of profit) धारण किये हुए है (b) यदि वह विकृत चित्त (unsound mind) है तथा सक्षम न्यायालय की ऐसी घोषणा विद्यमान है, (c) यदि वह उन्मुक्त दिवालिया (undischarged insolvent) है, (d) यदि वह भारत का नागरिक नहीं है अथवा किसी विदेशी राज्य की नागरिकता को स्वेच्छा से अर्जित कर चुका है, अथवा किसी विदेशी राज्य के प्रति निष्ठा या अनुषक्ति (allegiance or adherence) को अभिस्वीकार किये हुए है, (e) यदि वह संसद निर्मित किसी विधि के द्वारा अनर्ह कर दिया गया हो । संसद ने लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम, 1951 पारित करके संसद के सदस्यों की अर्हता और अनर्हता को निर्धारित किया है । इस अनुच्छेद के खण्ड (2) के अनुसार कोई भी केन्द्रीय मन्त्री या राज्य का मन्त्री लाभ का पद धारण करने वाला अनर्ह नहीं समझा जायेगा ।

संविधान के (42 वें) संशोधन अधिनियम, 1976 द्वारा अनुच्छेद 102 में संशोधन कर खण्ड (1) के उपखण्ड (a) के स्थान पर एक नया उपखण्ड रखा गया है जो संसद को कानून बनाकर यह घोषित करने की शक्ति प्रदान करता है कि भारत सरकार अथवा किसी राज्य-सरकार के अधीन कोई पद लाभ का पद है या नहीं और क्या ऐसे पदों के धारक अनर्ह है या नहीं । इस मामले में आगे दर्शित

अभी तक न्यायिक निर्णयों का अनुसरण किया जाता था।[1] प्रस्तावित 45वें संविधान संशोधन विधेयक, 1978 में व्यवस्था की गई है कि चुनाव आयोग, न कि सरकार निर्णय करेगा कि अमुक पद लाभ का पद है या नहीं, जिसका धारक संसद या राज्य विधान मण्डल की सदस्यता के लिए अनर्ह होगा।

अनर्हता विषयक प्रश्न पर विनिश्चय (Decision on questions as to disqualification) — संविधान के 42 वें संशोधन अधिनियम 1976 द्वारा मूल अनुच्छेद 103 के स्थान पर नया अनुच्छेद रखा गया है जो यह उपबन्धित करता है कि यदि ऐसा कोई प्रश्न उठता है कि (a) क्या संसद के किसी सदन का सदस्य अनुच्छेद 102 (1) में वर्णित अनर्हताओं का भागी हो गया है (has become) या नहीं अथवा (b) क्या कोई व्यक्ति संसद द्वारा निर्मित किसी विधि के अधीन संसद के लिए निर्वाचन में किसी भ्रष्ट आचरण का दोषी ठहराये जाने के कारण सदन का सदस्य चुने जाने या बने रहने के लिए निरह हो गया है या नहीं, या उसकी निरहता की अवधि कितनी हो, उसे समाप्त कर दिया जाये या घटाया जाये तो उसे राष्ट्रपति के विनिश्चय लिए सौंपा जायेगा तथा उसका विनिश्चय अंतिम होगा। राष्ट्रपति को ऐसे किसी प्रश्न पर विनिश्चय देने से पूर्व निर्वाचन आयोग की राय लेना आवश्यक होगा। निर्वाचन आयोग इस प्रयोजन के लिए ऐसी जाँच कर सकता है जिसे वह ठीक समझे।

---

1 The amendment of Cl (1) (a) [Corresponding amendment hasbeen made in Art 191 (1) a] by the (42nd Amendment) Act 1 7 , simple as it appears, have serious and for reaching effects Under the original text of sub-cl. (a), the general rule was that any person holding an office of profit or servi e under the Gov rnment was not eligible as a candidate for membership of the legislature, unless Parliament/state Legislature passed a law 'exempting' the particular office from the disqualification The Amendment brings about just the contrary situation The generalrule now would be that all public servants would be eligible for m mb rship of the legislature, [illegible] Legislature m kes a law positively 'imposin[illegible] in any particular ca e Now, thus all t[illegible] with cas law, would now be n[illegible]

इस सशोधन अधिनियम ने ससद सन्स्यो के अनहता विषयक पश्न को यायालयो की अधिकारिता से परे कर दिया है। सन्स्यो की अनहनाए दो प्रक र की होती है। प्रथम सदन के सदस्य चुने जाने के पूव, और दूसरी, सदस्य चुने जाने के पश्चात्। सशोधन के पूव निर्वाचन मे भ्रष्ट आचरण के कारण उत्पन्न अनहता सबधी मामले न्यायालयो द्वारा वर्णित किए जाते थे और दूसर प्रकार की अनहता के मामले राष्ट्रपति के निणय क लिए सौपे जाते थे और प्रस्तुत सशोधन दोनो प्रकार की अनहनाओ को राष्ट्रपति के विनिश्चय के लिए सौपे जाने का उपब ध करता है।[1] राष्ट्रपति उनकी अनहता की अवधि को कम कर सकता ह या उसे बिल्कुल समाप्त कर सकता है। जसाकि विदित है कि राष्ट्रपति मन्त्रिपरिषद की सलाह से काय करता है। अत राष्ट्रपति को अनहता विषयक प्रश्नो पर विनिश्चय देन की शक्ति उचित नही है क्योकि यदि शासक दल का कोई सदस्य उक्त अनहता का दोषी है तो सम्भव है कि वह राष्ट्रपति को इसे माफ करने का परामश दे दे। इससे निर्वाचन मे भ्रष्ट आचरण की वृद्धि होने की आशका है। इस शक्ति का राष्ट्रपति को न देकर न्यायालयो को देना चाहिए। जनता सरकार ने इस शक्ति को पुन यायालयो का देन का सकल्प व्यक्त किया है। प्रस्तावित **45** वे सविधान सशोधन विधेयक, **1978** म राष्टपति के लिए पुन चुनाव–आयोग की राय पर ही इस सबध मे निणय दने के लिए बाध्यता कर दी गई है।

सदस्यता की समाप्ति (Vacation of seats)—यदि ससद् के किसी सदन का सदस्य त्याग पत्र दे देता है अथवा अनु० 102 के खण्ड (1) म वर्णित अनहताओ

---

1 Prior to 1976 the question of disqualification as to membersoip of Parliament was d te mined b, the President 'according to the opinion' of the Election Commissioner Under the Article as amended (See Art 192 for correspo nding amendment), though it would be obligatory for the President to 'consult' the Election commission and the latter when consited, may come to his opinion on the b1s s of such inquiry as he deems fit, it will nolonger be obliga tory for the President to accept the opinion of the Election Commission Even though th President gives his decision contrary to the recommendation of the Election Commission the decision of the President shall not be open to chall nge in a court of law A determination of the que tion of disqualification has thus been made a political on

मे से किसी का भागी हो जाता है तो वह ससद् का सदस्य नही रहेगा और उसका स्थान स्वत रिक्त हो जायगा। राज्य सभा के सदस्य सभापति को सम्बोधित करके तथा लोकसभा का सदस्य अध्यक्ष (स्पीकर) को सबोधित करके अपने पद से त्याग पत्र दे सकता है। सविधान के (33 वे) सशोधन अधिनियम, 1974 द्वारा सविधान के अनु० 101 और 190 से सशोधन करके एक नया परन्तुक (Proviso) जोडा गया है। सशोधित खण्ड यह उपबन्धित करता है कि यदि ससद या राज्य विधान मण्डल के किसी सदन का सदस्य यथास्थिति सभापति या अध्यक्ष को सबोधित करके अपने हस्ताक्षर से त्यागपत्र देता है और उसका त्याग पत्र स्वीकार कर लिया जाता है तो उसका स्थान रिक्त हो जायेगा, बशर्ते कि ऐसे त्यागपत्र स्वेच्छापूर्वक दिये गये हो। यदि ऐसी सूचना या किसी अन्य माध्यम से जाच करने के पश्चात् जैसा यह उचित समझे सभापति अथवा अध्यक्ष को यह समाधान हो जाये कि यह त्याग-पत्र स्वेच्छिक या वास्तविक नही है तो वह उसे स्वीकृत नही करेगा। इस सशोधन का प्रभाव यह हुआ है कि सदस्यो के त्यागपत्र स्वत स्वीकृत नही माने जायेंगे। यह सशोधन अधिनियम गुजरात जन आदोलन का परिणाम है, जहा विधान मण्डल के सदस्यो को बल पूर्वक त्यागपत्र देने के लिए विवश किया गया था।

अनु० 101 (4) के अनुसार यदि ससद के किसी सदन का सदस्य 60 दिन तक सदन की अनुज्ञा (permission) बिना उसके सब अधिवेशनो मे अनुपस्थित रहता है तो सदन उसके स्थान को रिक्त घोषित कर सकता है। इसके लिए सदन की घोषणा आवश्यक है, अन्यथा उसका स्थान रिक्त नही माना जावेगा। किन्तु इस अवधि म वह अवधि शामिल नही होगी जिसमे सदन सत्रावसित (prorogued) निरन्तर चार दिनो से अधिक दिनो के लिए स्थगित (adjourned) रहा है।

सदस्यो के वेतन और भत्ते—ससद के प्रत्येक सदन के सदस्यों को ऐसे वेतन और भत्ते पाने का अधिकार होगा, जिसे ससद विधि द्वारा समय समय पर निर्धारित करे।

लोकसभा के पदाधिकारी-अध्यक्ष और उपाध्यक्ष—लोकसभा अपने सदस्यो म से दो को क्रमश अध्यक्ष और उपाध्यक्ष चुनती है। अध्यक्ष लोकसभा का प्रमुख पदाधिकारी होता है। वह इसकी बैठकों की अध्यक्षता करता है तथा इसके सचालन का नियत्रण करता है। जब अध्यक्ष (स्पीकर) का पद रिक्त होता है तो उपाध्यक्ष उसके पद के कर्त्तव्यो का पालन करता है।[1] यदि उपाध्यक्ष का पद भी रिक्त हो तो लोकसभा का ऐसा सदस्य जिसे राष्ट्रपति नियुक्त करे अध्यक्ष के पद के कर्त्तव्यों का

1 Article 93

पालन करेगा।[1] लोकसभा की किसी बैठक में अध्यक्ष की अनुपस्थिति में उपाध्यक्ष अध्यक्ष के रूप में कार्य करता है। यदि उपाध्यक्ष भी अनुपस्थित है तो ऐसा व्यक्ति जो सदन की प्रक्रिया के नियमों से निर्धारित किया जाय, या यदि वह भी अनुपस्थित है तो ऐसा अन्य व्यक्ति जिसे सदन निर्धारित करे, अध्यक्ष के रूप में कार्य करेगा।[2]

अध्यक्ष और उपाध्यक्ष तभी तक अपने पद पर बने रहते हैं जब तक वे लोकसभा के सदस्य रहते हैं। जैसे ही वह लोकसभा के सदस्य नहीं रहते, उन्हें अपना पद रिक्त करना होता है[3] किन्तु लोकसभा के विघटित होने के बावजूद भी अध्यक्ष नव निर्वाचित लोकसभा के प्रथम अधिवेशन तक अपने पद पर बना रहता है।[4] अध्यक्ष और उपाध्यक्ष अपने पदों से त्यागपत्र दे सकते हैं।[5] ऐसा कोई प्रस्ताव तबतक प्रस्तावित नहीं किया जा सकता है जब तक कि उसे प्रस्तावित करने के अभिप्राय की कम से कम 14 दिन की पूर्व सूचना न दे दी गई हो।[6] लोकसभा की किसी बैठक में जब अध्यक्ष के हटाने के लिए कोई प्रस्ताव विचाराधीन हो तब अध्यक्ष और जब वह उपाध्यक्ष के विरुद्ध हो तो उपाध्यक्ष उपस्थित रहने पर भी उसकी अध्यक्षता नहीं करेंगे।[7] ऐसी बैठक की कार्यवाहियों में वह भाग ले सकता है और प्रथमतः मत दे सकता है, किन्तु मत समान होने की दशा में उसे मत देने का अधिकार नहीं है।[8] अध्यक्ष या उपाध्यक्ष को ऐसे वेतन और भत्ते दिये जायेंगे जिसे संसद विधि द्वारा नियत करे। जब तक ऐसी कोई विधि पारित नहीं की जाती है तब तक ऐसे वेतन और भत्ते दिये जायेंगे जो द्वितीय अनुसूची में उल्लिखित हैं।[9]

अध्यक्ष का पद बड़े उत्तरदायित्व का पद होता है। वह सदन की गरिमा तथा विशेषाधिकारों को कायम रखने का जिम्मेदार होता है। एक बार चुने जाने पर वह दलीय पक्षपातों से ऊपर उठ जाता है। इग्लैण्ड में एक रूढ़ि (convention) के अनुसार अध्यक्ष को अपने दल से त्याग पत्र देना होता है। अध्यक्ष पद की निष्पक्षता

---

1 Article 95 (1)
2 Article 95 (2)
3 Article 94 (a)
4 Proviso to Article 94 (c)
5 Article 94 (b)
6 Proviso to Article 94 (c)
7 Article 96 (1)
8 Article 96 (2)
9 Article 98

मे से किसी का भागी हो जाता है तो वह ससद् का सदस्य नही रहगा और उसका स्थान स्वत रिक्त हो जायगा। राज्य सभा के सदस्य सभापति को सबोधित करके तथा लोकसभा का सदस्य अध्यक्ष (स्पीकर) को सबोधित करके अपने पद से त्याग पत्र दे सकता है। सविधान के (33 वें) सशोधन अधिनियम, 19/4 द्वारा सविधान के अनु० 101 और 190 से सशोधन करके एक नया परन्तुक (Proviso) जोड़ा गया है। सशोधित खण्ड यह उपबन्धित करता है कि यदि ससद या राज्य विधान मण्डल के किसी सदन का सदस्य यथास्थिति सभापति या अध्यक्ष को सबोधित करके अपने हस्ताक्षर स त्यागपत्र देता है और उसका त्याग पत्र स्वीकार कर लिया जाता है तो उसका स्थान रिक्त हो जायेगा, बशर्ते कि ऐसे त्यागपत्र स्वेच्छापूवक दिये गये हो। यदि एसी सूचना या किसी अन्य माध्यम से जाच करने के पश्चात् जैसा यह उचित समझे सभापति अथवा अध्यक्ष को यह समाधान हो जाये कि वह त्याग-पत्र स्वेच्छिक या वास्तविक नही है तो वह उसे स्वीकृत नही करेगा। इस सशोधन का प्रभाव यह हुआ है कि सदस्यो के त्यागपत्र स्वत स्वीकृत नही माने जायेंगे। यह सशोधन अधिनियम गुजरात जन आदोलन का परिणाम है, जहा विधान मण्डल के सदस्यो को बल पूवक त्यागपत्र देने के लिए विवश किया गया था।

अनु० 101 (4) के अनुसार यदि ससद के किसी सदन का सदस्य 60 दिन तक सदन की अनुज्ञा (permission) बिना उसके सब अधिवेशनो मे अनुपस्थित रहता है तो सदन उसके स्थान को रिक्त घोषित कर सकता है। इसके लिए सदन की घोषणा आवश्यक है, अ यथा उसका स्थान रिक्त नहीं माना जावेगा। किन्तु इस अवधि म वह अवधि शामिल नही होगी, जिसम सदन सत्रावसित (prorogued) निरन्तर चार दिनो से अधिक दिनो के लिए स्थगित (adjourned) रहा है।

सदस्यो के वेतन और भत्ते—ससद के प्रत्येक सदन के सदस्यो को एसे वेतन और भत्ते पाने का अधिकार होगा, जिसे ससद विधि द्वारा समय समय पर निर्धारित करे।

लोकसभा के पदाधिकारी—अध्यक्ष और उपाध्यक्ष—लोकसभा अपने सदस्यो म से दो को क्रमश अध्यक्ष और उपाध्यक्ष चुनती है। अध्यक्ष लोकसभा का प्रमुख पदाधिकारी होता है। वह इसकी बैठकों की अध्यक्षता करता है तथा इसके सचालन का नियत्रण करता है। जब अध्यक्ष (स्पीकर) का पद रिक्त होता है तो उपाध्यक्ष उसके पद के कर्त्तव्यो का पालन करता है।[1] यदि उपाध्यक्ष का पद भी रिक्त हो तो लोकसभा का ऐसा सदस्य जिसे राष्ट्रपति नियुक्त करे, अध्यक्ष के पद के कर्त्तव्यों का

1 Article 93

पालन करेगा।[1] लोकसभा की किसी बैठक में अध्यक्ष की अनुपस्थिति में उपाध्यक्ष अध्यक्ष के रूप में कार्य करता है। यदि उपाध्यक्ष भी अनुपस्थित है तो ऐसा व्यक्ति जो सदन की प्रक्रिया के नियमों से निर्धारित किया जाय, या यदि वह भी अनुपस्थित हैं तो ऐसा अन्य व्यक्ति जिसे सदन निर्धारित करे, अध्यक्ष के रूप में कार्य करेगा।[2]

अध्यक्ष और उपाध्यक्ष तभी तक अपने पद पर बने रहते हैं जब तक वे लोकसभा के सदस्य रहते हैं। जैसे ही वह लोकसभा के सदस्य नहीं रहते उन्हें अपना पद रिक्त करना होता है[3] किन्तु लोकसभा के विघटित होने के बावजूद भी अध्यक्ष नव निर्वाचित लोकसभा के प्रथम अधिवेशन तक अपने पद पर बना रहता है।[4] अध्यक्ष और उपाध्यक्ष अपने पद से त्यागपत्र दे सकते हैं।[5] ऐसा कोई प्रस्ताव तबतक प्रस्तावित नहीं किया जा सकता है जब तक कि उस प्रस्तावित करने के अभिप्राय की कम से कम 14 दिन की पूर्व सूचना न दे दी गई हो।[6] लोकसभा की किसी बैठक में जब अध्यक्ष के हटाने के लिए कोई प्रस्ताव विचाराधीन हो, तब अध्यक्ष और जब यह उपाध्यक्ष के विरुद्ध हो तो उपाध्यक्ष उपस्थित रहने पर भी उसकी अध्यक्षता नहीं करेंगे।[7] ऐसी बैठक की कार्यवाहियों में वह भाग ले सकता है और प्रथमत मत दे सकता है, किन्तु मत समान होने की दशा में उसे मत देने का अधिकार नहीं है।[8] अध्यक्ष या उपाध्यक्ष को ऐसे वेतन और भत्ते दिये जायेंगे जिसे संसद विधि द्वारा नियत करे। जब तक ऐसी कोई विधि पारित नहीं की जाती है तब तक ऐसे वेतन और भत्ते दिये जायेंगे जो द्वितीय अनुसूची में उल्लिखित हैं।[9]

अध्यक्ष का पद बड़े उत्तरदायित्व का पद होता है। वह सदन की गरिमा तथा विशेषाधिकारों को कायम रखने का जिम्मेदार होता है। एक बार चुने जाने पर वह दलीय पक्षपातों से ऊपर उठ जाता है। इंगलैंड में एक रूढ़ि (convention) के अनुसार अध्यक्ष को अपने पद से त्याग पत्र देना होता है। अध्यक्ष पद की निष्पक्षता

1 Article 93 (1)
2 Article 95 (2)
3 Article 94 (a)
4 Proviso to Article 94 (c)
5 Article 94 (b)
6 Proviso to Article 94 (c)
7 Article 96 (1)
8 Article 96 (2)
9 Article 98

कायम रखने के लिए यह आवश्यक है। भारतीय संविधान में अध्यक्ष-पद की स्वतन्त्रता तथा निष्पक्षता को सांविधानिक उपबन्धों द्वारा सुरक्षित किया गया है। उदाहरणार्थ, वह प्रथम बार मतदान नहीं करता है। वह केवल किसी विषय पर मतों की बराबरी पर निर्णायक मतदान करता है। उसका वेतन भारत की संचित (consolidated) निधि पर व्यय होता है, अर्थात् संसद के मत पर निर्भर नहीं करता है।

संसद के सत्र, सत्रावसान और विघटन

(Sessions of Parliament prorogation and dissolution)

संसद के सत्र—राष्ट्रपति समय समय पर संसद् के प्रत्येक सदन को ऐसे समय और स्थान पर जमाकि वह उचित समझे, अधिवेशन के लिए आहूत करेगा। किन्तु शर्त यह है कि उसके एक सत्र की अन्तिम बैठक और आगामी सत्र की प्रथम बैठक के लिए नियुक्त तारीख के बीच छः मास का अन्तर नहीं होना चाहिए।[1] इस प्रकार एक वर्ष में दो बार संसद का अधिवेशन आवश्यक है राष्ट्रपति प्रधानमन्त्री की सलाह पर संसद का अधिवेशन बुलाता है।

संसद के अधिवेशन और उसकी कार्यवाहियों की विधि मान्यता को इस आधार पर चुनौती नहीं दी जा सकती है कि उसके कुछ सदस्यों को जेल में बन्द होने के कारण उसकी कार्यवाही में भाग लेने से वंचित कर दिया गया था। इन्दिरा नेहरू गांधी बनाम राजनारायण के मामले में न्यायालय ने इस संबंध में यह निर्णय दिया कि यह प्रश्न दोनों सदनों के आन्तरिक अधिकार क्षेत्र से सम्बन्धित है जिन पर न्यायालयों को कोई अधिकारिता प्राप्त नहीं है। अनुच्छेद 100 का खण्ड (1) यह स्पष्ट करता है कि किसी सदन की किसी बैठक में सब प्रश्नों का निर्धारण अध्यक्ष या सभापति को छोड़कर उपस्थित तथा मत देने वाले सदस्यों के बहुमत से किया जाएगा। उक्त अनुच्छेद का खण्ड (2) यह उपबन्धित करता है कि सदस्यता में कोई रिक्तता होने पर भी सदन को कार्य करने की शक्ति होगी तथा इस आधार पर उसकी कार्यवाहियां अवैध नहीं होंगी कि कोई गैर-सदस्य उसमें उपस्थित रहा और मतदान किया था। इसके अलावा अनुच्छेद 122 के खण्ड (1) में यह उपबन्धित है कि प्रक्रिया में किसी कथित अनियमितता के आधार पर संसद् की किसी कार्यवाही की मान्यता पर कोई आपत्ति नहीं की जायेगी। इस सबसे यह स्पष्ट हो जाता है कि संविधान निर्माता यह सुनिश्चित करने के लिए चिन्तित थे कि प्रक्रियात्मक अनियमितताओं और अनुच्छेद 100 के खण्ड (2) में उल्लिखित आधारों की तरह के आधारों द्वारा संसद् की कार्यवाही की विधि मान्यता दूषित नहीं होनी चाहिए और उन कार्यवाहियों पर ऐसे आधारों पर आपत्ति करना अनुज्ञेय नहीं होगा।

1 Article 85 (1)

लोक सभा के प्रत्येक आम चुनाव के पश्चात् प्रथम सत्र (Session) के प्रारम्भ पर तथा प्रत्येक वर्ष के प्रथम सत्र के प्रारम्भ मे एक साथ आहूत दोनो सदनों को राष्ट्रपति संबोधित करता है और ससद को उसके बुलाये जाने के कारणों को बताता है[1] राष्ट्रपति के अभिभाषण मे इग्लैण्ड के सम्राट के अभिभाषण की भांति, सरकार की सामान्य नीतियो और कार्यक्रमो का सकेत होता है। मन्त्रीमण्डल इस अभिभाषण को तैयार करता है और राष्ट्रपति ससद मे इसे पढता है। राष्ट्रपति संसद् के किसी एक सदन को या साथ बुलाये गये दोनो को सबोधित करेगा तथा इस प्रयोजन के लिए सदस्यो की उपस्थिति की अपेक्षा कर सकेगा।[2] वह ससद मे लम्बित किसी विधेयक या अन्य विषय के सम्बन्ध म किसी सदन को सन्देश भेज सकता है। वह सदन, जिसे कोई सन्देश भेजा गया है सन्देश द्वारा अपेक्षित विचारणीय विषय पर विचार करेगा। इस उपबन्ध की अमेरिका के सविधान म आवश्यकता है, जहाँ कि राष्ट्रपति के सलाहकार विधान मण्डल के सदस्य नही होते हैं। राष्ट्रपति इस सदेश द्वारा ही विधान मण्डल को अपनी नीतियो और कार्यक्रमो से अवगत कराता है। किन्तु भारतीय सविधान म इसकी कोई उपयोगिता नही है। यहा राष्ट्रपति मन्त्रिमण्डल की सलाह पर कार्य करता है जिसके सदस्य विधान मण्डल के सदस्य होते है।

ससद का सत्रावसान—राष्ट्रपति समय समय पर सदन का सत्रावसान करता है।[3] सत्रावसान का अर्थ है ससद के किसी विशेष सत्र को समाप्त करना। स्थगन (adjournment) सदन की बैठक को समाप्त करता है। एक सत्र मे कई बैठक होती हैं। स्थगन स्वय सदन का कार्य होता है, जिसका प्रयोग स्पीकर या सभापति करता है। सत्र के स्थगन का सदन मे विचाराधीन अपूर्ण मामलो पर कोई प्रभाव नही पडता है। सदन ऐसे मामलो पर दूसरी बैठक म विचार कर सकता है। इग्लण्ड मे सत्रावसान का परिणाम यह होता है कि उस सदन के समक्ष लम्बित सभी विधेयको या कार्यों का अन्त हो जाता है और सदन की दूसरी बैठक मे उन्हे पुन प्रारम्भ किया जा सकता है। किन्तु भारत म सदन के सत्रावसान के परिणामस्वरूप उसमे लम्बित विधेयक या कार्य समाप्त नही होते हैं।

ससद का विघटन—विघटन सदन की कालावधि को ही समाप्त कर देता है जिसके बाद नई लोक सभा की स्थापना के लिए निर्वाचन होना आवश्यक है। राज्य सभा का विघटन नही होता है। सत्रावसान और विघटन मे अन्तर यह है कि सत्रावसान सदन के किसी विशेष सत्र को समाप्त करता है जबकि विघटन उस सदन को ही समाप्त कर देता है। लोकसभा को विघटित करने की शक्ति राष्ट्रपति मे निहित

1 Article 87(1)
2 Article 86(1)
3 Article 85 (2)(a)

है ।[1] इस सम्बन्ध म भी वह प्रधान मन्त्री की सलाह पर ही काय करता है । जब तक मन्त्रिमण्डल को लोक सभा का विश्वास प्राप्त है, राष्ट्रपति प्रधानमन्त्री की सलाह पर लोक सभा को भग करने के लिए बाध्य है । यदि किसी नीति के प्रश्न पर सरकार लोक सभा मे हार जाती है तो राष्ट्रपति को उसे विघटित करने की सलाह देनी चाहिए या स्तीफा देना चाहिए । क्या राष्ट्रपति उस प्रधान मन्त्री की सलाह पर, जिसे लोक सभा के बहुमत का समथन नही प्राप्त है, सदन को विघटित करने के लिए बाध्य है ? एक मत यह है कि प्रत्यक अवस्था म प्रधान मन्त्री की सलाह मानने के लिए बाध्य है । दूसरा मत यह है कि यदि राष्ट्रपति स्थायी वैकल्पिक मन्त्रिमण्डल बना सकता है तो ऐसे प्रधान मन्त्री की सलाह मानने के लिए बाध्य नही है । पहला मत इगलण्ड की एक सुस्थापित रूढि पर आधारित है । भारत म यद्यपि केन्द्र म कोई ऐसी स्थिति उत्पन्न नही हुई है, किन्तु राज्यो मे इसके अनेक उदाहरण वतमान है, जहा कि राज्यपालो ने विधान मण्डल म हारे हुए मन्त्रिमण्डल की सलाह मानने से इन्कार कर दिया है ।

जब लोक सभा का विघटन हो जाता है तो—(1) राज्य सभा मे लम्बित विधेयक जिसको लोक सभा ने पारित नही किया है, लोकसभा के विघटन पर समाप्त नही होता है (2) लोक सभा मे लम्बित विधेयक समाप्त हो जाता है (3) लोक सभा से पारित विधेयक और राज्य सभा मे लम्बित विधयक समाप्त हो जाता है जब तक कि इसे सदनो की सयुक्त बैठक करने की राष्ट्रपति की घोषणा द्वारा बचा नही लिया जाता ।

---

1 The House of the people may be dissolved either by expiry of its term of six years (Five years term was extended by the 42nd Amendment Act, 1976) under Art 83 (2), or by an order of dissolution made by the President at any time earlier, under Art 85(2) (b) In either case the memoers of the House lose their membership and Ministers who are members of the House can not contiaue in office beyond six months since the dissolution by reason of Art 75 (5) By reason of the provision in Arts 75(5) and 74(1), the Council of Mini ters need not resign or be d smissed immediately upon the dissolution The President must have a Council of Ministers to aid and advise him so long as such Council is available under the provisions of the Constitution

1 वें संशोधन से पूर्व संसद की कार्यवाही प्रारम्भ करने के लिए गणपूर्ति होना आवश्यक था। अनुच्छेद 100 के खण्ड (3) के अनुसार गणपूर्ति सदन के सदस्यों की कुल संख्या का 1/10 होनी चाहिए थी, अर्थात् 100 में 10 सदस्यों का उपस्थित होना आवश्यक था। यदि गणपूर्ति नहीं होती है तो अध्यक्ष सदन को तब तक के लिए स्थगित कर सकता था, जब तक कि गणपूर्ति न हो जाए। 42वें संविधान संशोधन द्वारा अनुच्छेद 100 के खण्ड (3) एवं (4) को (इसी प्रकार तत्सम्बन्धी अनुच्छेदों 118, 189 एवं 208 में भी आवश्यक संशोधन किये गये) समाप्त कर दिया गया तथा गणपूर्ति के विनियमन की शक्ति प्रत्येक सदन को प्रदान कर दी गई। *मार्च 1977 के संसदीय निर्वाचन के पश्चात् जनता सरकार ने पुनः* पूर्व स्थिति को लाने का संकल्प व्यक्त किया।

संसद का कार्य विधान प्रक्रिया
(Function of the Parliament Legislative Procedure)

संसद का सबसे महत्वपूर्ण कार्य देश के लिए कानून बनाना है। विधायी प्रक्रिया सदन में एक विधेयक के रूप में प्रारम्भ की जाती है।

साधारण विधेयक (Ordinary Bills)—साधारण विधेयक संसद के किसी सदन में पेश किये जा सकते हैं। धन विधेयक तथा अन्य वित्तीय विधेयक केवल लोक सभा में ही पेश किये जा सकते हैं। साधारण विधेयक का प्रत्येक सदन में तीन बार वाचन (*Reading*) होता है। *प्रथम वाचन में मन्त्री सदन की अनुमति से* विधेयक को सदन में पेश करता है। इस समय, जब तक कि विधेयक विवादास्पद न हो, इस पर कोई विचार विमर्श नहीं किया जाता है। द्वितीय वाचन की स्थिति में सदन प्रस्तुत विधेयक पर विचार विमर्श करता है। इसके दो भाग होते हैं— विधेयक के उपबन्धों पर सामान्य बहस, और दूसरा विधेयक के खण्ड उप खण्ड पर विचार विमर्श। सामान्य बहस तब होती है जब विधेयक का प्रस्तावक सदन में समक्ष यह प्रस्ताव रखता है कि विधेयक पर विचार किया जाय अथवा इसे प्रवर समिति (select committee) के विचारार्थ सुपुर्द कर दिया जाय। प्रवर समिति की रिपोर्ट के बाद विधेयक के एक एक खण्ड पर विस्तार पूर्वक विचार किया जाता है। इस स्थिति में विधेयक में संशोधन भी किये जा सकते हैं। इस प्रकार के विचार विमर्श के बाद विधेयक पर मतदान होता है। इसके बाद तृतीय वाचन की स्थिति आती है। तृतीय वाचन मुख्यतया औपचारिक होता है। इस वाचन में विधेयक में कोई महत्वपूर्ण परिवर्तन नहीं किया जाता है। सामान्य विचार विमर्श के बाद विधेयक सदन द्वारा पारित किया जाता है। एक सदन द्वारा इस प्रकार पारित किये जाने पर विधेयक दूसरे सदन को भेजा जाता है। दूसरे सदन में उक्त प्रक्रिया पुनः दोहराई जाती है। दूसरा सदन यदि विधेयक को पारित कर देता है तो विधेयक

राष्ट्रपति की अनुमति के लिये भेज दिया जाता है। राष्ट्रपति की अनुमति मिल जाने पर विधेयक कानून का रूप ले लेता है। यदि दोनों सदनों में किसी विधेयक पर असहमति है तो विधेयक पारित नहीं समझा जावेगा। इस प्रकार किसी विधेयक पर दोनों सदनों में गतिरोध की स्थिति में संविधान दोनों सदनों की संयुक्त बैठक का उपबंध करता है। यदि दोनों सदनों की संयुक्त बैठक में विधेयक दोनों सदनों के उपस्थित मत देने वाले समस्त सदस्यों के बहुमत से पारित हो जाता है तो वह दोनों से पारित समझा जायगा। दोनों सदनों की संयुक्त बैठक में लोक सभा का अध्यक्ष अध्यक्षता करता है। संयुक्त बैठक का उपबन्ध धनविधेयक पर लागू नहीं होता है।

अनुच्छेद 111 के अनुसार जब कोई विधेयक सदनों द्वारा पारित होने के बाद राष्ट्रपति के समक्ष उसकी अनुमति के लिए प्रस्तुत किया जाता है तो राष्ट्रपति यह घोषित करेगा कि—

(i) वह विधेयक पर अपनी अनुमति देता है, या (ii) वह अनुमति रोक लेता है (withholds assent), या (iii) यदि वह धन विधेयक नहीं है तो अपने सुझाव के साथ या उसके बिना सदनों को उस पर पुनर्विचार करने के लिए लौटा सकता है। जब विधेयक इस प्रकार लौटा दिया जाता है तो सदन के लिए उस पर पुनर्विचार करना आवश्यक हो जाता है। किन्तु यदि विधेयक दोनों सदनों में संशोधन सहित या संशोधन रहित पुनः पारित कर दिया जाता है और राष्ट्रपति के समक्ष अनुमति के लिए रखा जाता है तो राष्ट्रपति उस पर अपनी अनुमति नहीं रोक सकता। इस प्रकार राष्ट्रपति अन्ततोगत्वा अपनी अनुमति देने के लिए बाध्य है।

धन विधेयक (Money Bills)—अनुच्छेद 110 (1) के अनुसार धन विधेयक एक ऐसा विधेयक है जो निम्नलिखित विषयों में सभी या किसी एक से सम्बद्ध रखता है—

(a) किसी कर का आरोपण (imposition), उत्सादन (abolition), परिहार (remission) बदलना (alteration) या विनियमन करना (regulation),

(b) भारत सरकार द्वारा धन उधार लेने का विनियमन करना या प्रत्याभूति करना (giving of any guarantee),

(c) भारत की संचित निधि अथवा आकस्मिकता निधि की अभिरक्षा (the custody of the Consolidated fund or the Contingency fund of India) और उसमें धन डालना या निकालना,

(d) भारत की संचित निधि में धन का विनियोग (appropriation) करना,

(e) किसी व्यय को भारत की संचित निधि पर भारित व्यय घोषित करना,

(f) भारत की संचित निधि में या भारत के लोक लेखे के मद्दे धन प्राप्त करना, ऐसे धन की अभिरक्षा या निकासी या संघ या राज्य के हिसाब का लेखा-परीक्षण करना,

(g) उपखण्ड (a) से (f) तक में उल्लिखित विषयों में से किसी का आनुषंगिक (incidental) कोई विषय का उपबन्ध करना।

किन्तु कोई विधेयक इस कारण धन विधेयक नहीं समझा जायेगा कि वह जुर्मानों या अन्य अर्थ दण्डों के आरोपण का अथवा लाइसेंसों के लिए शुल्कों का अथवा की गई सेवाओं के लिए शुल्कों का उपबन्ध करता है।[1] यदि ऐसा कोई प्रश्न उठता है कि कोई विधेयक धन विधेयक है या नहीं तो उस पर लोक सभा के अध्यक्ष का निर्णय अंतिम होगा।[2] अतएव जब कोई धन विधेयक राज्य सभा को भेजा जाता है या राष्ट्रपति के समक्ष उसकी अनुमति के लिए रखा जाता है तो उस पर लोक सभा के अध्यक्ष के हस्ताक्षर सहित यह प्रमाण पत्र लिखा रहेगा कि वह धन विधेयक है। धन विधेयक केवल लोक सभा में ही पेश किया जा सकता है।[3] वह राज्य सभा में पेश नहीं किया जा सकता है।[4] कोई धन विधेयक राष्ट्रपति की सिफारिश के बिना लोकसभा में प्रस्तावित नहीं किया जा सकता है वस्तुतः यह मन्त्रिमण्डल की ही सिफारिश होती है। किन्तु किसी कर के घटाने या समाप्त करने के लिए उपबन्ध करने वाले किसी संशोधन को प्रस्तावित करने के लिए इस खण्ड के अन्तर्गत राष्ट्रपति की सिफारिश की आवश्यकता नहीं होती है।[5]

लोक सभा द्वारा पारित होने के पश्चात धन विधेयक राज्य सभा में उसकी सिफारिश के लिए भेजा जाता है। राज्य सभा को अपनी सिफारिश के साथ धन-विधेयक को 14 दिन के भीतर लोक सभा को वापस कर देना चाहिए। लोक सभा राज्य सभा की सिफारिशों में से किसी को भी स्वीकार नहीं करती है तो धन विधेयक उसी रूप में दोनों सदनों द्वारा पारित समझा जायेगा जिसमें कि वह लोक सभा द्वारा पारित किया गया था। यदि राज्य सभा 14 दिन के भीतर धन विधेयक को वापस नहीं करती है तो उक्त अवधि की समाप्ति पर वह दोनों सदनों द्वारा उसी

---

1 Article 110(2)
2 Article 110(3)
3 Article 110(4)
4 Article 100(1)
5 Article 117(1)

रूप मे पारित समझा जायेगा जिसमे कि लोक सभा ने उसको पारित किया था। इस प्रकार राज्य सभा धन विधेयक को अधिक से अधिक 14 दिन तक रोक सकती है।[1]

धन विधेयकों के सम्बन्ध मे लोक सभा को अंतिम शक्ति प्राप्त है। राज्य सभा को किसी धन विधेयक को अस्वीकार करने या संशोधित करने का कोई अधिकार प्राप्त नही है। अमेरिका मे सीनेट को धन विधेयक में संशोधन करने का अधिकार प्राप्त है। इस प्रकार दोनो सदनो से पारित होने के पश्चात् धन विधेयक राष्ट्रपति के समक्ष उसकी अनुमति के लिए पेश किया जाता है। इस सम्बन्ध मे सिवाय एक बात के सभी बातें साधारण विधेयक की ही तरह हैं, अर्थात् राष्ट्रपति या तो अपनी अनुमति देता है या रोक लेता है। धन विधेयक को राष्ट्रपति सदनों को पुनर्विचार के लिए नही लौटा सकता है। इससे यह स्पष्ट है कि राष्ट्रपति धन विधेयक पर अपनी अनुमति देने के लिए बाध्य है।

धन विधेयक और वित्त विधेयक मे अन्तर—धन विधेयक (money bill) वह विधेयक है जो केवल अनु 110 (1) मे उल्लिखित विषयों मे किसी से अनन्य रूप से सबधित होता है। वित्त विधेयक (Financial bill) अनु 110 मे उल्लिखित किसी विषय के साथ साथ अन्य विषयो से भी सबधित रहता है। इस तरह वित्त विधेयक एक ऐसा धन विधेयक होता है जिसमे साधारण विधान के उपबन्ध भी जोड दिये जाते हैं। प्रत्येक धन विधेयक वित्त विधेयक होता है, किन्तु प्रत्येक वित्त विधेयक धन विधेयक नही होता है। धन विधेयक और वित्त विधेयक मे दो बातें समान हैं। पहला यह है कि वित्त विधेयक भी धन विधेयक की ही भांति केवल लोक सभा मे ही पेश किया जा सकता है और दूसरा यह कि वित्त विधेयक भी राष्ट्रपति की पूर्व अनुमति के बिना सदन मे पेश नही किया जा सकता है। अन्य सभी बातो मे वित्त विधेयक एक साधारण विधेयक के समान ही है। इसे दोनो सदनो से पारित होना चाहिए। राज्य सभा इसमे संशोधन कर सकती है, या इसे अस्वीकृत कर सकती है। यदि दोनो सदनो मे वित्त विधेयक के ऊपर कोई असहमति है तो उसे सदनो की सयुक्त बैठक बुला कर निपटाया जा सकता है। राष्ट्रपति वित्त विधेयक को पुनर्विचार के लिए सदनों को लौटा सकता है।

संसद का कार्य वित्तीय विषयों मे प्रक्रिया
(Procedure in Financial Matters)

वार्षिक वित्त विवरण (बजट) (Annual Financial Statement)—अनुच्छेद 112 के अनुसार, राष्ट्रपति प्रत्येक वित्तीय वर्ष के सम्बन्ध में संसद के दोनो

2 Article 109

सदनो के समक्ष एक वार्षिक वित्तीय विवरण रखवायेगा। बजट मे भारत सरकार की प्राप्तियो और व्ययो (receipts and expenditure) का विवरण होता है। बजट मे अनुमानित व्यय दो मद्दो मे दिखाया जाता है —(a) भारत की संचित निधि पर भारित व्यय (charged upon the Consolidated Fund of India), और (b) भारत की संचित निधि से किये जाने वाले अन्य व्यय की पूर्ति के लिए अपेक्षित राशियां (the sums required to meet other expenditure proposed to be made from the Consolidated Fund of India), राजस्व लेखे (revenue account) पर होने वाले व्यय और अन्य व्यय मे भी अंतर किया गया है। भारत की संचित निधि पर भारित व्यय निम्नलिखित हैं—

(a) राष्ट्रपति की उपलब्धियां (emoluments) और भत्ते,

(b) दोनो सदनो के पदाधिकारियो के वेतन और भत्ते,

(c) ऐसे ऋण भार जिनका दायित्व भारत सरकार पर है

(d) उच्चतम और उच्च न्यायालय के न्यायाधीशो,

(e) भारत के नियन्त्रक महालेखा परीक्षक या फेडरल न्यायालय के न्यायाधीशो के वेतन भत्ते और निवृत्ति वेतन (pension)

(f) किसी न्यायालय या मध्यस्थ न्यायाधिकरण के निर्णय, आज्ञप्ति (decree) या पचाट के भुगतान के लिए अपेक्षित कोई राशि (award),

(g) इस संविधान द्वारा या संसद द्वारा भारित घोषित किया गया कोई अन्य व्यय।

अनुच्छेद 113 के अनुसार भारत की संचित निधि पर भारित व्यय से सम्बंधित प्राक्कलन संसद मे मतदान के लिए पेश नही किए जायेंगे। किन्तु संसद के किसी भी सदन को खर्चे की प्रत्येक मद पर बहस का अधिकार होगा। अन्य व्यय से सम्बंधित खर्चे *लोकसभा के समक्ष अनुदान की माग के रूप मे (demands for* grants) पेश किये जाते है। लोकसभा किसी माग को स्वीकार कर सकती है, कम कर सकती है या उसे अस्वीकार कर सकती है। किसी भी अनुदान की माग राष्ट्रपति की सिफारिश के बिना नही की जा सकती है।

विनियोग विधेयक (Appropriation Bills)—जब तक विनियोग विधेयक पारित नहीं कर दिया जाता है भारत की संचित निधि से कोई भी धन राशि नही निकाली जा सकती है। अतएव लोकसभा द्वारा अनुदानो की माग पारित कर देने के बाद एक विनियोग विधेयक पेश किया जाता है जिसमे लोकसभा द्वारा अनुमोदित सभी अनुदानो तथा भारत की संचित निधि या भारित व्यय की पूर्ति के लिए

के विनियोग का उपबन्ध रहता है। विनियोग विधेयक में ऐसा कोई संशोधन प्रस्तावित नहीं किया जायेगा जो किसी अनुदान की राशि में फेर फार करने या उसके लक्ष्य को बदलने या भारत की संचित निधि पर भारित व्यय की राशि में फेर फार करने का प्रभाव रखने वाला हो। विनियोग विधेयक पारित होने के बाद ही कोई धनराशि भारत की संचित निधि से निकाली जा सकती है।

अनुपूरक अनुदान (Supplementary additional or excess grants)—यदि विनियोग विधेयक द्वारा किसी विशेष सेवा पर चालू वर्ष के लिए व्यय किये जाने के लिए प्राधिकृत कोई राशि अपर्याप्त पाई जाती है या वर्ष के बजट में उल्लिखित न की गयी किसी नयी सेवा पर खर्च की आवश्यकता उत्पन्न हो जाती है तो राष्ट्रपति एक अनुपूरक अनुदान संसद के समक्ष पेश करवायेगा। अनुपूरक अनुदान और विनियोग विधेयक दोनों के लिए एक ही प्रक्रिया विहित की गई है।

लेखानुदान, प्रत्ययानुदान और अपवादानुदान (Votes on account, votes on credit and exceptional grants)—जैसा कि विदित है, कि विनियोग विधेयक के पारित होने के बाद ही भारत की संचित निधि से कोई रकम निकाली जा सकती है। किन्तु सरकार को इस विधेयक के पारित होने के पहले ही रुपयों की आवश्यकता हो सकती है। अनुच्छेद 116 (a) के अन्तर्गत लोकसभा लेखा अनुदान (Vote on account) पारित कर सरकार के खर्चे के लिए एक अग्रिम राशि मन्जूर कर सकती है जब तक कि संसद विनियोग विधेयक पारित नहीं कर देती। अनुच्छेद 116 (b) के अन्तर्गत लोकसभा किसी अप्रत्याशित माग की पूर्ति के लिए एक प्रत्ययानुदान द्वारा खर्चे को मन्जूर कर सकती है, जिसके बारे में बजट में विवरण देना सरकार के लिए सम्भव नहीं है। अनुच्छेद 116 (3) के अन्तर्गत लोकसभा को किसी विशेष प्रयोजन के लिए अपवादानुदान मन्जूर करने की शक्ति प्राप्त है जो किसी वित्तीय वर्ष की चालू सेवा का कोई भाग नहीं होता है।

साधारण प्रक्रिया के नियम (Procedure Generally)—अनुच्छेद 118 यह उपबन्धित करता है कि संविधान के उपबन्धों के अधीन रहते हुए संसद का प्रत्येक सदन प्रक्रिया के (जिसके अन्तर्गत सदन के अधिवेशन के लिए गणपूर्ति भी है[1]) तथा अपने कार्य संचालन के विनियमन के लिए नियम बना सकता है। गणपूर्ति के लिए नियम बनाने की शक्ति संविधान के 42 वें संविधान संशोधन द्वारा सदनों को प्रदान कर दी गई। इसके पूर्व गणपूर्ति अनुच्छेद 100 के अधीन संविधान द्वारा निर्धारित की गई थी। अनुच्छेद 100 के अनुसार संसद के अधिनियमों के लिए

1 Inserted by the Constitution (42nd Amendment) Act, 1976

गणपूर्ति कुल सदस्यों की सख्या का 1/10 थी। इसम परिवतन केवल ससदीय विधि द्वारा ही किया जा सकता था। प्रस्तुत सशोधन द्वारा अनुच्छेद 100 के खण्ड (3) एव (4) को लुप्त कर दिया गया।

जनता सरकार ने प्रस्तावित 45 वें सविधान सशोधन विधेयक 1978, मे पुन 42वें सशोधन के पूव की स्थिति कायम करने की व्यवस्था की है। अनुच्छेद 119 के अनुसार वित्तीय कार्यों को समय के अन्दर समाप्त करने के लिए ससद विधि द्वारा प्रत्येक की सदन प्रक्रिया और सचालन का विनियमन कर सकती है। अनुच्छेद 120 के अनुसार ससद मे काय (Not withstanding anything in Part XVII, but subject to the provisions of article 348,) हिन्दी या अग्रेजी मे किया जायेगा, परन्तु राज्य सभा का सभापति या लोकसभा का अध्यक्ष किसी भी सदस्य को जो उक्त भाषाओं में अपनी पर्याप्त अभिव्यक्ति नही कर सकता है, अपनी मातृ भाषा म ससद को सम्बोधित करने की अनुज्ञा दे सकता है। अनुच्छेद 121 उच्चतम न्यायालय या उच्च न्यायालय के किसी न्यायाधीश के अपने कतव्य के पालन मे किये गये आचरण के विषय में ससद में बहस (discussion) के लिए प्रतिषेध करता है सिवाय उस दशा मे जबकि उपबन्धित रीति से हटाने का सकल्प न लाया गया हो। अनुच्छेद 122 यह उपबन्धित करता है कि प्रक्रिया मे किसी कथित अनियमितता के आधार पर ससद की कायवाही की मान्यता पर कोई आपत्ति नहीं की जा सकती है। ससद का कोई पदाधिकारी या सदस्य जिसमे सविधान के अधीन ससद की प्रक्रिया या काय सचालन का विनियमन करने की या व्यवस्था करने की शक्ति निहित है, उन शक्तियों के प्रयोग के विषय मे किसी न्यायालय के क्षेत्राधिकार के अधीन नहीं होगा।

राज्य सभा निर्णायक भूमिका की ओर ?

राज्य सभा विधान सभाओ की स्थिति का प्रतिबिम्ब ता होती है, लेकिन पूरी तरह ऐसा एक अतराल के बाद ही हो पाता है क्योंकि उसके एक तिहाई सदस्यो का चुनाव हर साल करने का विधान है। 1977 के लोकसभा चुनाव और नौ विधान सभाओ के चुनाव के बाद काग्रेस अनेक राज्यो मे पदच्युत हो गयी, लेकिन राज्य सभा मे उसका बचस्व बना रहा। यह स्थिति तभी बदली जब काग्रेस के दो टुकडे होन के बाद राज्यसभा के सदस्य भी दो खेमों मे बट गये। लेकिन इससे जनता पार्टी को कोई लाभ नही हुआ। राज्यसभा के ताजा चुनाव के बाद जनता पार्टी पहले नम्बर पर अलबत्ता पहुच गयी है, लेकिन बहुमत से कोसो दूर है। इसका एक कारण यह भी है कि अनेक राज्यो मे क्षेत्रीय दलो का प्रभुत्व है और काग्रेस (आई) दो राज्यों म पूण बहुमत मे है। राज्य विधान सभाओ की मौजूदा स्थिति के अनुसार दो वष बाद 1980 म भी राज्यसभा मे जनता पार्टी का बहुमत नहीं हो

पायेगा। सम्भवत 1982 मे बहुमत हो सके लेकिन तब तक अनेक राज्यो म आम चुनाव हो चुके होगे।

244 सदस्यो की राज्यसभा के लिए 74 स्थानो[1] के लिए मतदान हुआ। जनता पार्टी को आधे मे कुछ अधिक यानि 40 स्थान प्राप्त हुए और सदन म उसके सदस्यो की सख्या 67 हो गयी। अब इ दिरा काग्रेस के सदस्यो की सख्या 60 और काग्रेस की 52 53 है।

राज्यसभा मे निजी बहुमत या अन्य पार्टियो का यथेष्ट सहयोग सत्ताधारी दल को न मिले तो कदम कदम पर कठिनाइया आती रहती है। पिछले 12 महीनों मे जनता सरकार को कई बार मु ह की खानी पडी। बैंकिंग सेवा आयोग कानून को निरस्त करने का विधेयक रद्द हो गया। राज्यसभा ने वित्त विधेयक मे भी कई सशोधन कर दिये थे मगर क्योकि वित्त के मामलो मे लोकसभा को विशेष अधिकार होते हैं इसलिए पुनर्विचार के बाद लोकसभा ने राज्यसभा की सिफारिशें रद्द कर दी। ऐसी स्थिति मे ऐसे महत्वपूर्ण विधेयक या सविधान सशोधन के विधेयक, जिन्ह अन्य दलो का यथेष्ट समर्थन प्राप्त न हो पारित नही किये जा सकते। फिर भी अनेक मामलो मे जनता पार्टी को माकपा अकाली दल, पीजेंट ऐड वर्कर्स पार्टी तथा रिपब्लिकन पार्टी के कोई 15 सदस्यो का समर्थन मिल सकता है। विशिष्ट सर्वथा निर्दलीय मसलो पर उम्मीद की जा सकती है कि रेड्डी चव्हाण काग्रेस का समर्थन मिल सकेगा।

भू० पू० गृहमन्त्री श्री चरणसिंह एव प्रधानमन्त्री श्री मोरारजी देसाई के बीच आपस मे लगाये गये भ्रष्टाचार आरोपो एव तत्सम्बन्धी हुए पत्राचार के मामले म राज्य सभा द्वारा निभाई गई अहम् भूमिका एव 10 अगस्त 78 को इस सम्बन्ध म दो अलग अलग जाच आयोग बैठाने अथवा 15 सदस्यीय समिति नियुक्त करने का पारित प्रस्ताव एक नया सवैधानिक सकट उत्पन्न कर सकता है।

5

संघ न्यायपालिका उच्चतम न्यायालय

(The Union Judiciary Supreme Court)

संघ और राज्यों के बीच शक्तियों का विभाजन संघात्मक संविधान का मूल तत्व है। यह विभाजन प्रायः एक लिखित संविधान द्वारा किया जाता है जो देश की सर्वोच्च विधि होता है। चूँकि सरकारों की शक्तियों का विभाजन एक लिखित संविधान द्वारा होता है, अतएव यह भी सम्भव है कि वे संविधान के सबंधित उपबन्धों की व्याख्या अपने अपने पक्ष में करें। इस शक्ति विभाजन को बनाये रखने के लिए, जिससे कि विभिन्न सरकारें एक दूसरे के कार्यक्षेत्र में हस्तक्षेप न करें संविधान के उपबन्धों की सही व्याख्या आवश्यक है। इसके लिए एक ऐसी संस्था की आवश्यकता होती है जो स्वतन्त्र एवं निष्पक्ष हो, और केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों के बीच विवादों को निपटा सके। संघीय व्यवस्था में यह कार्य न्यायपालिका को सौंपा गया है। भारतीय संविधान के अन्तर्गत यह कार्य उच्चतम न्यायालय को सौंपा गया है। संविधान के उपबन्धों की व्याख्या के सम्बन्ध में अंतिम निर्णय देने का अधिकार उच्चतम न्यायालय को ही प्राप्त है। इसके द्वारा की गयी व्याख्या से सभी बद्ध होते हैं इसलिए उच्चतम न्यायालय को संविधान का संरक्षक कहा गया है। उच्चतम न्यायालय न केवल संविधान का, वरन् नागरिकों के मूल अधिकारों का भी संरक्षक है। ग्रेनविले ऑस्टिन के शब्दों में, उच्चतम न्यायालय को नागरिकों और अल्पसंख्यकों के अधिकारों के संरक्षक का कार्य सौंप कर वस्तुतः सामाजिक क्रांति के संरक्षक' (guardian of the social revolution) का भार सौंपा गया है। यह सामाजिक हित तथा व्यक्तिगत हित के बीच सामंजस्य स्थापित करने का कार्य करता है। यह देश का सर्वोच्च न्यायालय है जिसे देश की साधारण विधियों की व्याख्या के सम्बन्ध में अंतिम निर्णय देने का अधिकार प्राप्त है। यह दीवानी और फौजदारी के मामलों का सर्वोच्च अपीली न्यायालय है।

उच्चतम न्यायालय का गठन (Establishment and Constitution of Supreme Court) —उच्चतम न्यायालय मे एक मुख्य न्यायाधीश और अधिक से अधिक 7 (पहले यह संख्या 13 थी)[1] 1977 मे इसमे संशोधन करके यह संख्या 17 कर दी गई)। इस प्रकार उच्चतम न्यायालय मे मुख्य न्यायाधीश को मिलाकर कुल 18 न्यायाधीश हो सकते हैं। संविधान मे यह निश्चित नही किया गया है कि न्यायालय के न्यायाधीशो की न्यूनतम संख्या क्या होगी। किन्तु अनुच्छेद 14 के अनुसार किसी सांविधानिक विषय पर निर्णय देने के लिए कम से कम पाच न्यायाधीश होने चाहिए। इससे स्पष्ट है कि न्यायाधीशो की संख्या कम से कम 5 अवश्य होनी चाहिए। जब मुख्य न्यायाधीश का पद रिक्त हो या वह अनुपस्थिति के कारण अपने पद के कर्त्तव्यो का पालन करने मे असमर्थ हो तो न्यायालय के अन्य न्यायाधीशो म से कोई एक जिसे राष्ट्रपति नियुक्त करे, उसके कार्य को करेगा।[2] यदि किसी समय न्यायाल के किसी सत्र को चालू रखने के लिए स्थायी न्यायाधीशो का अभाव हो तो मुख्य न्यायाधीश राष्ट्रपति की पूर्व सम्मति से किसी उच्च न्यायालय के न्यायाधीश को तदर्थ न्यायाधीश के रूप मे नियुक्त कर सकता है। किसी व्यक्ति को तदर्थ न्यायाधीश पद पर नियुक्त होने के लिए उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश नियुक्त होने की अर्हता रखनी चाहिए। ऐसे न्यायाधीश को न्यायालय के न्यायाधीश के सभी सत्ताधिकार शक्तिया और विशेषाधिकार प्राप्त होग।[3]

न्यायाधीशो की नियुक्ति—उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशो को राष्ट्रपति नियुक्त करता है। मुख्य न्यायाधिपति राष्ट्रपति द्वारा, उच्चतम न्यायालय तथा उच्च न्यायालयो के ऐसे न्यायाधीशो के परामर्श के पश्चात् जिसे राष्ट्रपति आवश्यक समझे नियुक्त किया जायेगा। अन्य न्यायाधीशो की नियुक्ति राष्ट्रपति सवदा मुख्य न्यायाधीश के परामर्श से करेगा। वह उच्च न्यायालय के न्यायाधीशो से भी परामर्श कर सकता है। न्यायाधीशो की नियुक्ति करने की राष्ट्रपति की शक्ति एक औपचारिक शक्ति है क्योकि वह इस मामले मे मन्त्रिमण्डल की सलाह से कार्य करता है संविधान मे ऐसी कोई बाध्यता न होने के बावजूद भी प्रारम्भ से ही उच्च तम न्यायालय के वरिष्ठतम न्यायाधीश को ही मुख्य न्यायाधिपति के पद पर नियुक्त करने की एक परम्परा चली आ रही थी, किन्तु सन 1973 म इस प्रश्न पर एक महत्वपूर्ण सांविधानिक विवाद उठ खडा हुआ। 25 अप्रेल 1973 को, और वह भी केशवानन्द भारती के निर्णय के कुछ घण्टो के पश्चात् ही तत्कालीन इन्दिरा गाधी की सरकार ने अप्रत्याशित ढग से इस 22 वर्षों की परम्परा को तोड दिया और

1 Article 24 (1)
2 Article 126
3 Article 127

वरिष्ठता क्रम के तीन यायाधीशो की उपेक्षा करके न्यायाधीश श्री प्रजितनाथ राय को भारत का मुख्य न्यायाधीश नियुक्त किया। सरकार के इस रवैये की बडी आलोचना की गई।

न्यायधीशों की पदावधि तथा पदच्युति उचतम न्यायालय का न्यायाधीश 65 वष की प्रायु तक अपने पद पर बना रहता है। वह स्वय अपने पद से त्यागपत्र दे सकता है। उसे 'सिद्ध कदाचार' (misbehaviour) या 'असमथता' (incapacity) के आधार पर राष्ट्रपति के प्रादेश द्वारा अपने पद से हटाया जा सकता है। राष्ट्रपति इस प्रयोजन के लिए ससद मे प्रस्ताव रखता है। ऐसा प्रस्ताव प्रत्येक सदन की समस्त सदस्य सख्या के बहुमत द्वारा तथा उपस्थित और मतदान करने वाले सदस्यो के कम से कम दो तिहाई बहुमत द्वारा समर्थित होना चाहिए। ऐसा प्रस्ताव ससद के एक ही सत्र मे प्रस्तावित और स्वीकृत होना चाहिए।[1] ऐसे किसी प्रस्ताव के ससद् के समक्ष रखे जाने तथा न्यायाधीश के कदाचार या असमथता की जाच तथा उसे प्रमाणित करन की प्रक्रिया ससद् विधि द्वारा निर्धारित करेगी।[2] न्यायधीशो को हटाने की प्रक्रिया बडी दुरह है। कोई भी न्यायाधीश उस समय तक अपने पद स नही हटाया जा सकता है जब तक कि वह वास्तविक रूप से अयोग्य और दुराचारी न हो और ये आरोप उसके विरुद्ध सिद्ध नही कर दिए गये हो। सविधान इस उपबध द्वार न्यायाधीशो की पदावधि को सरक्षण प्रदान करता है।

न्यायाधीशो के वेतन तथा विशेषाधिकार (Salaries, etc of judges)— उचतम न्यायालय क यायाधीशो को ऐसे वेतन दिए जायेंगे, जो सविधान की द्वितीय अनुसूची मे उल्लिखित हैं। व ऐसे भत्तो और विशेष धिकारो के अधिकारी होगे जिन्हे ससद विधि द्वारा समय-समय पर निर्धारित करे। जब तक ऐसी कोई विधि पारित नही की जाती है उन्हे सविधान की द्वितीय अनुसूची मे उल्लिखित भत्तो और विशेपाधिकारो का अधिकार होगा।[3] न्यायाधीशो के विशेषाधिकारो और भत्तो म उनकी नियुक्ति के पश्चात् कोई ऐसा परिवतन नहीं किया जायेगा जो उनके लिए अलाभकर हो। उचतम न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश को 5000 रुपये प्रति माह और अन्य न्यायाधीशो को 4,000 रुपये प्रतिमाह वेतन मिलता है।

उच्चतम न्यायालय का क्षेत्राधिकार
(Jurisdiction of the Supreme Court)

उचतम न्यायालय दिल्ली मे स्थित है। किन्तु यह ऐसे अन्य स्थानो[4] पर भी

1 Article '124 (1) a' and (4)
2 Article 124 (5)
3 Article 125
4 Article 130

बैठ सकता है जिसे मुख्य न्यायाधीश राष्ट्रपति की पूर्वसम्मति से समय-समय पर नियत करे।

उच्चतम न्यायालय के क्षेत्राधिकार को हम निम्न शीर्षकों में विभाजित कर सकते हैं —

(a) अभिलेख न्यायालय (Court of Record)
(b) प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार (Original jurisdiction)
(c) अपीलीय क्षेत्राधिकार (Appellate jurisdiction)
(d) सलाहकारी क्षेत्राधिकार (Consultative Jurisdiction)

(a) अभिलेख न्यायालय—अनु० 129 उच्चतम न्यायालय को अभिलेख न्यायालय घोषित करता है और उसे ऐसे न्यायालय की सभी शक्तियां प्रदान करता है। ऐसे न्यायालय के निर्णय और कार्यवाहियां लिखित होती हैं और भविष्य में अधीनस्थ न्यायालयों के समक्ष पूर्वोदाहरण (precedent) के रूप में प्रस्तुत की जाती है। ऐसे न्यायालय को अपने अवमान के लिए दण्ड देने की भी शक्ति होती है। न्यायालय अवमान अधिनियम (Contempt of Courts Act) 1971 के पूर्व 'न्यायालय अवमान' की संविधान या किसी अन्य अधिनियम में कोई परिभाषा नहीं दी गई थी, किन्तु न्यायालयों ने स्वयं इस शब्दावली की परिभाषा की है। चूंकि इस शक्ति का न्यायालय दुरुपयोग कर सकता है अतः इस पदावली की एक निश्चित परिभाषा अपेक्षित थी। न्यायालय अवमान अधिनियम 1971 के अनुसार न्यायालय अवमान में दीवानी और फौजदारी दोनों प्रकार के अवमान आते हैं।

(b) प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार

(1) अनुच्छेद 131 —उच्चतम न्यायालय को निम्नलिखित पक्षकारों के बीच किसी विवाद में प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार प्राप्त है—(a) संघ तथा एक या एक से अधिक राज्य के बीच, (b) संघ और कोई राज्य एक ओर तथा एक या अधिक राज्य दूसरी ओर, (c) दो या दो से अधिक राज्यों के बीच। उपर्युक्त सभी प्रकार के विवाद प्रारम्भिक रूप से उच्चतम न्यायालय के सामने प्रस्तुत किये जायेंगे।

प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत उच्चतम न्यायालय सरकार के विरुद्ध नागरिकों द्वारा प्रस्तुत मुकदमे का स्वीकार नहीं कर सकता है। प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत उच्चतम न्यायालय उन्हीं विवादों को स्वीकार करेगा जिसमें कोई ऐसा तथ्य या विधि का प्रश्न अन्तर्ग्रस्त हो जिस पर किसी विधिक अधिकार का अस्तित्व निर्भर करता (disputes involves any question whether of law or fact, on which the existence or extent of a legal right depends)

हो । इसका अर्थ यह है कि न्यायालय को राजनैतिक प्रश्नो के मामलो म कोई अधिकार नही प्राप्त है ।

Subject to the Provis ons of this Constituti n' —उच्चतम न्यायालय के प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार से सविधान के अ य प्रावधानो के अपवाद स्वरूप बनाए जाने के कारण निम्नलिखित विवाद बाहर है—

(i) ऐसी सधि करार, प्रसविदा, वचन व ध, सनद या ऐसे दूसरे लिखत जो भारत सरकार और देशी राज्यो के बीच सविधान लागू होने के पूव की गई थी से उत्पन्न विवाद (अनु० 362) । सविधान के 26वें सशोधन अधिनियम द्वारा अनु 362 को निकाल दिया गया । उच्च तम न्यायालय द्वारा प्रीविपस के मामले म दिये गये निर्णय के परिणाम स्वरूप इस सशोधन को अधिनियमित किया गया था ।

(ii) अनु० 262 (read with s 11 of the Inter State Water Disputes Act, 1956) के अ तगत ससद विधि द्वारा किसी अन्तर्राज्यिक नदी या नदी को घाटी के, या उसके पानी के प्रयोग, वितरण या नियत्रण आदि से सबधित किसी विवाद को उच्चतम न्यायालय के क्षेत्राधिकार स बाहर कर सकती है ।

(iii) अनु० 280 के अ तगत वित्त आयोग को सौंपे गये विषय से सम्बधित विवाद ।

(iv) अनु० 290 के अ तगत सघ और राज्य के बीच कतिपय खर्चो के समायोजन स सबधित विवाद ।

(v) अनु० 143 (2) (read with the Proviso to Art. 131) के अ तगत उच्चतम न्यायालय [illegible] हेतु भेजा गया मामला (reference)

(ii) केन्द्रीय विधियो की विधि म [illegible] के बार म उच्चतम न्यायालय का अनन्य क्षेत्राधिकार अनु० 131 A—(Ex[illegible] J[illegible]ction of the Supreme Court in regard to questi[illegible] of L[illegible]s)—[illegible] सविधान सशोधन अधिनियम, 1976 [illegible] अनुच्छेद 32-[illegible] राज्य विधियो की विधि मान्यता का [illegible] कर दिया गया (43 वें सविधान [illegible] लिया गया) था, वहा तदनुसार [illegible] अवैधानिक करने का अधिकार [illegible] 42 वें [illegible] लिए एक नया अनु० 131 A [illegible] द्वारा [illegible] सम्बधित प्रश्नो क बार म [illegible]

था।[1] यह नया अनु० भी सविधान के 43 वें सशोधन अधिनियम, 1977 द्वारा निकाल दिया गया है। इस प्रकार पुन 42 वें सशोधन अधिनियम की पूर्व स्थिति ला दी गई है।

(iii) अनुच्छेद 139 A (Transfer of certain cases)—इसे 42 वे सविधान सशोधन द्वारा जोड़ा गया है। यह उच्चतम न्यायालय को उच्च न्यायालयों से महत्वपूर्ण मामलों को अपने पास वापस मगा लेने की शक्ति प्रदान करता है। इसका खण्ड (1) यह उपबन्धित करता है कि यदि भारत के महा न्यायवादी (Attorney General of India) के आवेदन पर उच्चतम न्यायालय को यह समाधान हो जाता है कि ऐसे मामले जिनमें समान या सारत समान विधि के प्रश्न अन्तर्ग्रस्त है, उसके और एक या अधिक उच्च न्यायालयों के समक्ष लबित (pending) है और ऐसे प्रश्न व्यापक महत्त्व के सारवान प्रश्न (Substantial questions of general importance) है तो उच्चतम न्यायालय उसे अपने पास मगा लेगा और स्वय निपटायेगा।[2] खण्ड (2) उच्चतम न्यायालय को यह शक्ति प्रदान करता है कि

---

1 'The objects and scope of Article 131 A, had been clearly explained in the Notes on Clauses of the 44th Constitution Amendment Bill, 1976, as follows

' Presently the constitutional validity of a Central law can be questioned either before Supreme Court or High Court, This scheme is being altered as it is felt that if a number of High Courts give differing judgments as regard the validity of a Central law the implementation of Central law will become difficult It is, therefore, proposed to invest the Supreme Court with exclusive jurisdiction as regards determination of the constitutional validity of central laws Where a case involves the constitutional validity of botha Central and a state law the Supreme Court alone will have the jurisdiction to determine the constitutional validity of such laws (See, further Arts 39 A 226 A, 228A, for consequential amendments)

2 Cl (1) of this Article, imports the principle underlying Art 228 (relating to transfer of cases from a subordinate court to the High Court) to the Supreme Court The object of this clause is to avoid difference of opinion on the same question

यदि वह न्याय करने के लिए आवश्यक समझता है तो किसी उच्च न्यायालय मे लंबित किसी वाद, अपील या अन्य कार्यवाही को किसी दूसरे उच्च न्यायालय को अन्तरित कर दे।[1] यह अनुच्छेद उच्च न्यायालयो की प्रतिष्ठा पर एक आघात पहुचाता है तथा यह अनु 131 A स अधिक विस्तृत है। अनु 131 A के अधीन केवल उन मामलो को उच्च न्यायालयो से मगाया जा सकता था जिनमे केन्द्रीय एव राज्य दोनो विधियो से सबधित प्रश्न अ तग्रस्त है जबकि अनु 139 A के अधीन उन सभी मामलो को उच्च न्यायालयो से मगाया जा सकता है, जिनमे 'व्यापक महत्व का प्रश्न अ तग्रस्त है।

(iv) नया अनुच्छेद 144 A जो 42 वें सविधान सशोधन अधिनियम द्वारा जोड़ा गया था का खण्ड (1) यह उपबधित करता था कि किसी भी केन्द्रीय विधि या राज्य विधि को उच्चतम न्यायालय तब तक असाविधानिक घोषित नही करेगा जब तक कि इस प्रयोजन के लिए बठने वाले न्यायाधीश अपने दो तिहाई बहुमत से उसे असाविधानिक अभिनिर्धारित न कर दें। ऐसे प्रयोजन के लिए बठने वाले न्यायापीठ मे न्यायधीशो की न्यूनतम सख्या सात होगी। इसके खण्ड (2) के अनुसार किसी विधि को 2/3 बहुमत से ही असाविधानिक घोषित किया जा सकता है।[2]

1 Cl (2) on the other hand, empowers the Supreme Court to transfer a case from one High Court to another, in cases not coming under Cl (1) Under the Criminal Procedure Code, 1973 such power is already conferred by s 406 as regards criminal cases, but the present clause is not fetted by any of the limitations in s 406 Besides, the present clause confers such power in civil cases as well —there being no such provision in the existing Civil Procedure Code

2 Art 144 A (inserted by the Constitution 42nd Amendment Act, 1976) is an addendum to Art 145 (3), which already provides for the Constitution of a Special Bench of the Supreme Court to decide constitutional cases The provision in Art 145 (3) [which has also been amended by the 42nd Amendment Act] is now to be read subject to Art 144 A The result of the two provisions is that the 'mini-

मार्च 1977 के ससदीय निर्वाचन के पश्चात् उच्चतम न्यायालय ने अपने एक विनिश्चय मे इस अनुच्छेद के शीघ्रातिशीघ्र सविधान से निकालने की सिफारिश की। तदनुसार 43 वें सविधान सशोधन अधिनियम, 1977 द्वारा इस नये अनुच्छेद 144A को सविधान से निकाल दिया गया है।

(v) मूल अधिकारो के सम्बन्ध मे प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार

अनु० 32 मूल अधिकारो के उल्लघन के विरुद्ध नागरिको को उपचार प्रदान करने के लिए उच्चतम न्यायालय को प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार प्रदान करता है। इसके अन्तगत प्रत्येक नागरिक को अपने मूल अधिकारो के प्रवत्तन (for enforcement of rights conferred by part III) के लिए उचित कार्यवाहियो द्वारा उच्चतम न्यायालय को प्रचलित करने का अधिकार प्रदान किया गया है। इस प्रयोजन के लिए उच्चतम न्यायालय को ऐसे निदेश, आदेश या लेख, जिनके अन्तगत बन्दी प्रत्यक्षीकरण, परमादेश, प्रतिषेध, अधिकार पृच्छा और उत्प्रेषण (habeas corpus, mandamus prohibition, quowarranto and certiorari) के प्रकार के लेख (writs) भी हैं, जो भी समुचित हो जारी करने की शक्ति प्राप्त है। इस अनुच्छेद के अन्तगत कोई भी व्यक्ति जिसके मूल अधिकार पर कोई आघात किया गया है, उपचार (remedy) के लिए सीधे उच्चतम न्यायालय मे जा सकता है। इसीलिए उच्चतम न्यायालय को *नागरिको के मूल अधिकारो का सरक्षक और गार टीकर्ता कहा गया है।*

(vi) नया अनुच्छेद 32 A—42 वें सशोधन अधिनियम, 1976 द्वारा जोड़ा गया यह अनु० राज्य विधियो की विधि मान्यता को उच्चतम न्यायालय के

---

mum' number of Judges to constitute a Bench to decide the following cases shall be as follows

(i) A reference under Art 143	5
(ii) Any c se involving interpretation of the Constitut on, other than ore in which the constitutionality of a law (Central or State law) has been challenged	5
(iii) Any case where the constitutionality of any law has been challenged	7

It is to be further noted that the joint oper tion of the two clauses of Art, 144 A would obviously reduce the number of cases where a law (i cluding subordinate legis lation) could be invalidated on a 'constitutional ground'

क्षेत्राधिकार से परे करता था। यह उपबन्धित करता था कि वह अनु० 32 के अधीन किसी भी कार्यवाही में किसी राज्य विधि की विधि मान्यता पर विचार नहीं करेगा, जब तक कि उसमें किसी केन्द्रीय विधि की विधि मान्यता प्रश्नगत न हो।[1] 43 वें संशोधन द्वारा इस अनु० को भी हटा दिया गया है।

(c) अपीलीय क्षेत्राधिकार (Appellate Jurisdiction)

उच्चतम न्यायालय देश का सर्वोच्च न्यायालय है। उसे समस्त राज्यों के उच्च न्यायालयों के निर्णय के विरुद्ध अपील सुनने का अधिकार प्राप्त है। उसके अपीलीय क्षेत्राधिकार चार शीर्षकों में विभाजित किए जा सकते हैं—

(i) सांविधानिक मामले (Constitutional disputes),
(ii) दीवानी मामले (Civil cases)
(iii) फौजदारी मामले (Criminal cases)
(iv) विशेष अनुमति से अपील (Appeal by special leave)

(i) सांविधानिक मामले अनुच्छेद 132

अनु० 132 (1) यह उपबन्धित करता है कि भारत के किसी उच्च न्यायालय के निर्णय (judgment), डिक्री (decree) या अन्तिम आदेश (final order) चाहे वे दीवानी (civil), फौजदारी (criminal) या अन्य कार्यवाहियों (other proceedings) में दिये गये हों की अपील उच्चतम न्यायालय में की जा सकती है, यदि उस राज्य का उच्च न्यायालय यह प्रमाणित कर दे कि उस मामले में संविधान से सबंधित कोई सारवान् विधि प्रश्न अन्तर्ग्रस्त है (if the High Court certifies that the case involves a substantial question of law as to the interpretation of this Constitution) खण्ड (2) के अनुसार यदि राज्य का उच्च न्यायालय ऐसा प्रमाण पत्र देना अस्वीकार कर देता है तो उच्चतम न्यायालय अपील करने की विशेष अनुमति (special leave) दे सकता है बशर्ते कि उसे यह समाधान हो जाये कि उस मामले में संविधान की व्याख्या से सम्बन्धित कोई विधि प्रश्न अन्तर्ग्रस्त है।

---

1 The Scope of Art 32 A is to be understood with reference to Arts 131 A and 226 A, which also have been inserted by the same Amendment Act It is to be noted that a proceeding under any provision other than Art 32 will not be controlled by Art 32 A, e g a suit under Art 131

मार्च 1977 के संसदीय निर्वाचन के पश्चात् उच्चतम न्यायालय ने अपने एक विनिश्चय में इस अनुच्छेद के शीघ्रातिशीघ्र संविधान से निकालने की सिफारिश की। तदनुसार 43 वें संविधान संशोधन अधिनियम, 1977 द्वारा इस नय अनुच्छेद 144A को संविधान से निकाल दिया गया है।

(v) मूल अधिकारों के सम्बन्ध में प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार

अनु० 32 मूल अधिकारों के उल्लंघन के विरुद्ध नागरिकों को उपचार प्रदान करने के लिए उच्चतम न्यायालय का प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार प्रदान करता है। इसके अन्तर्गत प्रत्येक नागरिक को अपने मूल अधिकारों के प्रवर्तन (for enforcement of rights conferred by part III) के लिए उचित कार्यवाहियों द्वारा उच्चतम न्यायालय को प्रचलित करने का अधिकार प्रदान किया गया है। इस प्रयोजन के लिए उच्चतम न्यायालय को ऐसे निदेश, आदेश या लेख, जिनके अन्तर्गत बंदी प्रत्यक्षीकरण, परमादेश, प्रतिषेध, अधिकार पृच्छा और उत्प्रेषण (habeas corpus, mandamus prohibition, quowarranto and certiorari) के प्रकार के लेख (writs) भी हैं, जो भी समुचित हो, जारी करने की शक्ति प्राप्त है। इस अनुच्छेद के अन्तर्गत कोई भी व्यक्ति जिसके मूल अधिकार पर कोई आघात किया गया है उपचार (remedy) के लिए सीधे उच्चतम न्यायालय में जा सकता है। इसीलिए उच्चतम न्यायालय को नागरिकों के मूल अधिकारों का संरक्षक और गारन्टीकर्त्ता कहा गया है।

(vi) नया अनुच्छेद 32 A—42 वें संशोधन अधिनियम, 1976 द्वारा जोड़ा गया यह अनु० राज्य विधियों की विधि मान्यता को उच्चतम न्यायालय के

---

mum' number of Judges to constitute a Bench to decide the following cases shall be as follows

(i) A reference under Art 143 5

(ii) Any case involving interpretation of the Constitution, other than one in which the constitutionality of a law (Central or State law) has been challenged 5

(iii) Any case where the constitutionality of any law has been challenged 7

It is to be further noted that the joint operation of the two clauses of Art, 144 A would obviously reduce the number of cases where a law (including subordinate legislation) could be invalidated on a 'constitutional ground

क्षेत्राधिकार से परे करता था। यह उपबन्धित करता था कि वह अनु० 32 के अधीन किसी भी कार्यवाही में किसी राज्य विधि की विधि मान्यता पर विचार नही करेगा, जब तक कि उसमे किसी केन्द्रीय विधि की विधि मान्यता प्रश्नगत न हो।[1] 43 वें सशोधन द्वारा इस अनु० को भी हटा दिया गया है।

(c) अपीलीय क्षेत्राधिकार (Appellate Jurisdict on)

उच्चतम न्यायालय देश का सर्वोच्च न्यायालय है। उसे समस्त राज्यो के उच्च न्यायालयों के निर्णय के विरुद्ध अपील सुनने का अधिकार प्राप्त है। उसके अपीलीय क्षेत्राधिकार चार शीर्षको मे विभाजित किए जा सकते हैं—

(i) सांविधानिक मामले (Constitutional disputes),
(ii) दीवानी मामले (Civil cases)
(iii) फौजदारी मामले (Criminal cases)
(iv) विशेष अनुमति से अपील (Appeal by special leave)

(i) सांविधानिक मामले अनुच्छेद 132

अनु० 132 (1) यह उपबन्धित करता है कि भारत के किसी उच्च न्यायालय के निर्णय (judgment), डिक्री (decree) या अन्तिम आदेश (final order), चाहे वे दीवानी (civil), फौजदारी (cr m nal) या अन्य कार्यवाहियो (other proceeding) मे दिये गये हो की अपील उच्चतम न्यायालय म की जा सकती है, यदि उस राज्य का उच्च न्यायालय यह प्रमाणित कर दे कि उस मामले मे सविधान से सबधित कोई सारवान् विधि प्रश्न अन्तर्ग्रस्त है (if the High Court certifies that the case involves a substantial question of law as to the interpretation of this Constitution) खण्ड (2) के अनुसार यदि राज्य का उच्च न्यायालय ऐसा प्रमाण पत्र देना अस्वीकार कर देता है तो उच्चतम न्यायालय अपील करने की विशेष अनुमति (special leave) दे सकता है बशर्ते कि उसे यह समाधान हो जाये कि उस मामले म सविधान की व्याख्या से सम्बन्धित कोई विधि प्रश्न अन्तर्ग्रस्त है।

---

1 The Scope of Art 32 A is to be understood with reference to Arts 131 A and 226 A, which also have been inserted by the same Amendment Act It is to be noted that a proceeding under any provision other than Art 32 will not be controlled by Art 32 A, e g a suit under Art 131

45वें (44वें) संविधान संशोधन विधेयक, 1978 ने इसी के बदले के लिए यह व्यवस्था प्रस्तावित की गई है कि उच्च न्यायालय का उच्चतम न्यायालय में अपील करने हेतु प्रमाण पत्र स्वीकार करने के प्रश्न पर अपने निर्णय डिक्री या अन्तिम आदेश सुनाने के समय ही विचार कर लेना चाहिए। ऐसा न होने पर स्वीकार के बारे दन पर अथवा न्यायालय स्वयं ही कर सकता है। इस प्रकार उच्चतम न्यायालय द्वारा विशेष अनुमति के मामलों (cases of special leave to appeal by the Supreme Court) पूर्णतः अनु० 136 के अन्तर्गत निपटान के लिए छोड़ दिये जायेंगे।

(ii) दीवानी मामलों में अपील अनुच्छेद 133—अनुच्छेद 133 यह उपबंधित करता है कि[1] दीवानी मामलों में उच्च न्यायालय के किसी निर्णय या अन्तिम आदेश के विरुद्ध उच्चतम न्यायालय में अपील तभी की जा सकेगी जब उच्चतम न्यायालय इस बात का प्रमाण पत्र दे दे कि—

(a) मामले में कोई सार्वजनिक महत्त्व का सारवान् विधि का प्रश्न (a substantial question of law of general importance) अन्तर्ग्रस्त है, और

(b) उच्च न्यायालय के मत में इस प्रश्न का उच्चतम न्यायालय द्वारा निपटाया जाना अभीष्ट है (that in the opinion of the High Court the said question needs to be decided by the Supreme Court) (ये उपबन्ध 30 वें संविधान संशोधन अधिनियम 1972 द्वारा जोड़े गये हैं।) इस संशोधन के पूर्व दीवानी मामलों में उच्चतम न्यायालय में अपील तभी की जा सकती थी जबकि वाद विषय की राशि का मूल्य बीस हजार रुपये से या उससे अधिक का हो। मालियत की उक्त शर्तों के पूरी होने पर अपील का प्रमाण पत्र अधिकार के रूप में प्राप्त किया जा सकता था। उक्त संशोधन ने मालियत की शर्त को समाप्त कर दिया है। अब उन दोनों शर्तें (न कि दोनों में से एक) पूरी होनी आवश्यक है। खण्ड [3] यह भी उपबंधित करता है कि दीवानी मामलों में किसी उच्च न्यायालय के एक न्यायाधीश के निर्णय, डिक्री या आदेश की अपील उच्चतम न्यायालय में नहीं

---

1. While Art. 132 is confined to constitutional questions only, but comprises appeals from civil, criminal and other cases, Art 133 is confined to civil appeals only, on questions 'other than the interpretation of the Constitution [subject to Cl (2)]

होगी । किन्तु ससद ऐसे मामलो मे भी विधि द्वारा अपील का उपबध कर सकती है ।[1]

(iii) फौजदारी मुकदमो मे अपील अनुच्छेद 134 के अनुसार किसी उच्च न्यायालय की किसी दाण्डिक कार्यवाही मे दिए गए निर्णय अतिम आदेश या दडादेश के विरुद्ध उच्चतम न्यायालय म अपील दो प्रकार से हो सकती है—

(i) उच्च न्यायालय के प्रमाण पत्र के बिना, और

(ii) उच्च न्यायालय के प्रमाण-पत्र से ।

उच्च न्यायालय के प्रमाण पत्र के बिना—निम्नलिखित मामला मे उच्च न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध उच्चतम न्यायालय मे अपील होगी यदि—

(a) उच्च न्यायालय ने अपील मे अधीनस्थ न्यायालय द्वारा किसी अभियुक्त की विमुक्ति (acquittal of an accused) के आदेश को उलट दिया है तथा उसको मृत्यु दड (sentence to death) दिया है ।

(b) उच्च न्यायालय ने अपील अधीनस्थ न्यायालय से किसी मामले को परीक्षण के हेतु अपने पास मगा लिया है और अभियुक्त को स्वय मृत्यु-दण्ड दिया है ।

उच्च न्यायालय के प्रमाण पत्र से—इस अनुच्छेद के खण्ड (c) के अनुसार यदि उच्च न्यायालय यह प्रमाणित करता है कि मामला उच्चतम न्यायालय मे अपील

---

1 This Article lays down that apart from appeal by special leave under Art 136 and appeal on constitutional ground under Art 132 appeal shall lie to the Supreme Court from a civil proceeding before any High Court in the territory of India, only on the following conditions

(a) The subject of appeal is a 'judgment, decree or final order'

(b) The High Court grants a certificate for such appeal

(i) After 27 2 73 there is 'no case' where the certificate may be obtained as of right

(ii) In all cases, irrespective of value, the certificate is at the discretion of the High Court that the case is a fit one for decision of the Supreme Court on appeal, provided, of course, the case involves a 'substantial question of law,

के लायक है तो उसमें अपील की जायगी। फौजदारी मामलों में अपील का प्रमाण पत्र देने का अधिकार उच्च न्यायालय का एक विवेकाधिकार है।[1] किन्तु उच्च न्यायालय अपने विवेकाधिकार का मनमाना प्रयोग नहीं कर सकता है। इसका प्रयोग सुनिश्चित एवं मान्य सिद्धान्तों के आधार पर, न्यायिक ढंग से करना चाहिए। यह ध्यान देने योग्य बात है कि अनु० 134 के अन्तर्गत उच्चतम न्यायालय फौजदारी मामलों में एक साधारण न्यायालय की भांति नहीं है। इसका प्रयोग वह केवल असाधारण परिस्थितियों में ही करता है।

(iv) विशेष अनुमति से अपील अनु० 136–उच्चतम न्यायालय अनु 136 के अन्तर्गत अपने स्वविवेक (discretion) से भारत के किसी न्यायालय या न्यायाधिकरण द्वारा किसी वाद या विषय में दिये हुए किसी निर्णय, डिक्री, निर्धारण (determination), दण्डादेश (sentence) या आदेश के विरुद्ध अपील के लिए विशेष अनुमति दे सकता है इसका केवल एक ही अपवाद है, वह यह कि (खण्ड 2 के अन्तर्गत) इसे सशस्त्र बलों (Armed Forces) से सम्बद्ध किसी विधि के अधीन गठित किसी न्यायालय के निर्णय आदि से अपील की विशेष अनुमति देने का अधिकार न होगा, अर्थात् सैनिक न्यायालयों से उच्चतम न्यायालय में अपील करने की अनुमति नहीं दी जा सकती है।

यह अनुच्छेद उच्चतम न्यायालय को बड़ी विस्तृत शक्ति प्रदान करता है। इसके अंतर्गत प्रदान की गई शक्तियां उन विशिष्ट या अवशिष्ट (special or residuary) शक्तियों की प्रकृति की है जो साधारण कानून (अनु० 132 से 134 के अन्तर्गत साधारण अपीलीय अधिकार से सम्बन्धित) के बाहर प्रयुक्त करने लायक हैं। अनु० 136 के अधीन उच्चतम न्यायालय उन परिसीमाओं से नहीं बंधा है जो अनु० 132 से लेकर 134 तक के अनुच्छेदों में उल्लिखित हैं। उक्त अनुच्छेदों के अन्तर्गत उच्च न्यायालय के केवल अंतिम आदेशों के विरुद्ध ही उच्चतम न्यायालय में अपील की जा सकती है, जबकि अनु० 136 के अन्तर्गत 'आदेश (order) शब्द के पहले 'अंतिम (Final) विशेषण न जोड़कर यह स्पष्ट कर दिया गया है कि उच्चतम न्यायालय मुकदमों के बीच में दिये गए किसी अस्थायी आदेश (Interlocutory order) के विरुद्ध भी अपील करने की विशेष अनुमति प्रदान कर सकता है—इसके

1 Besides the cases dealt with in sub-Cl (a) and (b) of Cl (1) of Art 134, appeal does not lie as of right against any order of conviction made by the Hight Court In other cases, appeal will lie only if a certificate is granted under sub—Cl (c)

अतिरिक्त उक्त अनुच्छेदो के अन्तर्गत उच्चतम न्यायालय मे अपील केवल उच्च न्याया लयो के अंतिम आदेश के विरुद्ध की जा सकती है, जबकि अनु० 136 के अन्तर्गत उच्चतम न्यायालय किसी भी न्यायालय' (any court) के निर्णय या आदेश के विरुद्ध अपील करने की विशेष अनुमति प्रदान कर सकता है, इसके लिए यह भी आवश्यक नही कि अधीनस्थ न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध उच्च न्यायालय मे अपील की गई हो। साथ ही अनु० 136 के अन्तर्गत उच्चतम न्यायालय की अपील सुनने की शक्ति केवल न्यायालयो तक ही सीमित नही है, वह 'न्यायाधिकरण' [tribunals] से भी अपील सुन सकता है।

यह अनुच्छेद किसी व्यक्ति के पक्ष मे अपील करने का कोई अधिकार सृजित नही करता है अपितु न्यायालय को स्वविवेक शक्ति प्रदान करता हैं, जिससे वह विशेष परिस्थितियो मे साक्ष्य की जाच कर सके और यह देख सके कि मामले मे घोर अन्याय तो नही हो रहा है। इस शक्ति का प्रयोग बहुत कम करना चाहिए।

(d) सलाहकारी क्षेत्राधिकार

अनु० 143 (1) यह उपबंधित करता है कि जब राष्ट्रपति को यह प्रतीत हो कि (a) विधि या तथ्य का कोई प्रश्न (a question of law or fact) उत्पन्न हुआ है या उसके उत्पन्न होने की सम्भावना है, [b] जो इस प्रकार का और ऐसे सार्वजनिक महत्व का (of such a nature and of such public importance) का है कि उस पर उच्चतम न्यायालय की सलाह लेना इष्टकर (expedient) है, तो वह उस प्रश्न को उसके विचारार्थ (consideration) भेज सकता है। न्यायालय ऐसी सुन वाई के पश्चात् जैसाकि वह उचित समझे, राष्ट्रपति को उस पर अपनी सलाह भेज सकता है (may report) खण्ड [2] के अधीन यदि राष्ट्रपति किसी ऐसे मामले को उच्चतम न्यायालय की राय के लिए सौंपता है तो अनुच्छेद 131 के परन्तुक (proviso) मे वर्णित है तो न्यायालय उस पर राय देने के लिए बाध्य होगा। अनुच्छेद 143 [1] मे प्रयुक्त 'may' शब्दावली यह दर्शाती है कि उच्चतम न्यायालय राय देने के लिए बाध्य नही है।

अनुच्छेद 143 के अन्तगत उच्चतम न्यायालय द्वारा दी गई राय, यद्यपि आदर के योग्य हैं परन्तु वह न्यायालयो के ऊपर बाध्यकारी नही है। यह अनु 141 मे प्रयुक्त विधि (law) शब्द के अर्थान्तगत नही आती है, अतएव न्यायालय इसे मानने के लिए बाध्य नही है किन्तु व्यवहारत इसका प्रभाव बाध्यकारी ही है।[1]

---

1 The advisory opinion given under the present Article is not a judgment and does not accordingly, furnish a good root of title such as might spring from a judgment of the Sup reme Court There being no part es before the Supreme Court in a Reference proceeding, the opinion rendered by the Court in such proceeding is not binding on any party

राष्ट्रपति श्री नीलम संजीवा रेड्डी ने 1 अगस्त 1978 को अनुच्छेद 143 (1) के अन्तर्गत उच्चतम न्यायालय से आपातकाल की ज्यादतियों के लिए विशेष अदालत स्थापित करने की संवैधानिकता के प्रश्न पर राय चाही है।[1]

उच्चतम न्यायालय के निर्णयों की बन्धनकारी शक्ति
(Binding Force of Supreme Court Decisions)

अनु० 141 यह कहता है कि उच्चतम न्यायालय द्वारा घोषित विधि भारत राज्य क्षेत्र के भीतर सब न्यायालयों पर बन्धनकारी होगी। (The law declared by the Supreme Court shall be binding on all Courts within the territory of India) प्रश्न यह है कि क्या उच्चतम न्यायालय भी अपने निर्णयों से बाध्य है? अनु० 141 मे 'प्रयुक्त 'सब न्यायालय' (all courts) पदावली से यह स्पष्ट हो जाता है कि इसमें उच्चतम न्यायालय सम्मिलित नहीं है। दूसरे शब्दों में, उच्चतम न्यायालय अपने निर्णयों से बाध्य नहीं है और उचित मामला में वह अपने पूर्व निर्णयों को बदल सकता है। उदाहरणार्थ 'गोलकनाथ बनाम पंजाब राज्य' के वाद मे उच्चतम न्यायालय ने अपने दो महत्वपूर्ण पूर्ववर्ती निर्णयों—'शङ्करी प्रसाद' और 'सज्जन सिंह' को उलट दिया। किन्तु 'गोलकनाथ' के निर्णय को उच्चतम न्यायालय ने 'केशवानन्द भारती बनाम केरल राज्य' के मामले में दिये गये निर्णय को उलट दिया।

उच्चतम न्यायालय की पुनर्विलोकन (review) की शक्ति—अनुच्छेद 137 उच्चतम न्यायालय को अपने निर्णयों के पुनर्विलोकन की शक्ति प्रदान करता है। किन्तु उसका यह अधिकार संसद द्वारा निर्मित किसी विधि के अधीन होगा, या इस शक्ति का प्रयोग अनु 145 के अधीन न्यायालय द्वारा बनाए गए नियमों के अनुसार दीवानी प्रक्रिया संहिता के आदेश 47, नियम (1) में उल्लिखित आधारों पर किया

1 The Supreme Court has been asked specifically to pronounce on the validity of a Bill (The Special Courts Bill, 1978) of which a draft has been sent to it The Bill seeks to expedite the trial of Mrs Indira Gandhi and others who had held "high public or political offence and have been found by inquiry commissions to have prima facie committed certain offences during the emergency This is the seventh time that such a reference has been made by the President since the adoption of the Constitution But it is the first time that the Supreme Court's opinion is b ing sought in regard to th Crim ral Procedur Code

जायेगा। ये आधार निम्नलिखित हैं (i) साक्ष्य के नए और महत्वपूर्ण मामलों का प्रकटीकरण, (ii) निर्णय में प्रकट रूप से दृश्यमान भूल या त्रुटि, और (iii) कोई दूसरा पर्याप्त कारण।

उच्चतम न्यायालय अनुपूरक शक्तियां—(Ancillary powers of the Supreme Court)— अनु० 140 संसद् को विधि द्वारा उच्चतम न्यायालय को ऐसी अनुपूरक शक्तियां (supplementary powers) प्रदान करता है जो न्यायालय को संविधान द्वारा प्रदत्त क्षेत्राधिकार के अधिक कार्यसाधक रूप से प्रयोग (enabling the court more effectively to exercise the jurisdiction) करने योग्य बनाने के लिए आवश्यक या वांछनीय (necessary or desirable) हो। किन्तु ऐसी अनुपूरक शक्तियां संविधान के उपबन्धों में से किसी से असंगत नहीं होनी चाहिए।[1]

---

1 मूल अधिकारों, नीति निदेशक तत्वों, संसदीय सर्वोच्चता, संविधान के मूल ढांचे की अपरिवर्तनीयता तथा न्यायिक पुनरावलोकन की शक्ति आदि के संबंध में उठे विभिन्न विवादों, सर्वोच्च न्यायालय के निर्णयों एवं तदुपरांत किए गए संवैधानिक संशोधनों की विस्तृत जानकारी के लिए पीछे अध्याय 2 'संसद, संविधान और सर्वोच्च न्यायालय' देखें।

4

6

राज्य-कार्यपालिका : राज्यपाल एव मुख्यमत्री

(A) राज्यपाल का पद (The office of Governor)

राज्यपाल का पद भारत के सविधान मे विशेषकर 1967 के बाद बहुत विवादास्पद रहा है। 1967 से पूव यह धारणा बनती जा रही था कि राज्यपाल का पद व्यथ का पद है और विशेपकर स्वय राज्यपालो ने अपने लेखो म यह स्पष्ट किया था कि या तो उनके पद को और उपयोगी बनाना चाहिए या उसे समाप्त कर देना चाहिए। महाराष्ट्र का भूतपूव राज्यपाल श्रीमती विजय लक्ष्मी पडित न 'टाइम्स ऑफ इडिया' मे राज्यपाल पद पर दो लेख लिखे थे, जिसम उन्होंने राज्यपाल की दयनीय स्थिति को चित्रित किया था। उनका कहना था कि एक दलीय प्रभुत्व व्यवस्था के कारण मुख्य म त्री एव प्रधान मन्त्री मे प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित हो गये थे। यद्यपि राज्यपाल भी भूतपूव काग्रेसी हाते थे, किन्तु न तो मुख्य मन्त्री ही चाहते थे कि राज्यपाल को उनके एव केन्द्र के बीच माध्यम बनाया जाव और न केन्द्र ही चाहता था और बहुधा राज्यपाल को यह सूचना भी नही हो पाती थी कि क्या निणय हुए हैं तथा राजनीतिक गतिविधियो की क्या दशा है। एक अन्य राज्यपाल श्री प्रकाश की भी यही धारणा थी।

इस प्रकार से मोटे रूप से एक दलीय प्रभुत्व व्यवस्था मे लग रहा था कि मानो राज्यपाल का पद शोभा का पद है ऐसा पद जिस पर रिटायड राजनीतिनो को नियुक्त कर दिया जाता है या तो इसलिए कि वे काफी वृद्ध हो गये हैं, या चुनाव मे हार गये हैं अथवा केन्द्रीय नेताओ के कृपापात्र नही रहे है। अत इस काल म इस पद का राजनीतिक महत्व नही उभर पाया था और इसी कारण यह

भी स्वाभाविक था कि यह भी निर्धारित नही हो पाया कि वह क्या कर सकता है व क्या नही। अर्थात् उसकी भूमिका परिमापित नही हो पाई।[1]

1967 के पश्चात् जब केन्द्र मे काग्रेस तथा 8 राज्यो मे गैर काग्रेसी मिली जुली सरकारें स्थापित हुई तो इस पद का राजनैतिक महत्व उभरा और न केवल वह सक्रिय व उपयोगी दिखाई देने लगा बल्कि वह विवाद का विषय बन गया तथा उस पर यह आरोप लगाया जाने लगा कि वह केन्द्र या काग्रेसी एजेन्ट होने के नाते राज्य मे हस्तक्षेप का यन्त्र है और इसी सन्दर्भ मे यह भी प्रश्न उपस्थित हुआ कि यह निश्चित हो जाना चाहिए कि वह क्या कर सकता है और क्या नही। इस प्रकार भूमिका के पृथकीकरण की समस्या (the problem of role differentiation) उत्पन्न हुई। इस समस्या के सबध मे विवाद और भी इसलिए बढ गया कि न केवल उसकी भूमिका ही स्पष्ट हो पाई थी अपितु उसके सम्बन्ध मे परम्पराए भी नही उभरी थी और कानून मे तो उसके पद को सर्वेसर्वा छोडा गया था, इसी कारण यह भी सम्भावना थी कि वह अपनी शक्तियो की व्याख्या केन्द्र के पक्ष मे कर सकता है व अपनी शक्ति बढाने के लिये कर सकता है। इसीलिए 1967 के बाद से जो राज्यपाल के पद के सबध मे विवाद बना हुआ है, वह यह है कि राज्यपाल के अधिकारो को परिमापित किया जाये क्योकि परिभाषा से सीमा निर्धारित होती है।

( ) प्रथम विवादपूर्ण प्रश्न है—राज्यपाल को राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त किया जाये या नही ? दूसरे शब्दो मे उसकी नियुक्ति का प्रश्न सबसे विवादपूर्ण बना क्योकि आलोचको के अनुसार नियुक्ति यह निर्धारित करती है कि वह पक्षपात से काय करेगा या पक्षपात रहित होकर काय करेगा। सविधान सभा मे भी इस पर काफी विवाद था और यह विवाद पुन 1967 के पश्चात् जीवित हो उठा।

(1) आलोचको ने कहा कि चूकि इसकी नियुक्ति राष्ट्रपति करता है अत वह केन्द्र के प्रभाव मे रहता है, केन्द्र के हाथो हस्तक्षेप का यन्त्र बन जाता है और व्यवहार मे केन्द्रीय मन्त्रीमण्डल व प्रधान मन्त्री द्वारा उसकी नियुक्ति होती है तथा राष्ट्रपति केवल उसका अनुमोदन करता है और इसलिए व्यवहार मे प्रधान मन्त्री एव केन्द्रीय मन्त्रीमण्डल राज्यपाल का दुरुपयोग कर सकते है तथा इसके द्वारा गैर काग्रेसी सरकारो वाले राज्यो मे हस्तक्षेप कर सकते है। वहा यह ऐसी परिस्थितिया उत्पन्न करने मे सहायक हो सकता है जिसमे गैर काग्रेसी सरकारें गिर जाये और या तो काग्रेसी सरकारें बन सके या पुन चुनाव की स्थिति बन सके अथवा

1 इकबाल नारायण आफिस आफ गवर्नर द प्राब्लम ऑफ रोल आइडेन्टिटी फिलेशिया Spring 1969 Journal of African and Asian Studies

राष्ट्रपति शासन की स्थिति बन सके। यह धारणा और भी इसलिये पुष्टि हुई कि भिन्न भिन्न राज्यपालों ने 1967 के बाद भिन्न भिन्न राज्यों में अपने कार्यों के लिए भिन्न मापदण्ड अपनाये और बहुधा अंतिम निर्णय विधान सभा पर न छोड़ कर स्वयं अपने विवेक के आधार पर लिया। विशेषकर प० बंगाल के राज्यपाल श्री धरमवीर एवं राजस्थान के राज्यपाल श्रीसम्पूर्णानन्द की इस सम्बन्ध में अधिक आलोचना हुई।

(b) इस सन्दर्भ में यह भी कहा गया कि राज्यपाल क्योंकि बहुधा कांग्रेस पार्टी के सदस्य रह चुके होते हैं और उनका पद पर बना रहना केन्द्रीय मन्त्रीमण्डल की सद्इच्छा पर निर्भर रहता है। इसलिये उनके द्वारा पक्षपात की सम्भावना बढ़ जाती है।

(c) इसी सदर्भ में यह बात भी उठाई गई कि उनकी नियुक्ति राज्य के मन्त्रीमण्डल की इच्छानुसार होनी चाहिए। यह परम्परा है कि राज्य सरकारों की सलाह ले ली जाती है परन्तु राज्यपालों की नियुक्ति पूर्णत राज्य सरकारों की स्वीकृति पर निर्भर नहीं है। अत मांग हुई कि यह स्वीकृति अनिवार्य बना दी जानी चाहिए। केन्द्र ने इसे स्वीकार नहीं किया और जब बिहार में श्रीकानूनगो के राज्यपाल की नियुक्ति का वहां की सरकार ने विरोध किया तब भी केन्द्र द्वारा उस नियुक्ति का बदला नहीं गया।

इस विषय में कई सुझाव दिये गये —

प्रथम—राज्यपाल का किसी दल से संबंध नहीं होना चाहिये।

द्वितीय—राज्यपाल का चुनाव होना चाहिए।

तृतीय—संसद के दोनों सदनों द्वारा उसकी नियुक्ति को स्वीकृत होना चाहिए।

चतुर्थ—इस पद को समाप्त कर देना चाहिए।

परन्तु अभी तक इनमें से किसी भी सुझाव को माननीय समझा नहीं गया है और अधिकांश राजनीति शास्त्रियों की यह मान्यता है कि बदले हुए सन्दर्भ में धीरे धीरे राज्यपाल की नियुक्तियां अधिक तटस्थता से अधिक संतुलित ढंग और राज्यों की इच्छा को काफी सम्मान देकर होने लगेगी और जैसे-जैसे राज्यपाल अपनी भूमिका अदा करने में संयम की भूमिका अदा करेगा, उसकी नियुक्ति से सम्बन्धित विवाद समाप्त हो जायेगा।

(2) दूसरा विवाद जो राज्यपाल के पद से बहुत गहरे रूप से जुड़ा हुआ है—वह है उसके पद का दुहरा स्वरूप (Dual Role)। वह एक ओर तो राज्कीय स्तर पर संसदीय सरकार की व्यवस्था में संवैधानिक अध्यक्ष के रूप में है और संसदीय परम्परा के अनुसार उससे यह आशा की जाती है कि वह नाममात्र के शासक के रूप में कार्य करेगा और इंग्लैण्ड के सम्राट की भांति वह सूचना पाने, परामर्श देने, व चेतावनी देने के अधिकारों तक संतुष्ट रहेगा।

दूसरी ओर वह केन्द्र का यन्त्र भी (Agent of the Centre) है और इस सन्दर्भ में उसे जो सबसे महत्वपूर्ण अधिकार है वह यह है कि वह राष्ट्रपति को यह रिपोर्ट दे कि वहां ऐसी स्थिति है या नहीं कि शासन संविधान के अनुसार चलाया जा सके। दूसरे शब्दों में उसकी रिपोर्ट पर ही यह निश्चय होता है कि राज्य में संवैधानिक संकट की स्थिति है और इसलिए राष्ट्रपति (केन्द्रीय सरकार) राज्यों मे संकटकालीन स्थिति की घोषणा करके राष्ट्रपति शासन की स्थापना करे।

इस दुहरी स्थिति के कारण बहुत से विवादपूर्ण प्रश्न उठे जिनका कोई संतोषजनक उत्तर अभी तक नहीं मिल पाया है। राज्यपालों की एक समिति इन प्रश्नों का उत्तर देने के लिए बनाई गई थी परन्तु उन्होंने मोटे रूप से जो सिफारिशें की थी उनसे उनके विवेक की शक्तियों को बल मिलता है, लोकतान्त्रिक परम्पराओं को नहीं। तामिलनाडु की राजमन्नार समिति ने अपनी रिपोर्ट में जो सुझाव दिए है, उनसे यह पद लगभग निर्जीव सा हो जाता है। इसलिए जबकि राज्यपालों की समिति की सिफारिशें राज्यों को मान्य नहीं थी, तो राजमन्नार समिति की रिपोर्ट केन्द्र के गले नहीं उतरी। इस प्रकार से इस दुहरी स्थिति के सन्दर्भ मे जो विवाद उत्पन्न हुये थे, वे अब भी बने हुए हैं। इस दुहरे स्वरूप से उत्पन्न विवाद निम्नांकित हैं—

(a) उल्लंघन का संकट (Crisis of overlapping)—कहने का तात्पर्य यह है कि यह राज्यपाल के पद से सम्बंधित जो दुहरे उत्तरदायित्व है वे आसानी से एक दूसरे से अलग अलग नहीं किए जा सकते। ऐसा लगता है कि वे एक दूसरे का उल्लंघन करते है और इसी कारण राज्यपालों द्वारा उस शक्ति के दुरुपयोग की संभावना बनती है। यदि वह केवल संवैधानिक अध्यक्ष होता या केवल केन्द्र का यन्त्र होता तो स्थिति स्पष्ट होती और उल्लंघन का संकट उत्पन्न नहीं होता। इसलिए यह कहा जाता है कि इन दोनों उत्तरदायित्वों के दायरा को रेखाबद्ध किया जाना चाहिए। कुछ लोगों का यह कहना है कि जब राज्यपाल की स्थिति संवैधानिक अध्यक्ष के रूप में समाप्त हो जाती है तो केन्द्र के यन्त्र के रूप मे उसकी स्थिति प्रारम्भ होती है परन्तु इस प्रस्ताव के आलोचकगण यह कहते है कि इस प्रकार का पृथक्करण सरल एवं व्यावहारिक नहीं है क्योंकि संवैधानिक अध्यक्ष के होते हुये ही उसे साथ ही साथ यह देखना होता है कि कहीं राज्य में संवैधानिक संकट तो उत्पन्न नहीं हो रहा है और उसके आधार पर वही उसे राष्ट्रपति से संवैधानिक संकट के बारे में नहीं लिखना है और इसलिये यह व्यावहारिक नहीं है कि हर परिस्थिति में जब संवैधानिक अध्यक्ष की स्थिति समाप्त होती है तो, केन्द्र के यन्त्र के रूप में उसकी स्थिति उभरती है।

(b) इसी सदर्भ मे यह भी विवादपूर्ण बात है कि सकटकालीन परिस्थिति किस आधार पर घोषित की जावे। सविधान निर्माताओ की यह मान्यता थी कि बहुधा जब किसी दल को निश्चित बहुमत नहीं मिलेगा तथा मिली-जुली सरकार बनाने के प्रयास भी असफल हो जायेंगे, उसी समय सवैधानिक सकट की स्थिति हो सकेगी। अथवा उस समय जबकि राज्य केन्द्र की उन विषयो के सम्बन्ध मे आज्ञा मानने से इन्कार कर दे जो कि सविधान के अन्तर्गत है।

परन्तु व्यवहार मे यह देखा गया कि राज्यो मे सकट कालीन परिस्थिति की घोषणा इन प्रावधानो तक सीमित नहीं रही। कभी इस आधार पर कि कितने दल बदल हो रहे हैं, कि जनतन्त्र का मखौल हो रहा है आदि आधारो पर भी सकट कालीन परिस्थिति की घोषणा कर राष्ट्रपति शासन लागू किया गया, उदाहरणार्थ हरयाणा। इसी प्रकार जब जन आन्दोलन यह सिद्ध करता है कि मन्त्रीमण्डल ने जनता का विश्वास खो दिया है यद्यपि विधान मण्डल मे मन्त्रीमण्डल का बहुमत प्राप्त था, जैसे केरल मे हुआ। यही नही कभी कभी इस आधार पर भी राष्ट्रपति शासन कायम किया गया कि राज्य मे इतनी अधिक राजनीतिक अस्थिरता है कि इससे विकास की प्रक्रिया मे बाधा पहुँच रही है अत ऐसी स्थिति मे सकट कालीन परिस्थिति की घोषणा आवश्यक है।

इस प्रकार यहा सकटकालीन स्थिति की घोषणा के लिए जो मापदण्ड अपनाये गए, वे सवैधानिक प्रावधानो से कही अधिक आगे बढे हुए थे और इसमे ऐसा लगता था कि राज्यपाल अपनी शक्तियो की सीमाओ का उल्लघन कर रहा है और क्योंकि भिन्न भिन्न स्थानो पर भिन्न भिन्न मापदण्ड अपनाए जा रहे है, इसलिए भी इस धारणा को बल मिला कि राज्यपाल केन्द्र के पक्ष मे दलीय स्वार्थ की सिद्धि के लिए अपने सकटकालीन अधिकार का प्रयोग कर रहा है और इससे न केवल उसकी सवैधानिक अध्यक्ष की स्थिति खडित होती है बल्कि साथ ही राज्य की स्वतन्त्रता मे भी हस्तक्षेप होता है। इसलिए यह धारणा बनी कि राज्यपाल के कार्य सबधी सीमाए निश्चित होनी चाहिए, विशेषकर उन उत्तरदायित्वो एव भूमिकाओ के सम्बन्ध मे जो कि वह केन्द्र के यन्त्र के रूप मे करता है। कुछ ने यह भी कहा कि उसका यह पक्ष समाप्त ही कर दिया जाना चाहिए तभी वह सवैधानिक अध्यक्ष बना रह सकता है। अभी तक भी यह विवाद सुलझा नही है। यह प्रश्न इसलिए उठा कि बहुधा राज्यो मे किसी दल को बहुमत प्राप्त नही था। कांग्रेस अकेले सबसे बडे दल के रूप मे उभरती थी यद्यपि उसे अनेक राज्यो मे बहुमत प्राप्त नही होता था तथा अन्य दल सामूहिक (सविद) मोर्चा बनाने की स्थिति म होते थे। इस स्थिति म राज्यपाल चाहे तो कांग्रेस के नेता को या मिले जुले समूहो के नेता को मत्रिमण्डल बनाने के लिए आमन्त्रित कर। आलोचना यह की जाती है कि बहुधा ऐसा कांग्रेस के पक्ष म

होता था। विशेषतौर से राजस्थान के राज्यपाल डा सम्पूर्णानन्द के लिए ऐसा कहा गया। ससदीय प्रणाली की यह परम्परा है कि पहले अकेले सबसे बड़े बहुमत वाले दल को निमन्त्रण मिलना चाहिए तथा फिर मिले जुले मोर्चे को किन्तु राज्यपाल डा सम्पूर्णानन्द के लिए यह कहा गया कि उनके द्वारा दी गई परम्परा की दुहाई तो केवल मात्र आवरण था, जबकि वास्तविकता दल विशेष के प्रति उनका पक्षपात था।

(c) यदि मन्त्रीमण्डल की स्थिति अल्पसख्यक हो जाती है और मन्त्रीमण्डल तुरन्त विधान मण्डल की बैठक परीक्षण के लिए नही बुलाना चाहता तो क्या राज्यपाल उसे ऐसा करने के लिए बाध्य कर सकता है। प बगाल मे यह प्रश्न उठा। मुख्यमन्त्री ने यह कहा कि विधान सभा की बैठक 6 माह के बीच बुलाना अनिवार्य है और वह इस प्रावधान के अन्तगत कभी भी बैठक बुला लेंगे, वे तुरन्त बैठक बुलाने के पक्ष म नही थे और इस आधार पर उनके मन्त्रिमण्डल को हटा दिया गया तथा परिस्थितिया ऐसी बनी कि सकट कालीन परिस्थिति की घोषणा की जाकर राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया गया।

यहा यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि क्या राज्यपाल मुख्यमन्त्री को तुरन्त विधान सभा की बैठक बुलाने के लिए बाध्य कर सकता है, यह सिद्ध करने के लिए कि उसका बहुमत है या नही रहा।

(d) इसी प्रकार एक अन्य प्रश्न कि क्या राज्यपाल उस समय भी सकट कालीन परिस्थिति की घोषणा कर सकता है, जब मन्त्रिमण्डल का बहुमत बना हुआ हो, यद्यपि उसके लिए भले ही मुख्यमन्त्री अपने मन्त्रिमण्डल का आकार बढा रहा हो, या इतन दल बदल हो रहे हो कि बहुमत होते हुए भी वह केवल राजनतिक अस्तित्व म लगा हुआ हो विकास पर ध्यान नही दिया जा रहा हो आदि।

(e) एक महत्वपूर्ण प्रश्न और उपस्थित हुआ कि क्या एक मिली जुली सरकार के मुख्यमन्त्री की वही स्थिति होनी चाहिए जो एक दलीय सरकार के मुख्यमन्त्री की होती है अर्थात् क्या मिली जुली सरकार का मुख्यमन्त्री, यदि विधान सभा म उसकी हार हो जाती है तो क्या वह राज्यपाल से विधानसभा भग करा कर पुन चुनाव की माग कर सकता है या नही। उत्तर प्रदेश म राज्यपाल रेड्डी ने यह कहा था कि मिली जुली सरकार के मुख्यमन्त्री की स्थिति भिन्न होती है, एक दलीय बहुमत वाले दल के मुख्यमन्त्री से। इसी आधार पर उन्होने चौधरी चरणसिह की इस माग को नही माना कि विधान सभा भग कर दी जाए।

अर्थात् हारा हुआ मुख्यमन्त्री क्या विधान सभा भग नही करा सकता है? ससदीय परम्परा के अनुसार स्थिति यह है कि मुख्यमन्त्री चाहे हारा हुआ हो या नही उसे एक बार एसा अवसर मिलना चाहिए कि अगर वह यह समझता है कि राज्य की जनता का उसे बहुमत प्राप्त है, चाहे विधान सभा मे उसकी स्थिति अल्प

का था। इस समस्या ने इतना गम्भीर रूप ले लिया कि एक समय तो यह प्रतीत हुआ कि स्वय राजनैतिक व्यवस्था के प्रति ही विश्वास का सकट उत्पन्न हो गया है। इस सबध मे सवधानिक विरोधाभास यही है[1] कि यद्यपि राज्यपाल के पद क लिए भूमिका विशिष्टीकरण जितना ही कठिन काय है, उसके प्रति प्रयास करना उतना ही आवश्यक व महत्वपूण। 1971-72 के लोकसभा एव विधानसभा चुनावो के उपरान्त इस भूमिका विशिष्टीकरण का प्रयास अधूरा ही रह गया तथा पुन एसा प्रतीत हुआ कि यह पद विस्मृति के झकोरे मे गिर गया है। किन्तु माच 1977 के आम चुनावो मे केन्द्र मे जनता पार्टी की सरकार बनने तथा जून 1977 व फर 1978 मे अनेक राज्यो मे विभिन्न दलो की सरकार बनने के पश्चात् राज्यपाल का पद विवादग्रस्त एव महत्वपूण बन सकेगा जिसकी भूमिका विशिष्टीकरण के बारे म समाधान आवश्यक होगा। दिस 1978 मे कर्नाटक मे दवराज अस मन्त्रिमण्डल को केन्द्रीय जनता सरकार द्वारा बर्खास्त करने के निणय की आलोचना हुई।[2] पाडीचेरी मे एस, रामास्वामा मत्रीमण्डल के प्रति विधान सभा के बहुमत का विश्वास है या नही, इस प्रश्न पर केन्द्रीय मण्डल का यह निणय प्रशसनीय है कि इस बात का निणय विधान सभा मे ही होना चाहिए। किन्तु बाद म विधान सभा की बठक बुलाये जाने की तिथि एव उप राज्यपाल बी टी कुलकर्णी द्वारा स्वय ही विधानसभा की बैठक बुलाने हेतु सम्मन जारी करने के आदेश की वैधता को मुख्यमन्त्री ने मद्रास उच्च न्यायालय मे चुनौती दी, यद्यपि उन्होने बाद मे विधान सभा म अपना बहुमत सिद्ध कर दिया।[3]

(B) मुख्यमन्त्री का पद—एक दलीय प्रभुत्व की स्थिति वश (1947 67) व 1971 72 के लोकसभा व विधान सभा चुनावो से पुनर्स्थापित दलीय प्रभुत्व तथा आगे चलकर श्रीमती गांधी एव केन्द्र की बढती हुई शक्तियो[4] और 1975 म लागू की गई आपातकाल की घोषणा, एव प्रधानमन्त्री के बीस सूत्री कायक्रम एव 42 वें सशोधन विधेयक द्वारा उत्पन्न स्थिति के कारण, मुख्यमन्त्री का पद एक पृथक सवधानिक अस्तित्व के रूप मे नही उभरा। 1967-71 की अल्पावधि म साझा सरकार

1 विशेषकर राजस्थान मध्य प्रदेश, हरयाणा, प बगाल के राज्यपालो की कायवाही आलोचना का विषय बनी। देखिए इक्बाल नारायण पूर्वोक्त।

2 देखिए, पीछे अध्याय 1 "राजनीतिक व्यवस्था का स्वरूप सधीय राज-व्यवस्था"

3 See edit A Reprieve', Times of India Sept 27,1979

4 श्री सुखाडिया का राजस्थान के, श्री ब्रह्मानन्द रेड्डी का आध्रसे श्री कमला पति त्रिपाठी का उत्तर प्रदेश से, श्री वी पी नायक का महाराष्ट्र से मुख्य मन्त्री पद से त्याग पत्र एव बादकों मे विभिन्न राज्यो म केन्द्र द्वारा घोषित

की राजनीति के दौरान तथा बीच बीच मे प्रधानमन्त्री की स्थिति कमजोर व असहाय होने की दशा म अवश्य ही मुख्य म त्री की स्थिति व शक्तियो स सम्बधित कुछ महत्वपूर्ण प्रश्न उठाये गए। इस सबध मे उत्तर प्रदेश के भू० पू० राज्यपाल डा बी गोपाल रेड्डी ने राष्ट्रपति के नाम एक पत्र लिखा, जो इस तक को आधार देता है कि एक साझा सरकार के मुख्यमन्त्री को पद व स्थिति की दृष्टि से एक बहुमत प्राप्त दल के मुख्यमन्त्री के समकक्ष नही रखा जा सकता। यद्यपि व्यवहार मे इन दोनो मुख्यमन्त्रियो मे महत्वपूर्ण अन्तर है फिर भी राज्यपाल के मत से सहमति कठिन प्रतीत होती है और इस असहमति का आधार ससदीय सरकार से सबधित सिद्धात है। सैद्धान्तिक अतकसगति के बावजूद यदि डा० रेड्डी के तक को स्वीकार कर लिया जाय तो इससे मुख्यमन्त्री की स्थिति और अधिक कमजोर हो जायेगी और उसका उसके मन्त्रिमण्डल पर नियन्त्रण दुबल हो जायेगा जो कि अपनी साझा प्रकृति के कारण वैसे ही अधिक सुदृढ नही है। माच 1977 के आम चुनावो मे काग्रेस की हार हो जाने केन्द्र मे जनता पार्टी की सरकार बनने एव जून 1977 मे प, बगाल तामिलनाडु एव पजाब मे प्रादेशिक दलो की सरकारें बनने तथा फरवरी 1978 म दक्षिण राज्यो मे काग्रस (आई) की सरकारें बनने के पश्चात् मुख्यमन्त्री का पद एक स्वतन्त्र अस्तित्व एव नवीन भूमिका मे निखर रहा है।

मुख्यमन्त्रियो के उदाहरण से यह स्पष्ट हो जाता है।

द्वितीय खण्ड

भारतीय-राजनीति

7

कांग्रेस प्रभुत्व व्यवस्था (1947–67)

आजादी के पश्चात् भारत म आधुनिकीकरण, लोकतन्त्रीकरण, स्थायित्व व राष्ट्रीय एकीकरण आदि राजनीतिक विकास के प्रमुख स्तम्भ बहुत हद तक कांग्रेस दल की प्रारम्भिक सामर्थ्य के कारण ही सम्भव हो सके है। 1947 से 1964 तक नेहरू के हाथो मे देश के ऊपर कांग्रेस का इस प्रकार का एक छत्र शासन रहा कि राजनीतिक शास्त्रियो ने भारतीय राजनीतिक व्यवस्था को 'एक दलीय प्रभुत्व व्यवस्था' तथा कांग्रेस-व्यवस्था[1] के नाम से सम्बोधित करना प्रारम्भ कर दिया। कांग्रेस का यह प्रभुत्व एक ऐसी ऐतिहासिक प्रक्रिया थी जिसमे यह अवश्यम्भावी भी था। इस आधिपत्य का स्पष्ट कारण था कि कांग्रेस केवल एक दल नही था, अपितु एक आन्दोलन था, जिसके माध्यम से भारत ने स्वतन्त्रता हासिल की। वास्तव मे यह राष्ट्रीय सग्राम प्रेरित 'राजनैतिक दल' (national movement turned political party) कहा जा सकता है।

A भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस प्रारम्भिक सगठनात्मक रूप

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना 27 दिसम्बर 1885 मे बम्बई मे हुई थी। यह भारत की सबसे पुरानी राजनीतिक सस्था है। एक प्रकार से कांग्रेस दल

---

1 ' The Congress 'System' in India" By Rajani Kothari, Asian Survey Vol VI No 12, (1964), pp 1161–1173

2 "One obvious reason for the dominant position of the Congress was not just a party but a movement that led India to independence , L P Singh 'Political Development or Political Decay in India', Vol YLIV No 1 Spring 1971

यहा के अन्य सभी राजनीतिक दलो का आदि-वंश स्थल है। 1934 मे पटना मे समाजवादी कांग्रेस दल की स्थापना इनमे प्रमुख है। इस नवीन गुट का प्रथम कार्यक्रम गाधी जी द्वारा प्रतिपादित स्वतन्त्रता की लडाई के तरीके की आलोचना करना था। वस्तुत इसने समाजवादी विचारो का प्रोपेगेण्डा किया। नेहरू यद्यपि कांग्रेस समाजवादी दल के सदस्य नही थे, तथापि वह रिपब्लिकन तथा समाजवादी मित्र के रूप मे मान लिए गए। इस प्रकार जयप्रकाश नारायण, अच्युत पटवधन, आचार्य नरेन्द्रदेव तथा सुभाष बोस भी नेतृत्व समूह मे ले लिए गये।[1] कुछ अपवादों को छोडकर, स्वतन्त्रता सग्राम के अन्त के पश्चात् कांग्रेसी समाजवादी तथा अन्य राजनीतिक गुटो ने अपने को कांग्रेस के बाहर सगठित कर लिया।

हमारे विश्लेषण के लिए यह जानना दिलचस्प होगा कि कांग्रेस आजादी के बाद अपनी भूमिका मे किस प्रकार सफल रही है ? व्यापक आन्दोलन पर आधारित राजनीतिक सग्राम की राजनैतिक दल मे परिणति एक दिलचस्प बात है। यह दृष्टव्य है कि इसकी एतिहासिक विशेषताएँ पूर्णत समाप्त नही की जा सकी वे कुछ अशो मे आजादी के पश्चात् भी विकास के पथ पर रही, यद्यपि सदव ही दल को एकत्व रूप प्रदान करने या लाभ पहुचाने के लिए नही। लेकिन यह श्रेय कांग्रेस को ही प्राप्त हुआ कि गाधीजी के नेतृत्व मे यह 'प्रमुखो के दल' ('पार्टी आफ नोटेबुल्स) से एक 'जन आन्दोलन' ('मास मूवमेन्ट') म विकसित हुई तथा ग्रामस्तर तक पहुचने म कामयाब रही। कांग्रेस का यह तमाम चरित्र (एग्रीगेट करेक्टर) इसकी ताकत के लिये एक स्रोत था।

(1) सगठन (Organisation)—

स्वतन्त्रता सग्राम के दौरान गाधीजी ने अपनी शक्ति अधिकतर कांग्रेस की एकता को बनाये रखने में व्यय की। तो भी उनकी आकाक्षा थी कि आजादी के पश्चात सगठन को लोकसेवक सघ के रूप मे कायरत रहना चाहिए, कांग्रेस को विघटित कर दिया जाना चाहिए तथा ससदीय क्षेत्र नवीन एव स्पष्ट रूप से राजनीतिक उन्मुख सगठनो के लिए छोड दिया जाना चाहिए।[2] दूसरे शब्दो म गाधीजी की यह आकाक्षा थी कि कांग्रेस राजनीति म भाग न लें। उनका यह प्रयत्न असफल रहा क्योकि यह कल्पना करना कठिन था कि कांग्रेस के नेतागण काफी लम्बे सघ

1 See—Di tman Rothermund Die politiesche Willensbildung in Indian, 1900–1960, Wiesbaden 1965, p 172

2 See—M V Raman Rao 'Development of Congress Constitution', Congress Constitution p 70 FF

के संघर्ष के पश्चात् जो सत्ता प्राप्त कर सके, उसे त्याग देते।[1] फलस्वरूप गाधीजी की यह राजनैतिक आकांक्षा कल्पना मात्र रह गई। किन्तु यह भारतीय लोकतन्त्र के स्थायित्व के लिए महत्वपूर्ण था कि काग्रेस ने अपने विस्तृत सुसगठित ढाचे के साथ देश की नवीन राजनीतिक व्यवस्था मे प्रवेश किया।

आजादी दिलाने के पश्चात् काग्रेस ने बार बार अपनी दलीय विधियो मे परिवर्तन किया है ताकि नवीन उद्देश्यो व लक्ष्यो के साथ अपने को रखा जा सके।[2] 1947 मे देशी राज्यो का एकीकरण तथा 1956, 1960 एव 1966 मे राज्यो के भाषायी पुनगठन ने इसकी क्षेत्रीय इकाईयो के पुनगठन को अवश्यम्भावी बनाया। तो भी दल का 1920 मे स्थापित सघीय ढाचा सुरक्षित रखा गया। 1949 म सबसे छोटी सगठनात्मक इकाई तथा-कथित काग्रेस पचायत थी। किन्तु एक गाव, सगठनात्मक इकाई के रूप मे इतना छोटा था कि एक प्रभावशाली दलीय स्तर को रखना कठिन था। अपने काग्रेस अध्यक्ष के पद के दौरान (1955-58) यू० एन० ढेबर ने सगठन का पुनर्निर्माण करने पर ध्यान केन्द्रित किया एव मण्डल योजना प्रारम्भ की गई।[3] मण्डल व्यवस्था काग्रेस के एक जन सगठन के रूप म भूमिका को पूरा नही कर सकी। तथाकथित कामराज योजना के सन्दर्भ मे इस व्यवस्था को समाप्त करने का निश्चय किया गया। तहसील स्तर पर गठित एक ब्लाक कमेटी विधान सभाई निर्वाचन क्षेत्र को पूरा करती है तथा इसम दो हजार के लगभग जनसख्या के लिए एक सदस्य के हिसाब से सदस्यता होती है।[4] पहले तो सगठनात्मक उप ढाचा पूर्णत प्रशासकीय स्तर के समकक्ष रखा गया था तथा यह निर्वाचन क्षेत्र

---

1 See —Heinreich Bechtoldt 'Indian Order China die Alternative in Asian', Stuttgart, 1961 p 52 and Pyarelal 'Mahatma Gandhi—The Last Phase Vol II Ahmedabad, 1958 pp 675-76

2 See Marcus F Franda 'Organizational Development of India's Congress Party', Pacific Affairs, Vancouver Fall 1962 pp 238-260

3 See U N Dhebar 'Mandal Congress' Organisation and Function' A I C C Economic Review, 1st August, 1950

4 See Constitution of the Indian National Congress as in force from July 11, 1969, Article XIII

से कोई मतलब नही रखता था। (किन्तु 1967 के चुनावो के पश्चात् यह महसूस किया गया कि हाल ही के अनुभवो के प्रकाश मे सगठन को पुनर्व्यवस्थित करना आवश्यक है। जुलाई 1969 के काग्रेस के बगलौर अधिवेशन म ब्लाक काग्रस कमेटी के स्थान पर निर्वाचन क्षेत्रीय काग्रेस कमेटी को रखा जाना तय हुआ, ताकि इसका विधान सभाई निर्वाचन क्षेत्र से तालमेल बिठाया जा सके तथा सगठन व ससदीय पक्षो के बीच समन्वय स्थापित किया जा सके।

काग्रेस सगठन का ढाचा अन्य दलो की तुलना म अधिक परिष्कृत रहा है। कुल 20 प्रदेश कमेटिया कायरत रही है। जैसे—आन्ध्र आसाम, बिहार, देहली, गुजरात, हरियाणा, हिमाचल प्रदेश, जम्मू एव कश्मीर केरल, मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र, बम्बई, मैसूर, पजाब, राजस्थान, तामिलनाडु (मद्रास), त्रिपुरा, उत्कल (उडीसा), उत्तर प्रदेश एव प बगाल। इनके अतिरिक्त 6 अन्य समितिया केन्द्र शासित प्रदेशों के लिए हैं जो हैं—चण्डीगढ, गोवा, मनीपुर, नेफा पाण्डीचेरी, एव नागलण्ड। यह शाश्वत ढाचा इस बात की व्याख्या करता है कि किस, प्रकार एक प्रान्त की असफलता देश के अन्य भागो की सफलता से पूरी की जा सकती है तथा दल प्रान्ता मे अपने अस्तित्व की गारण्टी रखता है।

काय समिति (वर्किंग कमेटी) दल की कार्य पालिका का सर्वोच्च अग है। इसके अतिरिक्त काग्रेस आला-कमान का भी यदा-कदा वरान किया जाता है। यह एक अनोपचारिक सामूहिक सत्ता का परिचायक है जो पूरणत काय समिति के समान नही हैं।[3] काय समिति म काग्रेस अध्यक्ष सहित 20 सदस्य होते हैं जिनम 10 अखिल भारतीय काग्रेस कमेटी द्वारा चुने जाते हैं और शेष दलीय अध्यक्ष द्वारा मनोनीत किए जाते हैं। स्वातन्त्र्योत्तर काल मे काय समिति निरणय निर्माण का केन्द्र बन गई है यद्यपि जैसा कि कोचेनेक ने कहा है कि इसके कार्यो मे गत दो दशको म काफी परिवतन हुआ है। यह दल का 'नर्व-सेन्टर' तथा प्रमुख नीति निर्माता है। यह केन्द्र राज्यो मे समन्वय स्थापित करने मे तथा राज्यो व केन्द्र के बीच झगडो क

1 Op cit Article II See also Constitution of the Punjab Pradesh Congress Committee 1965 Article 11 and see also Myron Weiner, Party Building In A New Nation The Indian National Congress , Chicago 1967 p 41 & the case stud es incorporated in his book

2 See Congress Bulletin, June–July 1967 p 137

3 See Kulsum Hyder Alikhan 'Politics of Congress High Command', Mainstream, New Delhi, 27 April, 1968, P 25 ff

समाधान मे अत्यधिक सलग्न रहने लगी है। काय समिति अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के प्रति उत्तरदायी है जोकि नियमानुसार, एव आवश्यकतानुसार समय समय पर मिलती है। अखिल भारतीय काग्रेस कमेटी दल के लिए दिशा निर्देश देने की शक्ति रखती है। यद्यपि केन्द्रीय कायपालिका बहुत शक्ति रखती है तथापि राज्य के नेता प्रभाव को काम मे लाना जानते हैं। राज्य इकाईयो को होयबर रुडोल्फ ने कांग्रेस का "एक्शन आर्म" के नाम से सम्बोधित किया है।[1] वे केन्द्रीय चुनाव समिति के सामान्य निर्देशों को दृष्टिगत रखते हुए भी विधान सभाई एव ससदीय उम्मीदवारो के नामो की सिफारिश करने का सबसे महत्वपूर्ण राजनीतिक अधिकार रखते है।[2] तो भी, गुट हित प्रादेशिक काग्रेस समितियो को सामान्य रूप से स्वीकृत उम्मीदवारो का मनोनयन नही करने देते है। ऐसी स्थिति म केन्द्रीय चुनाव समिति हस्तक्षेप करती है, ताकि दल को सतह पर आने वाले तनावों से बचाया जा सके।[3] तो भी अधिकतर यही होता है कि केन्द्रीय चुनाव समिति उम्मीदवार के नामकरण निश्चित करने मे निष्पक्ष नही रहती है तथा उम्मीदवार की इसके (केन्द्रीय चुनाव समिति के) किसी एक सदस्य के प्रति वफादारी अधिक महत्वपूर्ण होती है। चूकि मध्यावधि चुनाव देश मे काफी मात्रा मे होने लगे है। अत केन्द्रीय चुनाव समिति एक प्रकार की स्थायी संस्था बन गई है।[4] राज्यो म उम्मीदवारो को चयन प्रक्रिया म इसके प्रभाव की सम्भावनाए काफी ज्यादा रहती है, यही कारण है कि इसकी सदस्यता के चुनावो मे काफी गरमा गरमी व दिलचस्पी रहती है।[5]

इसी प्रकार से संसदीय बोड (पार्लियामेंट्री बोड) दल का सर्वोच्च व महत्वपूर्ण अग है। इस बाड में सात सदस्य तथा काग्रेस अध्यक्ष होता है। इसके क्षेत्राधिकार मे विभिन्न प्रदेशो में काग्रेस सगठन व विधायको के काय को नियमित व समन्वय स्थापित करना आता है। वरिष्ठ केबीनेट मन्त्रियो एव सगठन पक्ष के नेताओं का सदैव यह प्रयास होता है कि इसमे अपने व्यक्तियों को पहुचाया जावे,

1 Working Paper; Massachusetts Institute of Te hnology, 21 May, 1955

2 See Narinder S Kapoor On Selection of Cong ess Candidates', Pol Science Review Jaipur, 1967-68 Ele t ion special, Part I, pp 75-84

3 For examples of intervention, see Stanley kochanek, "The Congress Party of India" p 288

4 See Report of the General Secretaries, p 38

5 For the report on the Elections of C E C members, see 'The Sta esman Delhi, 1st May, 1968 & 5th June, 1968

ताकि नीति निर्धारण मे उनका एक महत्वपूण हाथ हो सके। सरकारी नीतियो के स्वरूप निर्धारण मे इसकी महत्वपूण भूमिका होती हैं। व्यवहार म इसे श्रालाकमान (हाइकमाण्ड) भी कहा जाता है।

(ii) घडाबन्दी (Factionalism)—

काग्रेस दल के प्रमुख श्रगो का सक्षिप्त विश्लेपण इस तथ्य को नही छिपा सकता कि सगठन कोई व्यवस्थित राजनीतिक दृष्टिकोण के बिना काय करता रहा है। काग्रेस दल मे अनेक गुटो का अस्तित्व इसका एक राजनीतिक रूप से सक्रिय आधार रहा है क्योकि ये गुट दलीय झगडो मे व्यस्त रहते हैं। ब्रास ने एक बडी तादाद वाले 'फल्कच्यूएटिंग' सदस्यता को 'क्लिक' के रूप मे परिभाषित किया है। उनके अनुसार घडे का आन्तरिक सकिल अपने नेता के प्रति वफादारी मे बहुत सक्रिय होता है। यह सदस्यता उनके साथ तब तक रहती है, जब तक वह उन्हे आर्थिक लाभ पहुचा सके या जुटाने का आश्वासन दे सके।[1] दल उनकी गतिविधियों का प्रश्न नही अपितु उद्देश्य है।

चतुथ आम चुनाव तक काग्रेस की प्रमुख स्थिति से प्रभावित होकर ही सम्भवतया कोठारी ने 'काग्रेस व्यवस्था'[2] के सिद्धान्त का प्रादुर्भाव किया, जो कि 'एकदलीय प्रमुत्व व्यवस्था' के नाम से भी सम्बोधित की गई।[3] इस व्यवस्था मे काग्रेस ने राजनीतिक प्रतिद्वद्विता को आन्तरिकीकृत किया। आन्तरिकीकरण दृढ घडो की इस व्यवस्था के द्वारा सम्भव हुआ जबकि अन्य दलो ने दबाव के दल' के रूप मे काय किया तथा उन्होन काग्रेस के गुटो के बीच प्रतिद्वद्विता को प्रभावित किया। काग्रेस दल म जो विरोधी घडे अस्तित्व मे रहे हैं, वे अपने को समय समय पर 'दक्षिण'

---

1 See Paul R Brass 'Factional Politics in an Indian State The Congress Party in Uttar Pradesh', Bombay, 1966 p 56, See also D F Millar, 'Factions in Indian Village Politics Pacific Affairs, Vancouver, Spring, 1965 p 17 ff

2 Rajani Kothari Ibid pp 1161–73

3 See for instance, W H Morris Jones 'Parliament and Dominant Party Indian Experience, Parliamentary Affairs, Summer, 1964 & Gopal Krishana, 'One Party Dominance Development & Trends' in Party System & Elections Studies, pp 19–98 Occasional Papers of the Centre for Developing Societies, No I, 1967

या 'वाम' पक्षी दलों से संलग्न करते रहे है, तो भी घड़े बन्दी के चरित्र का पूरा मूल्यांकन करने हेतु कांग्रेस के आन्तरिक प्रभावों एवं उनका सभी दृष्टियों से पड़ने वाले राजनीतिक प्रभावों व परिणामों का अनुमान करना आवश्यक है।

कांग्रेस दल ने राष्ट्रीय संग्राम का स्वरूप, जिसमें सामाजिक तथा वैचारिक विभिन्नता को एक सर्व व्यापक प्रतिनिधित्यात्मक ढांचे के अन्तर्गत सतुलित तथा समायोजित किया जा सके, बनाया। इसके लिए कांग्रेस दल ने राष्ट्रीय संग्राम के प्रेरक के रूप में, ब्रिटिश राज्य के विरुद्ध एक सगठित विरोध पक्ष खड़ा करने हेतु व्यक्तियों एवं समूहों को एक साथ लाने का प्रयास किया। एक मात्र वैध राष्ट्रीय दल का दावा करते हुए कांग्रेस ने अपने आन्तरिक झगड़ों को टालने या निपटाने की कोशिश की, हितों को सन्तुलित किया तथा वैचारिक विभिन्नताओं को टाला ताकि विश्वसनीयता ('कन्सेंसस') प्राप्त की जा सके।

कांग्रेस ने विरोध पक्ष की उपेक्षा करते हुये भी समय-समय पर उनके कार्यक्रमों को ग्रहण करते हुये, तथा अपने नेतृत्व को सर्वसम्मत आधार प्रदान करते हुये अपने को कायम रखा। राष्ट्रीय स्तर पर कांग्रेस ने अपने 1955 के समाजवादी ढांचे पर आधारित समाज के समर्थन के निश्चय द्वारा प्रजा समाजवादी दल का आधार ही ग्रहण कर लिया। राज्यों में कांग्रेस क्षेत्रीयवाद का स्वरूप बना, जैसाकि तामिलनाडु में गैर-ब्राह्मण मन्त्रीमण्डल की कामराज के नेतृत्व में गठन से स्पष्ट है, ताकि पृथकवाद के विकास को रोका जा सके। स्थानीय स्तर पर दल ने जमींदारों का समर्थन प्राप्त करने तथा उन्हें स्वतन्त्र पार्टी से दूर रखने हेतु अपनी भूमि सुधार की नीति में ढील दी। सर्वोच्च स्तर पर, दल ने जातिवाद की आदिवासी मानसिकता के रूप में सदैव आलोचना की किन्तु नीचे के स्तर पर कांग्रेस ने जनसंघ तथा कम्युनिस्टों की ही भान्ति अपने संगठन को प्रभुत्वशाली जातियों के हाथों में छिनने दिया। चुनाव जीतने के प्रयास में कांग्रेस स्थानीय शक्ति-ढांचे को अपनाती है। यह उन्हीं को अपनाती है जिनका स्थानीय प्रभाव होता है। परिणामतः राजनीतिक व्यवस्था में सरकार (जो कि समाज तथा अर्थ व्यवस्था को आधुनिक बनाना चाहती है) तथा दल (जो कि चुनाव जीतने हेतु अपने को स्थानीय वातावरण के अनुकूल बनाना चाहता है) के बीच एक तनाव रहता है।[1]

किन्तु दल की दृढता के लिए गुटों व धड़ों का अस्तित्व एक कठिन समस्या है, क्योंकि यह स्थायी आधार पर विश्वसनीयता को नहीं आने देता। लोकसभा में कांग्रेस दल का एकत्व रहा, किन्तु राज्यों में इसमें अनुशासन एवं प्रभाव का अभाव

---

1 Myron Weiner: 'Party building in a new nation', Chicago, University of Chicago Press, 1967, p 15.

रहा। विश्वसनीयता का नेहरूवादी तरीका कभी भी गहराई में नहीं गया। कांग्रेस के धड़ा के आन्तरिक द्वन्द्व ने प्रतिद्वन्द्वी दबाव समूहों को जन्म दिया, सिद्धान्त तो इनसे नाम मात्र के सलग्न थे। राजनीतिक दृष्टिकोण क प्रभाव न कांग्रेसियों का अनुशासनहीनता तथा दल के साथ उनकी भक्ति को धूमिल करने हेतु प्रेरित किया। 1963 के तीन महत्वपूर्ण उपचुनावों में अपनी आन्तरिक गुटबन्दी ने कांग्रेसी उम्मीदवारों का असफलता दिलाई।[1]

(iii) पुनर्जागरण के प्रयास

1963 क कुछ उपचुनावों म प्राप्त असफलता स कांग्रेस पतन की उभर रही तस्वीर क भय से नेहरू न उसी वर्ष कांग्रेस के सगठन को पुनर्जागृत करने का निश्चय किया, जिसे उन्होंने भ्रष्ट पाया। अपने समय की सर्वोच्च दलीय राजनीतिक शल्य क्रिया म, नेहरू ने अपनी कैबीनेट के छ मन्त्रियों तथा छ मुख्य मन्त्रियों के त्याग पत्र स्वीकृत करने का निश्चय किया। कामराज योजना (ब्रेचर की मान्यता है कि यह विचार उड़ीसा के तत्कालीन मुख्य मन्त्री बीजू पटनायक का था, जिन पर बाद मे भ्रष्टाचार के आरोप लगाये गये)[2] के अनुसार इन लोगों को अपना सम्पूर्ण समय दलीय कार्यों के लिए बिताना था। इन व्यापक त्याग पत्रों (मोरारजी देसाई, एस० के० पाटिल, लाल बहादुर शास्त्री, जगजीवन राम गोपाल रेड्डी एवं के० एल० श्रीमाली ने केन्द्रीय मन्त्रि मण्डल से त्याग पत्र दिया तथा निम्नांकित मुख्यमन्त्रियों के त्याग पत्र भी स्वीकृत हुए कामराज, बीजू पटनायक, विनोदानन्द झा, सी० बी० गुप्ता, बी० ए० मण्डलोई एवं बख्शी गुलाम मोहम्मद) के साथ ही सगठनात्मक सुधार-उपायों की शृंखला हाथ म ली गई।[3]

भारत म इस योजना ने अत्यधिक प्रभाव डाला क्योंकि एक ताकतवर आदमी का सत्ता को छोड कर तथा छोटे छोटे करोड़ों लोगों के बीच काम करने की प्रक्रिया ने देश पर गहरी छाप छोडी। जनसाधारण ने आशानुकूल प्रतिक्रिया व्यक्त की, प्रभावशाली राजनीतिज्ञों के त्यागपत्र तथा उनके त्याग करने की तत्परता की उन्होंने प्रशसा की। इसको नैतिक पवित्रता की सज्ञा दी गई। कांग्रेस के महामन्त्रियों

---

1 See Rajani Kothari 'Three Byelections', The Economic & Political Weekly, Bombay, 22 May 1965, 29 May, 1965 and 19 June, 1965, pp 845-58 893-902 and 917-1000

2 See Michael Brecher 'Succession in India—A study in Decision Making, London, 1966 p 16

3 See 'Report of the General Secretaries, India'n National Congress, 1963 p 4

की रपट म अन्य शब्द जसे—सेवा की भावना' आदि भी प्रयुक्त किए गए। यद्यपि नेहरू ने यह काय मन्त्रिमण्डल के गठन को वचारिक सतुलन देने हेतु किया था।[1] 11

केन्द्र म कामराज योजना की क्रियान्विति आसान थी, क्योकि यहा अन्तिम निणय केवल नेहरू के हाथो म था किन्तु इस योजना ने सम्बन्धित प्रदेशा म तुरन्त कठिनाईया पैदा की। यहा उत्तराधिकार को लेकर सघप प्रारम्भ हो गये तथा इसने व्याप्त विरोधो को और अधिक बढाया। केन्द्रीय नेतृत्व इस नियन्त्रित नही कर सका। उदाहरणत श्रीमती सुचेता कृपलानी ने नेहरू की इच्छाओ के विरुद्ध सी० बी० गुप्ता का स्थान लिया। श्रीमती कृपलानी की सफलता इसलिए सम्भव थी क्योकि भूतपूव मुख्य मन्त्री के अनुयायी नेहरू से प्रसन्न नही थे, अत उन्होने श्रीमती कृपलानी को मत देने का निश्चय किया। इसके साथ उत्तर प्रदेश की पुरानी गुटबन्दी एक बार पुन उभर गई। (नेहरू ने कहा था कि वह महसूस करते हैं कि गुप्ता का स्थान ग्रहण हेतु श्री त्रिपाठी सही उम्मीदवार है।)

बाद की घटनाओ ने यह सिद्ध किया कि कामराज योजना ने इसकी पहल करने वालो द्वारा इच्छित परिणामा को उत्पन्न नही किया। सगठन म बिखराव व्यक्तियो मे परिवतन करने से नही रोका जा सका। इसके विपरीत कुछ प्रदेशो म यह पहले स अधिक मुखर हो गया। लोग असन्तुष्टजन की बात करने लगे। सगठन की गतिशीलता आतरिक तनावा के कारण कमजोर हुई सदस्य स्वप्राप्ति मे व्यस्त थे तथा दलीय काय के लिए लगाव हेतु कोई दिलचस्पी व शक्ति नही बची रह गई थी।

1967 के चुनावो के असतोषप्रद परिणामो ने कांग्रेस दल के बाद विवाद को नया रूप दिया कि किस प्रकार से एकत्व के अभाव से ऊपर उठा जावे, किस प्रकार सदस्यता विस्तृत की जावे, तथा किस प्रकार दल म नया खून सचारित किया जावे। जनवरी, 1968 मे हैदराबाद अधिवेशन म निजलिंगप्पा ने दल के कमजोर स्तर को नवीन खुराक देने का प्रयास किया।[2] किन्तु उनके पूववर्तियो की भाति नये कांग्रेस अध्यक्ष अधिक कल्पनाशील सिद्ध नही हुए। 1963 म कामराज योजना के सम्बन्ध मे जो कुछ सुझाव पहले ही दिए जा चुके थे, दुहराये गये। उदाहरण के लिए सगठन एव सरकारी पक्षो के बीच एक ही सम्पक समिति होनी चाहिए। उन्होने पुन सगठन समिति को नियुक्त किया। इस समिति ने सगठन की निरन्तर इकाइयो

---

1 See Giselher Wirsing 'Indian Assians Gefachrliche Jahre Duesseldorf, 1968 p 6 FF

2, See Congress Bulletin, January 1968, p 84 FF,

होता है), राज्य के स्वामित्व तथा उत्पादन के साधनो पर नियन्त्रण के समाजवादी विचार तथा मार्क्सवादी स्वरूप के अन्य समाजवादी विचार प्रमुख रूप मे सम्मिलित हैं, तो भी, मुख्य प्रवृत्ति, गाधीवादी आदर्शों के नजदीक होते हुए, ठोस समाजवादी आवरण के साथ लोक कल्याण कारी राज्य की ओर है। 1955 के अवाडी निश्चय से बहुत पहले काग्रेस 'समाज के समाजवादी ढाचे' की समर्थक थी, यद्यपि 'समाजवादी ढाचे' की स्पष्ट रूपरेखाओ तथा पूर्व आवश्यकताओ के बारे म पूर्ण सहमति कभी नही थी। नेहरू तथा बाद मे उनकी पुत्री श्रीमती इन्दिरा गाधी के नेतृत्व मे काग्रेस ने निश्चय ही वामपथी मुखी मध्यम विचारधारा का अनुसरण किया।

काग्रेस के इस समाजवादी झुकाव म अन्य दलो जो कि अपने को समाजवादी कहते थे जैसे—प्रजा समाजवादी दल, सयुक्त समाजवादी दल तथा कम्युनिस्ट, आदि के प्रति उपेक्षित भाव ज्यादा था। इसके अनुसार भारत का समाजवादी दल न कम्युनिस्ट दल है तथा न समाजवादी दल बल्कि कांग्रेस दल है। इसने समाजवाद को दलको पूर्व ग्रहण कर लिया था। आजादी प्राप्ति के समय से ही भारत म बडे बडे समाजवादी प्रयास, पचवर्षीय योजनाए तथा विकास के कार्यक्रम काग्रेस द्वारा स्वीकार किये गए तथा कार्यान्वित किए गए।[1]

B प्रथम तीन आम चुनाव एक दलीय प्रमुत्व व्यवस्था की अभिव्यक्ति

(a) विचार लक्षण (Characteristics)—

वस्तुत काग्रेस के प्रमुत्व काल जैसी एक दलीय आधिपत्य व्यवस्था मे एक प्रतियोगी दलीय व्यवस्था होती है किन्तु इसम प्रतियोगिता असमान दलो के बीच होती है। इस प्रतियोगिता म एक 'समन्वयात्मक दल' तथा 'दबाव दल' सम्मिलित होते हैं। दबाव दल की भूमिका नगण्य होती है किन्तु हा दबाव का विचार इस व्यवस्था मे महत्वपूर्ण है। आतरिक तौर पर यह दबाव समन्वयात्मक दल के भीतर व्याप्त विभिन्न गुटो के रूप मे होता है। बाह्य दृष्टि म विभिन्न विरोधी गुट एव दल सत्तारूढ दल के असन्तुष्ट गुट, अन्य हित समूह व महत्वपूर्ण व्यक्ति, दबाव राजनीति के रूप मे कार्य करते हैं। एक दलीय आधिपत्य व्यवस्था म ये दोनो ही प्रकार के

---

1 George Bailey, 'Pandit Nehru s One Party Democracy, The Reporter Nov 13, 1958, p 31,

दबाव महत्वपूर्ण भाग है।[1] विरोधी दल इस स्थिति में अपने को एक विकल्प के रूप में प्रस्तुत नहीं कर पाते हैं। अपितु वे सत्तारूढ़ दल के अन्दरूनी ढांचे के विभिन्न वर्गों में से अपने समान विचारधारा व हितों वाले वर्ग से अपना मधुर सम्बन्ध स्थापित कर सत्तारूढ़ दल पर प्रभाव डालने की स्थिति में होते हैं। इस प्रकार उनकी भूमिका निरन्तर सत्तारूढ़ दल पर दबाव डालने, उसकी आलोचना करने तथा उस पर प्रभाव डालने व धमकी के रूप में होती है।[2] इस प्रकार कांग्रेस के आधिपत्य में विवाद, मध्यस्थता, सौदेबाजी एवं सहमति के जटिल ढांचे का विकास हुआ।[3]

---

1 "The *Indian system can be described as a system of one* party dominance (which, it may be noted is very different from what is generally known as a one party system) It is a competitive party system but one in which the competing parts play rather dissimilar roles It consists of a party of consensus, and parties of pressure The latter functions on the margin and, indeed the concept of a margin of pressure is of great importance in this system In side the margin are various factions within the party of consensus outside the margin are several opposition groups and parties dissident groups from the ruling party, and other interest groups, important individuals
Both the ideas of an built corrective through factionalism within the ruling party, and the ideas of a latent threat from outside the margin of pressure are necessary parts of the one party dominance system" *Kothari Ibid*, pp 1162

2 "Their role is to constantly pressurize, criticize, censure and influence it and above all, exert a latent threat"— (Rajani Kothari op cit p 1162) in order to keep the *dominant party on the right track*

3 "It was in the course of the working of this system that political competition was intesified, changes took place, new cadres of leadership drawn from a more *diffuse social* basis came to power, and an intricate structure of conflict, mediation, bargaining and consensus was developed with In the frame work of the *Congress Kothari, op cit p 1163*

जहां तक विरोधी दल का प्रश्न है, मतदाता के हिसाब से तो, विरोधी दल केवल स्थानीय एवं प्रादेशिक स्तर तक ही प्रभावी ढग से काय करने की आशा कर सकता है। तथापि, व्यवस्थापिका की दृष्टि से यह राष्ट्रीय स्तर पर काय करता है तथा इस व्यवस्था को कायरत रखने मे अत्यन्त लाभदायक भूमिका निभाता है। यह तो भारतीय स्वतन्त्रता सग्राम की पीढी के नेतागण धन्यवाद के पात्र है जिन्होने ससद में सख्या के आधार की उपेक्षा करते हुए विरोधी दलो को महत्व देते रहने की परम्परा डाली। इसने विरोधी दलो के आत्मबल एव उनकी गतिविधियो को जाग्रत रखने मे कामयाबी हासिल की, बावजूद इसके कि उनके सत्ता म आने के तनिक भी अवसर नही आये। साथ ही विरोधी दलो के कुछ प्रमुख नेताओ को तो कांग्रेस दल द्वारा काफी मात्रा मे व्यक्तिगत महत्व प्रदान किया गया।

किन्तु राष्ट्रीय स्तर के उपरोक्त सम्बन्धो से हट कर वास्तव म भारतीय विरोधी दलो की भूमिका इस काल मे प्रादेशिक ही रही। यहा तक कि 'राष्ट्रीय' दल भी राज्य स्तरीय दलो के ढीले-ढाले ढाचे बने रहे जो कि विरोधी दलो के अन्दर व्याप्त घृणास्पद रूप को उजागर करते हैं। इसके अतिरिक्त विरोधी पक्ष बहुत ज्यादा विभाजित एव भ्रमित रहे हैं, क्योकि मूलरूप से वे विश्वसनीय दल न होकर दबाव दल हैं।[1] यह एक अलग कारण है कि क्यो पृथकवादी दल (Sectional parties) जसे—डी एम के, विभिन्न जातीय दल, बहुत से भाषायी दल एव सविद तथा अमुक-दल जो कि मूल रूप से क्षेत्रीय दल है जैसे—आध्र एव केरल मे कम्युनिस्ट, उत्तर मे जनसघ एव स्वतन्त्र आदि विरोधी पक्ष मे सफल होते हैं। किन्तु जैसा पहले कहा जा चुका है कि विश्वसनीय दल के रूप मे कांग्रेस के विकल्प के रूप मे अन्य दल के उभरने के कहीं चिन्ह नही थे। इसके अतिरिक्त भी इस व्यवस्था के अनेक तत्वों का उल्लेख किया गया है।[2]

किन्तु दूसरी ओर कांग्रेस के द्वारा इतनी अधिक शक्ति होते हुए भी वह अधिनायकवादी न हुई। जैसा कि स्पष्ट है स्वतन्त्र निर्वाचन प्रक्रिया, विश्वसनीय दल की आन्तरिक गुटबन्दी, विरोधी पक्ष द्वारा दबाव लोकतान्त्रिक आधारो की रक्षा की नेतृत्व की सामान्य आकाक्षा, कानून के शासन का सम्मान व विभिन्न हितों के बीच सन्तुलन की स्थापना का प्रयास आदि इसके प्रमुख कारण रहे हैं। इस प्रकार भारत की एक दलीय आधिपत्य व्यवस्था 'घाना मे कायरत एक दलीय आधिपत्य

1 "The second structural implication is that the opposition is fragmented and greatly divided Because they are not parties of consensus, but parties of pressure, they present an inchohirate front' Kothari, op. cit p. 1165

2 See—Kothari, op cit pp 1167–1172,

व्यवस्था से भिन्न रही है। यह आधिपत्य विश्वसनीय सत्ता पर आधारित था, न कि असैनिक या सनिक शक्ति पर।[1] एक अन्य विद्वान ने भी इसे "प्रधान, न कि निषेधक तथा लोकतान्त्रिक न कि अधिनायक" (dominant, not exclusive, democratic, not totalitarian) के रूप मे वर्णित किया है। इसके उदाहरण स्वरूप बेले (Bailey) के अध्ययन परिणामो को रखा जा सकता है कि इस काल मे सत्तारूढ दल ने निषेधात्मक अधिनियम (Preventive Detention Bill) का प्रयोग बड़ी सावधानी से किया है।

(b) सफलता के कारण

कांग्रेस जो 'खुली व्यवस्था' व 'खुले छाते' के रूप मे एकारूढ रहा, इसके आन्तरिक वर्गीकृत रूप ने इसे विवादग्रस्त व्यवस्था बना डाला तथा वास्तव मे इसके आधिपत्य मे बने रहने का कारण इसकी उप सविद प्रकृति का होना था।[2] कांग्रेस की इस सफलता के प्रमुख कारणो[3] को हम दो भागो मे विभाजित कर सकते हैं सामान्य व विशेष।

सामान्य तत्व —

(i) राष्ट्रीय आन्दोलन (National Movement)—कांग्रेस की सफलता का प्रमुख कारण इसे राष्ट्रीय आन्दोलन की विरासत प्राप्त होना है (the legacy of National Movement) यह बात ध्यान मे रखनी आवश्यक है कि कांग्रेस शक्ति मे राजनीतिक दल के रूप मे नही बल्कि आजादी प्राप्त करने एव सुधार के लिय किये गय आन्दोलन की सफलता से आई है। 1885 मे स्थापित होकर तथा बौद्धिक आन्दोलन के एक लम्बे चरण से गुजरते हुए जिसके अन्तगत इसके उद्देश्य गुम्फित किए गए एव 1929–30 मे इसने जनसमुदाय का विशाल आन्दोलन का रूप ग्रहण किया। इसका तात्पय दो बातो मे है चू कि समाज के सभी वर्गों एव हित समूहो का

---

1 See—Kothari, op cit p 1170

2 " its (congress') heterogeneity makes it a system of conflicting parts and its dominance accentuates its sub-coalitional nature' Ramashray Roy 'Dynamics of One Party Dominance in a Indian State Asian Survey, July 1968 Vol III No 7

3 See—Myron Weiner "Party Building in a New Nation The Indian National Congress" The University Chicago Press 1967

प्रतिनिनिधित्व करने के कारण इसने व्यापकता की मोहर प्राप्त की तथा 'ऐतिहासिक विश्वनीय'' दल के रूप में सम्बोधित की जाने लगी।[1] इसी प्रकार कांग्रेस को ऐतिहासिक सन्दर्भ से तीन चीजें प्राप्त हुई जिनसे उसका पक्ष शक्तिशाली बना।

(a) नेतृत्व (Leadership) —कांग्रेस को राष्ट्रीय प्रान्तीय एवं कहीं कहीं पर स्थानीय स्तर पर नेता प्राप्त थे जिन्होंने राष्ट्रीय आन्दोलन में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की थी। अब उनका राजनीतिक क्षेत्र में प्रभुत्व था। कांग्रेस ने जब दल के रूप में काम करना शुरु किया तो यह तत्व धरोहर बन गया (यद्यपि रजनी कोठारी ने इस बात से इंकार किया है कि स्वाधीनता के पश्चात् कांग्रेस ने आन्दोलन का रूप छोड़ कर दल का रूप ग्रहण कर लिया)।[2]

(b) संगठन (organization) —राष्ट्रीय आन्दोलन के काल में ही कांग्रेस का संगठन देश व्यापी रूप धारण कर चुका था। यह संगठन भी इसे धरोहर के रूप में मिला और दल का रूप प्राप्त करने पर इस संगठन के आधार पर ही उसने चुनाव लड़ा और विजय प्राप्त की।[3]

---

1 This meant two things Encompassing as it did all the major sections and interests of society it acquired a stamp of legitimacy and came to represent what we have called a 'historical consensus', Kothari Ibid p 11 6

2 "It is often said that with the coming of independence the Congress ceased to be a movement and turned into a political party This is a misreading of the reality of the Indian political situation for even after independence the Congress continued to be a movement Having acquired independence from foreign rule, it had now to build a nation " Kothari op cit p 1167

3 'It (congress) was as a distinctive political elite organized in the form of a well knit movement spread in a large and long hierarchy of levels district pradesh and all India—that the Congress acquired its identity It is true that it was not built in the form of a modern bureaucracy as has been the case with various socialistic and communist parties, but it remained nonetheless powerful movement with a discipline and a strong commitment to goals It is this that determined the organizational ideology of the congress which still continues and of which the 'Kamaraj Plan' is the latest and most characteristic echo', Kothari op cit p 116

(c) समथन का ढाचा (support structure) —उसके समर्थन का सारे देश म फैला हुआ था और राष्ट्रीय आन्दोलन के काल म जो मिला था वह जाति, धम, वग, क्षेत्र की सीमा मे बधा नही था और प्रकार उसे समथन के ढाचे (support structure) की जरूरत नहीं थी

(ii) वैचारिक मध्यमार्गी या अनिश्चित (Ideological Centrism Ambivalism) —दूसरा पक्ष काग्रेस का विचारधारा सम्बन्धी था। पंथी उसे अपनी तरफ समझते थे और दक्षिणपन्थी अपनी तरफ। के जितने वग भी थे, सभी का समथन काग्रेस को मिलता रहा। 'सब का अधिक से अधिक समन्वय" इसका लक्ष्य रहा है। परिणामत काग्रेस एक प्रकार का यह लाभ रहा कि अन्य दल किसी भी वग का पूरा समर्थन प्राप्त नही कर पाये।

(iii) व्यक्तित्व (Personalities) —साथ ही काग्रेस के पक्ष म नेतृत्व का बल था। एक ओर इसके साथ गाधीजी का नाम व दूसरी ओर नेहरू का नाम जुडा हुआ था। विशेषकर नेहरू जी का जो महत्व था, काग्रेस का था पक्ष था कि वे राष्ट्रीय नेता थ। काग्रेस मे जो गुटबन्दी थी वह नही के व्यक्तित्व के कारण इस स्थिति तक बढ नही पाती थी कि वह टूट जाए नेहरू को इसी कारण विरोधी गुटो म समन्वयकर्ता (master reconciler) कहा जाता था। नेहरू के जटिल व्यक्तित्व की विशेषता रही कि वह ... हैं। अपने व्यक्तित्व से जहाँ एक ओर उन्होने देश की एकता म सूत्र बांधे रखा, विघटनात्मक शक्तियो को पनपन नही दिया तथा आधुनिकीकरण के माग को प्रशस्त किया, वहीं दूसरी ओर देश द्वारा स्वीकार की गई संस्थाओं को उन्होंने कानूनी आधार प्रदान किया। नेहरू का योगदान शांति ... सूत्रपात करन म नहीं, अपितु एक विश्वसनीय धरातल के निर्माण करने में उन्होंने समानता स्वतन्त्रता, एव मताधिकार जैसे निश्चित जनित मूल्यों अपने देशवासियों को ... ।[1]

विशेष तत्व —

काग्रेस की एक दलीय आधिपत्य व्यवस्था के अन्तगत निम्नांकित ... प्रमुख हैं —

1 Kothari op cit p 1170, S e Sisir ...pta, "Some aspects of the problem of n... onal int... India Pakistan and Ceylon" P... ry St... Nos 1 and 2 (19(4), and (... awahar L... N h u, The Ec ... Sp

(i) (a) आतरिक सचार व्यवस्था (internal communication network) पर बल दिया जाना यानि सगठन की मजबूती के लिए इस प्रकार का प्रयास करना कि पुराने सदस्य हटे नही और नये सदस्य बनते जाए।

(b) दलीय सगठन व प्रशासन म जीवित और निकट का सम्बन्ध बनाये रखने का प्रयास।

(c) काग्रेस द्वारा अपने उत्तरदायित्व समझना —

(i) सरकार स लोगो क काम जल्दी करवा लेना।

(ii) समाज म उत्पन्न होन वाल झगडो को निपटाने हेतु मध्यस्थता एव न्यायिक भूमिका निभाना।

(ii) प्रारम्भिक काल म काग्रेस द्वारा रचनात्मक कार्यों पर बल दिया जाना, विशेषतौर स अछूतोद्धार आदि।

(iii) काग्रेस के आन्तरिक झगडो का बहुमत के आधार पर नही (not majority) अपितु सहमति के आधार (consensus) पर सुलझाना।

(c) मूल्याकन —

'काग्रेस के एक छत्र शासन की राष्ट्र निर्माण के क्षेत्र म प्राप्त उपलब्धियो को निम्न रूप से देखा जा सकता है —

(i) राजनीतिक स्थिरता।

(ii) प्रजातन्त्र एव समाजवाद का सामजस्यपूर्ण दृष्टिकोण — यह दृष्टिकोण जो 1967 के बाद भी चल रहा है और जो फलीभूत हो रहा है इस कालकी महत्वपूर्ण देन कही जा सकती है।

(iii) स्वदेशी एव बाहरी नीतियो का आधारभूत विकास — लोकतन्त्र सामाजिक न्याय गुट निरपेक्षता धम निरपेक्षता लौकिकवाद एव नियोजन आदि मूल्यो को सविधान म समाविष्ट करने म तो काग्रेस ने अपनी भूमिका निभाई थी ही किन्तु जनता का इन मूल्यो के साथ समाजीकरण करन का श्रेय भी काग्रेस आधिपत्य काल को ही जाता है।

(iv) इसी प्रकार काग्रेस के इस काल को भारतीय भूमि मे लोकतन्त्र क बीज बोन वाले काल से (the period of democratic seeds drilling in the Indian soil) सम्बोधित किया गया हैं। इस काल मे ससद एक सस्था के रूप म उभरी विरोधी दल के महत्व को स्वीकारा गया, प्रधान मन्त्री का पद विकसित हुआ एव स्पीकर (Spaeker) की निष्पक्षता की परम्परा पनपी आदि।

किन्तु इसका यह तो तात्पय नही है कि इस एक दलीय आधिपत्य काल की कोई बुराई ही नही थी। इस काल क कुछ अभिशाप भी रहे हैं —

(i) कांग्रेस का स्वयं विरोधी सत्ता के मिश्रण बन जाने के फलस्वरूप उसका आन्तरिक जीवन हमेशा तनावपूर्ण रहा। विरोधी तत्व अस्वस्थ प्रतियोगिता के प्रतीक थे, जिनके कारण कांग्रेस स्वयं जर्जरित हुई तथा 'स्लोपोइजन' (slow poison) के रूप में कांग्रेस का पतन लाने में सहायक हुए। इस प्रकार प्रथम अभिशाप तो स्वयं कांग्रेस के लिए अभिशाप बन कर आया।

(ii) एक दलीय आधिपत्य काल के परिणामस्वरूप प्रशासन पर खराब प्रभाव पड़ा। सार्वजनिक जीवन में भ्रष्टाचार बढ़ा। विरोधी दलों के शक्ति में आने की सम्भावना नहीं होने से मन्त्रियों एवं प्रशासकों ने मिलकर भी भ्रष्टाचार को पनपाया।

(iii) इस काल में जैसा कि स्वाभाविक ही था, विपक्ष पनप नहीं पाया। विरोधी दलों के अपने भविष्य से विश्वास उठ जाने से संगठन मजबूत नहीं बन सके। उनका संवैधानिक पद्धति से विश्वास उठने लगा एवं वे आन्दोलनात्मक राजनीति को प्रश्रय देने लगे।

(iv) राजनीतिक व्यवस्था में संस्थाकरण की प्रक्रिया भली भांति फलीभूत न हो सकी। चूं कि यह काल स्वयं हमेशा बनी रहने वाली स्थिति जैसा नहीं था, अतः इस काल में जो संस्थाकरण हुआ भी, वह स्वयं अस्वाभाविक एवम् अस्थाई था। संस्थाकरण में जो विशिष्टीकरण होना है, यह भी इस काल में या तो हुआ ही नहीं और अगर हुआ भी तो सीमित मात्रा में। अतः जब इस काल की समाप्ति हुई तो अनेक विवादग्रस्त प्रश्न उठने लगे जैसे, राज्यपाल अमुक स्थिति में क्या करे और क्या नहीं ?

(d) हार के कारण

यही कारण है कि, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि कांग्रेस का आधिपत्य स्वयं आधिपत्य के निषेध रूप में पल्लवित हुआ। इसके अतिरिक्त वह ऐतिहासिक प्रतिष्ठा जो कि इसे धरोहर के रूप में प्राप्त हुई थी, इस काल में धीरे धीरे क्षीण होती गई एवं इसकी पूर्ति कोई नई उपलब्धियों से न हुई। कांग्रेस का राष्ट्रीय सेवा का पक्ष गौण हो गया तथा स्वार्थ पक्ष उभर गया। इससे विजेता का मानस पैदा हो गया तथा नेता यह मानकर चलने लगे कि उनकी जीत स्वाभाविक है एवं उनके बिना तो राजनीतिक व्यवस्था चल ही नहीं सकती। स्वाभाविक परिणाम इसका यह हुआ कि उनमें हाथ पैर न हिलाने (psychy of complex) की प्रकृति घरकर गई। कांग्रेस के ग्रामीण, मुस्लिम व अछूत मतदाता तीन मुख्य स्तम्भ थे, किन्तु इनका समर्थन धीरे धीरे क्षय होने लगा। चौथे चुनाव की सध्या पर जनसंघ, कुछ वामपंथी दल जैसे तामिलनाडु में डी एम के एवं उत्तर में स्वतन्त्र दल (देशी

राजाओं की सहायता से) भी ग्रामीण अंचल में प्रवेश करने लगे। इसी प्रकार मुस्लिम मतदाता भी अपने स्वार्थों एवं हितों के लिए सजग हुआ तथा उनके भी अपने स्वार्थ समूह बनने लगे जैसे मुस्लिम मजलिस व केरल मुस्लिम लीग आदि। अतः 1967 में इन पर कांग्रेस का एकाधिकार नहीं रहा। अन्य दलों ने भी इनका तथा पिछड़े मतदाताओं का समर्थन प्राप्त करने हेतु प्रयास किया। कांग्रेस का सम्पर्क जनता से टूटने लगा। कांग्रेस की राजनीति जन साधारण की न रह कर मध्यस्थ लोगों (state bosses) की राजनीति बन कर रह गई जैसे प० बंगाल में घोष, उड़ीसा में पटनायक या राजस्थान में सुखाड़िया आदि। इनके अतिरिक्त कांग्रेस के विरोध में पूंजीपतियों, राजा महाराजाओं एवं बड़े बड़े व्यापारियों या अन्य दलों जैसे स्वतन्त्र एवं जनसंघ का समर्थन करने तथा स्वयं के भी राजनीति में उतर आने से कांग्रेस को 1967 में वह सफलता नहीं मिल सकी, जो पहले मिलती थी। इसी प्रकार कांग्रेस की नामजदगी नीति बड़ी संकुचित थी। टिकट देते समय गुटों को प्रधानता अधिक दी गई, दल के हितों को कम। साथ ही पंचायती राज्य संस्थाओं के आवरण में पनप रहे नये नेतृत्व के महत्व को नहीं पहिचान कर राज्य के नेताओं की इच्छा पर उम्मीदवारों का थोप जाने से भी कांग्रेस कमजोर हुई किन्तु कांग्रेस की चतुर्थ आम चुनाव में आंशिक सफलता ही प्राप्त कर सकने का सबसे प्रमुख कारण था चुनाव संख्या पर डा० राम मनोहर लोहिया द्वारा प्रस्तावित कांग्रेस विरोधी संयुक्त चुनाव मोर्चे (Anti Congress United Front) के रूप में चुनाव लड़ने का देशव्यापी आन्दोलन।[1]

---

1 "The reasons for the Cogress debacle and the success of the opposition electoral alliance are not difficult to trace. Since the opposition was divided among other, on regional communal and linguistic bases, the Congress could continue to have monopoly and create a psychology of indispensability among the people inspite of the fact that curruption factionalism, clash of personalities and ideological disputes were steadily eroding its unity and power. But once the opposition parties came together in an electoral alliance, the combination was strong enough to defeat the Congress in about half of the Indian States." J. S. Aiyar "The Politics of Coalition Governments" Journal of Constituti onal and Parliamentary Studies Vol IV No 3 July Sept 1970

8

भारत मे संविद राजनीति

Coalitional Politics in India

कांग्रेस के विरुद्ध गैर कांग्रेसवाद क डा० लोहिया के नारे के फलस्वरूप फरवरी 1967 के चौथे आम चुनाव के परिणामो से देश की राजनीति का एक नवीन नक्शा उभर कर सामने आया। सन 1964 एव 1967 भारतीय राजनीतिक व्यवस्था एव लोकतान्त्रिक विकास म दो प्रामाणिक, व परीक्षक सीमा चिह्न कहे जा सकते हैं। 1964 मे नेहरू के निधन के पश्चात् कांग्रेस के राष्ट्रीय नेतृत्व न तीन बार लोकतान्त्रिक राजनीति द्वारा सत्ता का विधि सगत रूप म सचालन कर प्रथम सीढी को सफलतापूवक तय कर दिखाया तथा 1967 मे भारतीय राजनीति ने कांग्रेस आधिपत्य के अवसान एव भारत क करीब आधे राज्यो म विभिन्न पार्टियो के हाथो म सत्ता-हस्तातरण के साथ एक नवीन समस्या का सामना करत हुए द्वितीय सीढी की ओर कदम रखा।

चुनाव परिणाम के प्रति राजनीति शास्त्रियो की प्रतिक्रियाए तुरन्त, पर्याप्त एव भिन्न भिन्न हुई। विद्वानो ने जो भविष्यवाणी 1972 मे सम्पन्न होने वाले आम चुनावों के लिए की थी, वह 1967 मे ही साथक हो गई। वह कांग्रेस जिसने भारतीय राजनीतिक भूमि पर वर्षों तक एक छत्र शासन किया था, बुरी तरह टूट फूट गई। किन्तु हो एक दलीय आधिपत्य का स्थान द्विदलीय या त्रिदलीय व्यवस्था ने ग्रहण नही किया।[1] वस्तुत भारतीय मतदाता का विश्वास वतमान में था। युवा, आंशिक शिक्षित एव विशेष तौर से अशिक्षित, अल्पसख्यक तथा निम्नतम आय प्राप्त करने वाला वग अपनी वफादारी के बारे में यहा आते आते पुन विचार करने लगा। मतदाताओ की दृष्टि में शायद यह शक्ति एव सत्ता के लिए सघष था तथा एक राजनीतिक शास्त्री के लिए यह अधशताब्दी पूव के करीब की घटना अर्थात् भूतकाल का अवसान तथा नये युग का सूत्रपात था।[2] यहा तक मोरिस जोन्स जिन्होने एक

---

1 N D Palmer "India's Fourth General Elections" Asian Survey, May, 1967, p 275

2 E P W da Costa The General Elections–IV "Prospects of Non violent Revolution Disestablishing the Establishment," The Economic, Times January, 30, 1967

इसका यह मतलब नही है कि पहले देश म मिली जुली राजनीति बिल्कुल नही थी विशेषकर केरल इसका स्पष्ट उदाहरण है दूसरे शब्द म भी 1967 से पहले हमारे देश म मिली जुली राजनीति थी। इसके लिए हम सविद राजनीति और सविद सरकार (co litional po itics and coalitional governments) के बीच अन्तर को समझना होगा। इसे हम निम्नांकित प्रकारो मे देख सकते है —(i) मिली जुली राजनीति दलो के बीच हो सकती है चाहे व दल सरकार म शामिल हो या नही। इसमे यह जरूरी नही है कि विभिन्न दल सरकार म शामिल ही हो। (ii) एक दलीय प्रमुख व्यवस्था म भी सविद राजनीति हो सकती है जैसे—काग्रेस म दो गुट आपस म विरोधी रहे हैं अत इसे भी सविद राजनीति कहा जा सकता है। क्षेत्रीयता, जाति, धम आदि के आधार पर दलो मे गुट व दी का होना इसी का स्व रूप है।

अत रजनी कोठारी के मतानुसार 1967 क पहल भी सविद राजनीति थी यद्यपि सविद सरकार-प्रणाली अधिकाश मात्रा म नही थी। सविद राजनीति को हम इस प्रकार निम्नांकित दो भागो मे बाट सकते हैं (a) 1947 स 1967 के बीच की सविद राजनीति (b) 1967 से 1971 के बीच की सविद राजनीति इन दोनो सविद राजनीति म निम्नांकित प्रमुख अन्तर देखे जा सकते हैं

(i) प्रथम (1947 से 1967 के बीच की) सविद राजनीति अनौपचारिक थी जबकि द्वितीय (1967 से 1971 के बीच की) सविद राजनीति औपचारिक रही है। यह अनौपचारिकता प्रत्येक प्रजातन्त्र मे अधिकाश अथवा कम मात्रा मे पायी जाती है किन्तु 1967 के पश्चात् राज्यो के स्तर पर जो सविद राजनीति का रूप उभरा, वह औपचारिक अधिक है।

(ii) प्रथम सविद राजनीति का सम्बन्ध काग्रेस की आतरिक राजनीति (Inter congres polit cs) से था। बहुमत वाले दल की अन्दरूनी राजनीति ही सविद राजनीति थी किन्तु बाद वाली सविद राजनीति विभिन्न राजनैतिक दलो के बीच की है।

(iii) प्रथम सविद राजनीति जो कि काग्रेस के आन्तरिक स्तर पर थी, का उद्देश्य काग्रेस को सत्ता मे बनाए रखना था जबकि बाद वाली सविद राजनीति का उद्देश्य अन्य दलो का सत्ता म आना तथा यहा तक कि काग्रेस को सत्ता से च्युत करना रहा है। अतएव रजनी कोठारी का यह कहना कि 1947 से 1967 की सविद राजनीति तथा 1967 से 71 की सविद राजनीति के बीच कोई गुणात्मक अन्तर नहीं है, सही नही है। वास्तव मे इनम, जसा कि उपर बताया गया है मूल

गुणात्मक अन्तर है। (1971 क पश्चात् काग्रेस एव भारतीय साम्यवादी दल की केरल म साझा सरकार तथा अन्य राज्यो म इन दोनो दलो के बीच आपसी सम झौत सविद राजनीति एव सविद सरकार के नये रूप प्रदर्शित करते है।) अत जब हम सविद राजनीति की बात करते है तो हम यह समझ लेना चाहिए कि यह सविद सरकार स अधिक व्यापक चीज है। यह सम्भव है कि एक प्रदेश म मिलीजुली राज नीति हो तथा मिलीजुली सरकार न हो (उदाहरणार्थ 1972 के पश्चात् विभिन्न प्रान्तो म सत्तारूढ काग्रेस दल तथा भारतीय साम्यवादी दल के बीच की मिलीजुली राजनीति) भारत म जो चिन्ता प्रकट की जाती रही है उसका सकेत सविद राज नीति के प्रति नही अपितु सविद सरकारो की ओर है। वास्तव म 'सविद सरकार शब्द 'सविद राजनीति' का सकुचित अर्थ है।

द्वितीय प्रश्न, जो कि इस सम्बन्ध म उठाया जाता रहा है यह है कि क्या मिलीजुली सरकार व्यवस्था भारतीय राजनीतिक व्यवस्था क अनुकूल है। इस प्रश्न का उत्तर देने क लिए हम भारतीय राजनीतिक व्यवस्था के मूल्य पक्ष एव सस्थागत (substantive and institutional issue) क सन्दर्भ मे मिलीजुली सरकार व्यवस्था की विवेचना करेगे। जहा तक मूल्य पक्ष का सवाल है, सविधान क तीन प्रमुख उद्देश्य है - लोकतन्त्र राष्ट्रीय एकता एव सामाजिक न्याय। अत यहा यह प्रश्न रखा जा सकता है कि क्या मिलीजुली सरकार प्रणाली इन तीनो उद्देश्यो की पूर्ति म बाधक होगी? अर्थात् क्या इस प्रणाली क अन्तर्गत हम इन उद्देश्यो क निकट जाने म सफल रहे है अथवा दूर हो गये है? जहा तक सस्थागत पक्ष का प्रश्न है, सस्था के रूप म जब हम हमारी राजनैतिक व्यवस्था की बात करते है तो हमे स्मरण हो जाता है कि हमारे यहा ससदीय लोकतन्त्र व सघात्मक व्यवस्था है। अत यहा यह भी स्मरण हो जाता है कि क्या मिलीजुली सरकार व्यवस्था इन दोनो के अनु कूल है या प्रतिकूल? मिलीजुली सरकार व्यवस्था (जो कि सविद राजनीति क सकु चित अर्थ म व्याप्त है) हमारी राजनीतिक व्यवस्था के अनुकूल है या नही इसका जवाब स्वय मिलीजुली सरकार प्रणाली के स्वरूप पर निर्भर करता है और अगर यह सही है तो हम मानरहे है कि मिलीजुली सरकार का स्वरूप भिन्न भिन्न है। अत यहा यह स्पष्ट है कि हो सकता है कि मिलीजुली सरकार का कोई स्वरूप राजनैतिक व्यवस्था क अनुकूल हो कुछ स्वरूप इसके बिलकुल प्रतिकूल हो तथा कुछ स्वरूप कम प्रतिकूल हो सकते है। अत मिलीजुली सरकार प्रणाली भारतीय राजनीतिक व्यवस्था क अनुकूल है या नही इसका उत्तर एक लय म नही दिया जा सकता।

इसी के साथ एक और बात यहा स्पष्ट कर देना उपयुक्त होगा कि मिली जुली सरकार प्रणाली हमारे यहा गतिशील (dynamic) स्थिति म है, स्थिर नही। यह स्वय विकास क एक क्रम स गुजरती हुई दिखाई देती है। अत जब हम इसक स्वरूपो पर विचार करते है तो हम इसके विकासवादी, गतिशील व परिवर्तित रूप म

अध्ययन करना चाहिए और जब हम ऐसा करते हैं तो हम निम्नलिखित तीन राजनीति व्यवस्था के तीन चरण निर्धारित करते हैं —

(i) The phase of anti-congress non-ideological coalitional politics (1967–1969)

(ii) The phase of anti-congress programmatic coalitional politics (1969–from mid term poll to the Congress split)

(iii) The phase of politic-programmatic coalitional politics (The Congress split and after)

किन्तु यहां यह उल्लेखनीय है कि जब हम इस प्रकार काल विभाजन का (Periodization) करते हैं तो हमारा यह तात्पर्य नहीं है कि दूसरी प्रवृत्ति जब आती है तो प्रथम प्रवृत्ति खत्म हो जाती है या जब तीसरी प्रवृत्ति आती है तो प्रारम्भिक दोनों प्रवृत्तियां खत्म हो जाती हैं। वास्तविकता तो यह है कि पूर्ण वर्गीकरण (complete classification) कभी नहीं होता है। एकाबद्ध वर्गीकरण नहीं किया जा सकता। अतः हमारी संविद राजनीति गतिशील एवं विकासशील है न कि अचल एवं स्थिर।

उपरोक्त भूमिका के अन्तर्गत जब हम संविद राजनीति का अध्ययन करते हैं तो कुछ लक्षण सामने आते हैं—

(i) संविद राजनीति और एक दलीय प्रभुत्व व्यवस्था

हमारे यहां जो संविद राजनीति का स्वरूप उभरा उसका एक प्रमुख कारण स्वयं एक दलीय प्रभुत्व व्यवस्था था। चूंकि विरोधी दल कांग्रेस के विकल्प के रूप में उभर कर नहीं आ सके थे और जब 1967 में आठ राज्यों में कांग्रेस हारी तो एक राजनीतिक शून्य उत्पन्न हुआ क्योंकि एक विरोधी दल सरकार बनाने की स्थिति में नहीं था। अतः मिल जुल कर सरकार बना कर इस शून्य को भरने का निश्चय किया। जैसा कि राम मनोहर लोहिया की मान्यता थी कि कांग्रेस को मिल जुल कर ही हरा सकते हैं एवं इसका स्थान ले सकते हैं। अतः एक दलीय प्रभुत्व व्यवस्था में व्यक्तित्व का न उभरना एक कारण था जिसने हमारे यहां मिली-जुली राजनीति को जन्म दिया। अतः 1967 में यह हमारे सामने आती है किन्तु इसके बीज में एक दलीय प्रभुत्व व्यवस्था में अतएव मिली जुली व्यवस्था का यह विकल्प स्वाभाविक एवं अनिवार्य था।

(ii) संविद राजनीति और इसके उद्देश्य

यद्यपि विरोधी दलों ने, जैसा कि ऊपर कहा गया है कि कांग्रेस को हराने एवं उसके स्थान पर अपना स्थान ग्रहण करने हेतु आपस में समझौता किया। किन्तु क्या यह उनका अंतिम उद्देश्य था या अल्प कालीन? डा. इकबाल नारायण

अनुसार उनका यह अल्पकालीन उद्देश्य था। और विरोधी दल का अन्तिम स्थायी उद्देश्य था कि स्वयं इतना शक्तिशाली बनाकर अकेले सरकार बना। अकेले ही बहुमत प्राप्त करना एवं सरकार बनाना उनका स्थायी उद्देश्य था, बात इन विरोधी दलों के अधिवक्ताओं ने भी कही गयी। किन्तु यह अन्तिम उद्देश्य प्राप्त करना उनको दूर की बात लगती थी अतः उन्होंने एक अल्पकालीन लक्ष्य भी रखा गया मिलजुल कर चुनाव लड़कर कांग्रेस को हराना उस समय तक जब तक वह अकेला सरकार न बना सके। इस प्रकार इन दलों में बँटे हुए व्यक्तित्व (split personality) का रूप नजर आता है और इस स्थिति में अल्पकाल मिली जुली सरकारों में तनाव की स्थिति का होना स्वाभाविक था क्योंकि प्रत्येक दल का प्रयत्न अन्तिम उद्देश्य प्राप्त करने का था। यही कारण है कि ये दल आपस में मिलकर एक दूसरे पर यह आरोप लगाते रहे कि अमुक दल अपनी शक्ति को बढ़ाकर दूसरे दलों की स्थिति को कमजोर करने में लगे हुए हैं। उदाहरणार्थ बंगाल में अजय मुखर्जी एवं भारतीय मार्क्सवादी साम्यवादी दल के बीच या उत्तर प्रदेश में जनसंघ एवं भारतीय क्रान्तिदल के मध्य तकरार।

(iii) संविद राजनीति का स्वरूप

मिली जुली सरकार व्यवस्था की जो राजनैतिक शैली थी, वह भी उनके बंटे हुए व्यक्तित्व (split personality) का प्रतीक थी। प्रत्येक दल यह भी सोचता था कि वह सरकार में उस समय तक रहे जब तक कि उसके अन्तिम उद्देश्य की प्राप्ति के प्रयत्न में हानि नहीं पहुंचे। यदि कोई दल हिंसा में विश्वास रखता तो वह इस लिए नहीं छोड़ देता क्योंकि वह सरकार में आ गया है। अपितु वह सरकार में आने के बाद लक्ष्य को प्राप्त करने में और भी अधिक सक्रिय प्रयत्न करता था। जैसे बंगाल में अजय मुखर्जी एवं ज्योतिबसु द्वारा सरकार में रह कर अपने-अपने दलों के लिए अन्तिम उद्देश्य प्राप्त करने की कोशिश तथा परिणाम स्वरूप इनमें आपस में आरोप प्रत्यारोप लगाये जाने की निरन्तर प्रवृत्ति। इन उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि इस प्रकार की सरकारों में किस प्रकार शान्ति और क्रान्ति आदि विभिन्न शैलियों का मिश्रण हो गया और इसी मिश्रण से सरकार के सामने बराबर संकट रहता था कि कौनसी शैली का स्थान तथा कौनसी शैली का दमन किया जाए। इसके परिणामस्वरूप प्रशासन भी निष्क्रिय हो गया क्योंकि सरकार के विभिन्न घटकों में शैलियों के सम्बन्ध में तनाव रहता था। अतः इन सरकारों की स्वयं राजनैतिक शैली भी मिश्रित हो गई इन सरकारों में कई दल मिल कर सरकार बनाते थे, यह तो सभी मिलीजुली सरकारों का सामान्य लक्षण था। इसके अतिरिक्त इनके और भी विभिन्न लक्षण थे, जिनका वर्गीकरण निम्नांकित सारणी से समझा जा सकता है

TABLE

Coalitional Types by Sub Variables

Sub variables	Types
1 By time sequence of coalitional formation pre-election or post election	(1) (a) Electoral alliances turned governmental coalition
	(b) Post election governmental coalition
2 By mutual strength of the coalitional partners	(1) (a) One party dominant governmental coalition
	(b) Major party dominance governmental coalition
3 By strength of coalitional partners vis a vis legislative strength	(1) (a) Majority governmental coalition
	(b) Minority governmental coalition
4 By ideological orientation of coalitional partners	(1) (a) Ideologically homeogentious government coalition
	(b) Ideologically hatredious governmental coalition
	(2) (a) Leftist government coalition
	(b) Rightist government coalition
	(c) Centreist government coalition
	(d) Idologically neutral governmental coalition
5 By Number of-coalitional Parties	(1) (a) Many party governmental coalition
	(b) Two party governmental coalition
	(c) Few party governmental coalition

6 By interaction of infrastructure and Politics — (1) (a) Infrastructure dominated coalition
(b) Secular structure coalition

(a) संविद राजनीति और संसदीय व्यवस्था

इस सम्बन्ध में जो प्रश्न विचारणीय है, वह यह है कि अब तक देश में जो मिली जुली सरकार की व्यवस्था जहां भी रही है क्या उससे भारतीय संसदीय व्यवस्था में कुछ परिवर्तन आया है अथवा वही "ब्रिटिश मोडल' पर कायरत है। इसे दूसरे शब्दों में ऐसे भी पूछा जा सकता है कि क्या संविद राजनीति संसदीय व्यवस्था के अनुकूल है अथवा प्रतिकूल? अथवा कौनसी मिली-जुली प्रणाली संसदीय व्यवस्था के अधिक अनुकूल है और कौनसी कम ? इन प्रश्नों का समुचित उत्तर इसके (संसदीय व्यवस्था) प्रमुख लक्षणों के सन्दर्भ में ही भली भांति दिया जा सकता है —

(i) मुख्यमन्त्री का नेतृत्व (Leadership of the Chief Minister)—संसदीय व्यवस्था में वास्तविक कार्यपालिका प्रधानमन्त्री के नेतृत्व में काम करती है और प्रधानमन्त्री का संसदीय नेता तथा कार्यपालिका के वास्तविक अध्यक्ष के रूप में महत्वपूर्ण स्थान होता है अर्थात् अन्यों की तुलना में इसका स्थान प्रथम (primus interpares) होता है। यहां तक कि ब्रिटेन की केबीनट व्यवस्था को मकेनटोश ने प्रधानमन्त्रीय व्यवस्था (Prime ministerial-system) कहा है। भारत की प्रणाली भी इसी दिशा की ओर जा रही है। संसदीय व्यवस्था की सफलता को इसका आधारभूत तत्व माना जाता है।

अत अब हमें देखना होगा कि क्या मिली जुली व्यवस्था में भी, जैसा कि हमारे देश के अनेक राज्यों में कायरूप में रही, मुख्यमन्त्री का नेतृत्व प्रमुख रहा अथवा गौण ? इसका उत्तर नकारात्मक दिया जाता है क्योंकि व्यवहार में मुख्यमन्त्री का पद संविद राजनीति में सौदेबाजी का सर्वाधिक महत्वपूर्ण केन्द्र बन गया। उदाहरणार्थ संयुक्त सरकार के साझीदारों में मतभेद होने से प० बंगाल में उप मुख्य मन्त्री का पद स्थापित करना पड़ा जिससे अमुक राजनीतिक दल की मांग को संतुष्टि प्रदान की जा सके। समझौते की यह नेतृत्व व्यवस्था सफल नहीं हो सकी। संविद सरकार में मुख्यमन्त्री के नेतृत्व की स्थिति को हम निम्नांकित बिन्दुओं पर आंक सकते हैं —

(a) एक दलीय बहुमत वाली सरकार में मुख्यमन्त्री का पद बहुमत वाली पार्टी को मिलता है और उसका नेतृत्व पहले से ही स्वीकृत होता है कोई समझौता नहीं करना पड़ता है किन्तु मिली जुली व्यवस्था में मुख्यमन्त्री का पद इस आधार पर नहीं मिलता है कि अमुक व्यक्ति

प्रमुख दल का नेता है अपितु एक समझौता होता है एक सौदा है जिसके अन्तर्गत ऐसा व्यक्ति जो सभी दलों को स्वीकार्य हो, इस शर्त पर कि हमारे दल का व्यक्ति उप मुख्यमंत्री होगा या हमारे दल को यह विभाग मिलेंगे। इस प्रकार उसका पद समझौते पर आधारित (contractual) होता है और वह स्वतः उत्पन्न नेतृत्व (cultivated leadership) का प्रतीक नहीं होता है।

(b) संविद सरकारों के मुख्यमंत्री को इस बात की स्वतन्त्रता नहीं रहती कि वह किस व्यक्ति को कौनसा विभाग सौंपता है। यह बात भी उस समझौते का अंग होता है। उत्तर प्रदेश में जनसंघ ने एक ओर शिक्षा विभाग को अपने पास रखना चाहा तो दूसरी ओर साम्यवादी दल ने पश्चिमी बंगाल में ज्योतिबसु को गृह विभाग देने पर बल दिया। मुख्यमंत्री के समक्ष इसके सिवाय कोई चारा नहीं था कि वह विभिन्न दलों की विभिन्न मांगों को स्वीकार कर ले। बिहार में दारोगाराय मन्त्री मण्डल को साम्यवादी दल की तीन मांगों को विवश होकर अन्त में स्वीकार करना पड़ा यद्यपि इस दल का कोई विशेष प्रतिनिधित्व विधान सभा में नहीं था। इसके अतिरिक्त मुख्य मन्त्री को ... दलबदलुओं के हितों के समक्ष झुक कर अपने मन्त्री मण्डल का विस्तार करने के लिए विवश होना पड़ा। उत्तरप्रदेश में चरणसिंह मन्त्रीमण्डल के सदस्यों की संख्या पचपन थी और कई महत्वपूर्ण विभागों को इसी कारण उप विभागों में बांटकर प्रत्येक मन्त्री को विभाग सौंपे गये, जबकि सहकारिता, सिंचाई कृषि और सामुदायिक विकास जैसे विषयों का समन्वय के हित में एक व्यक्ति के पास रहना आवश्यक था।

(c) संविद सरकारों में विभिन्न दल अपना दबाव मुख्य मन्त्री पर न केवल मन्त्रीमण्डल के निर्माण के वक्त ही डालते हैं अपितु बाद में भी दबाव होता रहता है कि अमुक दल की अमुक मांग नहीं मानी जायेगी तो तो वह मन्त्रीमण्डल का समर्थन देना बन्द कर देगा। इस प्रकार नियन्त्रण सदैव रहता है।

अतएव संविद सरकारों में मुख्यमन्त्री का पद उतना प्रभावशाली नहीं होता जितना एक दलीय बहुमत वाली सरकार में।

(ii) **राजनीतिक एकरूपता (Political homogeneity)**—एक दलीय बहुमत वाली सरकार में राजनीतिक एकरूपता होती है किन्तु मिली-जुली सरकार व्यवस्था में इसका अभाव रहता है। जैसे कि हमारे यहां विभिन्न दल जो कि मिली-जुली

सरकार में शामिल होते थे न्यूनतम कार्यक्रम को निश्चित करते थे। किन्तु व्यवहार में यह कार्यक्रम भी दिखावा मात्र लगता था। चूंकि विरोधी विचारधाराओं का मिश्रण होता है, अतः न्यूनतम कार्यक्रम तनाव की स्थिति का चित्रण करता है और बहुधा कार्यान्वित नहीं हो पाता है। दूसरा कारण है—विभिन्न दलों को विभिन्न क्षेत्रों से समर्थन मिलता है। एक दल ऐसा होता है जिसका समर्थन धनाढ्य वर्ग करता है एक दल ऐसा हो सकता है जिसका समर्थन छोटे व्यापारी व किसान करते हैं, तीसरा दल ऐसा भी हो सकता है जिसका समर्थन निम्न वर्ग करता है ऐसी स्थिति में न्यूनतम कार्यक्रम को लागू करने में कठिनाई होती है क्योंकि उसमें विभिन्न दलों के हितों में संघर्ष होता है। उदाहरणार्थ—चीनी उद्योग के राष्ट्रीयकरण को लेकर उत्तरप्रदेश के विभिन्न संविद सरकारों में आन्तरिक मतभेद रहा क्योंकि इनमें शामिल होने वाले विभिन्न दलों के समर्थन आधार (support structure) भिन्न भिन्न था। अतः क्रियान्विति के अवसर पर उस न्यूनतम कार्यक्रम को लागू करने में कठिनाई होती है जिन्हें कि समझौते के समय लिख तो लिया गया था। उदाहरणार्थ यहां पश्चिम बंगाल में संयुक्त मोर्चे का 10 सिद्धान्त एवं उड़ीसा में संयुक्त दलों का 21 बिन्दु कार्यक्रम रखे जा सकते हैं।

किन्तु यदि संविद-सरकार एक समान विचारधारा वाले दलों की (like minded parties coalition) की हो तो वहां ऐसे न्यूनतम कार्यक्रम की क्रियान्विति में कठिनाई नहीं होती है जैसे केरल में। भारत में असमान विचारधारा वाली मिली जुली सरकारें इसी कारण निष्क्रिय हो जाती थी अपेक्षाकृत समान विचारधारा वाली मिली जुली व्यवस्था के।

(ii) मन्त्रियों का सामूहिक उत्तरदायित्व (collective responsibility of ministers) संसदीय शासन का आधार सामूहिक उत्तरदायित्व होता है जिसके अनुसार शासक दल एक व्यक्ति की भांति काम करता है एवं सामूहिक रूप से व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी होता है। परन्तु मिली जुली व्यवस्था में यह स्वरूप भी विकृत हो जाता है। इसे हम दो भागों में देख सकते हैं —

(a) मन्त्रियों का अन्य मन्त्रियों से सम्बन्ध अथवा सामूहिक उत्तरदायित्व,

(b) मन्त्रियों का विधान मण्डल से सम्बन्ध।

जहां तक प्रथम भाग का प्रश्न है, केवल कुछ सरकारों को अपवाद स्वरूप छोड़कर देखें तो यह उत्तरदायित्व संविद सरकारों में सामूहिक न होकर व्यक्तिगत था। जैसे उत्तरप्रदेश में मन्त्रियों द्वारा मुख्यमन्त्री को त्याग पत्र देने से इन्कारी एवं पश्चिमी बंगाल में मुख्यमन्त्री श्री अजय मुखर्जी द्वारा अपने ही गृहमन्त्री ज्योतिबसु के विरुद्ध सत्याग्रह करना इसके अच्छे उदाहरण हैं।

इसी प्रकार दूसरे भाग के सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि इसका व्यावहारिक अर्थ है कि जब तक विधान मण्डल का मन्त्रिमण्डल में विश्वास है वह आसीन

रहेगा। किन्तु बहुधा ऐसा देखा गया कि विधान मण्डल का तो मन्त्रीमण्डल में विश्वास रहता है किन्तु राज्यपाल उसे अपदस्थ कर देता है जैसे उत्तर प्रदेश में चरण सिंह मन्त्रिमण्डल के विरुद्ध कदम। हरयाणा में भी इसी प्रकार का परिचय वहां के राज्यपाल ने दिया था। कई बार मुख्य मन्त्री ने विधान सभा का शीघ्र अधिवेशन बुलाने से इन्कार कर दिया। जैसे प० बंगाल में राज्यपाल धर्मवीर के आग्रह पर भी मुख्य मन्त्री ने विधान सभा का शीघ्र अधिवेशन बुलाने से इन्कार कर दिया। अन्य मामलों में राज्यपालों ने मुख्य मन्त्रियों को सौदेबाजी के अवसर प्रदान कर दिए जैसे पंजाब में बादल मन्त्रिमण्डल। अतः किसी न किसी रूप में संयुक्त दलीय सरकारों के सौहार्दपूर्ण सम्बन्धों का निर्वाह नहीं हो सका।

(iv) राज्यपाल की स्थिति (Position of Governor) —संसदीय व्यवस्था में एक संवैधानिक अध्यक्ष होता है और संघीय शासन प्रणाली में यह दो स्तर पर होता है। भारत में राज्यपाल की दुहरी भूमिका निश्चित की गई है (a) राज्य के संवैधानिक अध्यक्ष के रूप में (b) केन्द्रीय सरकार के यन्त्र के रूप में। संविद सरकारों में यह सीमा निर्धारित करना कि राज्य पाल कब तक संवैधानिक अध्यक्ष के रूप में कार्य करेगा और कब तक वह केन्द्रीय सरकार के यन्त्र की स्थिति में रहेगा, ऐसा खोजना मुश्किल हुआ। यह इसलिए भी हुआ क्योंकि एक दलीय प्रभुत्व व्यवस्था में यह स्पष्ट ही नहीं हो पाया था कि राज्यपाल क्या कर सकता है तथा क्या नहीं। अर्थात् उसकी भूमिका को लेकर संदेह बना हुआ था। दूसरी बात केन्द्र में तो हमेशा कांग्रेस पार्टी का शासन रहा किन्तु राज्यों में ऐसा नहीं था। अतः यह सन्देह हमेशा बना रहा कि राज्यपाल सदैव कांग्रेस पार्टी का एजेन्ट बन कर कार्य करता है और यह सन्देह कभी ठीक तथा कभी गलत होता था। तीसरी बात यह भी थी कि मिलीजुली सरकार के आन्तरिक तनाव भी इतने थे जिसके कारण राज्यपाल का नाम मात्र का शासन बना रहना सरल न था क्योंकि समय समय पर एक दल सरकार को छोड़ने की धमकी देता था या कभी कुछ सदस्य छोड़कर चले जाते थे जिससे बहुमत अल्पमत में परिणित हो जाता था। इससे राज्यपाल की स्थिति संदेहास्पद हो गई क्योंकि उसे समय समय पर यह निश्चित करना पड़ता था कि सरकार बहुमत में ही है या अल्पमत में हो गई है। अतः राज्यपाल की संवैधानिक अध्यक्ष की स्थिति नहीं रह पाई।

संसदीय व्यवस्था में मुख्य मंत्री का यह अधिकार माना जाता है कि उसे अगर विधान मण्डल का विश्वास खत्म हो जाता है किन्तु अगर वह यह समझता है कि राज्य का उसे विश्वास प्राप्त है अथवा वह समझता है कि वह पुनः चुनाव कराके अपने पक्ष में निर्णय ले सकता है तो उसे विधान मण्डल को विघटन कराने का का अधिकार है। किन्तु मिलीजुली व्यवस्था में जब ऐसी मांग रखी गई तो कहीं कहीं राज्यपाल ने इसे स्वीकार किया, किन्तु कहीं-कहीं उन्होंने अस्वीकार कर दिया।

अत यह विवाद उत्पन्न हुआ कि क्या उस मुख्यमत्री को विधान सभा भग कराने का अधिकार है जो अल्पसख्यक व्यक्तियो का नेता रह गया है। इसका समाधान हुआ भी नही।

इसके अतिरिक्त एक और विवाद उत्पन्न हुआ, विशेष तौर से उत्तर-प्रदेश म, कि मिलीजुली व्यवस्था के मुख्यमत्री का क्या वही स्थान है जसा कि एक दलीय बहुमत वाले मुख्यमत्री का होता है। राज्यपाल डा० गोपाल रेड्डी के अनुसार मिली-जुली व्यवस्था के मुख्यमत्री का स्थान गौण है अत उसे विधान मण्डल भग कराने का अधिकार नही है। किन्तु यह दृष्टिकोण उचित मालूम नही होता है क्योकि कानूनी दृष्टि से मोटे तौर पर मुख्यमत्री का स्तर चाहे एक दलीय बहुमत वाली सरकार हो अथवा मिली जुली व्यवस्था हो, समान होना चाहिए। इसीलिए उसे विधान मण्डल का विघटन कराने का अधिकार भी समान होना चाहिए। इस विवाद का भी समाधान नही हो सका।

(v) प्रशासनिक सेवाए Administrative Services) —ससदीय व्यवस्था की सफलता इसमें समझी जाती है कि प्रशासनिक व्यवस्था तटस्थ रहे। अत कोई भी दल सरकार मे आये, वे उसका स्वागत करते हैं। किन्तु मिलीजुली व्यवस्था प्रशासनिक व्यवस्था के तटस्थीकरण के लिए एक चुनौती बन कर आई। क्योकि —

(a) भारतीय प्रशासनिक अधिकारीगण प्रथमत अपने को केन्द्र के अधीन मानते हैं चू कि काग्रेस केन्द्र मे थी, अत यह समझ लिया जाता था कि वे उसके निर्देशन मे काय करते है।

(b) मिलीजुली व्यवस्था मे भिन्न भिन्न मन्त्री उन्ह (प्रशासनिक अधिकारियो को) भिन्न भिन्न आदेश देते पाये गये। उदाहरणाथ प बगाल मे इस प्रकार की प्रवृत्तिया सविद सरकारो के काल मे काफी पनपी।

इनके परिणाम स्वरूप प्रशासन एक प्रकार से लकुवे की स्थिति म पहुच गया, प्रशासनिक अधिकारीगण अपनी शक्ति बढाने लगे। इसी प्रकार विरोधी आदेशो से बचने के लिए उन्होने ऐसा रास्ता निकाला कि हाथ पर हाथ धरे बठे रहना उत्तम है। अत सयुक्त दलीय सरकारो के विरोधी कायक्रमो को देखते हुए लोक सेवाओं को दोषी नही ठहराया जा सकता। किन्तु यहा भी एक रूप सविद सरकारो (like minded parties, coalition) मे यह दोष नही था।

(vi) राजनीतिक अस्थिरता (Political Instability) —एक दलीय बहुमत वाली सरकार के लिए यह कहा जाता है कि यह स्थायी रहती है। इससे नीति निर्धारित करने, व उसे कार्यान्वित करने म सफलता मिलती है। भारत में कुछ सविद सरकारें तो लम्बी चलीं किन्तु अधिकाश सरकारें क्षणिक रहीं। परिणाम स्वरूप उन राज्यो मे राजनीतिक अस्थिरता पनपी और उसमे विकास, नीति आयोजन

एवं शांति व्यवस्था पर भी कुप्रभाव पड़ा। अपने अस्तित्व को कायम रखने के लिए स्वार्थ की राजनीति को प्रोत्साहित किया गया तथा दल बदलाव को बढ़ावा मिला। इस प्रकार अस्थायित्व ही संयुक्त सरकारों की मूल विशेषता रहा।

निष्कर्ष—निष्कर्ष के तौर पर कहा जा सकता है कि —

(i) अभी तक जो मिलीजुली सरकारें रहीं, उनमें यह कम ध्यान दिया गया कि समान विचारधारा वाले दल मिल कर सरकार बनाये और इसलिए अधिकांश मिलीजुली सरकारें विरोधी विचारधाराओं के मेल से बनी जो कि संसदीय व्यवस्था के अनुकूल न रह सकी।

(ii) वे मिलीजुली सरकारें जो समान विचारधारा वाले दलों से बनीं, उनकी अनुकूलता संसदीय प्रणाली के प्रति तुलनात्मक दृष्टि से अधिक रही।

अतः प्रत्येक मिलीजुली सरकार के लिए ऐसा नहीं कहा जा सकता कि वह संसदीय व्यवस्था के प्रतिकूल है। मिलीजुली व्यवस्था भी संसदीय व्यवस्था के अनुकूल हो सकती है, बशर्ते कि वे एक समान विचार वाले दलों (like minded parties) से निर्मित हुई हो।

(b) संविद राजनीति एवं संघवाद (Coalitional Politics and Federalism)

केन्द्र राज्य सम्बन्धों के परिप्रेक्ष्य में संघीय ढांचे तथा संयुक्त दलीय व्यवस्था के अन्तःसंघर्ष (interaction) को कुछ महत्वपूर्ण केन्द्र बिन्दुओं के सन्दर्भ में समझा जा सकता है। परन्तु इससे पूर्व हमें दो प्रमुख बातें समझ लेनी चाहिए। प्रथम, मिली जुली व्यवस्था का जितना दबाव संसदीय प्रणाली पर पड़ता है उतना संघात्मक प्रणाली पर नहीं पड़ता है, किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि संघात्मक प्रणाली इसके प्रभाव से अछूती रह गई हो। द्वितीय, संघीय व्यवस्था पर दलीय स्थिति का प्रभाव पड़ता है। एक दलीय-विरोधी एवं बहुदलीय-विरोधी संविद सरकारों दोनों का ही संघीय व्यवस्था पर प्रभाव पड़ता है। यद्यपि इन प्रभावों के बीच कोई गुणात्मक अन्तर नहीं है, फिर भी यह अन्तर इतना अवश्य है कि केन्द्र पर कभी-कभी बहुदलीय विरोधी संविद सरकारों का प्रभाव ज्यादा पड़ता है, अपेक्षाकृत एक दलीय विरोधी बहुमत सरकार के। अतः मौलिक रूप से कोई अन्तर नहीं होता है, केवल मात्रात्मक अन्तर पड़ता है।

सुविधा के लिए यह ध्यान रखा जाना आवश्यक है कि इसे हम दो कालों में विभाजित करके देख सकते हैं जैसे कि कांग्रेस विभाजन के पूर्व की स्थिति (1967–69) एवं कांग्रेस फूट के पश्चात् की स्थिति (1969–71) जिनकी विभाजक रेखा राष्ट्रपति के चुनाव के काल से मानी जा सकती है। केन्द्र में कांग्रेस फूट के पूर्व कांग्रेस का शासन था परन्तु कई राज्यों में संयुक्त दलों की सरकारों का निर्माण हो गया था फिर भी केन्द्र एवं राज्यों के बीच संघर्ष की विशेष स्थिति का जन्म नहीं

हुआ था। परन्तु कांग्रेस फूट के पश्चात् स्वय कांग्रेस का केन्द्र म द्रविड मुनेत्र कडकम एव कम्युनिस्ट पार्टी के सहयोग पर निभर रहना पडा और यह स्थिति सयुक्त दलीय व्यवस्था के कुछ अशो म समान ही थी, फक इतना था कि यहा कांग्रेस वाह्य समथन पर शासन कर रही थी, न कि इन दलो के शासन म भागीदारी के साथ। अतएव केन्द्र एव राज्यो के सम्बन्धो का परिश्रम इसी सन्दभ म निश्चित हुआ।

सघात्मक व्यवस्था म सविद राजनीति से उत्पन्न कुछ प्रभावी प्रवृत्तिया निम्नाकित रूप म उभर कर आई —

(1) राज्यपाल की स्थिति केन्द्र के यन्त्र के रूप म सविद सरकार के आवरण म काफी सदेह जनक एव आपत्तिजनक की पात्र हो जाती है क्योकि उसका राज्य के स्तर पर विभिन्न दलो के सरकार बनाने से सम्बन्ध होता है तनाव होने हैं सरकारें बदलती रहती हैं। अत राज्यपाल को ज्यादा हस्तक्षेप करना पडता है। अत इस आरोप की सम्भावनाए और भी बढ जाती है कि यह केन्द्र के इशारे के रूप मे ही काय कर रहा है और यह सम्भावनाए उस समय और भी अधिक हो जाती है जब राज्य की सरकार म कांग्रेस (केन्द्रीय दल) भी शामिल हो। अत राज्यपाल के पद और उसके दायित्वो को लेकर उपरोक्त दोनो ही कालो म केन्द्र राज्य सघष की स्थितियो का जन्म हुआ। प० बगाल म राज्यपाल धमवीर द्वारा सयुक्त दलीय व्यवस्था के नेतृत्व की पदच्युति एव उत्तर प्रदेश के राज्यपाल गोपाल रेड्डी द्वारा चरणसिंह मन्त्रिमण्डल के सम्बन्ध म उठाये गये कदमो को उदाहरणाथ लिया जा सकता है। राज्यपालो के लिए विवादास्पद स्थिति तीन अर्थों मे प्रकट हुई।

(i) जबकि सयुक्त मोर्चे के भागीदारो की सख्या बहुत अधिक थी, जैसे प० बगाल मे 14 दलीय मोर्चा।

(ii) जबकि सयुक्त मोर्चे की प्रकृति भिन्न रही हो, जैसे उत्तर प्रदेश एव बिहार के सयुक्त विधायक दल।

(iii) जबकि सयुक्त दलो की स्थिति विधान सभा म कमजोर हो, अथवा जब किसी दल द्वारा सयुक्त मोर्चा की व्यवस्था को झकझोर दिया गया हो। जसे हरयाणा एव बिहार के सयुक्त विधायक दलो मे कम्युनिस्ट पार्टी का व्यवहार।

उपरोक्त परिस्थितियो म व सयुक्त दलो की सरकारो ने राज्यपालो द्वारा उठाये गए कदमो की हमेशा आलोचना की है क्योकि उनके अनुसार राज्यपाल ने एक निष्पक्ष सवधानिक अध्यक्ष की हैसियत से काय नही किया। इस सम्बन्ध म यह तथ्य महत्वपूण रहा है कि राज्यपालो ने स्थितिजन्य विवेक (situational discretion) का प्रयोग अपनी अपनी परिस्थितियो के अनुसार किया एव राज्यपालो के क्रिया कलापो म विभिन्नता)role differentiation) रही। विरोधी दलो न इस सम्बन्ध मे राज्यपालो के अधिकारो को स्पष्ट रूप से परिभाषित करने की माग की।

राज्यपालो के सम्मेलनों में उसे संवैधानिक अध्यक्ष की हैसियत से कार्य करने का कहा गया किन्तु यह प्रश्न आज भी समाधान चाहता है कि इस राजनीतिक पद से किस सीमा तक निष्पक्षता की आशा की जाए।

(ii) राज्यपाल के पद और उसके दायित्वों के विवाद के अतिरिक्त केन्द्र राज्य संघर्ष की दूसरी स्थिति का केन्द्र कार्य विभिन्नीकरण (Functional differentiation) की व्यवस्था रहा है। केन्द्र और राज्यों के बीच इस संघर्ष की प्रवृत्ति 1967 के पश्चात् विशेष तौर से देखी गई। राज्यों की गैर काग्रेसी सरकारों ने केन्द्र के अधिकार क्षेत्र को चुनौती दी। वित्तीय सम्बन्धों को लेकर कई गैर काग्रेसी राज्यों ने वित्तीय शक्ति वितरण (power-distribution) की पुन परिभाषित करने की माग की जिससे वित्तीय अनुदानों की व्यवस्था एव केन्द्रीय सहायता के मापदण्डों को व्यवस्थित स्वरूप दिया जा सके। केन्द्र सरकार के विरुद्ध भेदभाव करने के कई आरोप लगाये गये जैसे उत्तर प्रदेश के सयुक्त विधायक दल द्वारा केन्द्र के विरुद्ध भेदभाव करने के आरोप लगाये गये थे। प० बगाल मे केन्द्रीय रिजर्व पुलिस के रखने के प्रश्न पर वहा की सरकार ने (भारतीय साम्यवादी मार्क्सवादी दल) ने केन्द्र से विरोध प्रकट किया तथा केरल अनिवार्य सेवा अध्यादेश के परिपालन से वहा की सरकार ने इन्कार कर दिया। इनके अतिरिक्त केन्द्रीय सरकार की खाद्यनीति, भाषा के प्रश्न अन्तर्राज्यिय जल विवाद, अन्तर्राज्यिय सीमा विवाद एव उद्योगो की स्थापना के प्रश्नों को लेकर भी सघीय शासन व्यवस्था मे विघटन की परिस्थितिया उत्पन्न हुई थी। केन्द्रीय योजना आयोग एव वित्त आयोग के अधिकार क्षेत्रों के सन्दर्भ मे भी विवादास्पद स्थिति रही जिसके अन्तर्गत 1969 के अप्रेल मे राष्ट्रीय विकास परिषद् की बैठक मे प्रथम बार कई राज्यों ने चतुर्थ-पचवर्षीय योजना के मसौदे पर अपनी अस्वीकृति दी। इस प्रकार योजनाओं पर राज्यों से स्वीकृति प्राप्त करना सयुक्त सरकारों के सन्दर्भ मे कठिन हो गया।

(iii) भारतीय सघीय व्यवस्था के परिप्रेक्ष्य मे केन्द्र को विशिष्ट सवैधानिक दर्जा प्रदान किए जाने के पीछे मूल उद्देश्य था, राष्ट्र के विकास और परिवर्तन मे व्यवस्था प्राप्त करना एव इसके लिये केन्द्र को एक दार्शनिक, मित्र एव निर्देशक के रूप मे स्वीकार किया गया, परन्तु सयुक्त दलीय सरकारों की व्यवस्था मे राष्ट्रीय विकास के लक्ष्यों को प्राप्त करने मे बाधाएँ पहुची क्योंकि केन्द्र और राज्यों के बीच अपेक्षित सहयोग प्राप्त नहीं हो सका। केन्द्र एव राज्यों के बीच सहयोग प्राप्त करने की दृष्टि से तीन श्रेणियां हो सकती हैं —

(a) एक दलीय प्रमुख व्यवस्था की स्थिति तीन चौथाई सहयोग (अर्थात् पूरा सहयोग तो इस व्यवस्था मे भी नहीं होगा)

(b) एक दलीय बहुमत वाली विरोधी आधा समर्थन
सरकार की स्थिति

(c) संयुक्त दलीय विरोधी सरकार एवं कोआर्डिनेशन।

इसका मतलब यह है कि संयुक्त दलीय विरोधी सरकार की स्थिति में केन्द्र को अनेक दलों को सन्तुष्ट करना पड़ता है। केन्द्र पर दबाव निरन्तर रहते हैं।

(ii) राष्ट्रीय एकता के लक्ष्यों के सन्दर्भ में राजनीति का प्रादेशिकरण उपयुक्त नहीं कहा जा सकता जो वस्तुतः हमारे देश में 1967 के आम चुनावों के पश्चात् अपने नकारात्मक रूप में देखने को मिला। केन्द्र में कांग्रेस द्रविड़ मुनेत्र कड़गम और साम्यवादी दल के समर्थन पर टिकी रह सकी और इसके बदले राष्ट्रीय स्तर की कांग्रेस का प्रादेशिक स्तर की डी एम के (तमिलनाडु) एवं मुस्लिम लीग (केरल में) के सहयोग करने पर विवश होना पड़ा।

किन्तु डा० इकबाल नारायण के अनुसार संविद सरकारों द्वारा क्षेत्रवाद को बढ़ाने या सीमित करने के बारे में निश्चयात्मक उत्तर नहीं दिया जा सकता। संविद सरकारें तो उल्टा क्षेत्रवाद को सीमित करेंगी क्योंकि संविदा राष्ट्रीय दलों के बीच हुआ, न कि क्षेत्रीय दलों के बीच—पंजाब में या तो अकाली दल अथवा क्षेत्रीय दल बहुमत प्राप्त कर लेता तो संविद सरकार का प्रश्न ही नहीं उठता, या तथा कांग्रेस या अन्य राष्ट्रीय दल मिलकर सरकार बनाते। इसी प्रकार हरयाणा में या तो विशाल हरयाणा पार्टी बहुमत प्राप्त कर सरकार बना लेती। ... राष्ट्रीय दलों के बीच संविदा से बनी संयुक्त सरकार बनाई जाती।

(c) दलीय व्यवस्था एवं संविद राजनीति

संयुक्त दलीय राजनीति का देश की राजनीतिक ... पर भी प्रभाव पड़ता है, जिसका राजनीतिक व्यवस्था की गत्यात्मकता से सीधा ... है। इस सन्दर्भ में भी विभिन्न धारणाएँ हैं। फिर भी इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता है कि संयुक्त दलीय राजनीति के प्रभावों की स्पष्ट छाप भारतीय राजनीति पर पड़ी और बहुत कुछ सीमा तक पंचम लोकसभा के मध्यावधि चुनावों के परिणामों के सन्दर्भ में वह निर्णायक साबित हुए जिसे हम निम्नांकित रूपों में देख सकते हैं —

(i) राज्यों में संयुक्त दलीय सरकारों का प्रतिरूप इस बात का प्रतीक सिद्ध हुआ कि राष्ट्रीय स्तर पर भी विरोधी दलों में गठजोड़ सम्भव है और इसके लिए प्रयत्नों का सहारा कर चार दलों के महान् गठबन्धन (Grand Alliance) को स्थापित करके किया गया।

(ii) राजनीतिक दृष्टि से भारत दलों की इस प्रणाली में ... क्योंकि ... में ... हो।

कारण संयुक्त दलीय सरकारों के विभिन्न राजनीतिक दल आपस में संघर्ष करते रहे। परिणामस्वरूप यहां गठबन्धन को पांचवीं लोक सभा के चुनावों में करारी हार का मुँह देखना पड़ा।

(iii) राजनीतिक दलों में ध्रुवीकरण की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई एवं कुछ समय के लिए राजनीतिक ध्रुवीकरण ही समस्याओं के समाधान का एकमात्र साधन माना जाने लगा।

उपरोक्त विभिन्न प्रवृत्तियों के फलस्वरूप निम्नांकित सम्भावनाएँ अभिव्यक्त की गई —

(i) संयुक्त दलीय राजनीति स्वयं बहुदलीय व्यवस्था का प्रतीक है। इसलिए यह कोई मजबूत व्यवस्था का अन्त में जन्म नहीं दे पायेगी क्योंकि 1967 से इसका अनुभव व इतिहास सुखद नहीं रहा है।

(ii) जो बहुदलीय व्यवस्था यहां रही हैं, वह स्वयं में स्थायी लगती थी। यह आशा की गई कि धीरे-धीरे चल कर राष्ट्र में केवल तीन चार दल रह जायेंगे और स्थिति को प्राप्त करने में संयुक्त दलीय सरकारों का सहयोग प्राप्त होगा। अर्थात् संयुक्त दलीय व्यवस्था स्थायी दलीय व्यवस्था को जन्म देगी।

सैद्धान्तिक विश्लेषण

अनिश्चितता व परिवर्तन की जिस स्थिति में संयुक्त दलीय राजनीति गुजरी है उसके कारण इसकी प्रकृति, प्रकारों एवं शैली के बारे में निश्चित धारणाओं का निर्माण करना सम्भव नहीं रहा है। विभिन्न राज्यों की विभिन्न परिस्थितियां ही इनकी सफलता एवं असफलता का मापदण्ड रही हैं और संयुक्त दलीय राजनीति के सम्बन्ध में सैद्धान्तिक निष्कर्षों का निर्माण करना इस स्थिति में सम्भव नहीं है। फिर भी यह तो निर्विवाद रूप से कहा ही जा सकता है —

(i) संयुक्त दलीय राजनीति लोकतान्त्रिक-व्यवस्था के परिप्रेक्ष्य में राजनीतिक दलों के अन्तिम उद्देश्य के सन्दर्भ में शक्ति प्राप्त करने और सुविधाजनक स्थिति के अर्थ में अस्थायी समझौतों से सरकार निर्माण करने का साधन रही है। इस प्रकार संयुक्त दलीय राजनीति अपनी प्रवृत्ति में ही विरोधाभासों से परिपूर्ण है।[1]

---

1 "It is, therefore, not surprising if coalitional politics in India has thus tended to be more a bargaining counter than a partership concern, more a marriage of convenience than a union of true minds" Dr Iqbal Narain 'Coalitional Politics in India and the Political System The crisis of compatibility' Political Science Revi w Vol 10 Nos 1 and 2, Jan June 1971

(ii) संयुक्त दलीय राजनीति को परिवर्तन की स्थिति का प्रतीक माना जा सकता है क्योंकि कांग्रेस की "शक्ति रिक्तता' (Power vacum) को प्रत्येक दल सामूहिक रूप से भरने की कोशिश मे व्यस्त रहा है। वास्तव म संयुक्त दलीय सरकारें कांग्रेस की एक दलीय प्रमुत्व का परिणाम रही हैं क्योंकि कांग्रेस शासन काल मे एक सुसंगठित विरोधी राजनीतिक दल का निर्माण नही हो सका। किन्तु विरोधी दलो ने अपने शासन-काल मे प्राप्त अवसर का समुचित लाभ नहीं उठाया जिसके परिणामस्वरूप पांचवी लोक सभा के चुनावो मे जनता ने उन्हें समर्थन प्रदान नहीं किया।

(iii) संयुक्त दलीय राजनीति की शैली के निर्धारण म 'व्यक्तित्व खण्डन व्यवहार (Split-personality behaviour) का उदाहरण दिया जा सकता है जो राजनीतिक दलो के मनोवैज्ञानिक व्यवहार मे अन्तर्निहित है। राजनीतिक दलो का संयुक्त राजनीति के परिप्रेक्ष्य मे विखण्डित स्वरूप लगता था क्योंकि दलो का एक भाग सरकार मे था परन्तु दूसरी ओर दलीय संगठन मे विरोध था जो संसदीय आदर्श के एकदम विरुद्ध कहा जा सकता है। दल और सरकार के असहयोग से शासन व्यवस्था भलीभांति काय नहीं कर सकती।

9

काग्रेस विभाजन

(The Split in the Congress)
(1969–70)

नवम्बर 1969 म काग्रेस दल के दो भागो म विभाजित हो जाने से (श्रीमती गाधी के नतृत्व म काग्रेस तथा सिडीकेट दल के सगठन पक्ष पर हावी बासेज के नेतृत्व म विरोधी काग्रेस) भारतीय राजनीतिक दृश्य सदेहा से गडबडा गया। ससदात्मक (या सरकारी पक्ष) व सगठन पक्ष का यह झगडा कोई नया नही था, यह तो 1947 मे ही प्रारम्भ हो गया। यहाँ तक कि शक्तिशाली एव 'चमत्कारिक' नेहरू को भी सगठन पक्ष की आ रही चुनौतियो का मुकाबले करने के लिए दलीय अध्यक्ष का भार लेना पडा तथा दलीय एव सरकारी दोना के प्रधानो के पदो को मिलाकर चलना पडा। इस प्रकार उनकी मत्यु तक (1964 तक) सरकारी पक्ष सर्वोच्च रहा किन्तु दोनो पक्षो म झगडा फिर भी प्रातों मे जारी रहा किन्तु नेहरू के मत्युपरान्त वही घटना चक्र पुन केन्द्र स्तर पर भी प्रारम्भ हुआ। सगठन पक्ष ने अपने को मजबूत बना लिया तथा नेहरू के पश्चात् दो प्रधान मन्त्रियो के निर्वाचन म अपनी निर्णायक भूमिका अदा की।[1] नेहरु के उत्तराधिकारी श्री शास्त्री सिंडीकेट के प्रभुत्व की भूमिका (Dominating role of the Syndicate) को स्वीकार करने के इच्छुक थे किन्तु श्रीमती गाधी ने पुन दृढ रवया अपनाया। सिंडीकेट के प्रति श्रीमती गाधी के अविश्वास एव शकाओ के लिये यथेष्ट कारण भी थे, जो कि उनके निवाचन को एक अतिम (An interim arrangement) मानते थे। अत श्रीमती गाधी ने न केवल स्वतन्त्रतापूवक काय ही किया अपितु दृढ एव शक्तिशाली काग्रेस अध्यक्ष कामराज (जो कि उनके चुनाव मे उन्ह *जिताने के मुख्य यन्त्र शक्ति थी) के पुनर्निर्वाचन के विरुद्ध* काय किया तथा काग्रेस अध्यक्ष पद पर कमजोर व्यक्ति को आसीन करने का प्रयत्न किया। उन्होने डा० जाकिर हुसैन को भारत का राष्ट्रपति बनाने के लिय आग्रह किया तथा इसम वह सफल भी हुई। यह जानते हुए भी, कि सिडीकेट उनके नेतृत्व को चुनौती देगा, उन्होने 1967 के आम चुनाव के लिए ससदीय उम्मीदवारो के चयन करने म

1 See Kuldip Nayar Between the Lines, first chapter

अपनी सत्ता का प्रयोग दृढतापूवक किया। यद्यपि आम चुनाव के बाद वह प्रधानमन्त्री के पद पर आसीन रही परन्तु यह सवसाधारण को प्रतीत होने लगा कि सिंडीकेट श्रीमती गाधी से छुटकारा पाना चाहती अर्थात् श्रीमती गाधी को पद से हटाया जावेगा।

दोनो पक्षो के बीच तनाव ग्रीष्म 1969 म चरम सीमा पर पहुच गया, जबकि डा० जाकिर हुसन की मृत्यु के पश्चात् भारत के राष्ट्रपति का निर्वाचन किया जाना था। श्रीमती गाधी ने वी० वी० गिरी का समथन किया जो कि उस समय उप राष्ट्रपति तथा कायवाहक राष्ट्रपति थ, जबकि सिंडीकट ने अपनी ओर से सजीव रेड्डी का, जो कि लोकसभा के तत्कालीन अध्यक्ष थे नाम प्रस्तुत किया।[1]

वस्तुत राष्ट्रपति का निर्वाचन अब श्रीमती इन्दिरा गाधी के प्रधानमन्त्री के रूप म अस्तित्व से जुड गया। साथ ही इस व्यक्तिगत-सत्ता सघष को विचारधारा के आवरण मे प्रस्तुत किए जाने के प्रयास मे यह प्रश्न था कि दश काम दक्षिण दिशाओ म किस ओर जाना चाहता है। निजलिंगप्पा द्वारा दक्षिण पथी दलो से प्रेमालाप करने स यह प्रतीत होने लगाकि सिंडीकेट राजनीतिक दशा को दक्षिण की ओर ले जावेगा। किसी भी कीमत पर, श्रीमती गाधी एव उसके समथको को अब काग्रेसी उम्मीदवार श्री सजीव रेड्डी क विरुद्ध काय करने का अच्छा बहाना प्राप्त हुआ। उन्होने अतरात्मा पर आधारित स्वतन्त्र मतदान (Free Vote) की माग की जिसका तात्पय था—गिरी के पक्ष म मत देना।

अब तक पहले कभी भी राष्ट्रपति के निर्वाचन ने इतनी मात्रा म जन साधारण की दिलचस्पी को नही उभारा था, जितना काग्रेस नेतृत्व के इस आन्तरिक झगडे क फलस्वरूप उभरा। श्री गिरी का दूसरी गिनती म विजय घोषित किया गया और इस प्रकार श्रीमती गाधी ने प्रधानमन्त्री के रूप ठप्प सघष म कूटनीतिक ढग से सिंडीकेट के ऊपर विजय प्राप्त की।[2]

काग्रेस अध्यक्ष द्वारा राष्ट्रपति के निर्वाचन म काग्रेस उम्मीदवार की हार के लिए जिम्मेदार व्यक्तियो जिनमे श्रीमती गाधी शामिल थी, को अनुशासनात्मक

---

1 Suresh Tameri 'The Wonder Elections''? Indira Gandhi Versus Right 1971

2 The Presidential election perhaps provided more an occasion than a cause of the breach Basically a power confrontation the conflict assumed id ological overtones, the nationalization of fourteen private banks being interposed as a significant intervening variable ' Iqbal Narain, Ibid

कार्यवाही के नोटिस भेजे गये। चूँकि कितने ही राज्यों के मुख्यमन्त्री की स्थिति बहुत नाजुक स्थिति में थी तथा उनकी सरकारें विभाजन से तुरन्त ही शीघ्रतापूर्वक गिराई जा सकती थी अतः इन कुछ मुख्यमन्त्रियों एवं गृहमन्त्री श्री चव्हाण जो कि अपने आपको प्रधानमन्त्री के पद के लिए सर्वमान्य व्यक्ति होने की आशा करते थे, ने समझौता कराने का प्रयास जारी किया तथा कांग्रेस कार्यकारिणी समिति द्वारा एकता प्रस्ताव पारित करवाया गया तथा अनुशासनात्मक कार्यवाही को वापिस ले लिया गया।

किन्तु संघर्ष मात्र स्थगित ही हो सका। सिण्डीकेट ने श्री मोरारजी देसाई, भूतपूर्व उपप्रधानमन्त्री को मन्त्रिमण्डल में वापिस लेने के लिए दबाव डाला, जिन्हें कि श्रीमती गांधी ने इस्तीफा देने के लिए विवश कर दिया था। किन्तु श्रीमती गांधी एवं उसके समर्थक राष्ट्रपति के चुनाव में अपनी विजय से आनन्दित हो रहे थे तथा सिण्डीकेट की कीमत पर अधिक लाभ प्राप्त करने को उत्सुक थे। उन्होंने निजलिंगप्पा के विरुद्ध तथा नए अध्यक्ष के निर्वाचन के लिए हस्ताक्षर अभियान प्रारम्भ किया। दोनों पक्षों के बीच अब खुल कर खींचातानी होना प्रारम्भ हुआ। प्रधानमन्त्री ने एक केबीनेट मन्त्री तथा चार अन्य मन्त्रियों, जो कि सिण्डीकेट के समर्थक समझे जाते थे को मन्त्रिमण्डल से बर्खास्त कर दिया। प्रत्युत्तर में कांग्रेस अध्यक्ष ने कांग्रेस कार्य समिति से प्रधानमन्त्री के दो समर्थकों को हटा दिया। दोनों पक्षों के बीच तनाव 12 नवम्बर, 1969 को अपनी चरम सीमा पर पहुंच गया जबकि कांग्रेस कार्य समिति ने श्रीमती गांधी को दल से निष्कासित कर दिया तथा संसदीय दल को नया नेता के निर्वाचन के लिए कहा और इस प्रकार कांग्रेस पार्टी जिसने भारत को स्वाधीनता दिलाई तथा जिसका दो दशक तक भारतीय राजनीतिक दृश्य पर आधिपत्य रहा, अब उस जगह पहुंच गई, जहां पर विभाजन अवश्यम्भावी था। जहां संसदीय दल ने अपने अतुल्य बहुमत से श्रीमती गांधी के पक्ष में मतदान किया, वहां 75 कांग्रेसी विधायकों ने अपने नेता के रूप में श्री राम सुभगसिंह को चुना तथा लोक सभा में विरोधी दल की सीटें ग्रहण की। दिसम्बर में दोनों पक्षों ने अपने राष्ट्रीय अधिवेशन आयोजित किए और कांग्रेस विभाजन को औपचारिकता प्रदान की गई।

दल के वरिष्ठ नेताओं ने कांग्रेस विभाजन के लिए श्रीमती गांधी को जिम्मेवार ठहराया तथा उन पर सरकारी मशीनरी का दुरुपयोग (लोगों को दबाने एवं स्वयं की स्थिति को मजबूत करने 'परसनलिटी कल्ट' क्रमोन्नत करने का) आरोप लगाया। जबकि श्रीमती गांधी का दावा था कि वह लोगों एवं जनसाधारण के हितों के नजदीक वाली नीतियों एवं कार्यक्रमों के लिए खड़ी है तथा सिण्डीकेट सामन्तों एवं पूंजीपतियों के हितों की रक्षा की हिमायती है, फलस्वरूप उसे दक्षिणपंथियों का भारत की प्रगति के लिए साथ छोड़ना पड़ा। वस्तु स्थिति क्या थी? कौनसा

पक्ष सही था ? 'सम्भवत दानो'। वह (श्रीमती गाधी) अपने नेतृत्व की सर्वोच्चता चाहती थी तथा दलीय मठाधीश पुरातनपन्थी नीतियो के हिमायतिया के पक्षपाती थे। किन्तु प्रचारा तरण म, दोना पक्षा न दल को विभाजित कर दिया जिस दल ने एक 'सुदृढ केन्द्र' के रूप म अपने को देश के सामने रखा अब काल्पनिक दक्षिण पथी विशेष तौर से जनसघ तथा अत्यधिक वामपथी विशेष तौर से साम्यवादियो के लिए क्षेत्र अधिक खुला था। आगामी घटनाओ ने इसका प्रमाण भी दे दिया।[1]

1967 क आम चुनावा न भारतीय राजनीतिक विकास क एक ऐतिहासिक चरण की समाप्ति की घोषणा की, वहा 1969–70 का काग्रेस विभाजन एक दलीय आधिपत्य क विखण्डन की प्रक्रिया को इसके तार्किक अत तक ल जाने म सहायक हुआ। चू कि काग्रेस के द्वारा ही विकसित राजनीतिक व्यवस्था की बहुत सी विशेषतायें जस सस्थानरण (Institutionalization) एक रूपता (coherence) स्थायित्व एव ग्राह्णीयता (adaptability) आदि प्राप्त हुई थी अत यह प्रश्न उठना स्वाभाविक ही था कि अब भारतीय राजनीतिक व्यवस्था का क्या होगा ? स्वस्थ एवम् प्रतियोगी राजनीतिक व्यवस्था म योगदान करते हुए क्या काग्रेस पुन 'विचारधारा की दृष्टि से सीमित एव मजबूत सगठन के आधार पर उभरेगी ?'[2]

एक रानीतिक विश्लेषणकर्त्ता काग्रेस विभाजन के प्रभाव का इस दृष्टि से अधिक चिन्तन नही करेगा कि इस नाटक म खल रहे अभिनेताओ का भाग्य क्या होगा, और न वह केवल इस बात का दिखाने म अधिक दिलचस्पी लगा कि विभाजन ने राजनीतिक दलो पर व्यक्तिश क्या प्रभाव डाला ? उसका दृष्टिकोण विस्तृत होगा उसे विभाजन का राजनीतिक व्यवस्था पर सामूहिक रूप स प्रभाव दिखाना होगा। ऐसा करत समय नि सन्देह वह केवल अनुमानो पर ही आधारित होगा किन्तु फिर भी यह वह सुझाते समय अधिक गलत नही होगा कि राजनीतिक व्यवस्था न कवल विभाजन को सहन करेगी अपितु यह व्यवस्था को दीर्घावधि म मजबूत करेगा तथा इसे सन्तुलन की स्थिति म पहुचाने म सहायक होगा। काग्रेस विभाजन के सम्भावित परिणाम निम्नाकित हो सकते थे —

(1) केन्द्रीय सरकार को (हो सकता है कि) अपना अस्तित्व बनाए रखने के लिये विकल्पो को सीमित करना पड़े, अपनी पहल को भी सक्षिप्त करना पड़े तथा यह तथ्य मानकर चलना पड़े, कि ध्रुवीकरण की राजनीति म शायद कोई स्थायी मित्र एव दुश्मन नही होता। इसके प्रमाण के लिए केन्द्रीय सरकार द्वारा निवारक निरोध अधिनियम

1 See Kuldip Nayar India The critical years, chapter I

2 Morris Jones 'The Indian Congress Party Dilemma of Dominance' Modern Asian Studies Vol 1, No 2, p 132

(Preventive Detention Bill) को वापिस लेने के निर्णय को लिया जा सकता है।

हो सकता है कि लोकसभा भंग की जावे, यद्यपि यह आवश्यक नहीं कि यह अतिशीघ्र हो क्योंकि श्रीमती गांधी को अपनी कांग्रेस के संगठन को कुछ प्रान्तों में अच्छी तरह निर्मित करना है, तथा उसे अपने पक्ष में जनता से ताजा निर्णय प्राप्त करने के लिये अपनी अच्छी तस्वीर पेश करनी है। 1970–71 का बजट इस दृष्टि से महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर सकता है।

(ii) राजनीतिक व्यवस्था में भविष्य में कुछ राजनीतिक अस्थिरता आ सकती है किन्तु शायद जड़ता नहीं। विभाजन से स्पष्ट विचारधारा पर प्रतियोगी व्यवस्था उभरेगी।

(iii) विभाजन का अन्तिम परिणाम दृढ दलीय व्यवस्था के उभरने के रूप में हो सकता है। वर्तमान राजनीतिक दलों के विस्तार की स्थिति से देश संविद दलीय व्यवस्था के चरण से गुजरता हुआ उस स्थिति की ओर मुड़ सकता है जिसमें तीन या चार मुख्य राष्ट्रीय दल तथा कुछ दृढ प्रादेशिक दल होंगे। यह सरकारी एवं विरोधी दोनों पक्षों के ढांचे को मजबूत बनाएगा जिसमें आपस में सत्ता के परिवर्तन की काफी गुंजाइश रहेगी।

(iv) ऊपर के सन्दर्भ में यह भी कहा जा सकता है कि विभाजन केवल मात्र कांग्रेस का राष्ट्रीय एवं प्रान्तीय स्तरों पर ही विभाजन नहीं है अपितु अन्य दलों में विभाजन की ओर भी यह लक्षित है विशेष तौर संयुक्त समाजवादी दल और इस प्रकार के अन्य दलों का आपस में विलय भी हो सकता है।

(v) अन्त में, विभाजन संविद प्रणाली के नमूने को नया जीवन प्रदान कर सकता है जो राष्ट्रीय स्तर पर भी प्रयुक्त हो सकता है। इन संविद सरकारों का अब लक्ष्य केवल कांग्रेसी- विरोध नहीं होगा। कांग्रेस विभाजन इस प्रवृत्ति को ओर अधिक स्पष्ट करने में सहायक हो सकता है। भारतीय संविद राजनीति का तात्पर्य विस्तृत रूप से जनसंघ, स्वतन्त्र, सिण्डीकेट-कांग्रेस के गठबंधन, तथा प्रादेशिक दल कम्युनिस्ट एवं सत्तारूढ़ कांग्रेस के गठबंधन' के बीच ध्रुवीकरण एवं गठबंधन के रूप में हो सकता है। ऐसी स्थिति में प्रजा समाजवादी, संयुक्त समाजवादी एवं यहां तक कि भारतीय कम्युनिस्ट दल (मार्क्सवादी) अस्थिर दलों के रूप में रह सकते हैं। मुख्य संघर्ष तो भी साम्प्रदायिक दक्षिण एवं निरपेक्ष वाम में ही होगा जो कि आगे चल कर देश में निरपेक्ष

समाज की स्थापना कर सकेगा। 1969 (गाधी शताब्दी वर्ष) मे घटित अहमदाबाद के साम्प्रदायिक दगे इस बात को सिद्ध करते हैं कि भारत एक धर्म निरपेक्ष राज्य होते हुए भी, इसे अभी धर्म निरपेक्ष समाज बनना शेष है तथा भारतीय प्रजातन्त्र को एक महत्वपूर्ण खतरा साम्प्रदायिक तनावो से है।

इस प्रकार हम एक दलीय आधिपत्य व्यवस्था को प्रारम्भिक चरण (formative phase', अनेक मध्यस्थ चरणो सहित वर्तमान व्यक्तिगत राजनीति के काल (period of politics of individuation) को अन्तरिम स्थिति (interim stage') तथा जिसकी ओर दिशा लक्षित हैं अर्थात् 'प्रतिबद्धता की राजनीति (Politics of Commitment) को सतुलन को अन्तिम सीढी (ultimate 'stage of equilibrium') कह सकते हैं, जिसम लोकतान्त्रिक राजनीतिक व्यवस्था परिवर्तन एव राजनीतिक विकास की सहायक-कडी के रूप मे काय करेगी। वर्तमान राजनीति ध्रुवीकरण का सक्रमण काल जिसम से देश गुजर रहा था दीर्घावधि म राजनीतिक व्यवस्था को 'सन्तुलन की स्थिति' प्राप्त कराने म सहायक हो सकता है, ऐसी आशा व्यक्त की गई।[1] कहा गया कि एक नया राजनीतिक ढाचा स्थान ग्रहण करने जा रहा है। हम सम्भावित राजनीतिक परिपक्वता तथा भारतीय राजनीतिक व्यवस्था के

---

1 The Political system is still in the making with the change in the "one party dominant' pattern after the general elections of 1967 An historic phase in India's political development had ended, The country is now passing through an essentially transitional period of political polarization which is manifesting itself in what may perhaps be described for want of a better captain, as the politics of individuation 'The model envisaged here may be treated as a living and interacting continum, with the one party dominant situation as the formative phase the period of politics of individual tion with many intermediary phases as the interim stage and politics of commitment as the ultimate stage of equlibrium, with the democratic political system acting as the catalytic agent of change and political growth,' — Dr Iqbal Narain, Ibid pp 88–89

स्थायित्व के मात्र पूर्वगामी (prelud.) के रूप के साक्षी दे रहे हैं।[1]

उपरोक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि कांग्रेस विभाजन के दूरगामी परिणामो के रूप मे यह सभावना व्यक्त कि गई की निकट भविष्य म विचार धारा पर आधारित ध्रुवीकरण तथा विभिन्न शक्तियो के बीच गठबन्धन (an ideo logical polarization and realiganment of forces) होगा, जो कि द्वि या त्रिदलीय व्यवस्था का जन्म देगा। इसके पीछे जो कल्पना कायग्त थी वह यह है कि निरपक्ष दक्षिण पथ एव वामपथी प्रवृतियो को प्रतिनिधित्व करने वाली अखिल भारतीय राजनीतिक पार्टिया उभरेंगी। इस प्रकार कांग्रेस विभाजन के सन्दर्भ म अधिक प्रतियोगिक राजनीतिक व्यवस्था का विकास होगा। अन्ततोगत्वा परिणाम स्वरूप एक द्वदलीय व्यवस्था उभरेगी जो कि सरकारी एव विरोधी दोनों पक्षो को पर्याप्त रूप से मजबूत बनावेगी और इस प्रकार व्यवस्था को सन्तुलन की 'अन्तिम स्थिति' पर पहुंचेगी।

उपरोक्त अत्यन्त आशावादी दृष्टिकोण के साथ ही एक ऐसी राजनीतिक परिकल्पना भी महसूस की जा रही थी जो कि कांग्रेस विभाजन के फलस्वरूप भारतीय राजनीतिक व्यवस्था के भविष्य को अधकारमय घोषित कर रही थी।[2] इसके लिए यह दलील प्रस्तुत की जा रही थी कि अगर भारतीय दलीय-व्यवस्था का इतिहास कोई ढाचा भी प्रस्तुत करता है तो वह राजनीतिक शक्तियो के तीव्रविखण्डन तथा बहुलता (steady fragmentation and proliferation of Political forces) का ढाचा है जो कि देश म व्याप्त सामाजिक भ्राति एव प्रादेशिक विभिन्नताओ का का प्रतिनिधित्व करता है। प्रादेशिक ख्यातिया की स्मृति देश की जातीय एव साम्प्रदायिक विभाजनकारी प्रवृत्तिया, सास्कृतिक विभिन्नता, भाषायी राष्ट्रवाद, सामाजिक आर्थिक विपमताए मध्यात व जनसाधारण के बीच एक ओर तथा शहर एव देहात के बीच दूसरी ओर व्याप्त गहरी खाई, परम्परागत व आधुनिकता का सघर्ष आदि

1 A new political pattern is taking shape We are witnessing only a prelude to the coming democratic maturity and stabi lity of the Indian political system —Subhash Kashyap 'The Politics of defections " Ibid pp 298, and, "the underpinning to the system provided by the maintenance of democratic values for coping with political problems"—Paul Wallace "India The Leadership Crisis", Asian Survey Vol IX, No 2 Feb 1969 pp 79–90

2 L P Singh Ibid

तथ्य इस सभावित भविष्य के सकेत चिह्न है। उल्लेखनीय है कि इतने वर्षों की लोकतात्रिक प्रक्रिया मे भी चुनाव गठब धन का कोई अखिल भारतीय ढाचा नही उभर सका। काग्रेस दल जिसका कि व्यापक स्वरूप रहा है वह भी विभिन्न सामाजिक शक्तियो को आधुनिकीकरण की प्रक्रिया द्वारा एकीकृत नही कर सका तो यह निष्कर्ष निकाला गया कि भारतीय राजनीतिक दृश्य का प्रभावी तत्व ध्रुवीकरण नही अपितु दलो की सख्या का विस्तार (proliferation) है तथा एक बहुदलीय व्यवस्था (multiparty system) ही स्वाभाविक विकास प्रतीत होता है न कि द्विदलीय व्यवस्था। अत भारतीय राजनीति मे अस्थिरता एव जडता जसे परिणाम अवश्यम्भावी दिखाई देते हैं। इस परिकल्पना को रखने वाला वग ध्रुवीकरण की आशा का यह कहते हुए खण्डन करता है कि काग्रेस विभाजन अधिकाशत विचार धारा पर नही (जैसा कि दावा किया जा रहा था), अपितु गुटो के सघष पर आधारित था। एकीकरण के प्रयत्नो की असफलता का प्रमाण यह भी है कि प्रदेश पर आधारित दलो का विकास व केन्द्रीय एव प्रान्तीय स्तर पर पुन सस्थाकरण के अभाव के फलस्वरूप केन्द्रीय व प्रान्तीय सरकारो के बीच तनाव की स्थिति का उदय होना राजनीतिक व्यवस्था मे व्यवधान पहुचा सकता है। राजनीतिक विकास या पतन के प्रश्न को लोकतन्त्र को एक राजनीतिक मूल्य के रूप मे देखने के प्रति सभ्रात वग की निष्ठा मे वृद्धि या पतन के सन्दभ मे भी देखना चाहिए। बहुप्रचलित दल बदलू की प्रवृत्ति व असैद्धान्तिक गठबन्धन यह विचार प्रस्तुत करता है कि राजनीति मे हिस्सादारी म वृद्धि का तात्पय आवश्यक रूप से सभ्रात वग का लोकतात्रिक सिद्धान्तो के प्रति रुझान से नही है। अपनी मागो की पूर्ति हेतु हिंसात्मक तरीके राजनीतिक सस्थाकरण एव राजनीतिक विकास की असफलता के जीते जागते नमूने हैं।[1] महाराष्ट्र की शिवसेना राजनीतिक एकीकरण के दो दशक के प्रयासो की दुखद टिप्पणी है। अत यह वग एक दलीय आधिपत्य व्यवस्था को प्रारम्भिक चरण वतमान स्थिति को राजनीतिक ध्रुवीकरण उत्पन्न करने म सहायक सक्रमण तथा

1 "Political crises in 1967 also were manifested by such phenomena as the revolutionary type of peasant agitation in Naxalbari, West Bengal, a new political tactic termed the 'gherao', the constant shuffling of M L As between parties in the Assemblies and the dismissal of ruling minis tri s in West Bengal and Haryara ,—Paul Wallace, India' Th dispersion of political power" Asian Survey Vol No, 2 Feb 1968 p 88

सन्तुलन की अन्तिम सीढ़ी आदि रूपो के स्थान पर एक दलीय प्रमुत्व व्यवस्था को विकास की चरम सीमा वतमान तथा निकट भविष्य की स्थिति को अस्थिरता के रूप म देखता है इसके अनुसार आने वाले वर्षों म भारतीय राजनीतिक विकास की अपेक्षा राजनैतिक पतन होना स्वाभाविक लगता है।[1]

---

1 'Instead of viewing the one party dominant situation as the formative phase" and the present situation as a "transitional phase' creating political polarization and its culmination into the ultimate stage of equilibrium it will be more accord with reality than with aspiration to regard the one party dominance phase as the peak of development and the current and the near future situation as the phase of instability and pluralization leading towards some kind of mobilization system Political decay, rather than political developement seems likely course for the Indian political system in the years ahead L d Sugi Ibid,

10

पचम लोकसभा व विधान सभा निर्वाचन : एक दलीय प्रभुत्व व्यवस्था का पुनरोदय

(Fifth Lok Sabha & Assemblies Elections Re-emergence of One Party Dominant System)

इन्दिरा गाधी ने सन 1971 म लोकसभा के लिए जो चुनाव कराये भारतीय राजनीति म अभूतपूर्व है। 1967 के चुनाव म अविभाजित काग्रेस को खासी विफलता मिली थी लेकिन राजनीति के प्रेक्षक जानते हैं कि तब भी काग्रेस जितना कुछ जीत पाई, श्रीमती गाधी और उनके 'जातिवाद' के बूते पर जीत पाई। स्वय इन्दिरा गाधी को अपनी इस शक्ति और काग्रेसी मठाधीशो की उन कमजोरियो का भान था जिनके कारण काग्रेसी विरोधी लहर 1967 के चुनाव मे पनप सकी थी। लिहाजा जब इस बात का आभास हुआ कि काग्रसी मठाधीश उनके कठपुतली न बनने के कारण दुखी हैं और उस दुख को दूर करने के लिए सविद की राजनीति का सहारा लेकर उन्ह सत्ता से दूर किया चाहते हैं तब उन्होन काग्रेसी विरोध पर सवार होकर गजब की राजनीतिक सूझबूझ का परिचय दिया।

यह कहा जा सकता है कि जिस काग्रेस विरोधी लहर ने 1967 के चुनाव मे गैर-काग्रेसी दलो को आशातीत सफलता दिलाई थी उसे इन्दिरा गाधी ने प्रबल बनाया उसका रुख अपने विरोधियो की ओर किया और पाच वष मे सबको उसम डुबो दिया। सन् 1957 के चुनाव मे जो प्रवृत्ति प्रकट हुई थी, वह 1971 के चुनावो मे पराकाष्ठा म पहुची (striving continuity in voting trends)[1] और इन्दिरा गाधी ने उसके साथ रह कर अपन और अपने दल को पूण सत्ता दिलाई। यहा यह द्रष्टव्य है कि अविभाजित काग्रेस के बडे नेता इस मामले मे कच्चे खिलाडी साबित हुए। वे काग्रेसी विरोधी लहर का मतलब यह समझे कि मतदाता

---

1 In effect the Congress under Mrs Gandhi took over the task that the opposition parties had begun in 1967 and made it the basis of its new found powers ' Rajani Kothari Government By Mandate, Seminar No 49 January 1972

की मध्य पथ म कोई आस्था नही रही। उन्होंने यह भी माना कि अब केन्द्र म भी मिलीजुली सरकार का दौर आने वाला है, लिहाजा तथाकथित 'दक्षिणपथी दलो की ओर झुकना और कांग्रेस विरोध के सहारे इन्दिरा विरोध को सफल बनाना सुविधा जनक रहेगा। संविद राजनीति की अनिवार्यता और इसके सहारे इन्दिरा गाधी के पतन के विषय म वे इतने आश्वस्त थे कि उन्होने बहुत ज्यादा कूटनीतिक होने की आवश्यकता भी नही समझी। कांग्रेस की अन्दरूनी जानकारी रखने वाला हर पता है कि 'सिण्डीकेट' ने अपना मत 'इण्डिकेट' पर 67 के चुनाव के तुरन्त पश्चात् तब जाहिर कर दिया जब नीलम संजीव रेड्डी द्वारा अध्यक्ष पद आग्रह पूर्वक नामंजूर कर दिए जाने के बाद कामराज द्वारा संविद योजना म इस पद का महत्त्व समझाये जाने पर वे सहसा इस पद के लिए उतने ही आग्रह पूर्वक प्रस्तुत हो गए।

गैर-कांग्रेसी दलो के नेता सिण्डीकेट को अपनी सफलता की कुंजी मानकर 1967 के चुनाव नतीजो की गलत व्याख्या के शिकार हुए। संविद सरकारों ने कांग्रेस के विकल्प के रूप म कोई 'जनतावादी मध्यपथी विकल्प प्रस्तुत करने की जगह जोड तोड और 'आयी गई' के तमाशे म कांग्रेसी मठाधीशो की तरह उत्साह से योगदान किया। दक्षिणपथ और वाम पथ के छोटे बडे दलो की सरकारो ने जो अस्थिरता राज्यो को दी, वह जनता के मन म कांग्रेस विरोध से सफल बने दलो के प्रति विरक्ति पैदा करती गई लेकिन इससे बेखबर 'कांग्रेस हटाओ' वाले इन्दिरा हटाओ' नारे के आधार पर उन्होने लोकसभा के मध्यावधि चुनाव के लिए गठबन्धन कर डाला। इस तरह मतदाता के सामने सारे गैर कांग्रेसी दल बदनाम प्रतिमा के समर्थको के रूप म प्रस्तुत हुए और इन्दिरा गाधी पुराना कांग्रेसी तन्त्र तोड कर एक नया मध्यपथी दल देने वाली बन कर आई। और इस प्रकार गैर कांग्रेसी दलो की 1967 की सारी मेहनत का लाभ इन्दिरा गाधी को मिला। इन्दिरा कांग्रेस ने अपनी शक्ति लोकसभा मे 228 सीटो से 350 (521 सदस्य वाली लोकसभा म) तक बढा कर विरोधी दलो को संदेहास्पद स्थिति म लाकर रख दिया। कांग्रेस के नुकीले हेमर की सबसे अधिक मार कांग्रेस (संगठन), जनसंघ, स्वतन्त्र एवं संयुक्त समाजवादी दल द्वारा बनाये गये चौगुटा पर पडी। कांग्रेस संगठन की स्थिति अपनी 65 सीटो से 16 स्वतन्त्र की 35 से 8, जनसंघ की 33 से 22, सं० सं० दल की 17 से 3 प्र० सं० दल 15 से 2, भारतीय कम्युनिस्ट दल पहले से घट कर एक कम रही। किन्तु भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी) ने अवश्य अपनी स्थिति 6 से बढाकर 19 कर ली। डी०एम०के० ने 25 से 23 सीट अर्थात् पहले से दो कम प्राप्त की।

एक ओर जहा मार्च 1971 के चुनाव परिणामो ने राजनीतिक प्रेक्षको व राजनीति शास्त्रियो के एक वर्ग की इस धारणा को गलत साबित कर दिया कि भारत म एकदलीय आधिपत्य व्यवस्था की स्थिति पुन नही उभर सकती तथा राज

नीतिक अस्थिरता जो कि 1967 से भारत के उत्तर-र्वी राज्यो म चल पडी थी वह केन्द्रीय स्तर पर देहली को भी अपने पजे मे घसीट सकती है ।[1] किन्तु दूसरी ओर इन चुनावो ने भारतीय राजनीति की अत्यन्त आशाजनक तस्वीर प्रस्तुत करने वाले राजनीतिक शास्त्रियो के इस मत को अभी हाल-फिलह ल (मार्च 1977 तक) स्थगित कर दिखाया कि वतमान मे (1967 से 197) तक की) चल रही स्थिति सन्तुलन की अन्तिम स्थिति (Ultimate st ge of equilibrium and political polarization) की ओर लक्षित है अर्थात् विचार ार पर आधारित ध्रुवीकरण तथा विभिन्न शक्तियो के बीच पुन गठजोड होगा जो कि द्विदा त्रि दलीय व्यवस्था को जन्म देगा । इस प्रकार राजनीतिक व्यवस्था म अधिक प्रतियोगिता बढेगी तथा द्विदलीय व्यवस्था उभरगी जो कि सरकारी एव विरोधी दोनो ढाचो को पर्याप्त रूप से दृढ बनायेगी और इस प्रकार व्यवस्था को सन्तुलन की अन्तिम स्थिति पर पहुचायेगी ।[2] वास्तविकता तो यह है कि तथाकथित चार दलो या चोगुटा (जिसे कि राजनीतिक ध्रुवीकरण की प्रक्रिया का प्रथम आधार माना गया) दलो के बीच इन्दिरा विरोध के अतिरिक्त अन्य किसी भी बात पर समान रूप से सहमत नही हो सका । विचारधारा के आधार पर ये दल आपस मे प्रतिद्वन्द्वी थे । अत प्रतियोगी दलीय व्यवस्था की कल्पना मात्र अवशेष रह गई । तथा इस बात की कम गुन्जाइश दिखाई दी कि भारतीय राजनीतिक व्यवस्था शीघ्र ही स तुलन की अन्तिम स्थिति पर पहुचने वाली है ।

वस्तुत 1971 के चुनाव परिणामो से सविद एव अस्थिर फिसलन की ओर उन्मुख राजनीति का भयावह रूप दृढता से रुक गया । उसके साथ ही राज्य सरकारो एव राज्य स्तरीय दलो के सन्दर्भ म केन्द्रीय सरकार एव केन्द्रीय नेतृत्व की पूर्व स्थिति पुन लौट आई विधान सभाओ के निर्वाचन का आगामी दौर ससदीय चुनावो के इस दौर को निश्चित करता दिखाई दिया । इसके साथ ही विरोधी दल पुन उसी निभरता की स्थिति मे पहुच गये, जिनम वे सामना करने की स्थिति म कम तथा मात काय करने को विवश थे[3] किन्तु कुछ विचारक इस मत को मानने के लिए तैयार नहीं थे तथा 1972 के विधान सभाई निर्वाचन की प्रतीक्षा करना चाहते थे

1 See L P Singh, Ibid

2 See Iqbal Narain, 'Democratic politics and Political Development in India" Ibid

3 See Morris Jones 'India elects for change and stability" Asian Survey August 1971 and Rajani Kothari, 'Government By Mandate" Seminar No 49, January, 197?

क्योंकि उनकी दृष्टि मे[1] "हो सकता है कि विधान सभाओं के चुनावों में विरोधी शक्तियां आधिपत्य की स्थिति मे हों तथा नई कांग्रेस राज्यों मे उसी प्रकार स्थिति प्राप्त न कर सके जैसी कि उसने लोकसभा के निर्वाचन में प्राप्त की। कांग्रेस में राज्य स्तर पर नेतृत्व की दृष्टि से काफी गुट बन्दी हो। केन्द्रीय निर्वाचन में यह दबी रही क्योंकि इनके निकट के हित सम्बद्ध नहीं थे। अतः हो सकता है कि 1972 के चुनाव में यह प्रवृत्ति उठे। इसके अतिरिक्त जैसा कि मत व्यवहार के अध्ययन से स्पष्ट है भारतीय मतदाता में एक विभाजित मानस (A split psyche in terms of voting preference) पाया जाता है। 1967 मे उसने केन्द्र में एक दल को तथा राज्य में किसी अन्य दल या संविद को मत दिया। अतः वह इस प्रकार के अन्तर करने में सक्षम है इसलिए बहुत सम्भव है कि 1972 में उसकी प्रवृत्ति पुनः ऐसी ही हो। वास्तव में यह प्रवृत्ति 1971 के लोक सभाई निर्वाचन के साथ सम्पन्न हुए कुछ विधान सभाई निर्वाचन में, यह नहीं कहा जा सकता कि पूर्णतः अनुपस्थित रही। तीन राज्यों के विधान सभाई निर्वाचन के परिणाम इस प्रकार का कोई संकेत नहीं देते हैं कि हम एक दलीय आधिपत्य व्यवस्था की ओर लौट रहे हैं। राजकीय स्तर पर क्षेत्रीय दलों का और कुछ राष्ट्रीय दलों का भी महत्वपूर्ण प्रभाव है। जैसे राजस्थान मध्यप्रदेश एवं यू पी में जनसंघ, उड़ीसा मध्य प्रदेश व राजस्थान में स्वतन्त्र, तामिलनाडु में डी एम के तथा पंजाब में अकाली दल। इसी प्रकार राजा-महाराजाओं का भी प्रभाव है यद्यपि इनका प्रभाव क्षीण होता जा रहा है किन्तु हो सकता है कि 1972 के निर्वाचन मे ये मिलकर अधिक प्रभाव डालें। अतः हो सकता है कि भाषा क्षेत्रवाद, धर्म और जाति का प्रभाव पुनः सक्रिय हो जाए। अतः हम एकदलीय आधिपत्य व्यवस्था पुनर्स्थापित होने के सम्बन्ध में अभी हमारे विश्लेषणात्मक विकल्प खुले रखने चाहिए।[2] इस प्रकार यह सम्भव है कि राज्य विधान सभाई निर्वाचन इस बात की पुष्टि कर सकते है कि भारत निरन्तर प्रतियोगात्मक लोकतान्त्रिक राजनीति की दिशा में गतिशील रहेगा, जिससे राज्य स्तर पर विभिन्न दलों के बीच सत्ता हस्तान्तरण होता रहे और इस प्रकार यह उसी प्रक्रिया

---

1 Iqbal Narain "Democratic Interlude for Nation Building (Fifth Lok Sabha Elections)," The Economic and Political Weekly Vol VI No 18 Sept, 1971

2 'We should, therefore, keep our analytical options open as regard to the reemergence of the one party dominance situation' Iqbal Narain op cit

की निरंतरता सिद्ध हो जो कि चतुर्थ आम चुनावों के परिणाम स्वरूप प्रारम्भ हुई थी।[1]

किन्तु उपरोक्त मत में अधिक वजन देश की परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए मान्य नहीं लगता था क्योंकि 1972 के विधान सभाई चुनावों से कुछ ही महीनों पूर्व भारतीय उप महाद्वीप में पाकिस्तान द्वारा पैदा किए गए सकट का श्रीमती गांधी व उनकी सरकार ने जिस साहस, सूझबूझ और कूटनीतिक कौशल से सामना किया था, उसका जनमानस पर गहरा प्रभाव पड़ा। यही नहीं "पाकिस्तान विरोधी" तेवर से कुछ दलों का जो फायदा पहुंचता था, वह इस चुनाव में पाकिस्तान को परास्त करने वाली इंदिरा गांधी की झोली में पहुंच गया। चुनाव से एक पहले अपने दल के नेत्र को श्रीमती गांधी ने जो झटके दिए वे भी उनके पक्ष होने की धाक जमा गए। पाकिस्तान के विघटन से मतदाता पर सारे देश में किसी एक दल की मजबूत सरकार होने की आवश्यकता उजागर हुई। इंदिरा जी मतदाता के मन में यह बात भी बैठा सकी कि लोकतन्त्रात्मक ढंग से समाज सुधार के आयोजन के लिए केन्द्र और राज्यों में तालमेल होना जरूरी है और यह तभी हो सकेगा, जबकि राज्यों में उनके दल की मजबूत सरकारें हों। अतएव राज्यों की विधान सभाओं के चुनावों में कांग्रेस को लगभग वैसी ही विजय प्राप्त हुई है जैसी कि 1952 और 1957 के काल में अविभाजित कांग्रेस को प्राप्त हुई थी और इस प्रकार राजनीतिक ध्रुवीकरण की अंतिम स्थिति की आशा वर्षों तक के लिए मात्र आदर्श स्वप्न बन कर रह गई। इस प्रकार पुनः एक दलीय आधिपत्य व्यवस्था की स्थिति बनती दिखाई देने लगी और यह कुछ मात्रा में पहले से भी अधिक प्रभावशाली ढंग से बढ़ती दिखाई दी, जो कि अविभाजित कांग्रेस के परम्परागत प्रभाव क्षेत्र से भी आगे बढ़ गयी तथा नई कांग्रेस ने कई ऐसे क्षेत्रों में अपने प्रभाव को जमाने में सफलता प्राप्त की, जो कि कुछ वर्षों पूर्व स्वतन्त्र, जनसंघ और कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी) के गढ़ समझे जाने लगे थे।[2]

1 "For it is possible that the State elections may confirm that India continues to move in the directions of a competitive democratic polity with prospects of alteration of power between different parties at the state level and this may be continuation of the process that started in the wake of the Fourth General Elections."—Dr Iqbal Narain op cit

2 Ram Joshi and K D Desai 'Dominance with a difference' The Economic and Political Weekly, Annual Number, February, 1973

क्योंकि उनकी दृष्टि में[1] "हो सकता है कि विधान सभाओं के चुनावों में विरोधी शक्तियां आधिपत्य की स्थिति में हो तथा नई कांग्रेस राज्यों में उसी प्रकार स्थिति प्राप्त न कर सके जैसी कि उसने लोकसभा के निर्वाचन में प्राप्त की। कांग्रेस में राज्य स्तर पर नेतृत्व की दृष्टि से काफी गुटबन्दी हो। केन्द्रीय निर्वाचन में यह दबी रही क्योंकि इनके निकट के हित सम्बद्ध नहीं थे। अतः हो सकता है कि 1972 के चुनाव में यह प्रवृत्ति उठे। इसके अतिरिक्त, जैसा कि मत व्यवहार के अध्ययन से स्पष्ट है, भारतीय मतदाता में एक विभाजित मानस (A split psyche in terms of voting preference) पाया जाता है। 1967 में उसने केन्द्र में एक दल को तथा राज्य में किसी अन्य दल या सविन्द को मत दिया। अतः वह इस प्रकार के अन्तर करने में सक्षम है इसलिए बहुत सम्भव है कि 1972 में उसकी प्रवृत्ति पुनः ऐसी ही हो। वास्तव में यह प्रवृत्ति 1971 के लोक सभाई निर्वाचन के साथ सम्पन्न हुए कुछ विधान सभाई निर्वाचन में, यह नहीं कहा जा सकता कि पूर्णतः अनुपस्थित रही। तीन राज्यों के विधान सभाई निर्वाचन के परिणाम इस प्रकार का कोई संकेत नहीं देते हैं कि हम एक दलीय आधिपत्य व्यवस्था की ओर लौट रहे हैं। राजकीय स्तर पर क्षेत्रीय दलों या और कुछ राष्ट्रीय दलों का भी महत्वपूर्ण प्रभाव है। जैसे राजस्थान मध्यप्रदेश एवं यू पी में जनसंघ, उड़ीसा मध्य प्रदेश व राजस्थान में स्वतन्त्र, तामिलनाडु में डी एम के तथा पंजाब में अकाली दल। इसी प्रकार राजा महाराजाओं का भी प्रभाव है यद्यपि इनका प्रभाव क्षीण होता जा रहा है किन्तु हो सकता है कि 1972 के निर्वाचन में ये मिलकर अधिक प्रभाव डालें। अतः हो सकता है कि भाषा, क्षेत्रवाद, धर्म और जाति का प्रभाव पुनः सक्रिय हो जाए। अतः हम एकदलीय आधिपत्य व्यवस्था पुनर्स्थापित होने के सम्बन्ध में अभी हमारे विश्लेषणात्मक विकल्प खुले रखने चाहिए।[2] इस प्रकार यह सम्भव है कि राज्य विधान सभाई निर्वाचन इस बात की पुष्टि कर सकते हैं कि भारत निरन्तर प्रतियोगात्मक लोकतान्त्रिक राजनीति की दिशा में गतिशील रहेगा जिससे राज्य स्तर पर विभिन्न दलों के बीच सत्ता हस्तान्तरण होता रहे और इस प्रकार यह उसी प्रक्रिया

---

[1] Iqbal Narain 'Democratic Interlude for Nation Building (Fifth Lok Sabha Elections)," The Economic and Political Weekly Vol VI No 18 Sept 1971

[2] 'We should, therefore, keep our analytical options open as regard to the reemergence of the one party dominance situation Iqbal Narain op cit

की निरन्तरता सिद्ध हो जो कि चतुर्थ आम चुनावों के परिणाम स्वरूप प्रारम्भ हुई थी।[1]

किन्तु उपरोक्त मत म अधिक वजन देश की परिस्थितियों का ध्यान म रखते हुए मान्य नही देता था क्योंकि 1972 क विधान सभाई चुनावो से कुछ ही महीना पूव भारतीय उप महाद्वीप म पाकिस्तान द्वारा पैदा किए गए सकट का श्रीमती गाधी व उनकी सरकार न जिस साहस सूझबूझ और कूटनीतिक कौशल से सामना किया था, उसका जनमानस पर गहरा प्रभाव पडा। यही नही "पाकिस्तान विरोधी" तेवर से कुछ दलों का जो फायदा पहुचता था, वह इस चुनाव म पाकिस्तान को परास्त करने वाली इन्दिरा गाधी की झोली मे पहुच गया। चुनाव से एक पहले अपने दल के तन्त्र का श्रीमती गाधी न जो झटके दिए वे भी उनके दबग होने की धाक जमा गए। पाकिस्तान के विखडन म मतदाता पर सारे देश म किसी एक दल की मजबूत सरकार होन की आवश्यकता उजागर हुई। इदिरा जी मतदाता क मन म यह बात भी बैठा सकी कि जानतन्त्रात्मक ढग स समाज सुधार के आयोजन के लिए केन्द्र और राज्या म तालमेल होना जरूरी है और यह तभी हो सकेगा, जबकि राज्या म उनके दल की मजबूत सरकारें हो। अतएव राज्यो की विधान सभाओ के चुनावा म काग्रेस को लगभग वैसी ही विजय प्राप्त हुई ह, जैसी कि 1952 और 1957 के काल म अविभाजित काग्रेस को प्राप्त हुई थी और इस प्रकार राजनीतिक ध्रुवीकरण की अन्तिम स्थिति की आशा वर्षों तक के लिए मात्र आदर्श स्वप्न बन कर रह गई। इस प्रकार पुन एक दलीय आधिपत्य व्यवस्था की स्थिति बनती दिखाई देन लगी और यह कुछ मात्रा म पहले स भी अधिक प्रभावशाली ढग मे बढती दिखाई दी, जो कि अविभाजित काग्रेस क परम्परागत प्रभाव क्षेत्र से भी आगे बढ गयी तथा नई काग्रेस ने कई ऐसे क्षेत्रो म अपने प्रभाव को जमाने मे सफलता प्राप्त की, जो कि कुछ वर्षों पूव स्वतन्त्र, जनसघ और कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी) के गढ समझे जाने लग थे।[2]

---

1 'For it is possible that the State elections may confirm that India continues to move in the directions of a com petitive democratic polity with prosp cts of alteration of power between different parties at the state level and this may be continuation of the process that started in the wake of the Fou th General Elections'—Dr Iqbal Narain op cit

2 Ram Joshi and K D Desai Dominance with a difference' The Economic and Political Weekly, Annual Number, February, 1973

प्रभुत्व व्यवस्था बदलते स्वरूप (Dominance with a Difference)–
किन्तु यहा यह उल्लेखनीय है कि पूर्वकालिक (1947 से 67) एक दलीय आधिपत्य व्यवस्था व बाद की एकदलीय आधिपत्य व्यवस्था (1971 से 1977) म कई क्षेत्रों म असमानताए दिखाई देती है जिनको हम ऐतिहासिक सदर्भ, स्वरूप व गुणात्मक तथा मात्रात्मक आदि शीर्षको से स्पष्ट समझ सकते हैं।

ऐतिहासिक सदर्भों मे अतर—पूर्वकालिक एकदलीय आधिपत्य व्यवस्था राष्ट्रीय स्वतन्त्रता सग्राम की सफलता की परिणति थी जबकि बाद का सदर्भ है। परिवर्तन की राजनीति (change oriented politics), सामाजिक न्याय की दिशा म जाने का उद्देश्य और इस दिशा म अब तक किये गये प्रयास। अतएव पूर्वकालिक एकदलीय आधिपत्य व्यवस्था का आधार थी– अतीत की उपलब्धिया जबकि यहा पर वर्तमान की उपलब्धिया (एव आकाक्षाए भी) हैं।

स्वरूप का अतर —पहले एक दलीय आधिपत्य व्यवस्था का चरित्र छाता की तरह था। हर वर्ग, हर विचारधारा व हर क्षेत्र वाले समर्थकों एव नेतृत्व को साथ बनाए रख कर ही यह व्यवस्था आगे बढ रही थी। यह प्रवृत्ति समाप्त नही हुई किन्तु काग्रेस के नेतृत्व म मानसिक धरातल पर यह बात अवश्य आई कि हमारे साथ अगर कुछ ऐसे तत्व हैं जिनसे हमारा सहअस्तित्व सम्भव नही है तो उन्हे हटाने म हिचकिचाहट नही की जानी चाहिए। अतएव अब 'सह अस्तित्व (co existence) के स्थान एव बद्धता (cohesion) पर बल दिया जाने लगा। श्रीमती गाधी का प्रयत्न अधिक पृथक एव अधिक सयुक्त समर्थन साचा (A more differentiated and a more inclusive support structure) प्राप्त करने की ओर होने लगा। मनोवैज्ञानिक रूप से दलीय समर्थन के आधार हेतु अगर विकल्प चुनना पडे तो हैवजनाटस' मध्यम व निम्न वर्ग के पक्ष म अपना विकल्प चुनने को वह तैयार हुई। यद्यपि साथ ही म श्रीमती गाधी इस तथ्य से, उसी के समान जागरूक रही कि सापेक्षित भारतीय समाज का धनी वर्ग अब भी उसका समर्थन करना पसन्द कर सकता है यद्यपि कई भिन्न कारणो से। इसी प्रकार वह अपना समर्थन-साचे को ग्रामीण क्षेत्र तक ही सीमित रखने के पक्ष म नहीं रही अपितु उन्होने शहरी मतदाता विशेष तौर से शहरी युवा एव शिक्षित वर्ग के मानस को अपने समर्थन म करने का प्रयास किया। उन्हे अपने प्रयत्नो म सफलता भी मिली। इसी प्रकार पूर्वकालिक दल आधिपत्य व्यवस्था के स्वरूप के अन्तर्गत नेहरू का जो व्यक्तित्व था, वह सामूहिक नेतृत्व के (collective leadership) को सजोए हुए था। नेहरू से कुछ ही नीचे की स्थिति वाले नेताओ को भी महत्व दिया जाता था तथा उन्हे भी सहनीय समझा गया।

किन्तु अब कांग्रेस दल में श्रीमती गांधी की राजनीतिक शैली में अन्तर हो गया। वह इस दृष्टि से नेहरू से अधिक कठोर रही तथा एक नेता की अवधारणा की परिचायक रही। पहले की कांग्रेस आधिपत्य व्यवस्था का उद्देश्य 'यथा स्थिति' (status-quo) को बनाए रखना था किन्तु अब इसे परिवर्तन एवं विशेषतौर से सामाजिक न्याय की दिशा में नियोजित नीती के उद्देश्य के रूप में प्रस्तुत किया गया।

गुणात्मक अन्तर—अब यह भी प्रयास किया जाने लगा कि प्रधानमंत्री का गुट ही राज्यों का नेतृत्व करे और इसके लिए अब केन्द्रीय (प्रधानमंत्री) हस्तक्षेप इस दृष्टि से अधिक बढ़ गया कि राज्यों के मुख्यमंत्री प्रधानमंत्री की इच्छा के अनुकूल ही निर्मित किए जाने लगे। इसी प्रकार पूर्वकालिक कांग्रेस आधिपत्य व्यवस्था में और बाद की कांग्रेस राजनीति में एक महत्वपूर्ण अन्तर यह भी हो गया कि पहले कांग्रेस समान विचारधारा वाले विभिन्न दलों से किसी प्रकार के राजनीतिक समझौता या गठबंधन में विश्वास नहीं करती थी किन्तु अब केन्द्रीय नेतृत्व ने विशेषतौर से भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के साथ राजनीतिक समझौता बनाए रखने का दृष्टिकोण बना लिया चाहे इसके लिए प० बंगाल उन्मुख राजनीति कारण हो अथवा भारत रूस संधि। इस प्रकार दोनों कालों की आधिपत्य व्यवस्था में कुछ मात्रात्मक ही नहीं, अपितु गुणात्मक अन्तर रहा जिनकी परिणति राजनीतिक विकास में अलग अलग ढंग से हुई।

व्यवस्था पर संकट के बादल—विधि की क्या विडम्बना है कि 1971–72 में जिस समय श्रीमती गांधी को गृह एवं विदेश नीति के क्षेत्र में अपूर्व सफलताएं प्राप्त हो रही थी कुछ ही महीनों पश्चात् कांग्रेस-संस्था को गुटबन्दी एवं स्वार्थ पटुता का घुन खाना प्रारम्भ हो गया था। आम चुनावों के बाद कांग्रेस ने एक और यह गलती की थी कि कांग्रेस के दरवाजे उन लोगों के लिए खोल दिए गए जो सिर्फ तब सिण्डीकेट के समर्थक थे। सिण्डीकेट वैसे ही तबाह हो चुकी थी। कांग्रेस को सिर-तोड़ बहुमत प्राप्त था उसे दल-बदलुओं की जरूरत नहीं थी, लेकिन अपनी विजयता के मारे में सत्ता ने विभिन्न राज्यों में जिस तरह दल बदलुओं को गले लगाया, उसका नतीजा यह हुआ कि नयी कांग्रेस का चरित्र और व्यक्तित्व फिर पुरानी कांग्रेस के से चरित्र और व्यक्तित्व में परिणित होने लगा।

1974 में श्रीमती गांधी ने परमाणु विस्फोट का निर्णय लेकर तथा 1975 में सिक्किम की जनता द्वारा भारतीय संघ से विलय करने की इच्छा को स्वीकृति प्रदान कर एवं 'बांग्ला देश' की उत्थान के निर्णय को क्रियान्वित कर एक बार फिर अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में भारत की प्रतिष्ठा को ऊँचा किया। यदि भारत की विदेशी

ससार के छ शक्तिशाली देशो म होने लगी तो इसका श्रेय श्रीमती गाधी क नेतृत्व को ही दिया गया परन्तु घरेलू स्थिति कुछ विचित्र रही। 'परमाणु विस्फोट' न पाकिस्तान और चीन को सतर्क किया लेकिन राजनीतिक व्यापारियो को भयभीत नही किया। सस्था पर आर्थिक सुधार की दिशा म कोई ठोस कदम नही उठाने, भ्रष्टाचार को पनपाने तथा गरीबी की खाई का बढाने क आरोप लगाये जाने लगे, जिसका परिणाम 1974 क यू पी तथा 1975 के गुजरात विधान सभाई चुनावो म 1971–72 की तुलना मे काग्रेस के पक्ष मे मतदान म हुई गिरावट के रूप म सामने आया। देश का वह युवा और बुद्धिजीवी वर्ग जिसने कि 1969 से 1972 के बीच काग्रेस विशेषकर श्रीमती गाधी के नेतृत्व का समर्थन किया था, उलझन म पड गया। प्रतिपक्षी दलो ने अधेरे म कई छलागे लगाई, बहुत उधेडबुन की और अन्ततोगत्वा 1974 की शुरुआत म गुजरात और बिहार की आन्दोलनात्मक पृष्ठभूमि म उन्ह उत्तर मिलता सा प्रतीत हुआ। विरोधी दलो को जयप्रकाश नारायण के रूप मे एक ऐसा प्रतीकाधार मिला जिसकी आड म व अपनी लडाई लड सकते थे।

12 जून 1975 के इलाहाबाद उच्च न्यायालय के श्रीमती गाधी के विरुद्ध सुनाये गये फैसले क मालूम होने के बाद प्रधानमन्त्री क तत्काल त्याग पत्र देने का सवाल, विरोधी दलो के लिए एक अविश्वास प्रस्ताव जैसा राजनीतिक सवाल बन गया जो कि बस तभी हो सकता था, जब विरोधी दल काग्रेस का विकल्प देने की स्थिति म होते। सत्तारूढ दल के प्रवक्ताओ के अनुसार विपक्षी नेताओ ने अन्य नागरिको के समान बर्ताव करने क लिए इस फैसले हेतु न्यायपालिका की प्रशसा की किन्तु साथ ही प्रधानमन्त्री को अन्य नागरिको की तरह अन्त तक अपनी निर्दोषता सिद्ध करने के लिए कानून की शरण मे जाने का अधिकार नही दिया। सरकारी वक्तव्यो के अनुसार सेना और पुलिस को सरकारी आज्ञायें नही मानने हेतु भडकाने का प्रयास किया गया, जबरन मन्त्रियो एव जनता के प्रतिनिधियो को पदो से हटाने के कार्यक्रम बनाए गए विद्यार्थियो को स्कूल एव कालेज छोडने क लिए उकसाया गया आदि। इस स्थिति का सामना करने के लिए 25 जून 1975 को राष्ट्रपति ने देश म आपात-कालीन स्थिति (आभ्यान्तरिक) की घोषणा की। विरोधी दलो के नेताओ एव कार्यकर्ताओ को जबरन जेलो म ठूस दिया गया अखबारो पर कडा सेन्सर लगा दिया गया, नागरिको के मूल अधिकार छीन लिए गए, सविधान म

11

षष्ठम् आम चुनाव : काग्रेस 'व्यवस्था' का पतन

(Sixth General Elections Breakdown of the Congress System)

(A) लोक सभा चुनाव

नवम्बर 1976 म लोकसभा का कायकाल एक वप क लिए बढा दिया गया था इस दृष्टि से पष्ठम आम चुनाव माच 1978 म होना था लेकिन भू पू प्रधान मत्री इन्दिरा गाधी ने फैसला किया कि छठवी लोक सभा का चुनाव माच 1977 म हो जाना चाहिए। लोकसभा भग करने की उनकी सिफारिश राष्ट्रपति न स्वीकार करली। 18 जनवरी को साय साढे आठ बजे प्रधान मत्री न बहुत दिनो बाद देश के नाम सन्देश प्रसारित करते हुए अपन फैसल की सूचना दी और कहा कि ससदीय सरकार को अपने कायक्रमो तथा नीतियो के अनुमोदन के लिए जनता के पास जाना चाहिए मुझे जनता की शक्ति म पूरा विश्वास है। आपात स्थिति हटाई तो नहा गई लेकिन इतनी ढील अवश्य दी गई कि राजनतिक दलो को कानूनी कायकलापा और चुनाव सम्बन्धी प्रचार म कोई कठिनाई न हो। 18 जनवरी को ही दिन म, सगठन काग्रेस के नेता श्री मोरारजी देसाई को नई दिल्ली म रिहा कर दिया गया था। जनसघ के अध्यक्ष श्री लालकृष्ण अडवानी भी रिहा कर दिये गय। इसके पूव अनेक राजनतिक नेताओ को धीरे धीरे रिहा कर दिया गया। रिहा किये गये लोगा म चन्द्रशेखर और मोहनधारिया के नाम लिये जा सकते ह।

इस लोकसभा का गठन पाचवे आम चुनाव के बाद (जो कि सामान्य अवधि स एक वप पूव हुआ था) 19 माच 1971 को हुआ था। आपात कालीन स्थिति क कारण 4 फरवरी 1976 को लोकसभा की अवधि एक वप क लिए बढा दी गई थी। नवम्बर 1976 म उसका कायकाल एक वप और बढा दिया गया लेकिन इस बीच सविधान म सशोधन के फलस्वरूप लोकसभा का कायकाल पाच स बढकर छ वप हो गया। भू० पू० प्रधानमत्री श्रीमती गाधी ने समवत यही उचित समझा कि को सामान्य अवधि (जो अब छ वपहै) बीतन पर चुनाव हो जाने चाहिए।

लोकसभा मे राजनैतिक दलो की स्थिति इस प्रकार थी—कांग्रेस 350, सगठन कांग्रेस 16, जनसघ 22, स्वतन्त्र 8 ससापा 3, प्रजा सोशलिस्ट पार्टी 3 भाकपा 23, माकपा 25 द्रमुक 23 तेलगाना प्रजा समिति 10, सोशलिस्ट पार्टी 3, मुस्लिम लीग 4, निर्दलीय तथा अन्य 25। पाचवी लोकसभा से निर्वाचित सदस्यो की सख्या 523 थी जो इस बार बढकर 532 हो गई (सविधान इकतीसवा सशोधन अधिनियम 1972 के द्वारा निर्वाचित एव मनोनीत सदस्य सख्या 545 कर दी गई थी)। इसमे से 525 सदस्य विभिन्न राज्यो से चुने गये 17 केन्द्र शासित प्रदेशो द्वारा चुने गये और शेष एग्लो इण्डियन समुदायक राष्ट्रपति द्वारा नामाकित सदस्य थे।

छठे ग्राम चुनाव कराये जाने की आकस्मिक घोषणा ने विभिन्न प्रतिपक्षी राजनैतिक दलो के समक्ष गहन चुनौती उत्पन्न कर दी और आपसी विलय की विचारणा को अनिवार्य बना दिया। आपात काल के दौरान प्रतिपक्षी नेताओं को आपसी विचार विमर्श का अनायास ही अवसर मिल गया था और जेल से छूट कर बाहर आये नेताओ के लिए यथार्थ को टालने या बँटे-बिखरे रहने के कारण स्वय अपने अस्तित्व के विलोप का खतरा भी साफ था। अत उनके लिए अपने पृथक अस्तित्व को समाहित करने तथा देश म व्याप्त राजनीतिक अभिशाप की स्थिति को समाप्त करने की प्रेरणाये भी प्रबल बन गई। सौभाग्य से इन्हे श्री जय प्रकाश जैसा प्रभावी नैतिक नेतृत्व भी सुलभ हुआ और जो काम वर्षों म नहीं हो पाया, वह अवसरजन्य स्थिति के कारण कुछ दिनो म ही सम्भव हो गया। अन्तत चार विपक्षी दलो (सगठन कांग्रेस जनसघ, भारतीय लोकदल तथा समाजवादी दल) ने मिल कर श्री मोरारजी देसाई के नेतृत्व म जनता पार्टी का गठन किया। इसी बीच कृषिमन्त्री श्री जगजीवनराम ने मन्त्री मण्डल व कांग्रेस की प्राथमिक सदस्यता से इतनी लम्बी सेवा करने के बाद अचानक त्याग पत्र दे दिया तथा 'लोकतान्त्रिक कांग्रेस' का गठन करके जनता पार्टी के सहयोग से चुनाव लडने की घोषणा की। शीघ्र ही जनता पार्टी ने अपना चुनाव घोषणा पत्र जारी किया जिसम 10 वर्षों के भीतर गरीबी दूर करने, पाच वर्षो म अस्पृश्यता निवारण तथा बेरोजगारी समाप्त करने के अतिरिक्त सत्ता मे आते ही तुरन्त सविधान निर्माताओ की भावनाओ के अनुरूप जनता और ससद, ससद और न्यायपालिका न्यायपालिका और कार्यपालिका, राज्य और केन्द्र नागरिक तथा सरकार के बीच सन्तुलन स्थापित करने और इसके लिए 42वे सशोधन अधिनियम को रद्द करने का दृढ़वायदा का वचन दिया गया उन्होने तानाशाही के विरुद्ध लोकतन्त्र (democracy vs dictatorship) के पक्ष म मत मन देने का आह्वान किया। कांग्रेस ने भी अन्य दलो की तरह अपना चुनाव घोषणा-पत्र जारी किया।

मतदान व्यवहार—1971 म हुए लोकसभा चुनावो की तुलना म अगर 1977 म काग्रेस की गिरी हुई साख का प्रतिशत म हिसाब लगाया जाये तो साव देशिक स्तर पर उसका मिलने वाले मतो म लगभग 9 14 की कमी हुई है। 1971 के चुनाव म काग्रेस को 43 68 प्रतिशत मिल थ और 1977 म यह आकडा गिर कर 34 54 पर पहुच गया। जनता पार्टी और लोकतान्त्रिक काग्रेस ने सम्मिलित रूप से चुनाव लड कर 298 सीटे सौर 43 17 प्रतिशत मत हासिल किय।

दक्षिण भारत म काग्रेस ने अपनी पूव स्थिति को बनाय रखा और कुल 153 जगहा म से 92 सीटे प्राप्त की। दक्षिण म काग्रेस को 41 37 प्रतिशत मत मिल, जबकि जनता पार्टी को केवल 24 26 प्रतिशत। जनता पार्टी म शामिल चार दलो को 1971 के चुनावा म कुल मिलाकर 25 प्रतिशत मत मिले थ। लोक सभा चुनावो म मात खाने वाल दूसर दलो म दोना कम्युनिस्ट पार्टिया है। भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी न 1971 के चुनावो म 23 सीटें प्राप्त करके 4 73 प्रतिशत मत हासिल किये थे जबकि हाल के चुनावो म मतो क मामले म उनकी प्रतिष्ठा आधी (2 82 प्रतिशत) रह गयी और सीटो की सख्या गिरकर सात हो गई। हलाकि मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी न इस बार क चुनावा म जनता पार्टी क साथ गठबन्धन किया पर उसे भी 4 3 प्रतिशत से ज्यादा मत नही मिल। 1971 म इस पार्टी को 5 12 प्रतिशत मत मिल थे। 1971 की तुलना म इस पार्टी को तीन सीटें भी कम मिली। पिछले लोकसभा म इस पार्टी के पास 25 सीट थी और इस बार 22 हैं। इस दल ने पाच राज्या—त्रिपुरा पश्चिम बगाल करल पजाब और आध्र प्रदेश में 4 प्रतिशत मत प्राप्त किये। त्रिपुरा म इस पार्टी को 34 09 प्रतिशत मत मिले।

मार्च 1977 के लोकसभा चुनावो में, निर्दलीय उम्मीदवारा और क्षत्रीय दलो का भी महत्व घट गया। पिछले चुनाव म क्षेत्रीय दलो और निर्दलीय उम्मीद वारा ने 22 13 प्रतिशत मत हासिल करक 65 सीटे हासिल की थी, जब कि इस बार इन्ह 25 सीटें और 15 17 प्रतिशत मत ही मिले। क्षत्रीय दला म निश्चित ही कुछ न अपनी पूव स्थिति म महत्वपूर्ण सुधार किय। उनम नेशनल कान्फ्रेंस (जम्मू और कश्मीर), केरल काग्रेस और भारतीय ... वाले मोर्चे म शामिल केरल क ... म जनता पार्टी के साथ ... और ... के नतृत्व मोर्चा, अकाली दल (पजाब) ... ना ... महाराष्ट्र और महाराष्ट्रवादी गोमातक पार्टी (... ... स्थिति सुधारी।

सुधा

प्राप्त आंकड़ा के अनुसार कुल मतदाताओं (32 करोड़) के 60 प्रतिशत से ऊपर (19 37 करोड़) नागरिकों ने इस चुनाव म अपने मत का उपयोग किया। यह सख्या 1971 के मतो से 5 प्रतिशत ज्यादा और 1967 के चौथे आम चुनाव के अधिकतम (61 33) प्रतिशत से थोड़ी कम है। राज्यो मे सबसे अधिक मतदान केरल (79 21 प्रतिशत) म हुआ। दिल्ली म मतदान 71 38 प्रतिशत रहा। अब हम लोक सभा के चुनावो म उदाहरण के लिए कुछ राज्यों एव केन्द्र शासित प्रदेशो म रही स्थिति का अवलोकन करेंगे —

(i) दिल्ली —पूर्वी दिल्ली चादनी चौक दक्षिण दिल्ली और बाहरी दिल्ली मे जनता उम्मीदवार 1 लाख से ऊपर मतो से जीते जबकि नयी दिल्ली और दिल्ली सदर से जनता की जीत 60 000 से ऊपर मतो से हुई।

राज्यो म उत्तर प्रदेश और बिहार पजाब हरियाणा और हिमाचल प्रदेश, ऐसे प्रान्त थे जहा काग्रेस को एक भी सीट नही मिली। राजस्थान और मध्य प्रदेश म काग्रेस को एक एक तथा उडीसा और बगाल म क्रमश चार और तीन सीटें मिली थी।

(ii) बिहार–बिहार म जनता पार्टी और लोकतान्त्रिक काग्रेस को सम्मिलित रूप मे 64 98 प्रतिशत मत मिले। दोनो दलो ने कुल 54 स्थानो म 52 स्थानो पर चुनाव लडा और पड़े 2 04 73 354 कुल मतो (कुल मतदान 60 05 प्रतिशत) म से 1 35 587 मत प्राप्त किय। जनता समर्थित दो निदलीय उम्मीदवारो को 3,31, 763 मत मिले। चुनाव म लडे हुए सभी 210 निर्दलीय उम्मीदवारो (जनता समर्थित दो निदलीय सहित) को कुल 6 29 प्रतिशत (13 13,210) मत मिले, जबकि 1971 के चुनाव म 191 निदलीय उम्मीदवारो को 9 4 प्रतिशत मत मिले थे।

काग्रेस ने बिहार की सभी 54 सीटो पर चुनाव लडा और उसे एक भी सीट नही मिली। काग्रेस को कुल 22 9 प्रतिशत (47,80,640) मिले, जबकि 1971 मे उसे 40 06 प्रतिशत (59 67,512) मत मिले थे। 1971 मे काग्रेस ने 39 लोकसभा सीटें जीती थी। जो दुदशा बिहार म काग्रस की हुई वही भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी की हुई। 1971 म इस पार्टी को पाच सीटे मिली थी और उसने 9 84 प्रतिशत मत प्राप्त किये थे जबकि इस बार यह प्रतिशत 5 63 पर पहुच गया और उसे एक भी सीट नही मिली।

काग्रेस के प्रति बिहारियो के गुस्से का अन्दाज इस बात से लगाया जा सकता है कि 54 मे केवल चार स्थानो पर (आरा बलिया, बेगुसराय और खूटी) काग्रेसी उम्मीदवार 50 हजार से कम मतो से हारे। 14 स्थानो पर हार का

फासला 50 हजार से 1 लाख के बीच रहा, दो स्थानों पर दो लाख से तीन लाख रहा और आठ जगहों पर कांग्रेसी हार तीन लाख से ज्यादा मतों से हुई। हाजीपुर में कांग्रेसी उम्मीदवार चार लाख से अधिक मतों से हारा। पिछली लोकसभा के आठ कांग्रेसी सदस्यों ने जिनमें भूतपूर्व केन्द्रीय मन्त्री श्री सिद्धेश्वर प्रसाद भी हैं, अपनी जमानतें जब्त करवा दीं।

(iii) **उत्तर प्रदेश** —जनता पार्टी जबरदस्त जीत उत्तर प्रदेश में हुई, जहाँ से सभी 85 कांग्रेसी उम्मीदवारों को हार का मुँह देखना पड़ा। कांग्रेस के सन्दर्भ में उत्तर प्रदेश में उसकी हार इसलिए भी महत्वपूर्ण है कि वहाँ के चौदह भूतपूर्व मन्त्री, जिनमें श्रीमती गांधी भी शामिल हैं, चुनाव में चारों खाने चित्त गये और भाकपा की भी करारी हार हुई।

प्रारम्भिक अनुमानों के अनुसार प्रदेश के लगभग 5 करोड़ 12 लाख मतदाताओं में से 2 करोड़ 93 लाख (56 48) प्रतिशत मतदाताओं ने अपने मत का प्रयोग किया। जनता पार्टी के उम्मीदवारों को इनमें से 1 करोड़ 95 लाख से ऊपर (68 03) प्रतिशत मत मिले। कांग्रेस को कुल वैध मतों का 25 04 प्रतिशत (71 90,380) मिला। अन्य दलों में भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी को 1 1 प्रतिशत (3,16,387), मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी को 1 प्रतिशत (2,90 045), अन्य दलों को 0 26 प्रतिशत (77,002) और निर्दलीय उम्मीदवारों को 5 47 प्रतिशत (15,70 504) मत मिले। 1971 के चुनावों की तुलना में उत्तर प्रदेश में कांग्रेस की साख में 23 52 प्रतिशत की कमी हुई है। पिछले चुनाव में कुल वैध मतों (2 05 61,844) में से कांग्रेस को 48 56 प्रतिशत (90,84,281), मत मिले थे, जबकि अन्य दलों में संगठन कांग्रेस को 8 58 प्रतिशत (17 65,197), भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी को 0 19 प्रतिशत (39,821) स्वतन्त्र पार्टी को 0 05 प्रतिशत (9,587), भारतीय जनसंघ को 12 28 प्रतिशत (25 24 417), संसोपा को 4 1 प्रतिशत (8 42 966) प्रसोपा को 0 23 प्रतिशत (47 334)), और निर्दलीयों को 8 36 प्रतिशत (17,18,601) मत मिले। संगठन कांग्रेस स्वतन्त्र, जनसंघ संसोपा और प्रसोपा को मिला दिया जाये तो इन दलों को 25 24 प्रतिशत मत मिले थे, यानी लगभग उतने ही जितने कि कांग्रेस को इस चुनाव में मिले।

(iv) **मध्यप्रदेश** —प्रदेश के 40 संसदीय निर्वाचन क्षेत्रों में से जनता पार्टी ने 37 स्थान प्राप्त किये। एक स्थान जनता समर्थित रिपब्लिकन पार्टी (खोबरागडे गुट) के उम्मीदवार को, एक कांग्रेस समर्थित निर्दलीय उम्मीदवार को और एक कांग्रेस को मिला। प्रदेश में इस बार 54 88 प्रतिशत मतदान हुआ जो पिछले चुनाव 1971 की तुलना में लगभग सात प्रतिशत अधिक है। इस चुनाव में

डाले गये कुल वैध मतों (1,19,02,395) में से जनता पार्टी को 57 95 प्रतिशत (68 39,738) मत मिले। 1971 के चुनावों मे इस पार्टी के घटकों को सम्मिलित रूप से 39 77 प्रतिशत मत मिले थे (संगठन कांग्रेस 2 27, स्वतन्त्र 0 09, जनसंघ 33 56 ससोपा 2 17 और प्रसोपा 1 68)। 1971 के बाद मध्यप्रदेश में जहां विरोधियों ने अपनी साख में 24 39 प्रतिशत की वृद्धि की, वहां कांग्रेस की साख में 13 1) प्रतिशत की गिरावट आयी। 1971 में कांग्रेस को कुल वैध मतों (88,31 757) का 45 60 प्रतिशत (40 27 658) प्राप्त हुआ था, जबकि 1977 में कुल वैध मतों का 32 50 प्रतिशत (38,35,894) प्राप्त हुआ।

अन्य दलों में 1971 में भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी को 1 प्रतिशत (88,411) मत मिले थे, जबकि 1977 में उसे 0 52 प्रतिशत (61,590) मिले। निर्दलियों को पिछले चुनाव में 8 26 प्रतिशत (11,48,535) मत मिले थे और इस बार 7 73 प्रतिशत (9,11 283) मत मिले। कम्युनिस्ट पार्टी के तीनों उम्मीदवारों की जमानतें जब्त हुईं। कांग्रेस को जिस एक स्थान पर सफलता मिली वह छिंदवाड़ा का स्थान है, जहां से पुनर्गणना के बाद श्री गार्गी शंकर मिश्र केवल 2 369 मतों से जीते। कांग्रेस समर्थित निर्दलीय उम्मीदवार श्री माधव राव सिंधिया गुना से जीते। इस चुनाव में जनता पार्टी ने अपनी 12 सीटों को यथावत बनाये रखा और कांग्रेस से 21 सीटें छीन ली। परिसीमन के कारण बनी 3 नयी सीटों पर भी जनता पार्टी ने नये सिरे से कब्जा कर लिया।

(v) राजस्थान—मध्य प्रदेश की तरह राजस्थान में भी कांग्रेस को केवल इज्जत बचाने भर को एक जगह मिली। कुल 25 सीटों में से 24 सीटें जनता पार्टी और उसके समर्थकों ने प्राप्त की। कुल 200 विधानसभाई क्षेत्रों में 188 में जनता पार्टी को बहुमत मिला। कुल पड़े मतों 86,72,720 (56 92) प्रतिशत में से कांग्रेस को 30 56 प्रतिशत (25 68 232) मत मिले। 1971 के चुनाव में कुल मतों (69,21,879) का 50 35 प्रतिशत (34 86 774) कांग्रेस को मिला था। इस प्रकार कांग्रेस के मतों में 19 79 प्रतिशत की कमी हुई। जनता पार्टी को इस चुनाव में 65 21 प्रतिशत (54,79,837) मत मिले जबकि 1971 में इसके घटकों को सम्मिलित रूप से 31 20 प्रतिशत मत मिले थे संगठन कांग्रेस 1 65, स्वतन्त्र 14 65 भारतीय जनसंघ 12 37, ससोपा 2 52 प्रतिशत)।

भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी को इस बार 0 48 प्रतिशत (40,418) मत मिले जबकि 1971 के चुनावों में भी उसे 0 48 प्रतिशत (34,258) मत मिले थे। इस पार्टी ने तीन उम्मीदवार खड़े किये थे। मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी को 1971 के चुनावों में 0 66 प्रतिशत (31,308) मत मिले थे जबकि इस बार 0 38 प्रतिशत (31,708) मत मिले। इस पार्टी ने दो उम्मीदवार खड़े किये थे।

जनता पार्टी के 17 उम्मीदवारो ने अपने निकटतम प्रतिद्वंद्वियो को एक लाख से ज्यादा मतो से हराया । जयपुर क्षेत्र के जनता उम्मीदार श्री सतीश चन्द्र अग्रवाल सबसे ज्यादा मतो से जीते थे । कांग्रेस को जो एकमात्र सीट मिली, वह नागौर की थी जहा से श्री नाथूराम मिर्धा विजयी हुए । जीत का फासला केवल 21 000 मतो का था ।

(iv) हरियाणा —प्रदेश की 10 लोकसभा सीटो के लिए इस बार रिकार्ड मतदान (73 28) हुआ । सभी सीटें जनता पार्टी के हाथ लगी । 1967 मे मतदान 72 65 प्रतिशत और 1971 मे 64 ?5 प्रतिशत हुआ था । कुल 57,64,601 मतदाताओ ने अपने मत का उपयोग किया । प्रदेश म सबसे ज्यादा मतदान कुरुक्षेत्र म (79 05 प्रतिशत) हुआ । जनता पार्टी को हरियाणा म 70 34 प्रतिशत मत मिले और कांग्रेस को केवल 17 95 प्रतिशत । विशाल हरियाणा पार्टी को 4 64 प्रतिशत और भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी का 0 6 प्रतिशत मत मिल । निर्दलीय उम्मीदवारो को 6 32 प्रतिशत मिले ।

थोडा आश्चयजनक है पर सत्य है कि प्रदेश म जिस एकमात्र कांग्रेस उम्मीदवार को सर्वाधिक मत मिले वह श्री बसीलाल हैं । श्री बसीलाल को भिवानी से श्रीमती चन्द्रावती न 1 61 242 मतो से हराया । श्री बसीलाल को 1 27,839 (29 92 प्रतिशत) मत मिले । प्रदेश की कुल 90 विधानसभाई सीटो म से कांग्रेस को केवल तोशम क्षेत्र म ज्यादा मत मिले । यहा कांग्रेस को (27,519) और जनता पार्टी को (21,744) मत मिले । जनता पार्टी को 82 क्षेत्रो म सबसे ज्यादा मत मिले ।

(vii) पजाब —फिरोजपुर को अगर छोड दे, जिसके लिए फिर से चुनाव 27 अप्रल 1977 को हुए तो प्रदश की शेष 12 लोकसभा सीटो के 108 विधानसभाई क्षेत्रो म कांग्रेस को कवल 4 म बहुमत मिला । अकाली जनता मार्क्सवादी मोर्चे को प्रदेश म 56 44 प्रतिशत मत मिले, जबकि कांग्रेस को 34 57 प्रतिशत मत मिले । सिर्फ अकाली दल का ही आठ लोकसभा क्षेत्रो मे 39 09 प्रतिशत मत मिले । जनता पार्टी ने प्रदेश की तीन सीटो पर चुनाव लडा और उसे 12 48 प्रतिशत मत मिले । सबसे बुरी हालत प्रदेश मे भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी की हुई जिसे कुल 0 56 प्रतिशत मत मिले । मार्क्सवादियो का 4 93 प्रतिशत मत मिले । प्रदेश की 12 सीटो पर मतदान 75 93 प्रतिशत हुआ ।

फिरोजपुर क्षेत्र की 13वी सीट के लिए मतदान 27 अप्रल को हुआ जिसमे अकाली दल के श्री मोहिन्द्रसिंह सेयावाला ने प्रदेश कांग्रेस अध्यक्ष

श्री मोहिन्द्र गिल को 1,63,000 मतों से हराया। गिल सहित शेष सभी पांच उम्मीदवारों की, जिनमे भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के प्रदेश सचिव श्री अवतार सिंह मल्होत्रा भी थे, जमानतें जब्त हो गयी। अकाली दल के उम्मीदवार को 1,69,772 मत मिले, जबकि गिल को 15 927 मत। इस प्रकार प्रदेश की सभी 13 सीटों पर कांग्रेस की हार हुई।

(viii) पश्चिम बंगाल —इस प्रदेश में कांग्रेस को 42 सीटों में से कुल जमा 3 सीटें मिली। कांग्रेस को लगे इस धक्के का महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि जनता पार्टी और मार्क्सवादी वामपंथी मोर्चे को सम्मिलित रूप से 58 03 मत मिले। कांग्रेस भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी गठबंधन को 36 60 प्रतिशत मत मिले। मजेदार बात यह है कि जनता पार्टी और लोकतान्त्रिक कांग्रेस ने पहली बार चुनाव लड़ा और सभी 15 सीटें जीत ली। दोनों दलों को सम्मिलित रूप से 22 15 प्रतिशत मत मिले।

कांग्रेस की स्थिति में इतना ही सुधार हुआ कि 1971 के चुनावों में उसे 27 3 प्रतिशत मत मिले थे और इस बार 30 25 प्रतिशत। इसी प्रकार मार्क्सवादियों ने भी अपनी स्थिति में सुधार किया। इस पार्टी ने 42 में से 21 सीटों पर चुनाव लड़ा और 26 48 प्रतिशत मत प्राप्त किये। औसत तौर पर 1971 के चुनाव में हर मार्क्सवादी उम्मीदवार को 1 18 लाख मत मिले थे, जबकि इस बार 1 80 लाख मत मिले। मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी के समर्थक दलों में फारवर्ड ब्लाक को 4 30 प्रतिशत रिवोल्यूशनरी सोशलिस्ट पार्टी को 3 04 प्रतिशत मत मिले। 60 34 प्रतिशत मतदान में सबसे खराब हालत भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी की हुई। इस पार्टी को 1971 के चुनाव में 10 3 प्रतिशत मत मिले थे, जब कि इस बार 0 35 प्रतिशत मिले।

छठे आम चुनाव की अपनी कई विशेषताएँ रही हैं जो इसके महत्व को बढ़ाती है —

प्रथमतः यह अब तक हुये समस्त चुनावों में सबसे अधिक मुद्दा पर आधारित (Issue oriented) रहा है। इस चुनाव का महत्वपूर्ण मुद्दा लोकतन्त्र बनाम तानाशाही तथा अराजकता बनाम स्थिरता (democracy V/s dictatorship and chaos V/s stability) था। इस महत्वपूर्ण मुद्दे के आगे अन्य आर्थिक नीति व्यक्तित्व (Personality), उम्मीदवार (Candidate), जाति (Caste) तथा यहां तक कि 'वोट-बैंक्स"(Vote banks) आदि तत्वों की महत्ता, अगर समाप्त नहीं तो, गौण अवश्य हो गई।

द्वितीय, यह एक प्रतियोगी चुनाव (A competitive poll) रहा। हमने देखा कि जब लोग यहां तक कि ग्रामीण क्षेत्रों में भी परिवर्तन के प्रति (For a change) उत्सुक हैं जब विपक्ष ने अपने को एक विकल्प (posed as an

alternative) के रूप म प्रस्तुत किया तथा दूसरा भी अधिक महत्वपूर्ण यह है कि लोगो न इनके इस रूप पर विश्वास भी किया। वास्तव म प्रथम बार देश म (दक्षिण को छोडकर) राजनैतिक परिवर्तन के लिए स्वयमेव सचरण (Self mobilization for political change) का वातावरण देखा गया।

तृतीय, यह चुनाव एक साथ ही सत्तारूढ पक्ष के प्रति लोगो के विश्वास की अस्वीकृति एव स्वीकृति (Rejection and affirmation of faith in the ruling party)—यद्यपि अस्वीकृति अधिक—के लिए निर्णायक (A decisive poll) रहा। दक्षिण एव शेष भारत का सत्तारूढ दल के प्रति क्रमश निरतर विश्वास एव अविश्वास की इस प्रकार की अभिव्यक्ति वास्तव म सुखद विकास नही (Not a happy development) है क्योकि अगर यह अभिव्यक्ति स्थायी रूप ग्रहण करती है तो राष्ट्रीय हितो के विरुद्ध होगा किन्तु हम विश्वास है कि यह एक अस्थायी चरण है (Passing phase) तथा भविष्य इस सम्बन्ध म स्पष्ट उत्तर देगा। अन्तिम, ये चुनाव-परिणाम सकारात्मक की अपेक्षा नकारात्मक अधिक रहे हैं ये काग्रेस विरोध म अधिक तथा प्रतिपक्ष के समर्थन म कम (More against the Congress than pro opposition) हैं।

चुनाव आकडे कुछ दिलचस्प तथ्य —

1977 के लोकसभा चुनाव मे प्रत्याशियो की सख्या म कमी राजनैतिक शक्तियो के ध्रुवीकरण की प्रतीक है। 1971 के चुनाव म आठ राष्ट्रीय दल मैदान म थे। इस बार उनकी सख्या चार रह गई है। ये हैं काग्रेस, जनता पार्टी, भारतीय साम्यवादी दल मार्क्सवादी साम्यवादी दल। इसके अलावा इस बार अकाली, द्रमुक जैसे क्षेत्रीय दलो ने भी अपने बलबूते पर न उतर कर राष्ट्रीय दलो से गठबन्धन करके चुनाव लडा। इसका परिणाम यह हुआ है कि 1971 मे जहाँ 520 स्थानो के लिए 2674 प्रत्याशी थे, वहाँ इस बार 542 स्थानो पर 2430 प्रत्याशी ही मैदान म रहे जिनमे दलीय प्रत्याशियो की सख्या 1150 ही रही। शेष निर्दलीय थे।

छठी लोकसभा के लिए 102 स्थानो पर सीधा सघर्ष रहा जबकि 1971 मे 36 पर ही सीधा सघर्ष हुआ था। त्रिकोणात्मक सघर्ष 114 (1971 म 9 स्थानो पर हुआ और 105 स्थानो पर चतुष्मुखी सघर्ष रहा।

मतदान और काग्रेस—सकल मतदाताओ की सख्या के अनुपात म वास्त विक मतदान का सार्वदेशिक औसत 62 प्रतिशत से ऊपर कभी नही गया है। पहले आम चुनाव (1952) म केवल 45 7 प्रतिशत मतदाताओ ने अपनी राय जाहिर की थी, जबकि 1967 म यह प्रतिशत सर्वाधिक—61 33 प्रतिशत रहा। 1971 म कुल केवल 55 3 प्रतिशत मत पडे, जो 1962 से भी कम थे।[1]

1 According to figures made available officially, of the

आकडा का विश्लेषण करने पर मतदान के प्रतिशत मे घट बढ का काग्रेस द्वारा प्राप्त सीटो से सीधा सम्बन्ध नजर आता है—जब जब मतदान का प्रतिशत बढा है तब तब मतो और सीटो मे काग्रेस का हिस्सा घटा है और जब मतदान घटा है तब उसका हिस्सा बढा है।

1952 मे केवल 45 7 प्रतिशत मतदान हुआ था, और काग्रेसको479स्थाना म स 357 स्थान मिले थे, यानी 74 5 प्रतिशत। 1957 और 1962 म मतदान का प्रतिशत 47 8 और 54 4 रहा था तब काग्रेस को 74 4 और 72 9 प्रतिशत

---

320 million eligible voters, 193 74 million—60 54 per cent—exercised their franchise This however, fell short of the record turnout of 61 33 per cent in the fourth general election in 1967 The p rcent ige of polling in the 1971 elections was 55 29

Keral recorded the highest per-entage of polling among states—79 21 per cent Punjab followed with 73 38, Haryana 73 26 Trip ra 70 07, Gujarat 69 24 and Tamil Nadu 66 89 The lowest percentag was registered in Orissa 44 32

Among Union Territories Lakshadweep which has a lone seat in the Lok Sabha, registerad a turnout as high as 84 64 percent The percentage of polling in Dadra and Nagar Haveli was 83 19, the Andaman and Nicobar Islands 76 34 and Delhi 71 38

The percentages of polling in other states and territories were Andhra Pradesh 62 40 Assam 54 90 Bihar 60 92 Himachal Pradesh 61 47, Jammu and Kashmir 57 61, Karnataka 63 06 Madhya Pradesh 54 88, Maharashtra 60 38, Manipur 60 20 Meghalaya 49 88 Nagaland 52 83 Rajasthan 56 92 Uttar Pradesh 56 48, West Bengal 59 51, Arunachal Pradesh 56 27 Chadigarh 67 40 Goa Daman and Diu 62 80, Mizoram 49 92 and Pondicherry 73 63

Overall 50 37,617 ballots—2 74 per cent found invalid

स्थान मिले थे। 1967 म जब मतदान का प्रतिशत बढ कर 61 3 हो गया, तब कांग्रेस को 54 1 प्रतिशत स्थान—515 म 274 और केवल 40 7 फीसदी मत मिले थ। 1971 म मतदान का प्रतिशत जब घट कर 55 3 रह गया, तब कांग्रेस को 68 8 प्रतिशत स्थान—517 म 352 मिले थ। 1952 से 1971 तक सकल मतदान में कांग्रेस को प्राप्त मतो का प्रतिशत क्रमश 45, 47 7 44 7, 40 7 और 43 6 प्रतिशत रहा है।[1]

---

1 Of the 18,84,38,910 valid votes, the votes polled by the national parties in 1977 election were —

Janta CFD—81,355,333 (43 17 percent)
Congress—65 088,520 (34 54)
CPI—5,310, 775 (2 82)
CPI (M)—8,103,723 (4 30)
Others—17,247,100 (9 15)
Independents—11,333,459 (6 02)

The Janta—CFD tally does not include the votes polled by the combination in Tamil Nadu, where it contested on the symbol of the Congress (O)

The combine polled more than 50 percent of the votes in seven states and two Union Territories They were Bihar–65 01, Haryana–70 35 Himachal Pradesh–58 37, M P–57 95, Orissa–51 77, Rajasthan–65 21 Uttar Pradesh–68 3, Chandigarh–66 13 and Delhi–68 15

The Congress polled majority votes in three states and three Union Territories They were Andhra Pradesh 57 36, Karnataka 56 74, Assam 50 56, Lakshadweep 58 59, Andaman and Nicobar islands 58 54 and Arunachal Pradesh 56 34

The regional parties and independents garnered 15 17 per cent of the votes in annexing 59 seats

This compares with 22 13 per cent of the votes and 65 seats in the 1971 elections

Among the regional parties which turned in an impressive performance at the polls were the National Con

TABLE

लोकसभा चुनावो मे कांग्रेस का गिरता प्रतिशत

राज्य	1977 के लोकसभा चुनाव	1971 के लोकसभा चुना
West Bengal	29 39	28 23
Uttar Pradesh	25 04	48 56
Tamil Nadu	22 28	12 51
Rajasthan	30 56	45 96
Punjab	35 87	45 96
Orissa	38 18	38 46
Manipur	45 71	30 02
Maharashtra	46 93	63 18
Madhya Pradesh	32 5	45 6
Kerala	29 12	19 75

ference, which contested in Jammu and Kashmir in alliance with the Congress, the Kerala Congress and other parties of the than CPI led ruling front in Kerala, the Peasants & Workers Party, an ally of the Janta Party, in Maharashtra the United Democratic Front in Nagaland, the Akali Dal in Punjab, the All India Anna Dravida Munnetra Kazhagam in Tamil Nadu and Pondicherry and the Maharashtrawadi Gomantak Party in the Union Territory of Goa, Daman and Diu

The percentage of votes polled by these together with other smaller parties in the respective states were Jammu and Kashmir 34 99, Kerala 24 31, Maharashtra 10 24, Nagaland 51 68, Punjab 40 57, Tamil Nadu (includin DMK, AIADMK and Congress–O) 48 65, Goa 40 52 Pondicherry 53 32

Karnatak	56 74	70 87
Himachal Pradesh	38 3	75 79
Haryana	17 95	52 56
Gujarat	46 92	44 85
Bihar	22 90	40 06
Assam	50 56	56 98
Andhra Pradesh	57 36	55 73

Thus according to the detailed figures made available[1], contrary to the general impression, the Congress suffered an erosion of support in the south in the elections while it increased its popularity in several states in the East and West The party suffered a record drop in vote in the Hindi speaking belt, particularly in Himacal Pradesh and Haryana

The analysis also suggests that in spite of the sharp fall in the party's vote in many states, it might still have scraped through with a majority had the opposition vote been divided among several parties The unity of these parties was thus a key factor in the Congress debacle

It should be noted that the fall in the party's share of the vote was much sharper in these (Andhra Pradesh & Karnataka) states than in M P (13 1) or Punjab (10 8 per cent) It was only because the party started from such a position of strength in Karnataka and Andhra Pradesh that it won so many seats despite its falling popularity

In Kerala and Tamil Nadu, the Congress improved its share of the vote by 9 37 percent and 9 77 percent respectively But this increase should not be taken at face value, as it was largely due to the fact that the party contested more seats in 1977 than in 1971 In Kerala, it put up seven candidates in 1971 who secured 19 75 percent of the total vote On the latest

1 'Congress got fewer votes in south too, Times of India April 17, 1977

occasion the party put up 11 cadidates, who totalled 29 12 percent of the vote per seat contested, the share of the Congress in Kerala actually fell from 2 82 to 2 74

The one southern state where the party definitely improved its popular position was Tamil Nadu In 1971 its nine candidates accounted for 12 51 percent of the vote while this time its 15 candidates got 22 28 percent of the vote The popular vote per seat contested rose from 1 29 to 1 39 However it is clear that in Tamil Nadu, the Congress rode to victory on the back of its senior partner, the Anna DMK, and now this party has decided to lend support its to the Janata Government

In the East, the Congress increased its popular vote in West Bengal, Tripura and Manipur compared to 1971, and almost maintained it in Orissa It obtained 29 39 per cent of the vote in West Bengal against 28 23 percent in the 1971 poll But thanks to opposition unity, the number of seats it won fell from 13 to 3 In Manipur the party retained both seats, increasing its vote from 30 02 per cent to 45 31 per cent, in the process The Congress lost both Tripura seats to the CPM in 1971 when it polled 36 3 percent of the vote This time it increased its vote to 39 74 percent, wrested back one of the seats and made a close contest of the other

The party got 38 18 percent of the vote in Orissa, aginst 38 46 per cent in 1971 and only 33 33 percent in 1967 However, opposition unify reduced its seats from 15 in 1971 to just 4 this time

In Assam, the popularity of the party declined from 56 98 percent of the vote in 1971 to 50 56 percent, and it lost four of its 13 seats in the process But it is worth noting that the party's vote was much higher than in 1967, when it was only 46 82 per cent

The Gujrat, the Congress did exceedingly well considerin the overall political climate It improved its share of the vot

46 92 percent from 44 85 percent during Indira wave of 197 and barely 40 percent in the 1975 mid term assemby poll Mr Morarji Desai was reduced to his lowest winning margin in six elections in his bailiwick of Surat

The party suffered a setback in Maharashtra with its share of the vote slipping from 63 18 percent in 1971 to just 46 93 percent a fall of no less than 16 25 per cent Even so the reduced vote comparable with the party performance in 1967, when it got 48 5 per cent of the vote On the occasion it won 37 of the 45 seats it contested but this time it won just 20 seats since the opposition vote was consolidated

"Nasbandi Belt'

The fall in the Congress vote was steepest in the "Nasbandi Belt of North and Central India It suffered a huge loss of 37 49 per cent of the vote in H P compared to 1971, which now stands as a new record for any party in any election The loss in the Congress vote was also sharp in Haryana (34 61 per cent), U P (23 52 percent) Rajasthan (19 89), Bihar (17 16) M P (13 1) & Punjab (10 8)

However it would be quite wrong to conclude that forced sterilisation was the only reason for the party's rout Its vote in this region has traditionally averaged less than 40 percent but it won a large proportion of seats in the past because the opposition vote was fragmented This time, with a united opposition, the Congress was swept clean out of H P and Punjab in spite of winning 38 3 & 35 87 percent of the votes respectively

Considering that the Congress got only 32 8 per cent of the vote in the 1974 Assembly poll long before the Nasbandi drive, it would probablly haye suffered a debacle anyway in the State this time This argument applies to other Northern States as well

Its vote slumped to 25 04 percent in U P & 29 9 per cent in Bihar this time It is instructive to study comparable

voting percentage in past elections when the opposition vote was fragmented. In the 1974 assembly poll in U.P., BKD SSP, Muslim Majlis alliance secured 21 percent of the vote and 106 of the 425 seats. Again in the 1969 U.P. assembly poll, the BKD on its own got 21.3 percent of vote and 98 seats. If these figures are anything to go by the Congress should have won about a quarter of the seats in U.P. and Bihar in the latest election, had the opposition vote been split.

In Punjab, the party's 35.87 per cent of the vote was only marginally less than the 37.31 per cent it won in 1967. But while it won nine seats in 1967 it failed to open its account this time.

Biggest Slump

In Haryana the Congress vote slumpted to just 17.95 per cent of the total. This is comparable with the performance of the SSP in Bihar in 1967 and the Jana Sangh in U.P. in 1974. On both these occasions the parties got roughly one-seventh of the seats multi cornered contests. Using this as a yardstick, Opposition unity probably cost the Congress one or two seats this time in Haryana.

In M.P., the party got 32.5 per cent of the vote almost the same as the figure which gave it half the U.P. assembly seats in 1974 in a muti party situation. In Rajasthan the party secured 30.58 per cent of the vote which in the past would have got it at least 10 seats against this single one it obtained this time. The H.P. vote of 38.3 per cent would have given it two or all three seats of opposition votes had been splintered. In Assam, the 50.56 per cent votes polled by the party would have ensured it at least two seats more in multi cornered contests.

A Vital Factor

In sum it looks as through opposition unity cost the Congress something like 110 to 120 seats in the election, but

for which it could conceivably have stayed in power Thus the emergency was a vital factor not just in reducing the Congress vote but in bringing together its opponents As a Congress (o) stalwart put it "By throwing us all in jail Mrs Gandhi achieved in 19 months what we could not achieve by ourselves in 19 years opposition unity

The question arises why attempts at a unified opposition front in the 1971 poll yielded such poor results The answer is that, for a start the Congress vote was much higher in 1971 and exceeded 40 % in the northern & central states It also had an electoral alliance with the CPI and some minor parties so that its combined vote in these states along with the allies was round 50 Secondly the opposition was not really united—the BKD did not join the Grand Alliance nor did the PSP In many constituencies the Akali Dal and CPM join the fray & split the opposition vote There was considerable infighting between different members of the Grand Alliance and in many constituencies they fielded more than one candidate

The sharp fall in the Congress vote this time made it vulnerable in the Northern and Central States And the unification of opposition parties sealed its fate

भारत म चुनाव परिणामा पर विश्व म समाचार पत्रा म व्यापक टिप्पणि की गई । एशियाई अफ्रीकी देशो के अलावा बड़े यूरोपीय देशो म समाचार पत्रो अपन अपने सम्पादकीय लेखो म चुनाव परिणामो की चर्चा की है । सभी टिप्पणिय से यही ध्वनि निकलती है कि भारत की जनता ने अपन मताधिकारो का समुचित प्रयाग कर निडरता से मतदान किया है । आस्ट्रेलिया के एक प्रमुख समाचार पत्र "सिडनी मार्निग हेराल्ड' ने इन चुनाव परिणामा को लोकत । की विजय बताया है । इस पत्र का कहना है कि भारत म स्थिर सरकार बनाने के रास्ते म चाहे जितनी ही कठिनाइया आये लेकिन बहुत समय से चले आ रहे काग्रेस प्रशासन और श्रीमती गाधी की तानाशाही प्रवृत्तियो को इस मतदान ने अस्वीकार कर दिया ... भी कहना है कि भारत म कुछ समस्याओ ... पत्र का यह पकडेगी । चाहे जो भी हो, भारतीय ... जोर आस्ट्रेलिया के ही एक बडे समाचार ... ने ... है । के चुनाव परिणामो से वहा एक मो ... है

जून म भी बना रहा और हरियाणा राजस्थान, मध्यप्रदेश, उत्तर प्रदेश, बिहार तथा हिमाचल प्रदेश म जनता पार्टी दो तिहाई से लेकर तीन चौथाई बहुमत के साथ सामने आई। पजाब म अकाली जनता मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी का बहुमत मिला, पश्चिमी बगाल म वामपथी मोर्चे का और तमिलनाडु म अखिल भारतीय अन्ना द्रमुक का। दिल्ली महानगर परिषद के चुनाव म भी जनता पार्टी को 56 सीटो म स 46 मिली। इस चुनाव ने यह भी सिद्ध कर दिया कि मतदाता संसदीय लोकतन्त्र के विकास के लिए अपने को दलीय पद्धति के साथ जोडने म विश्वास करता है, निर्दलियो को उसने कोई प्रोत्साहन नहा दिया। 1972 74 के बाद कांग्रेस को लगभग 34 प्रतिशत के आस पास मत मिले थे जबकि जनता पार्टी के तत्कालीन घटको को कुल 27 प्रतिशत मत मिले थे, इस बार स्थिति इसकी उल्टी हो गई। इसका परिणाम यह है कि हरियाणा और एकाधिक अन्य राज्यो म कांग्रेस अपने को मान्यता प्राप्त विरोधी दल बना पाने म भी असफल हो गई है।

(i) उत्तरप्रदेश म विधान सभा की 425 सीटो म स दो म चुनाव नहा हुए। जिन 423 सीटो के परिणाम घोषित हुए उनम जनता को 351, कांग्रेस को 46, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी को 9 मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी को 1 और निर्दलियो को 16 स्थान प्राप्त हुए। (बादम हुये उप चुनावो म एक म कांग्रेस व दूसरी म जनता पार्टी की जीत हुई) इस चुनाव की खूबी यह है कि 57 जिलो म स 40 जिलो म कांग्रेस का अस्तित्व खत्म हो गया भूतपूर्व मुख्यमन्त्री नारायणदत्त तिवारी और एक मन्त्री लक्ष्मीशकर यादव को छोडकर चुनाव लडने वाले शेष सभी मन्त्री पराजित हो गये। 11 भूतपूर्व कांग्रेसी राज्य मन्त्रियो म से यशपाल सिंह और चतराम गगवार विजयी हुए। प्रादेशिक कांग्रेस के सभी भूतपूर्व और वर्तमान महासचिव चुनाव हार गये। जौनपुर म कांग्रेस को अच्छी सफलता मिली। वहा 12 सीटो मे उसे 9 प्राप्त हुई। 1380 निर्दलीय उम्मीदवारो मे स 63 को छोडकर शेष सभी की जमानत जब्त हो गयी। भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के 14 मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी के 18 कांग्रेस के 7 और जनता पार्टी के 5 उम्मीदवारो की जमानते जब्त हो गयी। रायबरेली म कांग्रेस को 7 सीटो म स 6 पर विजय मिली और इस विजय को लेकर रायबरेली का प्रतिनिधित्व करने वाले केन्द्रीय स्वास्थ्य मन्त्री श्री राजनारायण से त्यागपत्र की माग की गयी।

उत्तर प्रदेश म जनता पार्टी को तीन चौथाई बहुमत मिला। कांग्रेस को बहुत मुश्किल से एक मान्यता प्राप्त विरोधी दल की हैसियत प्राप्त हो सकी। उत्तर प्रदेश मे कांग्रेस की पराजय श्रीमती गाधी की निजी पराजय भी है क्योकि चुनाव अभियान म हिस्सा न लेने और अपने को ऊपरी तौर पर चुनावी राजनीति से दूर रखने के बावजूद उन्होने कांग्रेसी प्रत्याशियो के चयन म न केवल निर्णयात्मक भूमिका निभायी थी बल्कि उम्मीदवारो की अंतिम सूची म 85 नामो म परिवर्तन कर दिया था।

काग्रेस की हालत यहा अत्यन्त शोचनीय रही। वास्तव मे लोकसभा चुनाव के बाद यहा का मतदाता स्वाभाविक रूप स विधानसभा चुनाव का इन्तजार करने लगा था। केन्द्र की तरह प्रदेश म भी जनता की सरकार की अपनी इच्छा को उसने प्रमाणित सिद्ध किया। यह जरूर है कि लोकसभा चुनाव के वक्त की ताजगी, उत्साह और राजनैतिक उत्तेजना इस बीच काफी ठडी पड गयी थी। पूरे राज्य म औसतन 50 प्रतिशत मत पडे। बनारस मे औसत से कम 10 प्रतिशत और मिर्जापुर म औसत से ज्यादा 65 प्रतिशत मत पडे। शहरो की अपेक्षा गावो म ज्यादा मत पडे। उत्तर प्रदेश मे सामन्ती सस्कार अभी भी जीवित है। बाबू साहब और पडित जी धुरहू कतवारु को वोट डालने के लिए उसी अदाज म कहते हैं जिस अदाज म बेगारी के लिए कहते हैं। उन्हे धुरहू कतवारु के अधिकार की कीमत पर अपनी कीमत बढानी होती है। लोहिया जी ने लोकतन्त्र को प्राणवान बनाये रखने के लिए जेल फावडा और वोट को जरूरी बताया था। सत्तारूढ दल हमशा वोट मागते रहे। विपक्षी भी हमेशा मागते रहे। आपात स्थिति म 19 महीने का जेल पर्व हुआ तो केन्द्र मे जनता की सरकार बन गयी। फावडा तो अभी चुप है। कोई भी नेता वोट मागते समय फावडा और जेल की बहस नही चलाता। क्योकि वह फावडा नही चलाता है। टिकट के बटवारे म जो पाप हुआ उसने भी वोटरो का जोश कम कर दिया था। उत्तर प्रदेश म सासद थी रामनरेश यादव जनता पार्टी की प्रथम सरकार के मुख्यमन्त्री बनाये गये। बाद म उप चुनाव म यह विजयी हुये।

(1) बिहार मत गणना के पहले चरण मे बिहार से जो नतीजे प्राप्त हुए थे उस से कुछ देर के लिए लगा था कि काग्रेस अच्छी स्थिति म है। बाद म यह भ्रम टूट गया क्योकि यहा भी जनता पार्टी को दो तिहाई सीटें मिली हैं। 324 विधानसभा सीटो मे से एक म चुनाव नही हुआ है। शेष 323 म जनता पार्टी को 218 काग्रेस को 57, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी को 4 समाजवादी एकता केन्द्र को 1 समाजवादी शोषित दल को 1, झारखण्ड को 2 और निर्दलियो को 18 जगह मिली हैं।

बिहार म भी जनता पार्टी के उम्मीदवारो के चयन को लेकर विरोध और असतोष की अभिव्यक्ति सर्वाधिक मुखर हुई थी और उससे यह आशका हो गई थी कि अपने ही दल के विद्रोहियो की भूमिका जनता पार्टी के लिए महगी पड सकती है। लेकिन यहा पर भी जनता ने समझदारी से काम लिया और विद्रोहियो को महत्त्व नही दिया। विघटित विधान सभा म काग्रेसी विधायको की सख्या 175 थी। भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी को 1972 म 35 सीट मिली थीं। इस बार केवल 21 मिली। मार्क्सवादी कम्यूनिस्ट पार्टी पहली बार राज्य म चार सीटों पर विजयी होने म सफल हुई है। डा जगन्नाथ मिश्र के भूतपूर्व काग्रेस मन्त्रिमण्डल के 9 मन्त्री इस बार पराजित हुए हैं। केवल 1 मन्त्री को टिकट नहीं मिला था। युवा काग्रेस के 12 नेताओ को भी जनता पार्टी के उम्मीदवारो के सामन पराजित होना

पडा । छात्रसंघर्ष समिति के 39 उम्मीदवारो ने जनता पार्टी के उम्मीदवार के रूप चुनाव लडा था और उनमे से 24 विजयी हुए । 22 चुनाव क्षेत्रो मे कांग्रेसी उम्मीदवार तीसरे नम्बर पर थे । 9 चुनाव क्षेत्रो मे कांग्रेसी उम्मीदवार एक हजार से कम मतो से विजयी हुए । पश्चिमी चंपारन जिला मे कांग्रेसी उम्मीदवारो की सफलता अधिक स्पष्ट है क्योकि वहा उसे 9 सीटो मे से 8 मिली । पूर्वी चम्पारन मे उसे 11 सीटो मे से 5 पर विजय मिली । विघटित विधान सभा के अध्यक्ष श्री हरिनाथ मिश्र 32 वर्षों के अपने राजनैतिक जीवन मे पहली बार पराजित हुए है । भूतपूर्व मुख्यमन्त्री डा जगन्नाथ मिश्र श्री केदार पाडे और श्री अब्दुल गफूर भी विजयी हुए । सासद श्री कर्पूरी ठाकुर बिहार जनता पार्टी सरकार के प्रथम मुख्यमन्त्री बने । बाद के उप चुनाव मे ये विजयी हुये ।

(iii) पश्चिमी बगाल में जनता पार्टी और वामपथी मोर्चे के बीच सारी कोशिशो के बावजूद चुनावी समझौता नही हो सका था और उसकी महगी कीमत जनता पार्टी को चुकानी पडी । विधान सभा की 294 सीटो मे अकेले मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी को 178 सीटें मिली । यानी वह अपने आप सरकार बनाने मे न केवल सक्षम रही बल्कि उसे आवश्यक बहुमत से 30 सीटें अधिक मिली । जनतापार्टी को केवल 29 सीटें मिली । कोई भी दल प्रतिपक्षी की मान्यता प्राप्त करने मे सफल नही हुआ । क्रान्तिकारी समाजवादी पार्टी को 20, फारवर्ड ब्लाक को 25, फारवर्ड ब्लाक (मा) का 2, विप्लवी बगला कांग्रेस को 1, भारपा क्रांतिकारी का 1, समाजवादी एकता केन्द्र को 4 भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी को 2 तथा निर्दलियो को 9 स्थान मिले ।

मुख्यमन्त्री पद के लिए मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी के नेता श्री ज्योतिबसु का चुनाव हुआ । श्री ज्योतिबसु ने अपने दल की यह इच्छा पुन दोहरायी है कि अधिक विभाग तथा दूसरे मसलो के समाधान के लिए जनता पार्टी के साथ एक सयुक्त मोर्चा बनाया जाय । यह तभी सम्भव हो सकता है जब जनता पार्टी के नेता इस चुनाव के नतीजो से कुछ सीख लें । जाहिर है कि यहा की जनता ने न केवल वामपथी मोर्चे के पक्ष मे अपना मत दिया बल्कि उस एकता के लिए भी मत दिये जिसका परिचय उसने लोकसभा के चुनाव मे दिया था । जहा तक श्री बसु के सामने प्राथमिकताओ का प्रश्न है उनमे राजनीतिक बन्दियो की रिहाई 71 के बाद के वर्षों मे नक्सलपथी और मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी के नेताओ की हत्या सम्बन्धी मामलो की जाच बडी औद्योगिक इकाइयो को पुन चालू करना और उनमे नये सिरे से पूजी निवेश के कायक्रम मुख्य है ।

इस राज्य की राजनीतिक दृष्टि से प० बगाल बहुत जागरूक और संवेदनशील रहा है । जनता पार्टी के चुनाव के अवसर पर इस राज्य को एक स्थायी सरकार

देने का वायदा किया था लेकिन पारस्परिक चुनावी समझौतो के अंतत असफल हो जाने के कारण दलीय रूप में उसकी स्थिति कम से कम इस राज्य में बहुत प्रेरक नही रही। मतगणना के पहले चरण में वामपथी मोर्चे की बढती हुई संख्या स्पष्ट हो जाने के तत्काल बाद ही जनता पार्टी के महासचिव श्री अशोक कृष्ण दत्त ने यह स्वीकार किया कि राज्य की जनता की इच्छा एक वामपथी विचारधारा वाली सरकार बनाने की है। श्री ज्योतिवसु सर्वाधिक यानी 38 हजार मतो से विजयी हुए। इस चुनाव ने यह सिद्ध कर दिया है कि भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी की जड खोखली हो चुकी है, जनता पार्टी के कई तथा सगठन काग्रस और लोकतान्त्रिक काग्रेस के विद्रोही सदस्यो की ही तरह भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के भी बहुत से सदस्यो की जमानतें जब्त हुई। यह परिणाम मिन्नापुर जसे पार्टी के सशक्त गढ में भी देखने को मिला। यहा पर उसके उम्मीदवार और नेता विश्वनाथ मुखर्जी केवल 117 मतो से जीते और उनकी पत्नी श्रीमती गीता मुखर्जी हार गयी। काग्रेस के पराजित उम्मीदवारो में प्रमुख भूतपूर्व राय मन्त्रिमण्डल के पी के घोष और अजित पजा के नाम उल्लेखनीय हैं। युवा काग्रेस के महासचिव पकज बनर्जी भी पराजित हुए।

(iv) राजस्थान म पहली बार गर-काग्रेसी सरकार बनी है। विघटित विधान सभा में काग्रेस के 145 सदस्य थे। भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी को भी गहरा धक्का लगा है। विजयी 6 निर्दलियो म 5 जनता पार्टी के सभी प्रमुख नेता मास्टर आदि येन्द्र ललित किशोर चतुर्वेदी नवनीत कुमार पालीवाल सम्पतराम, गिरधारी लाल भार्गव और विजयसिह नदेरा विजयी हुए। बासवाडा से भूतपूर्व काग्रेसी मुख्यमन्त्री हरिदेव जोशी विजयी हुए। काग्रेस के अन्य विजयी उम्मीदवार है परसराम मदेरणा, खेतसिह रामनारायण चौधरी और मथुरादास माथुर। राजस्थान म श्री भरोसिह शेखावत जनता पार्टी की सरकार के प्रथम मुख्यमन्त्री पद पर आसीन हुये जो राज्यसभा के सदस्य थे बाद मे वे छबडा से उपचुनाव म विजयी हुये।

(v) उडीसा म जनता पार्टी को मार्च 1977 के चुनावो के मुकाबले म कही अधिक व्यापक सफलता मिली। 147 जगहो मे से उसे 110 व काग्रेस को केवल 26 जगह मिली। भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी का एक मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी को एक और निर्दलियो को 9 स्थान मिले। यहा पर श्रीमती नन्दिनी सत्पथी की उम्मीदवारी को लेकर एक अप्रिय सघर्ष छिड गया था। आपात्कालीन दौर म उनके मुख्यमन्त्रित्व मे जनता पर अनेक ज्यादतियाँ हुई थी लेकिन बाद म नेतृत्व बदल गया था और प्रशासन की जिम्मेदारी श्री विनायक आचार्य को सौंप दी गयी। लोकतान्त्रिक काग्रेस बनने के बाद श्रीमती सत्पथी उसकी सदस्य हो गयी थी। जनता पार्टी के उम्मीदवार के रूप मे उन्हें टिकट मिला था लेकिन स्थानीय ढग से एव भूतपूर्व मुख्यमन्त्री श्री नव कृष्ण चौधरी ने उनका विरोध किया और उनके मुकाबले

म अपनी पत्नी श्रीमती मालती चौधरी को खडा किया। श्री और श्रीमती चौधरी सर्वोदय से सम्बन्धित है। श्रीमती सत्पथी के जनता पार्टी म होने वाले विरोध के प्रसग मे जयप्रकाश जी ने श्रीमती मालती चौधरी को नैतिक समर्थन दिया लेकिन मोरारजी भाई न कहा कि क्योकि श्रीमती सत्पथी को जनता पार्टी की उम्मीदवार के रूप म समर्थन दिया गया है अत उस फैसले का आदर किया जाना चाहिए। जो भी हो दल के भीतर के विरोध के बावजूद श्रीमती सत्पथी 28 हजार मतो से विजयी हुई और श्रीमती चौधरी की जमानत जब्त हो गयी। बहरामपुर मे भूतपूर्व मुख्यमंत्री विनायक आचार्य भी हार गये।

(vi) हिमाचल प्रदेश म 68 सीटो म से जनता पार्टी को 53 पर विजय मिली। कांग्रेस को 9 तथा निर्दलियो को 6 जगह मिली। हिमाचल भी कांग्रेस का गढ रहा है। जिसे इस बार जनता पार्टी ने ध्वस्त कर दिया। इस चुनाव मे विघटित विधान सभा के केवल 12 सदस्य जीत कर वापस आये। इनमे से 7 कांग्रेस के और 4 जनता पार्टी के है व 1 निर्दलीय है। कांग्रेस के विजयी उम्मीदवारो म भूतपूर्व मुख्यमंत्री रामलाल समेत 5 मंत्री है। कुल मिलाकर विघटित विधान सभा के 47 सदस्य चुनाव मैदान म थे। इनमे कांग्रेस के 36 और जनता पार्टी के पाच उम्मीदवार थे। 6 ने निर्दलियो के रूप म चुनाव लडा। इनमे इस या उस मन्त्री मण्डल के 15 मन्त्री थे जिनमे से 10 हार गये। हारने वाले प्रमुख उम्मीदवारो म सर्व श्री देशराज महाजन कर्मसिंह विक्रमसिंह श्रीमती सरला शर्मा हंसाराम विद्याधर कान्हूराम मडियाल और लेखराम के नाम उल्लेखनीय हैं।

(vii) मध्यप्रदेश मे 320 सदस्यीय विधान सभा म जनता पार्टी ने 230 कांग्रेस ने 84 और निर्दलियो ने 6 स्थान प्राप्त किये। महत्वपूर्ण केवल यह नही है कि जनता पार्टी ने तीन चौथाई बहुमत प्राप्त कर लिया बल्कि जनता की वह राजनैतिक जागरूकता है जो चुनाव परिणाम के रूप म प्रगट हुई है। कम्युनिस्ट पार्टी का एक भी उम्मीदवार पूरे प्रदेश म कही से नही जीता। स्वाधीनता के बाद पहली बार यह संयोग बना है कि यहा गैर कांग्रेसी निर्वाचित (गैर कांग्रेसी संविद सरकार दलबदल के कारण बनी थी) सरकार बनी है और कांग्रेस को सत्ता मे निर्वासित होकर विपक्ष के घेरे म अपने डेरे डालने पडे। केवल 84 स्थान प्राप्त कर पाना निश्चय ही सदैव विराट बहुमत से जीतने वाली कांग्रेस के लिए आघात है किन्तु यह आघात अपेक्षित था। यदि लोकसभा चुनाव के सन्दर्भ म देखा जाए तो उस की स्थिति सुधरी ही है क्योकि तब केवल 21 विधान सभा क्षेत्र ऐसे थे, जिन मे कांग्रेस के पक्ष म अधिक वोट पडे थे और इस बार 84 क्षेत्रो म बहुमत प्राप्त कर सकी है। कांग्रेस को वास्तविक आघात भूतपूर्व मुख्यमन्त्री श्री श्यामाचरण शुक्ल, विधानसभा अध्यक्ष श्री गुलशेर अहमद और अनेक भूतपूर्व मन्त्रियो और पार्टी के धुरन्धरो की पराजय के कारण लगा। भूतपूर्व मुख्यमन्त्री श्री श्यामाचरण शुक्ल को पराजित भी

किया तो महानदी के तट पर कुटिया बना कर रहने वाले और रामायण भागवत और स्वयं के भक्ति गीतों का गाव गाव में पाठ कर के आजीविका चलाने वाले एक श्रीपवन दीवान ने और वह भी 11 हजार मतो से। इतने ही मतो से 1972 के विधानसभा चुनाव में श्री शुक्ल ने श्री दीवान को पराजित किया था। श्री शुक्ल ने इस चुनाव को अपने राजनैतिक भविष्य का निर्णायक सघर्ष मान कर लडा था और अपने समस्त परिवार तथा साधनों के साथ निरन्तर अपने निर्वाचन क्षेत्र में ही बने रहे। यहा तक कि कांग्रेस विधायक दल के नेता और मुख्यमन्त्री रहने के बावजूद वह प्रदेश में कही अन्यत्र चुनाव प्रचार करने नही गये।

यद्यपि स्वयं श्री शुक्ल और अनेक भूतपूर्व मन्त्रियो को पराजय का मुह देखना पडा किन्तु उन के मन्त्रिमण्डल के अधिकांश वरिष्ठ मन्त्री (जिन्होने चुनाव लडा पुन विजयी हुए है। वास्तव में जनता ने प्रमुखत उन्ही भूतपूर्व मन्त्रियो को चुन चुन कर पराजित किया जो प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से आपात्काल और इस की के अत्याचारो के लिए उत्तरदायी रहे। युवक कांग्रेस से किसी प्रकार सम्बद्ध रह किसी भी व्यक्ति को जनता ने जीतने नही दिया। प्रदेश युवक कांग्रेस के अध्यक्ष श्री रामेश्वर नीखरा और भूतपूर्व महामन्त्री तथा एक समय श्री सजय गाधी के निकटस्थ रहे श्री महेश जोशी को भी चुनाव हारना पडा है।

जनता पार्टी को वैसे आसान और अभूतपूर्व सफलता मिली है और उस के अधिकांश प्रमुख नेता भारी बहुमत से विजयी हुए है किन्तु उसे भी कुछ प्रतिष्ठा की सीटो पर मात खानी पडी है। कांग्रेस के भाग्यशाली दिनो में करीब 15 वर्षों तक प्रदेश कांग्रेस के अध्यक्ष के रूप में राज्य की राजनीति पर छाये रहे किन्तु कांग्रेस विभाजन के बाद राजनैतिक अस्ताचल में पहुच श्री मूलचन्द देशलहारा जब जनता टिकट पर जीवन का पहला चुनाव लडने के लिए मैदान में उतरे तब परसवाडा क्षेत्र से कांग्रेस के भूतपूर्व मन्त्री श्री तेजलाल टमरे ने न केवल उन्हे पराजित कर दिया बल्कि उनकी जमानत भी जब्त करवा दी। इसी प्रकार जनता पार्टी के एक प्रमुख स्तम्भ स्वतन्त्रता सग्राम सेनानी और भूतपूर्व ससद सदस्य श्री मोहनलाल बाकलीवाल को भग विधानसभा के कांग्रेस सदस्य और राज्य परिवहन निगम के उपाध्यक्ष श्री मोतीलाल वोरा ने पराजित कर दिया। किन्तु जनता पार्टी के अन्य सभी प्रमुख नेता भारी बहुमत से जीतें।

जनता पार्टी की सफलता मे सबसे बडी हिस्सेदारी उसके भूतपूर्व घटक जनसघ की है। जनसघ के 160 सदस्यो को पार्टी टिकट मिले थे जिसमे से लगभग 145 सदस्य जीत गये। जनता पार्टी के शेष घटको के 158 उम्मीदवार चुनाव लडे किन्तु 85 ही विजयी हो सके। इनमें भी अधिकांश समाजवादी है। मध्य प्रदेश जनता पार्टी की सरकार के प्रथम मुख्यमन्त्री पद पर श्री कैलाश जोशी चुने गये किन्तु अस्वस्थता के कारण श्री वी०के० सखलेचा को मुख्यमन्त्री बनाया गया।

(viii) पजाब मे आशा के अनुकूल अकाली दल जनता पार्टी और मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी के सयुक्त मोर्चे ने एक बार फिर यह सिद्ध कर दिया कि पजाब के लोग आपातस्थिति के दौरान किये गये अत्याचारो के घावो को अभी भूले नहा तथा कांग्रेस के दल विरोधी व्यक्तित्व की छाप उनके सामने स्पष्ट है। विधानसभा चुनाव म 117 सीटो म से 116 के लिए चुनाव हुआ। आनन्दपुर रोपड चुनाव क्षेत्र मे एक निदलीय प्रत्याशी के अकस्मात् निधन से वहा का मतदान रोक दिया इस के साथ ही कुछ समय के लिए भूतपूर्व मुख्यमन्त्री ज्ञानी जैल सिंह की नैतिक गतिविधिया रुक गयी क्योकि वह इसी क्षेत्र से कांग्रेस प्रत्याशी थे (व. हुए उप चुनाव मे श्री ज्ञानी जैलसिंह को टिकट नही मिला तथा इसम सत दल की विजय हुई)। चुनावो के परिणाम स्वरूप कांग्रेस भाकपा गठजोड को के 23 स्थान मिल पाये और इसके उलटे चरण म पदार्पण करता हुआ अकाल जनता मार्क्सवादी मोर्चा 90 स्थानो पर विजयी हुआ। केन्द्रीय मन्त्री श्री प्रका सिंह बादल इसकी सरकार के प्रथम मुख्यमन्त्री चुने गये तथा इनके स्थान पर श्री सुरजीत सिंह बरनाला केन्द्र मे भेजे गये।

महत्वपूर्ण राजनतिक विजय यदि किसी दल को मिली है तो वह हैं मार्क्सवादी दल, जिसने आठ स्थाना पर अपने प्रत्याशी खडे किये और सभी पर विजयी हुआ। अकाली दल म 69 स्थानो पर प्रत्याशी खडा किया और 58 पर विजय प्राप्त करके अपनी लोकप्रियता को पुन सिद्ध कर दिया। दल को इतने अधिक स्थान कभी नही मिले थे। 1969 के म मावधि चुनाव म सिर्फ 43 स्थाना पर उसे विजय मिली थी।

जनता पार्टी पहली बार एक नये रूप म सामने आयी। उसने 40 प्र खडे किये और 24 पर विजय प्राप्त की। कुछेक स्थानो पर जनता अथवा अ उम्मीदवारो की पराजय का कारण विरोधी प्रत्याशी बने। यह पजाब लोकतां कांग्रेस के भूतपूर्व अध्यक्ष तथा केन्द्र के भूतपूर्व मुख्यमन्त्री श्री वृषभान लेहरा चुनाव क्षेत्र म हुई हार से स्पष्ट है। कहा नहीं जा सकता कि अकाली दल क सक्रिय सहयोग उन्हे मिला था नही पर यह सच है कि अकाली दल के पूर्ण समर्थन के अभाव म वे मात खा गये। यहा एक निर्दलीय उम्मीदवार का समर्थन क्षेत्रीय नेता करते रहे। ठीक इसी तरह तरन तारन चुनाव क्षेत्र म अकाली दल के उम्मीदवार तथा शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबन्धक कमेटी के भूतपूर्व अध्यक्ष प्रेमसिंह लालपुरा को विरोधी अकाली मनजिन्दर सिंह बेहला के हाथो मात खानी पडी।

कांग्रेस भाकपा गठजोड अपने मतो में लगभग दो प्रतिशत की वृद्धि करने में सफल हुआ। किन्तु कांग्रेस को सिर्फ 16 स्थानो म अधिकतर पर उसकी विजय का कारण (और हार का भी) उसके प्रत्याशी रहे। जनता पार्टी के जीतने वाले प्रत्याशियो म जालन्धर के एक समाचार पत्र के सम्पादक श्री रमेशचन्द्र का नाम

उल्लेखनीय है जिन्होने लगातार जीतने वाले काग्रेस प्रत्याशी गुरुदयाल सैनी को पराजित किया। दाआवा को काग्रेस का अब तक का सब से अधिक सुरक्षित तथा सुदृढ क्षेत्र माना जाता रहा है। इस क्षेत्र में उसकी बुरी तरह हार हुई है। जालधर, कपूर थला और होशियारपुर जैसे जिला म उसे नाम मात्र की सफलता मिली। इसके विपरीत उसके प्रत्याशी फिराजपुर जैसे अकाली गढ में विजयी होन में सफल हो गये।

(१४) हरियाणा में काग्रेस बुरी तरह पराजित हुई है। यानी यह केवल तीन सीटें प्राप्त कर सकी। 90 स्थानो म से 75 पर जनता की विजय इस का प्रमाण है। आम तौर पर समझा जाता था कि अनेक जनता विरोधी प्रत्याशियो का चुनाव मैदान में डटे रहने के कारण जनता पार्टी क अधिकारिक उम्मीदवार के पक्ष परिणाम नही जायगा। लकिन अनुमान गलत निकला। यदि कही विरोधी विजयी रहे तो उसका कोई विशेष महत्व नही। काग्रेस जा कि इस राज्य मे लगभग दस वर्षों स राज्य कर रही थी, बुरी तरह पछाड़ खा गयी है क्योकि न कवल इसके अनेक भूतपूव मन्त्री पराजित हो गये है बल्कि कुल मिलाकर उस कवल तीन स्थान मिल सके है। भूतपूव मुख्यमन्त्री श्री बनारसीदास गुप्त हारने वाले काग्रेसी उम्मीदवारो में अग्रणी है। साथ ही प्रदेश काग्रेस अध्यक्ष राव निहाल सिंह भी न केवल हारे बल्कि अपनी जमानत भी गवा बैठे। टिकटो के बटवारे के कारण पैदा हो गय मन मुटाव के बावजूद जनता उम्मीदवार अपने विरुद्ध खडे काग्रेसी तथा अन्य प्रत्याशियो से काफी बडे अन्तर से जीते हैं। जीतने वाला म जहा स्थापित तथा सिद्धहस्त नेता चौधरी देवीलाल चौधरी भजन लाल बलवत राय तायल, शिवराम वर्मा रामलाल और खुर्शीद अहमद आदि उल्लखनीय है वही नयी पीढी क भी कुछ लोग विजयी हुए है। इनमे अम्बाला से जीतने वाली युवा महिला वकील श्रीमती सुषमा स्वराज सबसे आगे है। उन्हाने भूतपूव और वयोवृद्ध काग्रेसी नता देवराज आनन्द को हराया। श्रीमती स्वराज बडौदा डायनामाइट मुकदम में अभियुक्तो की ओर से वकील थी और आपातकाल के भय तथा सशय क वातावरण में भी जूझती रही।

काग्रेस के एक मात्र जीत पाने वाले मत्री कन्हैया लाल ओसवाल रहे। उन्होने अपने क्षेत्र गुडगाव को छोडकर अम्वाला के छछरोली चुनाव क्षेत्र से चुनाव लडा।

सदन म जनता पार्टी के 75 सदस्यो के अतिरिक्त काग्रेस ने 3, विशाल हरियाणा पार्टी क 5 तथा 7 निदलीय सदस्य है। इनम स कम से कम तीन विद्रोही जनता प्रत्याशी कहे जा सकत हैं। यहाँ किसी भी वामपथी पार्टी को किसी भी क्षेत्र म सफलता नही मिली जबकि चौधरी दवीलाल के मुकाबल म मार्क्सवादी प्रत्याशी था और कुछ अन्य स्थानो पर भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी तथा मार्क्सवादी उम्मीदवारा

ने चुनाव लडा था । विशाल हरियाणा पार्टी को इस बात से सात्वना मिलनी चाहिये कि उसने अपनी स्थिति म सुधार किया है । पिछल सदन म उसके केवल तीन सदस्य थे इस बार पाच हैं तथा प्रतिष्ठा पूण अटेली चुनाव क्षेत्र भी सम्मिलित हैं । यहां से पार्टी के अध्यक्ष तथा भूतपूव मुख्यमन्त्री राव वीरेन्द्रसिह जीते हैं । भूतपूव केन्द्रीय रक्षामन्त्री बसीलाल केवल दिलचस्पी के साथ राज्य के चुनाव म सक्रिय रहे लेकिन उनका सारा प्रयास निष्फल गया । फिर भी उनके बेटे तथा युवक काग्रेस के भूतपूव कोपाध्यक्ष सुरेन्द्रसिह का तोशम चुनाव क्षेत्र से जीत जाना उनके लिए वास्तव म प्रसनता का कारण बन सकता है । मतदान के विश्लेषण से पता चलता है कि इस क्षेत्र म जाता प्रत्याशी केवल इसलिए मात खा गया क्योकि कम से कम तीन प्रत्याशी अपने को जनता पार्टी का कहने का अतिम दौर से कुछ समय पहले तक कम भरते रहे ।

आय जगत के कम से कम दो नेता स्वामी अग्निवेश और स्वामी आदित्यवेश भी अब की बार चुनाव जीत गये हैं जबकि एक प्रमुख महिला नेता श्रीमती कमला वर्मा भी जमुना नगर चुनाव क्षेत्र से चुनी गयी हैं । काग्रेस की ओर से खडी सभी महिलाएँ हार गयी जबकि जनता पार्टी कम से कम तीन महिला भेजने म सफल रही श्री चौधरी देवीलाल हरियाणा म जनता सरकार के प्रथम मुख्यमन्त्री बने ।

(x) तमिलनाडु म चुनाव के परिणाम स्वरूप द्रमुक और काग्रेस को निष्प्रभावी करके अन्नाद्रमुक शानदार विजय के साथ सत्ता म आया है । उसे अकेले पर्याप्त बहुमत मिल गया है । विधान सभा चुनाव के दौरान जो प्रसार प्रचार किये गये उनम श्री सी सुब्रह्मण्यम (काग्रेस) श्री करुणानिधि (द्रमुक) और श्री एम०जी० रामचन्द्रन (अन्नाद्रमुक) सभी ने प्रातीयता की मशाल को खूब प्रज्वलित किया । श्री करुणानिधि ने तो यहाँ तक कहा कि तमिलो पर शासन करने वाला कोई तमिल भाषी ही होना चाहिए । जाहिर था कि उनका जोर खत्म हो चुका था और वह श्री रामचन्द्रन (जो कि कभी मलयालमी रहे हैं और आज विशुद्ध रूप से तमिल हैं) को गर तमिल सिद्ध करके जनता को उनके विरुद्ध भडकाना चाहते थे । श्री सुब्रह्मण्यम न भी उत्तर और दक्षिण के निगम को तूल देकर पिटी और टूटी हुई काग्रेस को राज्य म स्थापित करन की कोशिश की । इन तमाम बातो का असर तमिल जनता पर इतना पडा कि उसन तमाम नीतियो को नकार कर प्रातीय दल को ही स्वीकार किया । इस स्वीकार म केवल प्रातीयता की ही भावना नही बल्कि उदारवादी श्री रामचन्द्रन के व्यक्तित्व का भी खूब असर पडा । विधान सभा के चुनाव म अन्य तीना प्रमुख दलों—जनता पार्टी द्रमुक और काग्रेस, सभी की नीतियाँ और उनकी भाषा एक सी ही थी । अस्तु जनता ने सोचा कि जब सभी की नीतियाँ एक ही हैं तो क्या न अन्ना स जुडे हुए उदारवादी एम०जी०आर० के दल (अखिल भारतीय अन्ना द्रमुक) को स्वीकार किया जाए ।

कांग्रेस ने यह घोषणा की थी कि जीवन पर 2 रुपये प्रति किलो चावल मुहैया किया जायेगा व हिन्दी किसी पर थोपी नहीं जायगी। ये सारे नारे तमिलनाडु के लिए बहुत प्राचीन पड़ चुके थे। गरीबों को अमीरों से छुटकारा, जातिवाद की आड़ लेकर कमजोर और निम्न जातियों पर किए गये अथवा हो रहे अत्याचार से छुटकारा रोटी, रोजी और आवास की सुविधा, आदि से सम्बन्धित प्रश्नों की नीतियों से ही तमिलनाडु की जनता की मानसिकता का निर्माण हुआ है, ऐसा कुछ तमिल राजनीतिक पर्यवेक्षकों का मत है। बहरहाल यह बात पहले भी और आज भी साफ हो चुकी है कि भाषा, गरीबी, रोजगार को ही मुद्दा बनाकर तमिल जनता को बरगलाया नहीं जा सकता। तमिल जनता को बरगलाने के लिए किसी भी पार्टी को अपने चरित्र बल को तमिल जनता के साथ जोड़ना होगा। कांग्रेस के चरण चिन्हों पर चलकर कोई भी दल अब इस प्रदेश में अधिक दिनों तक शासन नहीं कर सकता। इस बात का जनता पार्टी को गांठ बांधनी होगी। तामिलनाडु में किसी भी राष्ट्रीय दल की जड़ जमाने के लिए पहले प्रांतीय चरित्र बल का निर्माण करना होगा।

विघटित विधान सभा में दलों की स्थिति इस प्रकार थी
द्रमुक 169, अन्नाद्रमुक 15, संगठन कांग्रेस 13 फारवर्ड ब्लाक 7 कांग्रेस 6, स्वतन्त्र 5, भाकपा 5, टी० एन० सी० पी० 2 टी० एम० क० 1, और दो स्थान रिक्त।

द्रमुक के सम्बन्ध में यह कहा जा रहा है कि राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू होने के बाद से इस दल को जनता ने नकार दिया है। कांग्रेस ने राष्ट्रपति शासन और आपातकाल के दौरान राज्य में अपनी स्थिति मजबूत की है। तमिल जनता के लिए जनता पार्टी (जिसका संगठन यहां ठीक नहीं था) अपनी साख की वजह से हवा बांधे हुए थी और अखिल भारतीय अन्नाद्रमुक तमिलों पर उत्तर की जनता पार्टी की तरह छाई हुई थी। चार प्रतिष्ठित दलों द्वारा लड़ा गया यह विधान सभा चुनाव दलों के आत्म विश्वास की ओर इंगित करता है। हौसले मतों में बुलंद थे। अखिल भारतीय अन्नाद्रमुक की साझेदारी भी चार दलों से थी। बहरहाल जनता पार्टी ने विधान सभा के 234 सीटों के लिए उम्मीदवार खड़े किए व जिसे 10 सीटों पर सफलता मिली। कांग्रेस को 198 में से 27 सीटों पर, द्रमुक 230 में से 48 पर तथा अखिल भारतीय अन्नाद्रमुक 200 में से 129 सीटों पर विजयी हुआ है परिणामों के अनुसार अखिल भारतीय अन्नाद्रमुक समर्थित दलों में मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी फारवर्ड ब्लाक मुस्लिम लीग आदि को जितनी सीटों पर विजय मिली है उनमें मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी सर्वाधिक सफल रही है। इस प्रकार तमिलनाडु विधान सभा में अखिल भारतीय अन्नाद्रमुक पूर्ण बहुमत प्राप्त सरकार बनाने में सफल हो गया है।

तमिलनाडु चुनाव परिणाम पर भिन्न भिन्न दलो के बारे म लोगो का अलग अलग विचार है। जनता पार्टी के सम्बन्ध मे कुछ लोगो का विचार है कि इतिहास अपने को दोहरा रहा है उत्तर का कुछ भी कभी भी दक्षिण को एकाएक स्वीकार्य नही रहा है इसलिए जनता पार्टी के साथ परिणामो को लेकर जो भी हुआ जो स्थिति है उसको देखते हुए समझते हुए आश्चय व्यक्त नही किया जाना चाहिए। इस विधान सभा के चुनाव की प्रतिक्रिया आमन और अभ्रामक दोना किस्म की है। अखिल भारतीय अनाद्रमुक को 37१ द्रमुक को 21, काग्रेस को 20 तथा जनता को 10 प्रतिशत के लगभग मत मिले। श्री जी० रामचन्द्रन अनाद्रमुक सरकार के मुख्यमन्त्री बने।

(C) कश्मीर नेशनल कान्फ्रेंस की पुन सत्ता

24 वष पश्चात् फिर से शेख अब्दुल्ला के नेतृत्व म नेशनल कान्फ्रेंस के हाथ म जम्मू-काश्मीर राज्य की सत्ता आ गयी है। 1953 म शेख को कुछ आरोपो के आधार पर गिरफ्तार किया गया। बाद म उनके दल का नाम परिवतन हो कर काग्रस म बदल गया। भूतपूव प्रधानमन्त्री इन्दिरा गाधी और शेख अब्दुला के बीच हुए समझौते के अतगत शेख अब्दुला 1975 म फिर से मुख्यमत्री तो बन गये थे मगर उनके दल को बहुमत प्राप्त नही था। काग्रेस ने उन्हे बिना शत समथन देने का फसला किया था। किन्तु इस समथन को वापिस लेने के बाद जुलाई 1977 के चुनावो के परिणामस्वरूप 72 वर्षीय कश्मीरी नेता दुबारा उन्ही मुद्दो को —— भारी बहुमत से जीतकर आये हैं जिन मुद्दो के कारण पिछले तीस केन्द्र और कश्मीर के बीच गम्भीर सघष चलता रहा है। इस प्रकार 1 चुनावो से जम्मू कश्मीर की राजनीति करीब करीब वही पहुच गई है जहा हुई थी। अन्तर केवल इतना है कि देश और उपमहाद्वीप की राजनैतिक परिस्थि समस्या का अब एक सीमा के अन्दर रखने के लिए निर्णायक सिद्ध होगी। के नेताओ का रुख इस मामले मे महत्वपूर्ण होगा।

चुनाव परिणामो के अनुसार नेशनल कान्फ्रेंस को न केवल पूर्ण बहुमत प्रा हुआ है बल्कि कश्मीर घाटी मे उसका विरोध करने वाली दोनो पार्टियो — जनत और काग्रेस का करीब-करीब सफाया हो गया है। मतदाता का मत इतना स्पष्ट और निर्णायक रहा है कि सामान्यतया काफी प्रभावशाली जनता और काग्रेस प्रत्याशी भी भारी मतो से पराजित हुए हैं जिनमे जनता पार्टी के सयोजक महीउद्दीन कर्रा भूतपूर्व ससद सदस्य शमीम अहमद शमीम और मौलवी इफ्तखार हुसेन प्रमुख हैं।

जैसी कि आशा थी स्वय शेख मोहम्मद अब्दुल्ला गान्दर बल चुनाव क्षेत्र से अपने एकमात्र निकटतम प्रतिद्वन्द्वी अली मोहम्मद तारिक को 22 हजार से भी अधिक मतो से पराजित कर के चुने गये। जो हाल जनता प्रत्याशियो का हुआ,

वही कांग्रेस का भी हुआ। दूसरे प्रभावशाली मंत्री रणधीरसिंह, कश्मीर प्रदेश कांग्रेस समिति के अध्यक्ष मुफ्ती मोहम्मद सईद व भूतपूर्व मन्त्री मोहम्मद अय्यूब खान चुनाव हार गये। जहाँ कश्मीर घाटी में नेशनल कांफ्रेंस को अधिकांश स्थानों पर सफलता मिली वहीं जम्मू क्षेत्र में उस का प्रभाव सीमित ही रहा। यहाँ भी शेख अब्दुल्ला के दल को केवल उन्हीं क्षेत्रों में सफलता मिली जहाँ पर जनमत संग्रह मोर्चे का प्रभाव रहा है या जो कश्मीर घाटी के साथ लगे हुए हैं। पंजाब और हिमाचल से लगे हुए सम्पूर्ण क्षेत्र में अधिकतर सफलता जनता पार्टी के प्रत्याशियों को मिली या कांग्रेस को।

कश्मीर में मतदान से बहुत पहले यह बात स्पष्ट हो चुकी थी कि जम्मू कश्मीर का मतदाता दो हिस्सों में बँट गया है। एक वर्ग का प्रतिनिधित्व शेख अब्दुल्ला और उनका दल नेशनल कांफ्रेंस करता है तो दूसरे वर्ग में जनता और केन्द्र समर्थक तत्व थे। एक दुर्भाग्य की बात है कि चुनाव अभियान के दौरान किये गये प्रचार और उससे सम्बन्धित घटनाओं ने जम्मू कश्मीर विधान सभा के चुनाव को एक सामान्य चुनाव नहीं रहने दिया और यह केन्द्र और राज्य—संघर्ष का रूप ले बैठा। ऐसी स्थिति में केन्द्रीय सरकार और विलय की समर्थक शक्तियों के हावी हो जाने का आतंक चुनाव का एक प्रमुख मुद्दा बन गया था। यह बात सही है कि शेख मोहम्मद अब्दुल्ला मुख्य मन्त्री के रूप में उतने लोकप्रिय नहीं रह गये थे जितना कि मुख्य मन्त्री बनने से पहले थे। मगर उनके मुकाबले का सार्वजनिक नेता नहीं होने के कारण जनता पार्टी या कांग्रेस के लिए शेख को सफलतापूर्वक चुनौती देने का प्रश्न एक स्वरूप और सामूहिक नेतृत्व से ही हल किया जा सकता था। मगर जनता पार्टी के नाम पर जिन परस्पर विरोधी तत्वों को संगठित किया गया था, उनका केवल एक मुद्दा समान था कि वे सब व्यक्तिगत रूप से शेख अब्दुल्ला को पसन्द नहीं करते।

शेख अब्दुल्ला के पिछले इतिहास के बारे में जनता पार्टी के केन्द्रीय नेता अनभिज्ञ होंगे ऐसी तो कल्पना नहीं की जा सकती। मगर उससे उन्होंने कोई सबक लिया था, ऐसा नहीं लगता। एक बार फिर से शेख साहब ने यह सिद्ध कर दिया है कि कश्मीर का भारत में विलय और केन्द्र और राज्य में आपसी सम्बन्ध अभी भी जम्मू कश्मीर के निर्णायक मुद्दे हैं।

इस प्रकार विधान सभा के चुनावों से पर्याप्त बहुमत प्राप्त करने के बाद नेशनल कांफ्रेंस के नेता शेख अब्दुल्ला ने 6 सदस्यों का मन्त्रिमण्डल गठन करके राज्य को सम्भाल लिया। शेख साहब के अलावा मिर्जा अफजल बेग, देवीदास ठाकुर, गुलाम मुहीउद्दीन शाह, मास्टर प्यारा सिंह और गुलाम नबी कोचक ने पद और गोपनीयता की शपथ ली। शेख साहब ने कहा कि उनकी सरकार अपने राजनैतिक विरोधियों के साथ किसी तरह की ज्यादती की भावना से काम नहीं करेगी।

इस प्रकार करीब करीब 100 दिना तक चलने वाले राष्ट्रपति का शासन समाप्त हुआ और उसकी जगह लोकप्रिय सरकार बन गयी ।

पर नेशनल कान्फ्रेंस की विजय ने जम्मू कश्मीर म जनता पार्टी के भीतरी मतभेदा की समस्या को और भी ज्यादा पेचीदा कर दिया । चुनाव अभियान के दौरान राज्य म जनता पार्टी के कुछ वरिष्ठ नेताओं ने कहा था कि वे पार्टी के उम्मीदवारा के खिलाफ खडे होने वाले सदस्या के साथ कडाई के साथ पेश आयगे । उन नेताओं की नजर चुनाव म विजय की खासी सम्भावना पर टिकी थी लकिन इस चेतावनी के बावजूद बहुत सारे जनता पार्टी क सदस्य मदान म उतर आय थ और कुछ केन्द्रीय नेताओं की मध्यस्थता के बावजूद य दूरिया पाटी नही जा सकी थी । कुल मिलाकर नतीजा यह हुआ कि जनता पार्टी के भीतर विरोधी ने नेशनल कान्फ्रेंस की चुनाव सफलता को और अधिक बल दिया ।

शेख अब्दुल्ला के लिये यह चुनाव अपने राजनतिक जीवन की सबसे बडी चुनौती थी । इसलिये चुनाव अभियान के आक्रामक स्वर की बात कुछ समझ म आ जाती है । लेकिन इसके फलस्वरूप जो तनाव स्थानीय स्तर पर प्रकट हुए उनको खत्म करन का काय एक बडी चुनौती हो सकता है । इन तनावा मे मुख्य है 'शेर' (शेख अब्दुल्ला के समथक) तथा 'बकरा (मौलवी फारूक के समथक) का द्वन्द्व जो कई साला के अंतराल के बाद फिर जाहिर हो गया है । स्वय शेख ने कहा है कि उनकी सरकार प्रतिरोध या बदले कि भावना से प्रेरित नही होगी—लेकिन देखना यह है कि यह बात स्थानीय तौर पर किस हद तक लागू हो पायगी ।

ऐसा कहना इस लिए और भी तक सगत लगता है क्योकि शेख अब्दुल्ला की हाल की बीमारी के बाद नेशनल कान्फ्रेंस के भीतर मतभेदो की गुंजाइश बढ गयी है । नेशनल कान्फ्रेंस के उपाध्यक्ष मिर्जा अफजल बेग और शेख अब्दुल्ला के दामाद और पार्टी के महासचिव गुलाम मुहीउद्दीन शाह का आपसी तनाव कई दिनो स चलता रहा है यद्यपि इन मतभेदो को चुनाव अभियान के दौरान सफलतापूवक दबाया गया, फिर भी इतना स्पष्ट है कि चुनाव विजय क बाद यह मतभेद और अधिक प्रत्यक्ष रूप स प्रकट होंगे इस द्वन्द्व म शाह को शेख परिवार का समथन प्राप्त है । इसके साथ ही बेगम अब्दुल्लाह और शेख के दो बेटा फारुख और तारिक की भी अपनी राजनीतिक महत्त्वकांक्षाएँ हैं । श्रीनगर म एक राय के अनुसार नेशनल कान्फ्रेंस न चुनाव परिणामा का बहिष्कार इसलिए किया कि इस पार्टी उपाध्यक्ष के रूप म बेग साहब की प्रतिमा कुछ बढ कर पेश हो जाती और शेख के निकट सम्बन्धी ऐसा नही चाहते थ । इस द्वन्द्व म बेग साहब के हक म यह बात जरूर है कि नेशनल कान्फ्रेंस के दलीय सगठन पर उनका काफी प्रभाव है । फिलहाल बेग साहब को उप मुख्यमन्त्री बनाया गया । सम्भव है, इससे भीतरी तनाव कम हो ।

(D) नागालैण्ड यूनाईटेड डेमोक्रेटिक फ्रंट विजयी

नागालैण्ड विधान सभा के चुनावों म जनता पार्टी समर्थित यूनाईटेड डमोक्रेटिक फ्रंट को स्पष्ट बहुमत प्राप्त हो गया। विधान सभा की 60 जगहा म से फ्रन्ट ने 35 स्थान प्राप्त कर लिये। कांग्रेस ने जिसमे नागालैण्ड नेशनलिस्ट आर्गेनाइजेशन का अभी पिछले दिनो विलय हो गया था 15 जगह प्राप्त की है। नौ निदलीय चुने गये है, कुल मिलाकर चुनाव म 75 निदलीय खड हुए थे। नेशनल कनवेंशन ऑफ नागालैण्ड ने, जो कांग्रेस के ही असन्तुष्ट लोगो का एक दल है केवल एक जगह प्राप्त की है। डेमोक्रेटिक फ्रंट का मन्त्रीमण्डल बनने से नागालण्ड मे 32 महीनो से चला आ रहा राष्ट्रपति शासन समाप्त हो गया।

मनोनीत मुख्यमन्त्री यूनाईटेड डमोक्रटिक फ्रंट के श्री विजोल दक्षिण आगामी द्वितीय चुनाव क्षेत्र मे निर्विरोध चुन जा चुके थ। एक और भूतपूर्व मन्त्री श्री कोवाम, जो नशनल कनवेशन आफ नागालण्ड क उम्मीदवार थे ओखा जिले के भण्डारी चुनाव क्षेत्र से निर्वाचित हुए है। इस संस्था के य ही एकमात्र प्रतिनिधि चुन गय हैं। पेंग नायक चुनाव क्षेत्र स यूनाइटड डमाक्रटिक फ्रंट के श्री मजोर्य चुने गये हैं। भूतपूर्व स्वास्थ्य मन्त्री श्री एम०एल० हलमहा भी चुन लिय है उन्होने दो निदलीय उम्मीदवारो को हराया। यूनाईटेड डमाक्रटिक फ्रंट के ही डाक्टर बेडागटोशी ने कोकहुग जिले से अपने एकमात्र प्रतिद्वन्द्वी काग्रेसी उम्मीदवार को हरा दिया, लेकिन वोलेबोटो जिले मे सताखा चुनाव क्षत्र से काग्रेस के श्री हाल्टो विजयी घोषित किये गये।

नागालैण्ड विधान सभा क इस बार के चुनावा म काफी सरगर्मी दिखायी पडी। मतदान 55 से 60 प्रतिशत तक रहा एक ही दिन म मतदान काय समाप्त हो गया था। नागालैण्ड म सभी आयु के मतदाताओ ने अपने मताधिकार का प्रयोग किया था, सबेरे से लेकर दोपहर तक मतदान केन्द्रो पर काफी भीड दिखाई पड रही थी। पूरे मतदान म कही से भी किसी प्रकार की अप्रिय घटना का समाचार नहीं मिला 60 चुनाव क्षत्रो मे मतदाओ की सख्या कोई 4 लाख रही होगी लगभग 906 मतदान केन्द्र बनाये गय थे। सभी जगह सुरक्षा व्यवस्था कडी थी, नागालैण्ड मे शातिपूर्ण मतदान होने का सभी जगह स्वागत किया जा रहा था क्योकि पिछली बार के चुनाव म गुप्त रूप से काम करने वाले नागाओ ने 1974 के चुनाव का बहिष्कार करने की अपील की थी लेकिन उस समय भी मतदान काफी जोर का रहा था और यूनाइटड डेमोक्रेटिक फ्रंट ने ही सरकार बनायी थी।

(E) त्रिपुरा वामपथी मोर्चा विजयी

30 माच, 1977 को पाच वष पुरान काग्रस मन्त्रिमण्डल के पतन के पश्चात् मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी के नेता 72 वर्षीय नृपेन चक्रवर्ती के नेतृत्व मे वामपथी

मोर्चा के दस सदस्यीय जिस मत्रिमण्डल न अगरतल्ला स्थित राजभवन म 5 जनवरी, 1978 को शपथ ग्रहण की वह जनवरी 1972 म त्रिपुरा को पूण राज्य का दजा मिलने के बाद का पाचवा मत्रिमण्डल है।

गत माच म लोकसभा चुनाव म काग्रेस की भारी पराजय न त्रिपुरा की काग्रस सरकार को भी उखाड फेंका। उसके 14 विधायकों न दल स त्यागपत्र दे कर लोकतान्त्रिक काग्रस की सदस्यता ग्रहण की और 1 अप्रैल को माकपा के 16 सदस्यो के साथ मिल कर राज्य म पहली गैर काग्रेस सरकार का गठन किया। लोकतान्त्रिक काग्रस के प्रफुल्ल कुमार सन उसके मुख्यमत्री बने। किन्तु 117 दिन के बाद माकपा के सरकार स हट जाने के कारण 26 जुलाई 1977 को सेन सरकार बर्खास्त कर दी गयी और उसी दिन राधिकारजन गुप्त के नतृत्व म जपा माकपा की मिलीजुली सरकार सत्तारूढ हुई जो 110 दिन चली। पुन मार्क्सवादियो के सरकार स हट जाने पर 4 नवम्बर 1977 को गुप्त सरकार को भी त्यागपत्र देना पडा और 5 नवम्बर 1977 को त्रिपुरा म राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया गया। 31 दिसम्बर 1977 को राज्य के लगभग 9 लाख मतदाताओं न अपन नये प्रतिनिधि चुनने के लिए मतदान किया।

60 सदस्यीय विधानसभा के लिए कुल 328 उम्मीवार मैदान म थ, जिनम काग्रेस के 60, जनता पार्टी और लोकतान्त्रिक काग्रस प्रत्यक क 52 माकपा के नतृत्व वाले वामपथी मोर्चा क 60 (माकपा 55 आर०एस०पी० 2 फारवड ब्लाक एक, और मोर्चा समर्थित निर्दलीय 2) भा०क०पा० के 10 त्रिपुरा उपजाति युवा समिति के 27 प्राउटिस्ट ब्लाक के छह और निर्दलीय 49 उम्मीदवार थ।

यो तो चुनाव म मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी की जीत पहले से ही सुनिश्चित थी, क्योंकि टूट के कारण राज्य म काग्रेस पार्टी काफी कमजोर हो गयी थी और उस टूट से बनी जनता पार्टी और लोकतान्त्रिक काग्रस सत्ता सघष म उलझे रहन के कारण मतदाताओं ने अपनी जड नही जमा पायी थी। किन्तु माकपा को इतना प्रचड बहुमत मिलगा, इसकी कल्पना तो सम्भवत उसक नताओ न भी नही की होगी। माकपा के 55 म स 49 उम्मीदवार चुनाव जीत। वामपथी मोर्चे को कुल मिलाकर 60 म स 56 स्थान मिले। शेष चार स्थानो पर उपजाति युवा समिति के उम्मीदवार विजयी हुए। 1972 के विधान सभा चुनाव म माकपा को कुल 16 स्थान ही मिल थ। इस प्रकार माच 1977 म काग्रस क दलबदलुओ से मिल कर माकपा ने सत्ता हथियाने की जो प्रक्रिया शुरू की थी वह 5 जनवरी 1978 को उसकी सरकार के गठन क साथ पूरी हो गयी।

यह मानना सम्भवत स्थिति का सही विश्लेषण नहीं होगा कि त्रिपुरा म मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी क नतृत्व वाले वामपथी मोर्चे की भारी विजय [illegible] केन्द्र म जनता सरकार का हाथ रहा जो अपने [illegible] मे भी अधिक [illegible]

म जनाकाक्षाओ के अनुरूप काम नही कर पायी । यह सच है कि केन्द्र और राज्यो की जपा सरकार अपेक्षित लोकप्रियता अर्जित नही कर पायी किन्तु इस त्रिपुरा म माकपा की विजय के परिप्रेक्ष्य म नही देखा जा सकता है । हो सकता है कि कुछ हद तक इसका असर त्रिपुरा के चुनावो पर पडा हो परन्तु स्थानीय परिस्थितिया माकपा की विजय म विशेष रूप से सहायक सिद्ध हुई । काग्रेस से निकले लोगो द्वारा गठित जनता पार्टी और लोकतान्त्रिक काग्रेस मतदाताओ के समक्ष अपनी अलग पहचान नही बना पायी और उनके उम्मीदवार एक दूसरे को काटने म ही व्यस्त रहे जबकि पिछले नौ महीनो म काग्रेस प्राय विघटन के कगार पर पहुच चुकी थी ।

पश्चिम बगाल म माकपा के नेतृत्व वाले वामपथी मोर्चे की सरकार होने से भी त्रिपुरा के चुनाव प्रभावित हुए । फिर वामपथी मोर्चे के पास नपेन चक्रवर्ती और दशरथ देव जैसे कई लोकप्रिय नेता थे जबकि अन्य दलो के पास कोई प्रभावशाली नेता नही था । सगठन की दृष्टि से भी माकपा का पलडा भारी था । यह समाज के सभी वर्गों म पहुची हुई है । आदिवासी समाज म त्रिपुरा उपजाति युवा समिति का अच्छा प्रभाव है और इसीलिए वह चार स्थान जीतने म सफल हुई ।

(Г) कुछ उपचुनाव

दिसम्बर 1977 म लखनऊ (पूर्व) के विधान सभा के उपचुनाव म काग्रेसी उम्मीदवार श्रीमती स्वरूप रानी बक्शी की शानदार विजय ने काग्रेसी नेताओ को जोरदार ढग से इस तर्क को प्रस्तुत करने का अवसर दिया था कि जनमत जनता पार्टी के विरुद्ध हो रहा है । क्योकि उत्तर प्रदेश की राजधानी लखनऊ म जनता पार्टी के शासन वृक्ष के नीचे हो उसका उम्मीदवार हार गया और यदि अयोध्या म जीता भी तो बहुत ही कम मतो से ।

लेकिन निघौली, फूलपरास, आनन्दपुर, रोपड और राजघाट म इसी के साथ हुए उपचुनावो म जनता पार्टी की अधिक शानदार विजय ने काग्रेस के अपने ही तर्क को उसके विरुद्ध कर दिया । निघौली (उ०प्र०) म मुख्यमन्त्री श्री रामनरेश यादव एव फूलपरास (बिहार) म मुख्यमन्त्री श्री कर्पूरी ठाकुर की भारी मतो से जीत (और इन उपचुनावो से पूर्व राजस्थान के मुख्यमन्त्री श्री भैरोसिंह शेखावत की छाबडा क्षेत्र स रिकार्डतोड जीत) यह सकेत देने के लिए काफी है कि मँहगाई, अनिश्चितता और अव्यवस्था के बावजूद आम मतदाता काग्रेस को क्षमा करने के पक्ष म नहा है, बल्कि उसकी जगह पर वह जनता पार्टी को कुछ समय और देकर उसकी क्षमता की परीक्षा करने करने को भी तैयार है । काग्रेस के प्रति जोर मारने का अतिरिक्त कारण दल के भीतर की रस्साकशी भी है । जो दल अपने सगठन को ही ठीक नहा कर सकता वह जनता की आशाएँ आकाक्षाएँ कहा तक पूरा कर पायगा ?

कांग्रेस व्यवस्था का पतन
(Breakdown of the Congress System)

श्री जय प्रकाश नारायण ने 1974 में युवा वर्ग के आन्दोलन का नेतृत्व देकर तानाशाही और भ्रष्टाचार के विरुद्ध एक अभियान शुरू किया था। जब उन्होंने भ्रष्टाचार को राजनीतिक जीवन में ऊपर से लेकर नीचे तक व्याप्त बताया था तो ऊपर के वर्गों ने इस एक चिरपरिचित आरोप समझकर तिरस्कारपूर्वक टाल दिया था। 1977 के चुनावों में 30 साल के कांग्रेस राज व इससे उत्पन्न हुई कांग्रेस व्यवस्था को एक झटके से हटाकर करोड़ों निरक्षर भारतीयों ने बता दिया है कि वे न तानाशाही को बर्दाश्त करेंगे न भ्रष्टाचार को।

यह घटना भारतीय जनता की अपनी स्वतन्त्र प्रकृति का बहुत बड़ा प्रमाण है। 19 महीने के दमन के विरुद्ध इसी जनता ने दलों को एक होने और कांग्रेस का विकल्प देने को बाध्य किया। वे एक हुए क्योंकि उन्होंने वक्त का तकाजा पहचाना लेकिन अभी उन्हें जनता की आकांक्षाएं पूरी तरह समझना बाकी है।

कांग्रेस के विरुद्ध यह वोट एक बात बहुत साफ करके बोलता है। यह दिखाता है कि जनता भ्रष्टाचारी नहीं है, भ्रष्टाचार उस पर लादा गया है। इसने यह भी जता दिया है कि पूंजी और शिक्षा से विहीन वर्गों जो उत्पन्न व्यवस्था से बराबर बाहर खदेड़े जाते रहे हैं को उनके अधिकार देना ही वास्तव में भ्रष्टाचार का सही विरोध है। भ्रष्टाचार वस्तुतः दूसरों के अधिकार हड़प कर फिर उन्हीं से कीमत लेकर— चाहे नकद वोट की शक्ल में—वापस देने का ही दूसरा नाम है। इस चुनाव ने यह मिथ्या प्रचार भी ध्वस्त कर दिया है कि 'अनपढ़ भूखों को रोटी चाहिए, न कि व्यक्तिगत स्वाधीनता क्योंकि यह स्वाधीनता तो केवल पढ़े लिखे लोगों के मतलब की चीज हुआ करती है।

इस प्रकार 1977 में हुए लोक सभा व दस विधान सभाओं के चुनावों एवं उप चुनावों ने साक्षरता व राजनीतिक साक्षरता के बीच (A distinction between literacy and political literacy) लोगों की लोकतान्त्रिक मूल्यों की गहरी निष्ठा (People's faith in democratic values) नियन्त्रित जनसंचार के साधनों (Controlled mass media) की निरर्थकता उत्तरदायित्व का राजनेताओं एवं प्रशासकों के बीच झगड़ा (The shifting of responsibility) राजनीतिक लोकतन्त्र में नेहरूवादी मॉडल के विरुद्ध जाने का परिणाम तथा करिश्मा की राजनीति की अस्थिरता को स्पष्ट किया है।

नयी सरकार को विरासत में भयंकर आर्थिक असमानता से जर्जर समाज मिला है। सदियों से अवसरविहीन रहते रहते पिछड़े वर्ग संविधान के अन्तर्गत समान अवसर मिलने पर भी अपने भीतर छिपी प्रतिभा को प्रकाशित नहीं कर पाये हैं। तीस साल तक पिछड़े वर्गों के विकास की जो नीति रही, वह कितनी खोखली

थी यह इसी से सिद्ध है कि उसकी परिणति गरीबी की जबरन नसबन्दी में हुई। इन वर्गों को विशेष अवसर देकर जल्दी से राष्ट्र के निर्माण में पूरा हिस्सा दिलाना नयी सरकार का प्रमुख समाजवादी लक्ष्य होना चाहिए। इस ऐतिहासिक चुनाव के बाद अब जनता को तीस साल तक इंतजार नहीं है। हिन्दुस्तान जैसे देश की गद्दी पर बैठने वालों की पहली जिम्मेदारी सिवाय इसके क्या हो सकती है कि समाज परिवर्तन हमेशा के लिए गद्दी से चिपके रहने की इच्छा को लेकर नहीं किया जा सकता। लोकतन्त्र, को इस चुनाव ने एक बार फिर स्थापित कर दिया है। किन्तु इसका तात्पर्य कुछ धनीमानी व्यक्तियों का फटेहाल जनता की गरीबी हटाते रहना नहीं है, अपितु उनके और अपने बीच गैर बराबरी मिटाते जाना है।

फिर भी कुल मिला कर (मार्च व जून 1977 के चुनावों) सत्तारूढ़ कांग्रेस (श्रीमती इन्दिरा गांधी उनके पुत्र तथा आपातकाल में उनके चहेतों) के दुस्साहसों के विरुद्ध (Misadventures of the ruling caucus) फैसला लिया है प्रतिपक्ष को सत्तापक्ष के रूप में उपलब्धियों का अपना खाता अभी खोलना है (The opposition has yet to open its account on the treasury benches)

स्वस्थ लोकतन्त्र का तकाजा है कि कांग्रेस एक संगठित विपक्ष की भूमिका अदा करे ताकि हमारे देश में दो दलीय व्यवस्था स्थापित हो सके जो आज तक नहीं हो पाई है। देश में दो या तीन प्रमुख पार्टियां स्थायी रूप से कायम होनी चाहिए पर भारत के राजनीतिक स्वभाव को देखते हुए ऐसा नहीं लगता। कांग्रेस अपने पूरे जीवन काल में कभी एक निश्चित वैचारिकता पर आधारित पार्टी नहीं बनी बल्कि एक आन्दोलन और विविध विचारधाराओं की खिचड़ी बनी रही। इस विविधता में जो एकता रही उसका कारण मूलत सत्ता की अपेक्षा का तत्व था जो कांग्रेस के बहुरंगेपन को एक मिश्रित घोल की तरह कायम रखे हुए था। पर अब कांग्रेस से कांफी लोगों ने सत्ताधारी दल की शरण में भागने की स्थिति में कांग्रेस के सम्भावित विघटन का रास्ते जा जाना असम्भव सा प्रतीत होने लगा। और यही हुआ भी।

पार्टी में सामूहिक नेतृत्व की व्याख्या फिर अभियाचन व स्वराज प्रस के कर्नाटक मुद्दे पर और अन्ततोगत्वा अध्यक्ष पद के मामले पर अध्यक्ष श्री ब्रह्मानन्द रेड्डी (जो देवकान्त बरुआ के पदच्युत एवं अन्तरिम अध्यक्ष श्री स्वर्ण सिंह के हटने पर श्रीमती गांधी के ही समर्थन से महासमिति द्वारा चुनाव में श्री सिद्धार्थ शंकर रे व डा० करण सिंह को हराकर विजयी हुए थे) व भूतपूर्व प्रधान मन्त्री श्रीमती इन्दिरा गांधी के बीच हुए मतभेदों के फलस्वरूप कांग्रेस में एक और विभाजन हो गया। कांग्रेस पार्टी को मजबूत बनाने के लिए एक व दो जनवरी 1978 को सम्पन्न हुए सम्मेलन ने श्रीमती गांधी को अध्यक्ष एवं इनके नेतृत्व वाली कांग्रेस का ?

भारतीय राष्ट्रीय काग्रेस घोषित किया । 'गाय बछडा' चुनाव चिह्न के मामले म चुनाव आयोग ने फिलहाल यह चिह्न श्री ब्रह्मानन्द रेड्डी वाली काग्रेस के पास कायम रखने का फैसला सुनाया । फरवरी 1978 म पाँच विधान सभा चुनावो के निकटता को मद्दे नजर रखते हुए इन्दिरा गाधी के नेतृत्व वाली काग्रेस ने अपनी पार्टी का नाम काग्रेस (आई) रखा तथा चुनाव चिह्न 'हाथ' घोषित किया ।

काग्रेस भविष्य कतिपय विरोधाभास

पाच राज्यो का विधानसभा चुनाव विश्लेषण—आध्रप्रदेश और कर्नाटक से विधानसभा चुनावो के मतदान सम्बन्धी जो विस्तृत विवरण सामने आया है, वह अत्यत दिलचस्प है ।[1] यह मान लेना स्वाभाविक और सही है कि काग्रेस (आई) ने इन दोनो ही राज्यो मे काग्रेस के राजनतिक-अस्तित्व को खत्म कर दिया । लेकि यह मानना सही नही है कि मार्च 1977 म अविभाजित काग्रेस को जो मत मिले,

---

1 **Some of the certainties which have emerged are essentially of a minor nature If they still receive disproportionate attention it is perhaps because we are still living in the immediate past and can hardly believe what has happened It may also be because the emergency and its undoing, encouraged political romanticism and many find it hard to come to terms with Indian realpolitik once again To take these up—not in order of their intrinsic importance but in terms of the attention they receive—we have first of all the emergence of the Congress (I) as the real Congress** Actually there was very little doubt about this, except among those who some what patronisingly thought that the 'illiterate' Indian rural voter might not vote for the Congress (I) which had a hand and not a bovinne election symbol (which all factions of the Congress have had since independence) In fact there was plenty of evidence from the past history of the Congress (as well as the Communists) that splitters in Indian politics quite often gain at the expense of those who resist splits, or foolishly try to father it on their opponents **Secondly, their is disappointment for those who were predicting the 'liquidation' of the Congress through repeated**

उसी अनुपात म इस चुनाव मे कांग्रेस(आई)को मत मिले । तथापि राजनैतिक व्याख्याकार इस एक तथ्य पर सहमत हैं कि इन दोनो राज्यो मे न केवल कांग्रेस (आई) असली कांग्रेस के रूप म सामने आई है वरन् उसके प्रभाव क्षेत्रो म घुसपाना कठिन है और उसका मतलब यह है कि मार्च 1977 के मुकाबले कांग्रेस (आई) को मिलने वाले समर्थन म इस वक्त भी कोई विशेष क्षति नही हुई । लेकिन दूसरा अनुमान यह है कि मार्च 1977 की तुलना मे इन दोनो ही राज्यो म कांग्रेस (आई) को मिलने वाले समर्थन म कमी आयी । जनता पार्टी की सफलता सीमा तक हो सकती है । लेकिन प्राप्त सीटो के सन्दर्भ मे कांग्रेस (आई) की सफलता की व्याख्या प्राप्त अधिक मतो से नही बल्कि मतो के विभिन्न उम्मीदवारो म बट जाने की वास्तविकता से की जानी चाहिए । उम्मीदवारो की अधिकता (जिनम निर्दलीय बडी सख्या म थे) ने मतो का बटवारा कर दिया । मार्च 1977 म ऐसी स्थिति नही थी । कांग्रेस (आई) का फरवरी 78 के चुनाव म कर्नाटक म 224 सीटो म से 140 और आन्ध्र प्रदेश म 294 मे से 175 पा जाना इसी तथ्य का द्योतक है ।

मार्च 1977 के लोकसभा के चुनाव म अविभाजित कांग्रेस को लगभग 7 2 प्रतिशत मत कर्नाटक म मिले थे और उसने लोकसभा की 28 सीटो म से 267 ती थी । आन्ध्र म उसे 57 6 प्रतिशत मत मिले थे और लोकसभा की 42 सीटो

---

splits It turns out that the Congress split has given a new, and perhaps a long lease of life to the Congress sailing under its own colours (Until the elections just held, It looked as if Congress politics would survive mainly through Congressmen finding a berth in other parties especially the Janata Party)

Finally, it is clear that at least as far as the Karnataka voters were concerned, the commssions of inquiry into emergency excesses are only converting the converted The political fall out from the Grover commission findings (and, indirectly, from the Shah commission hearings) proved harmless, perhaps up to a point even help ful for the accused Of course, the aim of these inquiry commissions is to make us re live the past Perhaps the Karnataka verdict is not so conclusively against re living the past, as against making it an alibi for living 'only' in the past, and doing very little in the present, which is roughly what it is felt the Janata Party is doing

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस घोषित किया। 'गाय-बछड़ा' चुनाव चिह्न के मामले मे चुनाव आयोग ने फिलहाल यह चिह्न श्री ब्रह्मानन्द रेड्डी वाली कांग्रेस के पास कायम रखने का फैसला सुनाया। फरवरी 1978 म पाँच विधान सभा चुनावो के निकटता को मद्दे नजर रखते हुए इन्दिरा गाधी के नेतृत्व वाली कांग्रेस ने अपनी पार्टी का नाम कांग्रेस (आई) रखा तथा चुनाव चिह्न 'हाथ' घोषित किया।

कांग्रेस भविष्य कतिपय विरोधाभास

पांच राज्यो का विधानसभा चुनाव विश्लेषण—आंध्रप्रदेश और कर्नाटक के विधानसभा चुनावो के मतदान सम्बन्धी जो विस्तृत विवरण सामने आया है वह अत्यन्त दिलचस्प है।[1] यह मान लेना स्वाभाविक और सही है कि कांग्रेस (आई) ने इन दोनो ही राज्यो म कांग्रेस के राजनैतिक-अस्तित्व को खत्म कर दिया। लेकिन यह मानना सही नही है कि मार्च 1977 म अविभाजित कांग्रेस को जो मत मिले,

1 **Some of the** certainties which have emerged are essentially of a minor nature If they still receive disporportionate attention it is perhaps because we are still living in the immediate past, and can hardly believe what has happened It may also be because the emergency and its undoing, encouraged political romanticism and many find it hard to come to terms with Indian realpolitik once again

To take these up—not in order of their intrinsic importance but in terms of the attention they receive—we have first of all **the emergence of the Congress (I) as the real Congress** Actually, there was very little doubt about this, except among those who some what patronisingly thought that the "illiterate' Indian rural voter might not vote for the Congress (I) which had a hand and not a bovine election symbol (which all factions of the Congress have had since independence) In fact there was plenty of evidence from the past history of the Congress (as well as the Communists) that splitters in Indian politics quite often gain at the expense of those who resist splits, or foolishly try to father it on their opponents

Secondly, their is disappointment for these who were predicting the 'liquidation' of the Congress through repeated

उसी अनुपात मे इस चुनाव मे काग्रेस (आई) को मत मिले। तथापि राजनैतिक व्याख्याकार इस एक तथ्य पर सहमत हैं कि इन दोनो राज्यो मे न केवल काग्रेस (आई) असली काग्रेस के रूप मे सामने आई है वरन् उसके प्रभाव क्षेत्रो मे घुसपाना कठिन है और उसका मतलब यह है कि मार्च 1977 के मुकाबले काग्रेस (आई) को मिलने वाले समर्थन में इस वक्त भी कोई विशेष क्षति नही हुई। लेकिन दूसरा अनुमान यह है कि मार्च 1977 की तुलना मे इन दोनो ही राज्यो म काग्रेस (आई) को मिलने वाले समर्थन म कमी आयी। जनता पार्टी की सफलता सीमा तक हो सकती है। लेकिन प्राप्त सीटो के सन्दर्भ में काग्रेस (आई) की सफलता की व्याख्या प्राप्त अधिक मतो से नही वरन मतो के विभिन्न उम्मीदवारो म बट जाने की वास्तविकता से की जानी चाहिए। उम्मीदवारो की अधिकता (जिनम निर्दलीय बडी सख्या मे थे) ने मतो का बटवारा कर दिया। मार्च 1977 मे ऐसी स्थिति नही थी। काग्रेस (आई) का फरवरी 78 के चुनाव मे कर्नाटक म 224 सीटो म से 149 और आध्र प्रदेश म 294 म से 175 पा जाना इसी तथ्य का द्योतक है।

मार्च 1977 के लोकसभा के चुनाव म अविभाजित काग्रेस को लगभग 57 2 प्रतिशत मत कर्नाटक म मिले थे और उसने लोकसभा की 28 सीटो मे से 26 जीती थी। आध्र म उसे 57 6 प्रतिशत मत मिले थे और लोकसभा की 42 सीटो

---

splits It turns out that the Congress split has given a new, and perhaps a long lease of life to the Congress sailing under its own colours (Until the elections just held, It looked as if Congress politics would survive mainly through Congressmen finding a berth in other parties especially the Janata Party)

Finally it is clear that at least as far as the Karnataka voters were concerned the commssions of inquiry into emergency excesses are only converting the converted The political fall out from the Grover commission findings (and, indirectly, from the Shah commission hearings) proved harmless, perhaps up to a point even help ful, for the accused Of course, the aim of these inquiry commissions is to make us re live the past Perhaps the Karnataka verdict is not so conclusively against re living the past, as against making it an alibi for living 'only' in the past, and doing very little in the pressent which is roughly what it is felt the Janata Party is doing

म से 41 पर सफलता मिली थी । आन्ध्र प्रदेश कांग्रेस को मिलने वाले कुल मतों का 56 2 प्रतिशत था जिसमे से कांग्रेस (आई) का हिस्सा केवल 39 26 प्रतिशत का है, यानि 17 प्रतिशत की क्षति । कर्नाटक म कांग्रेस और कांग्रेस (आई) पारम्परिक ढग से मिलने वाले मत नही पा सके । 1977 म अविभाजित कांग्रेस को 57 2 प्रतिशत जो बाद में घट कर 52 68 हो गया । कांग्रेस (आई) को 44 54 प्रतिशत मत मिले लेकिन यह प्रतिशत 1951–52 के चुनाव से लेकर अब तक के चुनाव म मिलने वाला सबसे कम है । कांग्रेस को केवल दो सीटें मिली और मत लगभग 10 लाख मिले यानि एक सीट पर 5 लाख मत का औसत । जबकि कांग्रेस (आई) को कुल 55 लाख मत मिले और 149 सीटें मिली । यानि प्रति सीट केवल 37 हजार मत । कांग्रेस (रेड्डी चव्हाण) की कांग्रेस का अस्तित्व खत्म हो गया । कारण यह है कि भारत वर्ष में चुनाव पद्धति में नौ प्रतिशत मतो का मिलना कोई मायने नही रखता जबकि दूसरी तरफ केवल 45 प्रतिशत मतो का मिलना पूरी सत्ता का उसके कब्जे में होना हुआ ।

इसी प्रकार इस बार बहुत कम लोगो ने जाति, सम्प्रदाय और व्यक्तित्व (प्रत्याशी) को पसन्द किया । इससे पहले आन्ध्रप्रदेश में ही 50 और 70 के बीच निर्दलीय व्यक्ति सफल हो जाते थे । 292 (अब 294) सदस्यो की विधानसभा में 55 60 निर्दलीय लोग बहुत महत्व रखते हैं । अवसर मिलते ही वे लोग कुछ लाभ प्राप्त करके सत्ताधारी पक्ष में मिल जाते थे । निर्दलीय सदस्यो के बल पर कांग्रेस के शासन मन्त्रिमण्डल में समय समय पर अपने अनुकूल परिवर्तन कर लेते थे । इस बार आन्ध्र एव कर्नाटक दोनो ही प्रदेशो में लोगो ने निर्दलीय लोगो को बुरी तरह हतोत्साहित किया है । निर्दलीय उम्मीदवारो ने चुनाव मे भाग लेने का इस बार पिछला रिकार्ड तोड दिया था । आन्ध्रप्रदेश मे 637 व्यक्ति स्वतन्त्र रूप से खडे हुए थे, जिनमे 578 को अपनी जमानतें खोनी पडी । कर्नाटक मे 504 निर्दलीय थे । इनमे रि० पा०, द्रमुक आदि संस्थाओ के उम्मीदवार भी शामिल थ ।

निर्दलीय उम्मीदवारो की ही तरह छोटी छोटी राजनीतिक संस्थाओ का भविष्य भी धूमिल हो गया । पहले दस बीस व्यक्ति मिल कर क्षेत्रीय या जिला स्तर की संस्था बना कर चुनाव अभियान प्रारम्भ कर देते थे । इस बार अ० भा० अन्नाद्रमुक ने तमिलनाडु से बाहर भी पाव पसार थे । ये दोनो संस्थायें द्रविड लोगो को सगठित करने के लिए स्थापित हुई थी । किन्तु उन्हे तमिल नाडु के बाहर सफलता नही मिली । आन्ध्र में अन्नाद्रमुक ने 9 और द्रमुक ने 2 उम्मीदवार खडे किये थे । इन सबकी जमानत जब्त हो गयी । यहा रिपब्लिकन पार्टी के 14 उम्मीदवार थे 13 को जमानत से हाथ धोने पडे । कर्नाटक में भी इस तरह के राजनीतिक दलो को भारी धक्का पहुँचा ।

मार्क्स लेनिनवादी कम्युनिस्ट पार्टी मतपेटी के स्थान पर बन्दूक की नली पर विश्वास दुहराती है । उसने पहली बार केवल एक उम्मीदवार खडा किया और वह

उम्मीदवार विधानसभा मे पहुच गया है। आतकवादी का प्रजातन्त्र मे हिस्सा लेना अच्छा लक्षण है। सत्ताधारी राजनीतिक दल यदि मार्क्स लेनिन कम्युनिस्ट पार्टी को इस दिशा मे उत्साहित करेगा तो भविष्य में आतकवादियो की कार्यवाहियो मे बहुत कमी आ जायेगी। मार्क्स-लेनिन वादी कम्युनिस्ट पार्टी से सम्बधित जो गुट इस समय भी प्रजातत्र प्रणाली में विश्वास नही रखते, उन्हे भी अपने दृष्टिकोण पर विचार करने के लिए विवश होना पडेगा।

मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी का प्रभाव आन्ध्र प्रदेश में कम हुआ है। उसे 1972 के निर्वाचन में 86 1000 मत मिले थे, अर्थात् वैध मत का 6 प्रतिशत। इस बार उसे 2 5 प्रतिशत मत मिले। भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी को 1972 में '2 90,00 मत (3 1 प्रतिशत) मिले थे किन्तु इस बार इस सस्था का औसत 2 7 प्रतिशत रह गया। मार्क्सवादियो को मत कम मिले किन्तु सफलता अधिक मिली। पिछली विधानसभा में उसका एक सदस्य था, इस बार 8 सदस्य सफल हुए। भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी तथा मार्क्सवादियो की औसत मता में कमी का कारण यह है कि जिस मात्रा मे मतदाताओ में वृद्धि हुई, उस अनुपात मे इन दलो की लोकप्रियता नही बढी। मार्क्सवादियो को सफलता का कुछ श्रेय जनता पार्टी को भी जाता है। पार्टी ने मार्क्सवादियो का समर्थन हृदय पूर्वक किया। कर्नाटक मे दोनो कम्युनिस्ट पार्टीया कभी प्रभावशाली नही रही। दोनो दलो का कार्य कुछ समय पहले ही प्रारम्भ हुआ है। वहाँ भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के तीन उम्मीदवार सफल रहे। दल को 148567 मत (1 19 प्रतिशत) और मार्क्सवादियो का जनता पार्टी के सहयोग के बावजूद 62881 (0 51 प्रतिशत) मत मिले। आन्ध्र प्रदेश की विधानसभा मे मार्क्सवादियो के प्रमुख नेता सुन्दरैया का नेतृत्व उल्लेखनीय रहेगा।

कुल मिलाकर कर्नाटक और आन्ध्रप्रदेश म काग्रेस (आई) की शानदार व अप्रत्याशित जीत तथा महाराष्ट्र म तीसरी सबसे बडी पार्टी के रूप मे उसकी प्रतिष्ठा ने एक बार फिर देश मे राजनतिक दलो के ढाचे और उनके अन्तसम्बन्धो को नये सिरे से गढने की प्रक्रिया को तज कर दिया है। यदि आन्ध्र और कर्नाटक म काग्रेस (आई) का उद्देश्य स्पष्ट रूप स बहुमत प्राप्त करना था तो महाराष्ट्र म काग्रेस के प्रत्याशियो को पराजित करना था। इसमे श्रीमती गाधी को पूरी सफलता मिली है। अब काग्रेस (आई) के असली काग्रेस और जनता पार्टी के वास्तविक प्रतिपक्षी होने के दावे को भी प्रमाणिकता मिल गयी है। इन चुनावो के परिणाम जनता पार्टी के अखिल भारतीय चरित्र पर मुहर भी न लगाते हो तो भी इतना तो सिद्ध करते हैं कि आन्ध्र और महाराष्ट्र मे पर्याप्त सीटें प्राप्त करके तथा असम म कुछ दलो के सहयोग से सरकार बनाने की सामर्थ्य दिखा कर जनता पार्टी ने अपने विस्तार की दिशा मे कदम आगे बढाया है। यदि जनता पार्टी ने सगठन के स्तर पर गम्भीरतापूर्वक कार्य किया होता और महाराष्ट्र आदि जगहो म चुनावी समझौतो

म धैय और दूरदर्शिता से काम लिया होता तो परिणाम उग्र और अनुग्र निकल सकते थे।[1]

---

1 Together with these minor 'certainties' some minor probabilities have emerged, which deserve notice

Fir t, when the fog clears, it will probably be discovered that both the so ialist g nger group and the ex Jana Sangh organisation men have gained at the expense of the succe ssion of defectors from the Congress, inside the Janata Party On the other hand, the ex BLD faction, which has been making a serious (but somewhat naive) bid for ideo logical leadership over the Janata Party may have suffered a setback Its ideological initiative has been in the name of 'peasant power' (as against 'proletarian' or workers power, youth power' etc) which sometimes sounds like a clarion call for a dictatorship of the urban minority But not only was the ex BLD faction somewhat left out even in Andhra) in the recent electoral contest, the Janata Party seems to have got in Karnataka, and perhaps also in Maharashtra, only an urban toe hold In these region too much stress on 'peasant power may weaken the urban toe hold without getting more than a rural toe hold

Second, it has so far been perfectly rational for the CI (M) to adopt the tactic of opposing the Janata Party in so far as it does not fight the Congress The Janata Party could hardly complain that this was unfriendly For it was prof essedly out to establish a two party system on a national scale with the Congress hopefully in permanent opposition and the CP M) eventually eliminated Both assumed that what has now emerged as Congress (I) would b come a collective 'non person' in Orwellian te ms The assumption bein un enable at least for the time being the Janata Party and the CP(M) will have to jud each other directly

इस प्रकार दक्षिण मे कांग्रेस (आई), उत्तर मे जनता पार्टी तथा अन्य राज्यो मे विभिन्न पार्टियो के सत्तारूढ़ होने से भारत की राजनीति मे अब एक नये युग की

> **more and more, rather than indirectly in terms of attitudes towards the Congress (I)**
>
> The unfolding relations between the two Congresses strongly reminiscent of the love hate relations between partners of the 'united' fronts' of the 1960, will create a special prob lem for the Janata Party It will either have to abandon its basic search for a two party system, in favour of a multiparty system or to extend the benefits of such an approach to the Congress (I) (and help it to absorb the 'other' Congress) On the otherhand the CP(M) will have to come to terms with the Congress (I)'s persistent and somewhat unpredictable presence as the holders of the instruments of state power in some regions For instance, it could modify its stand on the details of a restructuring of Centre-state relations But it could hardly afford, to do so, or drop all its proposals, simply because the Congress (I) ruling in Karnataka, or in opposition in Kerala, extends limited support
>
> Another minor probability which has emerged from the February elections is that the CPI, after re-re-thinking on the emergency, will once again hitch itself to the Congress (I) bandwagon, or at least permit some of its constituents to do so (as it did in the June 1977 elections) But the process may not be easy The attitude of 'no truck with the Congress (I)' adopted by its staunch ally, the Kerala Chief minister, will make it hesitate The more so because the Kerala politician who was an ardent advocate of the presidential form of government in India during the emergency (which the CPI claims was scotched by its pressure on the then prime minister) has emerged as the leader of the Congress (I) in the Lok Sabha

शुरुआत होती है। आपात स्थिति के बाद भारतीय राजनीति में बदलाव आया है। इन चुनाव परिणामों को देखते हुए भारत की सम्पूर्ण संघीय व्यवस्था के बारे में भी कई प्रश्न उभर कर सामने आते हैं। वर्तमान परिस्थितियों में जबकि राज्यों में अलग अलग राजनीतिक दल सत्ता में है, समूची राजनीति का केन्द्रबिन्दु केन्द्र और राज्यों के सम्बन्ध बन गये है।[1]

---

1 Towering beyond these developments are two major and irrevocable environmental changes in India's political landscape

First, the February elections have proved that the politics of neofascism has not only secured a sectional popular base but struck deep roots in India for the first time Today, the Congress (I) is its explicit instrument But experience elsewhere suggests that neo fascism expands not only by annihilating or overcoming its enemies ond opponents, but some times also by transforming them into rival neofascists India's experience is likely to fit the latter pattern, because the Congress (I)'s neo-fascism is 'electoral neo—fascism (in a sense classical European fascism never was) It is not only anti capitalist (as successful fascism always is), but somewhat pro communist or 'left of centre (like numerous African versions of modern neo fascism) On the other hand, it is likely to possess original features (perhaps like the parallel Filipino or Pakistani experience) Unlike class ical fascism of every kind, it is likely to institutionalise dynastic rule legitimised by a popular electoral mandate (as reaffirmed by implication in a remark of the victorious chief minister of Karnataka) It will also invoke doctrines of voter's or 'parliamentary' sovereignty, of the supremacy of 'directive principles' over 'fundamental rights' in the Indian Constitution etc

Secondly however, it is almost certain that neither the Congress (I), nor any imitative substitute is likely to be in a positi on to impose a centralised neo fascist regime over the whole of India The best that the Congress (I) can hope for is to recapture parts of the northern Indian heartland But the

आन्ध्र और कर्नाटक में कांग्रेस (आई) को मिला बहुमत जितना आश्चर्यजनक रहा उतना ही आश्चर्यजनक महाराष्ट्र में दोनों कांग्रेस का सहयोग और अरुणाचल तथा असम जैसे पूर्वोत्तर भारत के दूरस्थ हिन्दी भाषी में जनता पार्टी का प्रभाव विस्तार भी रहा। राजनैतिक और भौगोलिक दोनों दृष्टियों से अत्यन्त संवेदनशील पूर्वोत्तर भारत के चुनाव परिणामों ने सत्ता के समीकरण का जो रूप प्रस्तुत किया है, वह अधिक ध्यान की अपेक्षा रखता है। कारण यह है कि वह समीकरण इस क्षेत्र में न केवल समरूप नहीं है वरन् वह नयी शक्तियों के उदय और विकास का भी संकेत देता है।

इस तरह असम में जनता पार्टी के नेतृत्व में, मणिपुर और अरुणाचल में जनता पार्टी की खुद की मेघालय में क्षेत्रीय दलों की, त्रिपुरा में मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी की और नागालैण्ड में एक सशक्त स्थायी दल की सरकार शासन कर रही है। अतः जनता पार्टी आन्ध्र, कर्नाटक व महाराष्ट्र में सफल नहीं हो सकी लेकिन पूर्वोत्तर भारत में इसे सफलता मिली। इन नतीजों से यह भी स्पष्ट है कि क्षेत्रीय दलों के प्रभाव में इन क्षेत्रों में स्थानीय ढंग से विस्तार हुआ है लेकिन सर्वाधिक उल्लेखनीय है कि मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी जिसने त्रिपुरा से लेकर असम तक में अपने प्रभाव का विस्तार किया है। क्षेत्रीय दलों का इन क्षेत्रों में प्रादुर्भाव और उन्हें मिली स्वीकृति इस तथ्य की ओर भी संकेत करती है कि वहां की जनता केन्द्र की सदाशयता में पहले की तरह न केवल यकीन नहीं करती बल्कि वह मोहभंग का भी शिकार हुई है। इसे केन्द्र की नीतिगत असफलता भी कहा जा सकता है।

Small parties, Independents main gainers —

An analysis of voting patterns in Maharashtra, Andhra Pradesh and Karanataka shows that the two Congress parties put

---

more successfully it does this, the more it is likely to lose in the rest of India, and, perhaps, itself become less of a monolith in the process In other words, in its attempt to give a repeat performance of the Indian emergency, it is likely to embark upon a **selfchecking federalisation of Indian politics**

Whether such federalisation of Indian politics will establish **some regional neo fascist regimes in place of a centralised one or not**,—is an open question Such developments are taking place in neighbouring countries in the Indian subcontinent

together got a lower percentage of votes than the united Congress in March 1977 The Janata Party fared worse, not better than in the Lok Sabha elections And the official Congress is far from finished as a political force

All the national parties, including the CPM lost ground compared to March 1977, the gainers being minor parties and independents

In Maharashtra, the Janata Party polled 27 2 per cent votes, against 32 4 per cent in the Lok Sabha poll The actual fall in its vote was even steeper, because it contested only 60 per cent, of the seats in the Lok Sabha poll against 74 per cent, in the assembly election This must be attributed in some measure to its failure to come to an electoral understanding with the Peasants and Workers Party

The Congress got 24 5 per cent and Congress (I) 17 8 per cent of the vote in the state, giving a combined total of 42 3 per cent, against the 46 9 per cent, polled by the united Congress last March

The sizable advantage of the Congress over the rival Congress (I) was not reflected in seats won as the vote for Mrs Gandhi was heavily concentrated in Vidrabha, where her party won 60 per cent of the vote and 55 of the 66 seats She was badly beaten in other parts of the State, with most of her candidates runing well behind those of the official Congress In the Pune Division she secured less than 11 per cent of the vote Her losses were by no means confined to urban centres—she fared poorly in several rural areas Outside Vidrabha she wields very limited political clout

It is interesting to note that the vote of the Congress (I) in Maharashtra (17 8 per cent) was vere similar to that of the Congress in Andhra Pradesh (17 2 per cent) Yet the Congress was thrashed in Andhra Pradesh, with only 30 seats, because its vote was spread uniformly over the whole state instead of being concentrated in one region

In Andhra Pradesh, the Congress (I) won 39 3 per cent of the vote Even if this is combined with that of the Congress, it falls short of the 57 4 per cent polled by the united Congress last March The Janata Party got 28 72 per cent against 32 33 per cent in the Lok Sabha poll, and the CPM 2 7 per cent against 4 7 per cent

Despite her spectacular victory in the state, it is worth noting that Mrs Gandhi won only a slightly better share of total votes than she did in Himachal Pradesh last March, where she lost all seats by big margins This means that if the other parties in the state get together and all of them view her as a common enemy they can upset her applecart In previous elections the Congress has been invulnerable in the state, securing over 50 per cent of the vote

The Congress (I) scored most heavily in Karnataka with 43 4 per cent of the popular vote The official Congress was massacred in this state, getting only 9 7 per cent However, the two put together polled less than the united Congress in March 1977 (56 7 per cent) or in march 1971 (70 9 per cent) The erosion of the Congress vote did not benefit the Janata Party, which also slipped from 39 8 per cent last March to 37 9 per cent this time

It has been said by some observers that the official Congress will ultimately disintegrate, and its members will go either to Mrs Gandhi's faction or to the Janata Party only time can settle this question But it is evident that while the official Congress has a limited future as an independent party south of the Vindhyas, it can play the king maker's role if it chooses to enter into electoral alliances with either of the big two parties As of now it feels committed to assert its independence of both the other parties, but when the next election comes around, the hard arithmetic of voting patterns may persuade it to join hands with someone else

In Assam, the united Congress had polled an impressive 50 56 per cent, of the vote last March This time the Congress (I) got just 9 12 per cent, and the Congress 23 96 per cent This means that very big chunk of former Congress voters have switched their allegiance to other parties But the Janata Party has not been a beneficiary—its share of the vote fell to 27 56 per cent, from 35 78 per cent, in the Lok Sabha poll Independents and minor parties got a very substantial percentage of the vote, but could not translate this into a substantial number of seats

The CPM improved its popular vote from 2 88 per cent to 5 62 per cent, but the comparison is misleading. In the Lok Sabha election it contested only one of the 14 seats, while this time it contested as many as 29 of the 126 seats Its popular vote as a percentage of seats contested actually went down The party succeeded in winning as many as 11 seats on such a small voting base, largely because its vote was concentrated in a few pockets

अब हम इन राज्यो की विधान सभाओ के चुनावो का अलग अलग विश्लेषण कर रहे हैं—

कर्नाटक—कर्नाटक म पिछले छ चुनावो म इस बार मतदान का प्रतिशत सबसे अधिक यानि 71 8 रहा। इन्दिरा कांग्रेस (कांग्रेस आई) को डाले गये मतो का 43 3 प्रतिशत, जनता पार्टी का 37 9 प्रतिशत कांग्रेस (रेड्डी चव्हाण कांग्रेस) को 9 7 प्रतिशत, भारतीय साम्यवादी दल को 1 2 प्रतिशत, मार्क्सवादी साम्यवादीदल को 5 प्रतिशत और निदलिया को 6 3 प्रतिशत मत मिले। केवल 5.5 प्रतिशत मतो के अन्तर ने जनता पार्टी और इन्दिरा कांग्रेस द्वारा जीती सीटो म 90 सीटो का फर्क डाल दिया। देवराज अस सहित इन्दिरा कांग्रेस के 150 प्रत्याशी विजयी हुये। उसने 215 जगहो पर अपने उम्मीदवार खडे किये थे। जनता पार्टी ने 222 उम्मीदवार खडे किये थे जिनमे 59 विजयी हुये। कांग्रेस की सर्वाधिक दयनीय स्थिति रही जिसके 212 उम्मीदवार खडे करने के बावजूद सिर्फ दो उम्मीदवार जीत सके। बेलगाव और उसके आसपास की पाचो सीटें महाराष्ट्र एकीकरण समिति को मिली। भारतीय साम्यवादी दल का तीन, मुस्लिम लीग का एक, भारतीय रिपब्लिकन पार्टी (गवई गुट) का एक तथा निदलीय 4 प्रत्याशी विजयी हुये। मार्क्सवादी साम्यवादी दल रिपब्लिकन पार्टी (खोब्रागडे गुट) के० हनुमन्तया (भू० पू० केन्द्रीय रेल मन्त्री), प्रजा द्रमुक और द्रमुक ने भी चुनाव सघष किया था, लेकिन किसी को सफलता नही मिली। मार्क्सवादी साम्य-

वादी दल ने 8, रिपब्लिकन पार्टी (खोब्रागडे) ने 8, अन्नाद्रमुक ने 11 और द्रमुक ने 5 उम्मीदवार खडे किये थे। निदलीयो की सख्या 501 थी।

दवराज अर्स छठवी बार हुसुर क्षेत्र से विजयी हुये है। उनके साथ ही उनके मन्त्रीमण्डल के 19 मत्री भी जीते। जनता पार्टी यहा अपने प्रभाव का अच्छा परिचय नही द सकी। लेकिन विशेषता यह है कि उसके ज्यादातर महत्वपूर्ण नेता जीते। प्रदेश जनता पार्टी के अध्यक्ष एच० डी० देवगोडा, उसके दो उपाध्यक्ष एच आर० बोम्मई व जी० पी० वेघयराज उसके महासचिव आर० रामकृष्ण तथा चार सचिव एम० चन्द्रशेखर, सी० एम० इब्राहिम, माइकेल फर्नाडीस और भाऊराव देशमुख विजयी हुय। एक उपाध्यक्ष रुक्मईया पुजारी और सचिव ए० के० मुवईया हार गये। जनता पार्टी के टिकट पर खडे रहने वाले तीन भू० पू० मन्त्री सुभाष अस्तूरे एम० राजशेखर मूर्ति और बी० एल० गोडा हार गय। काग्रेस के प्रदेश अध्यक्ष के० एच० पाटिल और दो महासचिवो के अतिरिक्त लगभग 8) प्रतिशत उम्मीदवारो की जमानते जब्त हो गयी। इन लोगो मे वे मन्त्री है जिन्हाने चुनावो से पूव अपने पदो से त्यागपत्र देकर अस मन्त्रिमण्डल के सम्मुख सकट पैदा कर दिया था। जनता और काग्रेस (आई) के केवल 5 5 सदस्यो जमानते जब्त हो गयी।

देवराज अस कर्नाटक मे काग्रेस (आई) के स्तम्भ रहे है और इस रूप मे उन्होने अपनी जीत का श्रेय श्रीमती गाधी की काग्रेस की नीतियो और मान्यताओ को दिया। लेकिन एक तथ्य यह भी है कि उसका बहुत बडा श्रेय खुद उनको भी है। उन्हाने 6 वष तक राज्य को एक स्थायी प्रशासन दिया। असतोष उनके काय काल म भी उभरा था, किन्तु वह उसे सतुलित दिशा देते रहे। उन्ह प्राप्त दो तिहाई बहुमत राज्य की जनता पर उनके प्रभाव का प्रमाण देता है। तीन जिलो म तो उन्ह विधानसभा की सभी सीटें मिल गयी। 8 जिलो म दो तिहाई से ज्यादा सीटें मिली। उनकी जीत का एक बडा कारण भूमि-सुधार कानून की अमलदारी और आवासीय भूखण्डो का वितरण भी है। सिचाई सुविधाओ के विस्तार की दिशा म भी उन्हाने बहुत काय किया।

जनता पार्टी की जीत केवल सीमा तक उसकी प्रगति का ही सकेत दता है। जनता पार्टी ने श्रीमती गाधी के विरुद्ध जिस शैली मे प्रचार किया, उसका असर विपरीत ही हुआ। इसके अतिरिक्त श्री अस के मुख्यमन्त्रित्व म आपात काल म वैसी ज्यादतिया नही हुई जसी उत्तर भारत के राज्यो मे हुई थो। अत आम आदमी ने जनता पार्टी द्वारा पुनर्प्रतिष्ठापित नागरिक स्वतन्त्रताओ का स्वागत तो किया प्रशसा भी की लेकिन उसके आगे कुछ नही। जनता पार्टी न रोजगार तथा जनहित के अन्य कायक्रमो की घोषणा की थी, लेकिन उस दिशा म कोई उल्लेखनीय प्रमाण सामने नही आ सका। अत वह अविश्वसनीयता की भी शिकार हुई।

इस चुनाव से यह भी स्पष्ट हो गया कि बेलगाम को महाराष्ट्र म मिलाने का आन्दोलन अभी भी जीवित है। इसी प्रकार के नारे के बल पर एक क्षेत्रीय पार्टी

के रूप में महाराष्ट्र परिवर्तन समिति ने बेलगाम की पाचों सीटें जीत ली। पहले इसके पास चार सीट थी। आपाथी अपील का अपनी पूँजी बनाने वाली अन्नाद्रमुक व द्रमुक आदि का कोई असर जनता पर नहीं पड़ा।

श्री राम के नेतृत्व में गठित 20 सदस्यीय मन्त्रिमण्डल में हरिजनों, पिछड़ी जातियों और अल्पसंख्यकों की संख्या पर्याप्त है।

आन्ध्र प्रदेश—आन्ध्र प्रदेश में भी कांग्रेस (आई) को पूर्ण बहुमत मिल गया। उसके प्रादेशिक अध्यक्ष एवं उत्तर प्रदेश के भू० पू० राज्यपाल डा० एम० चेन्ना रेड्डी मेडचल चुनाव क्षेत्र से अपने निकटस्थ जनता प्रत्याशी को 22 हजार मतों से हराने में सफल रहे। मुख्यमंत्री वगनराव चुनाव जीत गये लेकिन कांग्रेस (रेड्डी चह्वाण) को यहाँ भी असफलता का मुँह देखना पड़ा पराजीत मन्त्रियों में श्री नारायण स्वामी और वी कृष्णमूर्ति नायडू के नाम महत्वपूर्ण है। जनता पार्टी के जिन महत्वपूर्ण नेताओं को पराजय का मुँह देखना पड़ा, उसमें विधान सभा के अध्यक्ष आर० दशरथम है जिन्होंने पिछले चुनावों से पूर्व ही जनता पार्टी की सदस्यता स्वीकार की थी। कृष्णा जिले से मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी के नेता पी सुन्दरैया ने कांग्रेस (आई) और कांग्रेस के अपने प्रतिद्वन्दियों को हरा कर विजय प्राप्त की।

चुनाव नतीजे यह संकेत स्पष्ट रूप से देते है कि चुनाव कम से कम आन्ध्र मे कांग्रेस (रेड्डी) और जनता पार्टी के संदर्भ में जातिगत आधार पर लड़े गये थे। कहना चाहिए कि यहा सम्पन्न और विपन्न तबकों का ध्रुवीकरण हो गया था। इस संघर्ष मे सामाजिक और आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुये लोगों ने अपनी नियति को कांग्रेस (आई०) के साथ बेहतर समझा। बहुत से चुनाव क्षेत्रों में तो मतदाताओं को यह भी पता नहीं था कि कौन कौन से उम्मीदवार मैदान मे है। उन्होंने केवल 'हाथ (कांग्रेस आई का चुनाव चिन्ह) को पहचाना, जिसने बेहतर कल से साक्षात्कार कराने का वायदा किया था। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि चुनाव चिन्ह को लेकर दूरदराज तक के क्षेत्रों में इतना प्रचार जरूर किया गया था कि जनता हाथ को पहचान सके। दूसरी तरफ जनता पार्टी और रेड्डी कांग्रेस ने जातीयता और अपने उम्मीदवारों की आर्थिक स्थिति पर विशेष बल दिया था। कांग्रेस ने ब्रह्मानन्द रेड्डी के साथ साथ हरिजनों और पिछड़े वर्ग के लोगों की सहानुभूति खो दी थी। उसका एक कारण यह था कि श्री रेड्डी ने एक गुट के नेता के रूप में राज्य कांग्रेस के भीतरी मामलों मे दगलदाजी शुरू की कर दी थी। इस दिशा में पहला कदम आन्ध्र प्रदेश कांग्रेस कमेटी के अध्यक्ष श्री मुस्लाया को पदच्युत करना था। श्री मुस्लाया पहले हरीजन थे जिन्हें यह पद मिला था। यह बात ध्यान देने योग्य है कि मार्च 1977 के लोकसभा का चुनाव कांग्रेस ने श्री मुस्लाया के नेतृत्व में ही लड़ा था और उसमें दल को शानदार सफलता (42 में से 41 सीटें) मिली थी। लेकिन बजाय इसके कि श्री मुस्लाया को उस जीत का श्रेय दिया जावे, उन्हें रेड्डी-कांग्रेस ने पद से अलग कर

न्या। जनता पार्टी की समस्याएँ दूसरी तरह की थी। उसके भीतर उसी दिन विद्रोह हो गया जब विधान सभा के चुनाव के लिए प्रत्याशियो की सूची सामने लायी गयी। उस सूची मे समर्पित कार्यकर्ताओ की जगह पर दल बदल करके जनता पार्टी म शामिल होने वाले लोगो को प्राथमिकता दी गई थी। भू० पू० जनसंघ घटक जिसने जनता पार्टी को एक पार्टी के रूप म आधार दिया था को 269 सीटो म से केवल 15 पर चुनाव लडने दिया गया। निश्चय ही इस फसले स उनके मन म आवश्यक उत्साह नही रह गया। जनता पार्टी क महासचिव नानाजी देशमुख न उनको शात करने की कोशिश की। केन्द्रीय सूचना मत्री लालकृष्ण आडवानी ने आध्र म चुनाव प्रचार न करने का फसला किया। अटल बिहारी वाजपेयी आये तो भी, एक दम आखिरी वक्त म और वह भी कुछ चुनी हुई जगहो के लिए। जनता पार्टी के राष्ट्रीय नेताओ न जरूर चुनाव-अभियान मे हिस्सा लिया वे स्थानीय मतदाताओ को प्रभावित करने म सफल नही हुये। कुछ नेताओ के वक्तव्यो का भी गलत असर पडा। राष्ट्रीय नेताओ ने अपने भाषण क लिए क्षेत्रो के चुनाव म भी जानकारी और समझदारी का परिचय नही दिया। अत वे अपने अभियान को सार्थक नही बना सके। दूसरी तरफ श्रीमती इन्दिरागाधी ने क्षेत्रो का चुनाव बहुत सुझबूझ के साथ किया। वह तीन दिन तक यह विश्वास दिलाने की कोशिश म रही कि वह शोषित क्षेत्र, दलित व पिछडे वर्ग के लोगो क हितो क लिए लडती रही है। इसका असर मतदाताओ पर पडा। दूसरी तरफ आम मतदाता को यह भी समझने म ज्यादा दिक्कत नही हुई कि जनता पार्टी और रेड्डी कांग्रेस के प्रत्याशियो मे सवर्णों और बडे जमीदारो की सख्या अधिक है। अत यहा कांग्रेस (आई) क डा० चेन्ना रेड्डी के मुख्यमत्रित्व म सरकार बनी। श्री रेड्डी न अपने मत्रीमण्डल म 32 सदस्यो को रखा।

महाराष्ट्र —महाराष्ट्र मे जनता पार्टी या इन्दिरा कांग्रेस अथवा रेड्डी चह्वाण कांग्रेस मे से किसी को भी पूर्ण बहुमत नही मिला। सदन म जनता पार्टी को 100, कांग्रेस को 62, कांग्रेस (आई) को 70, किसान मजदूर पार्टी को 13, मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी को 9, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी को 2 तथा निर्दलियो एव अन्य को कुल 32 जगह मिली। महाराष्ट्र के चुनाव परिणाम इस दृष्टि से भी आश्चर्यजनक निकले कि इन्दिरा गाधी की कांग्रेस तथा फारवर्ड ब्लाक ने मिलकर चह्वाण रेड्डी कांग्रेस से अधिक स्थान जीते। इस बार चह्वाण कांग्रेस ने रिपब्लिकन पार्टी के गवाई गुट तथा मुस्लिम-लीग से समझौता कर लिया था। पिछले चुनावो म बम्बई महानगर परिषद् मे सबसे अधिक स्थान शिवसेना न जीते थे। उसने माना था कि सेना के विधायक पर्याप्त सख्या म चुने जायगे। लेकिन एक भी स्थान उसे नही मिला। हिन्दू महा सभा के सभी उम्मीदवारो की जमानत जब्त हो गयी। विदर्भ क्षेत्र म लोकसभा के पिछले चुनाव म जनता पार्टी को सिर्फ दो स्थान मिले थे। बाकी सब कांग्रेस न जीते थे। जनता पार्टी तथा अन्य दलो न मिलकर विधान सभा म सिर्फ 10 स्थान पाये जिसमे रेड्डी चह्वाण कांग्रेस भी है। विदर्भ म इन्दिरा कांग्रेस

की जीत क्या और क्स हुई इसका कोईस्पष्टीकरण नही मिलता। सिवाय इसक कोई अन्य बुद्धिगम्य कारण नही दीखता कि इन्दिरा जी के करिश्म का जादू का असर हुआ। कांग्रेस (आई) के महाराष्ट्र के नताओ म कोई खास गुण नहीं है, न कोई सगठन था, न वक्तृत्व। इदिरा जी ने क्षमा याचना का जो नाटक किया, उसको मतदाताओ न क्या मान लिया यह कठिन है क्या कि इदिरा जी की सभाओ म भीड बहुत थी कहीं भी 15 20 मिनट स अधिक नहीं बोली। बोलीं भी हिन्दी म जिसको महाराष्ट्र का आम आदमी समझ नही सकता। न ही अखबारो ने उनका, साथ दिया। श्री चह्वाण न अपनी सभाओ म कहा था कि 'इदिरा का देखन के लिए भीड इक्ट्ठा होती है। घबरान की कोई आवश्यकता नहीं। मत तो हम ही पायगे।' स्पष्ट है कि जनता मात्र इदिरा दशन के लिए नही आती थी।

किसान मजदूर दल (Peasants and Workers Party) न प्रारम्भ म 80 प्रत्याशी खडे करना चाहा, जितनी उसकी क्षमता नहीं थी। उसका अपना कोई ऐसा विशेष सगठन नही हैं जिसके बल पर चुनाव जीतन की आशा बधती। फिर भी जनता पार्टी से अनबन होन पर उससे ईर्ष्यावश 122 प्रत्याशी खडे किय और चुनाव सगठन बिखर गया। कुल 13 लोग चुन कर आये। इसका अर्थ यह भी है कि प्रादेशिक दलो को जनता पसद नही करती। जिस दल ने लोक सभा म 8 स्थान पाये हो, उसकी हार उनकी पार्टी को नये सिरे से सोचने के लिए बाध्य करगी।

मार्क्सवादी साम्यवादी दल न 13 स्थानो पर जनता पार्टी से समझौता किया था। 9 स्थान उसे मिले। भारतीय साम्यवादी दल कांग्रेस से समझौता करना चाहती थी लेकिन बहुत लालच मे पडने से समझौता नही हो पाया और उसे सिर्फ 1 स्थान मिला। कोई निश्चित रूप से नही कह सकता कि रिपब्लिकन पार्टियाँ कितनी हैं लेकिन गवई गुट, कांबले गुट और खोब्रागडे गुट प्रमुख हैं। इन तीन गुटो मे गरीपते कोरिपते ने जनता से समझौता किया। गरीपते गुट को 25 मे से एक और कोरिपत गुट को 40 मे से 3 स्थान मिले। दलित पैंथर के ढलास गुट ने शिवसेना से समझौता किया था। सेना के साथ उस भी करारी चोट मिली। दूसरे गुट ने कांग्रेस (आई) के साथ समझौता किया था। उसे एक भी स्थान नही मिला। मतदाताओ ने सभी राजनीतिक दलो के सामने अनेक पेचीदा सवाल खडे किये हैं। कर्नाटक-महाराष्ट्र सीमा विवाद के बारे मे जो कुछ हुआ है, उसको भी नजर अन्दाज नही किया जा सकता है।

महाराष्ट्र म चुनाव के नतीजे कई दृष्टियो से अन्य राज्यो की तुलना म अधिक दिलचस्प हैं। भारत मे कांग्रेस की सर्वाधिक स्थिर सरकार यहा ही रही है। 30 वर्षों तक एक बार भी यहाँ मध्यावधि चुनाव घोषित नही करने पडे।

द्विभाषी बबई राज्य के समय यहा कांग्रेस को पहली बार सही चुनौती मिली थी लेकिन वह आन्दोलन पश्चिमी महाराष्ट्र मे ही प्रभावी रहा। यद्यपि इन 12 जिलों म कांग्रेस को करारी हार मिली फिर भी विदर्भ, मराठवाडा तथा गुजरात के

विधायकों के बलबूते पर 5 साल तक द्विभाषिक तथा काग्रेस सरकार बनी। यहा के प्रदेश भाषा राज्य वास्तव मे केवल भाषिक राज्य नही। महाराष्ट्र राज्य बनने पर काग्रेस का राज्य यहाँ इसलिए बना रहा क्योकि काग्रेस म भी मराठा जाति का वर्चस्व था। यद्यपि अखिल भारतीय शेतकरी कामगार पक्ष की स्थापना हुई और उस म भी मराठा जाति का ही वर्चस्व रहा। फिर भी न तो वह सही अर्थ मे अखिल भारतीय पार्टी बनी, न इतनी सशक्त बन पायी कि काग्रेस के विकल्प के रूप म वह स्थान पा सके। बीच में बीस वर्षो म शेतकरी कामगार पार्टी के बडे नेताओ को सत्ता का लालच दिखाकर काग्रेस मे शामिल किया गया और उसकी शक्ति लगातार घटती ही गई। कामकरी पक्ष अपना जातिगत आधार छोड भी नही सकता था। न ही अपने को एक जातीय पक्ष बनाने की उस के नेताओ की मशा थी। मार्क्सवादी आधार को भी वह स्वीकार नही कर सका। लेकिन एक प्रगतिशील वाममोर्चा खडा करने की कोशिश उसने हमेशा की। महाराष्ट्र म कम्युनिस्ट पार्टी के साथ वह कोई स्थाई गठबधन नही कर सका।

रिपब्लिकन पार्टी कभी ठीक खडी नही हो पायी। नेताओ के स्वार्थ के हिसाब से उस मे अनेक गुट बने। सरकारी पार्टी के साथ ताल मेल बिठा कर लाभान्वित होने की कोशिश एक गुट हमेशा करता रहा। तब कुछ लोगो ने सीधे काग्रेस म भर्ती होना अधिक लाभदायक माना। श्री भडारे तथा रूपवते सीधे काग्रेस मे चले गये। इसी बीच बम्बई मे शिवसेना का उदय हुआ और वहा उसने अपने पैर अच्छी तरह जमा लिए। तमिलनाडु के द्रमुक का आदर्श शिवसेना के सामने था, लेकिन बम्बई के प्रभावक्षेत्र से बाहर नही पहुँच सकी।

फारवड ब्लाक की शाखा महाराष्ट्र मे है लेकिन उसके सिर्फ नेता है, सगठन कोई नही। जाबुअत राव धोटे जैसे स्वयभू नेताओ की वह पार्टी रही और लोक भावनाओ के आधार पर अपने लिए कुछ सफलता भी प्राप्त की। समाजवादी दल की कुछ हस्ती जरूर थी लेकिन आपसी फूट के कारण वह दल हमेशा ही दुर्बल रहा है। एक वक्त मे तो दो अखिल भारतीय समाजवादी दलो के अध्यक्ष श्री एस० एम० जोशी और एन० जी० गोरे एक ही मोहल्ले म रहते थे। नेता आदरणीय माने जाते थे और वही उनका सही बल था। राष्ट्रीय स्वयसेवक सघ के राजनैतिक मोर्चे के रूप म जनसघ बना और नगरो मे ठीक तरह से पनपा भी।

पिछले साल लोकसभा चुनाव म काग्रेस कम्युनिस्ट, मुस्लिम लीग, रिपब्लिकन (गवई गुट) को छोडकर अन्य सभी दलो ने एक मोर्चा खडा किया। जनसघ सगठन काग्रेस समाजवादी पार्टी, रिपब्लिकन (काबले खोब्रागडे), शेतकरी कामकरी पार्टी तथा मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी ने मिलकर चुनाव मे उम्मीदवार खडे किये। पहले तीन दल जनता पार्टी मे सम्मिलित हो गये। ऐसी सभावना बन गयी थी कि शेतकरी पक्ष भी उसमे शामिल हो जायेगा। जनता तथा उस के मित्रो को

आशा से अधिक सफलता मिली। जनता तथा उस के मित्रों ने 28 स्थानों पर विजय पायी और कांग्रेस को केवल 20 स्थान से संतुष्ट होना पड़ा। यह स्थिति कांग्रेस की कल्पना से बाहर थी।

इसी समय महाराष्ट्र कांग्रेस के नेतृत्व के बारे में यानी कांग्रेस सरकार के नेतृत्व के बारे में चर्चाएँ होने लगी। महाराष्ट्र में आज तक जो मुख्यमंत्री बने वे पूरी अवधि तक उस पद पर बने रहे। लेकिन पिछले दो वर्षों में इन्दिरा जी ने महाराष्ट्र कांग्रेस के नेतृत्व यानी यशवंत चह्वाण को उखाड़ने की बराबर कोशिश की। उन को बुरी तरह अपमानित किया। बसनराव नाईक को मुख्यमंत्री पद से उतारा गया। शंकरराव चह्वाण को पदोन्नति दे कर मुख्यमंत्री पद पर बिठाया गया। विदर्भ मराठवाड़ा आदि प्रादेशिक भावनाओं का बराबर प्रोत्साहन दिया गया। यशवंतराव चह्वाण के समर्थकों को एक एक कर के सत्ता से अलग किया गया।

वसंत दादा पाटील एक कार्यसक्षम मंत्री तथा कुशल संगठक रहे हैं। उन को मंत्रिमण्डल से निकाला गया। श्री पाटील ने कांग्रेस से संन्यास ले लिया और विधायक पद से त्यागपत्र दे दिया। लेकिन लोकसभा चुनाव में जनता पार्टी की जीत हुई और श्री पाटील का संन्यास छूट गया। वह मुख्यमंत्री हो गये। कांग्रेस में यशवंतराव चह्वाण फिर अपने पैर जमाने में सफल हो गये। विधान सभा को इस लिए भंग नहीं किया गया क्यों कि लोकसभा में कांग्रेस ने पर्याप्त स्थान यहां से जीत लिये और पाटील का सन्यास छूट गया। वह मुख्यमंत्री हो गये। कांग्रेस में यशवंतराव चह्वाण फिर अपने पैर जमाने में सफल हो गये। विधानसभा को इस लिए भंग नहीं किया गया क्यों कि लोक सभा में कांग्रेस ने पर्याप्त स्थान यहाँ से जीत लिये। इस लिए महाराष्ट्र विधान सभा के चुनाव अन्य चारों राज्यों के साथ करना तय हुआ। इस दौर में कांग्रेस में दरारें पड़ने लगी और जनता पार्टी में अंदरूनी तनाव बढ़ने लगे।

राज्य के शासकीय कर्मचारियों ने अवसर का लाभ उठाने के लिये हड़ताल का नारा दिया। बड़े पैमाने पर कर्मचारी इस में सम्मिलित हुए। आठ नौ लाख कर्मचारियों के हड़ताल में हिस्सा लेने के कारण राज्य का काम करीब ठप्प सा हो गया। ग्रामीण कर्मचारी भी उस में शामिल थे। 54 दिन के बाद हड़ताल बिना शर्त वापस ली गयी। जनता पार्टी के नेताओं में इस प्रश्न पर दो राय थी। मुख्यमंत्री ने जितना संभव था कर्मचारियों को दिया और अधिक देने से इन्कार कर दिया। चुनाव के बारे में जनवरी 78 के अंत तक कोई ठिकाना नहीं था। हड़ताल वापिस लिय जाने के बाद राजनैतिक दल सक्रिय हो गये और प्रत्याशी चुने जाने लगे। कम्यूनिस्टों के लिये कांग्रेस से तालमेल बिठाना संभव नहीं हुआ लेकिन मुस्लिम लीग तथा रिपब्लिकन पार्टी के गवई गुट से कांग्रेस ने समझौता कर लिया। वसंत राव नाईक के मुख्यमंत्रित्व के दौर में शिवसेना के साथ कांग्रेस के भूमिगत संबंध थे। लेकिन कांग्रेस से शिवसेना गठबंधन नहीं कर सकी। जब वसंत दादा पाटील ने देखा

इस राज्य म यदि जनता पार्टी और किसान मजदूर पार्टी के बीच सघष न हुआ होता तो नतीजे कुछ भिन्न होते। इस सघष की वजह स ही दोनो दलो को अनेक जगह खो देनी पडी। जनता पार्टी के एक नेता के अनुसार 30 जगह इन दोनो दलो ने खो दी जहा इनके उम्मीदवार एक दूसरे के विरुद्ध खडे किये थे। इस सघष का परिणाम कुछ और क्षेत्रो म भी इन दोनो दलो के विरुद्ध गया। यदि ये दल चुनावी समझौते म उचित ढग से बधे होते तो सम्भवत इन्हें 50 सीटें और मिल सकती थी। सागली जिले म जनता पार्टी के प्रादेशिक उपाध्यक्ष आर० के० पाटील और किसान मजदूर पार्टी के सचिव एन० डी० पाटील के बीच सघष था। इन दोनो दलो का मुख्य सघष उस्मानाबाद, शोलापुर और कोलाबा जिले म था। तीनो मुख्य दलो से अलग अलग जीतने वाले 13 निर्दलीय सदस्यो में से 4 जनता पार्टी के विद्रोही हैं।

वृहतर बम्बई क्षेत्र म जनता पार्टी, मराठवाडा क्षेत्र मे रेड्डी-काग्रेस और विदर्भ क्षेत्र मे इन्दिरा-काग्रेस के उम्मीदवारो को पर्याप्त सफलता मिली। चुनाव परिणामो के घोषित होने के बाद कुर्ला, बाइकुला, अधेरी, गोरेगाव, खरवाडी और दादर मे हिंसक घटनाए घटी। दादर म जनता पार्टी के कार्यालय पर पत्थर फेंके गये। दो चुनाव बूथो मे आग लगा दी गयी और 30 कारें तोड फोड दी गयी। विजय जूलुस के निकालने के साथ साथ गोरेगाव म पत्थरबाजी शुरू हो गया। पुलिस ने शिवसेना के एक कार्यकर्त्ता को इसलिए गिरफ्तार किया क्योकि जुलूस म शामिल लोगो पर एक ट्यूबलाइट फेंकने का आरोप था। दूसरी तरफ दादर म शिवसेना भवन पर पत्थरबाजी कर के बहुत सी खिडकियो के शीशे तोड डाले गय। इस क्षेत्र म शिवसेना के एक उम्मीदवार दत्ता सालवी खडे थे, जो पराजित हो गये। उन्होने घटना स्थल पर पहुँच कर उपद्रवकारियो को शात किया। महत्वपूर्ण यह है कि वृहतर बम्बई की सभी 34 सीटो पर जनता पार्टी के उम्मीदवार विजयी हुए।

महाराष्ट्र म काग्रेस और काग्रेस (आई) ने मिलजुल कर सरकार बनायी। वसतदादा पाटिल एव काग्रेस (आई) के अध्यक्ष श्री तिरुपडे ने क्रमश मुख्यमत्री व उपमुख्यमत्री पद की शपथ ली। 28 सदस्यीय मत्रिमण्डल मे 13 नये चेहरे शामिल किये गये। लेकिन, जैसाकि शका थी श्री चह्वाण के समथक प्रारम्भ से ही इस गठजोड से प्रसन्न नही थे। और अन्तत उद्योग मत्री श्री शरद पवार के नेतृत्व मे काग्रेस से अलग हुये गुट ने जनता पार्टी के साथ सरकार बनाने मे कामयाबी हासिल की

आसाम —आसाम म किसी दल को पूर्ण बहुमत नही मिला लेकिन जनता पार्टी 126 विधायको के सदन म 53 सीटें पाने म सफल रही इससे समझौता करने वाली प्लेन्स ट्राइबल को 4 सीटें मिली। विजयी उम्मीदारो म 11 निर्दलीय है जिनमे चार जनता पार्टी विद्रोही भी शामिल हैं। इस राज्य मे पहली बार गर काग्रेसी सरकार बनी है। काग्रेस को यहा पर 26 जगह मिली थी, जबकि काग्रेस

(आई) को 8। विजयी उम्मीदवारो मे मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी के 11, मार्क्स लेनिनवादी कम्युनिस्ट पार्टी के 1, भारतीय कम्युनिस्टपार्टी के 5, क्रांतिकारी भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के 4, आई०टी०सी०ए० के 4, भारतीय समाजवादी एकता के 2 तथा 12 निर्दलीय हैं।[1]

सत्ताधारी रेड्डी–कांग्रेस यहा भी बुरी तरह असफल रही। जीतने वालो मे पिछली सरकार के मुख्यमन्त्री शरतचन्द्र सिन्हा के अलावा 5 उनके मन्त्रिमण्डल के मन्त्री हैं। शेष 10 मन्त्री पराजित हो गये। प्रदेश कांग्रेस के अध्यक्ष श्री तेरो पजाब के भू० पू० राज्यपाल महेन्द्र मोहन चौधरी और प्रदेश कांग्रेस के महासचिव अताउरहमान भी पराजित हुए। कांग्रेस (आई) ने 115 उम्मीदवार खड़े किये थे किन्तु इसने 8 को ही जिताने म सफलता प्राप्त की। 1972 के विधान सभा के चुनाव मे 114 सदस्यो के सदन मे कांग्रेस का 95 सीटे मिली थी। जनता पार्टी के जो महत्वपूर्ण नेता पराजित हो गये उनमे भू० पू० मन्त्री कामाख्या प्रसाद त्रिपाठी अग्रणी है। वह चुनावा से कुछ महीना पूर्व जनता पार्टी मे शामिल हुये थे। कांग्रेस (आई) की श्रीमती अनवरा तैमूर एक मात्र महिला है जो विजयी हुई है। पिछले

---

1 The Assam assembly election results provide many significant pointers Not only has the Congress been voted out of power the electorate has not given a clear majority to any party

The CPM with 11 members in the 126 member assembly is bound to play a crucial role in the postelection situation as it will hold the key to the stability of the Janata led government

The voting pattern marks a clear break with the past The vote of the traditional Congress supporters among Muslims and tea garden labourers swung in favour of the Janata Party

A distinctive feature of the election results is the success of left parties Twenty two candidates of various left parties including 11 of the CPM, romped home Together the parties excluding the RSP and the Forward Bloc none of whose candidates could win, polled 11 22 per cent of the total valid votes of 51 65,252 The RSP and the FB secured 0 43 percent and 0 09 percent of the valid votes

सदन मे 8 महिलाएँ थी। प्रदेश जनता पार्टी के अध्यक्ष श्री गोपाल चन्द्र बारवारा के नेतृत्व मे आसाम म सरकार बनी।

मेघालय—मेघालय के चुनाव मे 60 विधायको के सदन मे कांग्रेस के 20 उम्मीदवार विजयी हुए। अखिल भारतीय पवतीय नेता सघ को 16, पवतीय राज्य लोकतान्त्रिक पार्टी को 14 जगह मिली। निदलीयो को 10 स्थान मिले। दोनो क्षेत्रीय दलो ने दो अन्य दलो के साथ मिलकर सरकार बनाई है। मुख्यमत्री है पवतीय नेता सघ के डी० पुघ, उपमुख्यमत्री के रूप म एम० डी० खोगवीर की नियुक्ति की गई है जो पवतीय राज्य जनता लोकतान्त्रिक पार्टी के प्रतिनिधि है। मन्त्रिमण्डल मे पब्लिक डिमान्डस इम्पलीमेन्टेशन कमेटी' के एन० एन० माजा भी हैं।

उत्तर प्रदेश आजमगढ़-उपचुनाव

आजमगढ क्षेत्र (उत्तर प्रदेश) से लोकसभा के लिए तथा उत्तर प्रदेश के दो अन्य विधान सभा चुनावो मे जनता पार्टी की हार और कांग्रेस (आई) की जीत जनता पार्टी के नेतृत्व के लिए एक चेतावनी है। आम तौर पर उप-चुनावो म सरकारी पक्ष हार जाया करता है और प्रतिपक्ष पहले से अधिक ताकत हासिल किया करता है।[1] कांग्रेस राज के दिनो मे भी ऐसा ही हुआ करता था। फिर भी, उप चुनाव हवा के रूख को पहचानने मे मददगार होता है। आजमगढ के चुनाव म जनता पार्टी की हार[2] इस सन्दभ मे, विशेष महत्व रखती है। भारत के मध्य देश की राजनीति म फिर से एक नयी शुरूआत होने जा रही है, इसलिए इस घटना का व्यापक प्रभाव सभावित लगता है।

राजस्थान धनेडा उप चुनाव

धनेडा चुनाव से कुछ दिन पहले उत्तर प्रदेश म तीन उपचुनावो (एक लोक सभा और दो विधान सभा) मे कांग्रेस (आई) के उम्मीदवारो की जीत ने विश्लेषको

---

1 In Karnal (Haryana) by election, though the Janata Party nominee has won, the margin of his victory is far from flattering The lead of the Janata Party Candidate, Mr M S Lather, of 18, 379 votes over his Cangress (I) rival Mr Chiranjit Lal, is in sharp contrast to the 2 76 lakh votes lead that the party had scored 13 months ago in this constituency

2 कांग्रेस (आई) उम्मीदवार श्रीमती मोहसीना किदवई ने जो यह सीट भारी मतो से जीती, दृष्टव्य है कि इसी सीट से 14 माह पूव मुख्यमत्री श्री राम नरेश यादव लोकसभा के लिए भारी मतो से विजयी हुए थे।

को कुछ और नतीजे निकालने को मजबूर किया था। आमतौर पर यह कहा गया कि मतदाता धीरे-धीरे जनता पार्टी से अपना सम्बन्ध तोड रहा है। वह मोह भग की मन स्थिति से गुजर रहा है कि जनता पार्टी की नीतिया उसे आकर्षित कर पाने म असफल है। पर बनेडा मे सारे विश्लेषण और अनुमान गलत हो गये। इतना ही नही जिन तत्वो को उत्तरप्रदेश के चुनावो म इन्दिरा काग्रेस की जीत का कारण माना गया था, वे ही तत्व बनेडा म जनता पार्टी की जीत मे सहायक हुए। मुसलमानो, हरिजनो और पिछडे वर्गों की वकालत उत्तर प्रदेश मे हुई थी और वहा पर कारगर सिद्ध हुई लेकिन बनेडा मे जनता पार्टी के उम्मीदवार कल्याण सिंह कालवी को न केवल अपने राजपूत वग के लगभग 5 हजार बल्कि माली (5 हजार) और जाट वग (9 हजार) के भी मत मिले। इस चुनाव क्षेत्र मे मुसलमानो, हरिजनो पिछडे वर्गों की सख्या कुल की लगभग 25 प्रतिशत है। उनके भी मत मिले और गूजरो ने (लगभग 12 हजार) भी उन्हें समथन दिया।

जनता पार्टी की जीत कई और दृष्टियो से भी उल्लेखनीय है। श्री कालवी इस क्षेत्र के लिए बाहरी व्यक्ति है जबकि इन्दिरा काग्रेस के रामप्रसाद लड्ढा को यहा का 'भूमिपुत्र' होने का श्रेय है। काग्रेस के नेता और मत्री दोनो रूपो मे उन्होने इस क्षेत्र के विकास के लिए शुरू से ही बहुत काम किया है। इसे वहा का मतदाता स्वीकार भी करता है, लकिन उस स्वीकृति के बावजूद यदि उसने श्री लड्ढा को पसन्द नही किया तो उसका कारण उस उम्मीदवार की व्यक्तिगत लोकप्रियता या अलोकप्रियता नही बल्कि उसके माध्यम से सामने आनेवाली इन्दिरा काग्रेस और जनता पार्टी की नीति है। जाहिर है कि मतदाता ने जनता पार्टी की नीतियो को स्वीकृति दी। श्री कालवी के पक्ष म न आ सकने वाली और भी चीजें थी, जो उनकी पराजय का कारण हो सकती थी। प्रमाण के लिए श्री कालवी के समथन मे बाहर के कायकर्ता अधिक सख्या मे बनेडा क्षेत्र मे पहुचे थे जब कि श्री लड्ढा ने स्थानीय जनबल का अधिक उपयोग किया था। चुनाव के ठीक पहले रेड्डी काग्रेस के 15 विधायको ने काग्रेस (आई) मे शामिल हो जाने की घोषणा की थी।

लेकिन जनता पार्टी की जीत का बहुत बडा कारण मुख्यमत्री भैरोंसिंह शेखावत की नीतिया भी है। उन्होने एक स्वच्छ और सक्षम प्रशासन देने की विश्वसनीयता अर्जित की है। पिछडे वग और कमजोर वर्गों के लिए अनेक कल्याण कायक्रमो की शुरुआत की है। ग्रामीण क्षेत्रो मे उसका असर दिखाई देने लगा है। शायद इसी वजह से काग्रेस (आई) का प्रचार तत्र मतदाताओ को गुमराह करने मे असफल रहा। राजस्थान मे जनता पार्टी मे पारस्परिक कलह का ऐसा कोई भी रूप नही है जिसे उसके विरुद्ध इस्तेमाल मे लाया जा सके। जबकि उत्तर प्रदेश मे

न केवल प्रशासन बल्कि जनता पार्टी के संगठन में इतनी दरारें पड़ गयी है कि उनके नाम पर मतदाता को गुमराह या सचेत करने में सफलता मिल गयी। दूसरी तरफ श्री शेखावत के प्रचार तंत्र ने आम मतदाता के बीच आपातकाल के जोर जुल्म की याद पूरे तीखेपन के साथ ताजा की।

दिल्ली के उपचुनाव

दिल्ली महानगर परिषद् के दो उपचुनावों में एक स्थान जनता पार्टी ने और एक कांग्रेस (आई) ने जीता। नरेला में जनता पार्टी के प्रत्याशी बालकृष्ण शर्मा अपने निकटतम प्रतिद्वन्द्वी कांग्रेस (आई) के हीरा सिंह को 2,363 मतों से पराजित कर के निर्वाचित हुए जबकि घोंडा में कांग्रेस (आई) के कल्याण सिंह ने जनतापार्टी के प्रो० धीरजसिंह को 1422 मतों से हराया। पिछले चुनावों में यह दोनों स्थान जनता पार्टी के शांति स्वरूप त्यागी (नरेला) और चौ० फतेहसिंह (घोंडा) ने जीते थे। चौधरी फतेहसिंह बाद में कार्यकारी पार्षद बने। इन दोनों की मृत्यु के कारण ये उपचुनाव 4 मई को हुए।

उत्तर प्रदेश के उपचुनावों जैसा कोई स्पष्ट नतीजा इन उपचुनावों से यदि निकलता है तो वह यह कि मतदाताओं ने यहां भी कांग्रेस (आई) को जनता पार्टी का विकल्प स्वीकार किया है और यह कि हरिजन तथा मुसलमान मतदाताओं का अब पिछले वर्ष जैसा समर्थन जनता पार्टी को प्राप्त नहीं है। एक परिणाम यह भी स्पष्ट है कि मतदाता कांग्रेस को मान्यता देने के लिए तैयार नहीं है। सम्भवतः इस का प्रमुख कारण यह है कि उसकी नजर में इन्दिरा गांधी ही जनता पार्टी को सबक सिखा सकती हैं। किन्तु इन उपचुनावों से यह नतीजा निकालना ठीक नहीं होगा कि दिल्ली के मतदाताओं ने इन्दिरा गांधी को क्षमा कर दिया है या कि उन्हें जनता पार्टी के तौर तरीके बिल्कुल पसन्द नहीं हैं।

नरेला में कांग्रेस (आई) के शक्तिशाली उम्मीदवार की पराजय से यह स्पष्ट हो जाता है कि दिल्ली के ग्रामीण (ये दोनों क्षेत्र ग्रामीण हैं) क्षेत्रों में भी इन्दिरा का जादू नहीं चला और उम्मीदारों की हार और जीत के पीछे अन्य कारण रहे। लगभग वही कारण जो कुछ महीने पूर्व दिल्ली नगर निगम के धमपुरा उपचुनाव में विद्यमान थे। वह उपचुनाव कांग्रेस (आई) उम्मीदवार ने जीता था, क्योंकि जनता पार्टी निचले तबकों के वोट पाने में सफल नहीं हो पायी थी। घोंडा में भी यही हुआ। प्रतिरक्षामन्त्री जगजीवन राम के दौरे और मतदान से दो दिन पूर्व जामा मस्जिद के शाही इमाम के विरुद्ध मुकदमे की वापसी के बावजूद हरिजनों और मुसलमानों ने इन्दिरा गांधी को ही अपना मसीहा माना, भले ही आपातकाल के दौरान उनके मजबूत हाथ की सबसे करारी चोट इन्हीं वर्गों पर पड़ी हो। हरिजन व मुसलमानों की इस पसन्द का कारण यह नहीं है कि पिछले 15 महीने के शासन में जनता पार्टी ने उनके लिए कुछ किया नहीं बल्कि यह है कि इस अवधि में इन वर्गों पर हुए

छिटपुट हुए अत्याचारो को बढा चढा कर दिखाने मे और उसकी जिम्मेदारी जनता पार्टी के सिर मढने मे श्रीमती गाधी का प्रचार तत्र सारे देश मे पूरी तरह सफल रहा। दिल्ली भी अपवाद नही बन सकी। नरेला मे मुसलमान और हरिजन वोट नगण्य है। अत जनता पार्टी जीत गयी, किन्तु घोडा मे उनकी सख्या निर्णायक है और उन्होंने काग्रेस (आई) के पक्ष मे निर्णय लिया।

कुछ भी सही, इन दो उपचुनावो के आधार पर जनता पार्टी के प्रभाव म कमी और काग्रेस (आई) की हवा का जायजा नही लिया जाना चाहिए। उपचुनाव मे प्राय विपक्ष को सफलता मिलती है, क्योंकि उनमे मतदाता सत्तारूढ दल के प्रति अपने असन्तोष को अभिव्यक्ति देने का अवसर पाता है। सत्तारूढ दल के प्रति असन्तोष स्वाभाविक ही है किन्तु उसे मतदाता द्वारा सत्तारूढ दल के समग्र अस्वीकार के रूप मे नही लिया जा सकता है।

काग्रेस (आई), काग्रेस, व 'जनता' में काग्रेस

आज कल काग्रेस (आई) के भीतर क्या हो रहा है और काग्रेस किस दिशा म जा रही है इन सवालो का सही उत्तर तब तक मिलना मुश्किल है जब तक यह न समझा जाये कि सत्तारूढ जनता पार्टी म क्या हो रहा है। वर्षो बाद भारतीय राजनीति का दुष्चक्र अपना चक्कर पूरा कर चुका है। तब विरोधी दलो की गति विधि उठा पटक, दल बदल और विरोधाभास सबका नियामक तत्व सत्तारूढ काग्रेस के भीतर होन वाली हलचल और राजनीति हुआ करती थी। अब अलग प्रकार की ढेर सारी काग्रेसो—काग्रेस (आई) स्वर्णसिह काग्रेस सगठन काग्रेस पवार काग्रेस आदि की राजनीति जनता पार्टी की भीतरी कशमकश से प्रेरित होती ह। फर्क तब और अब मे सिर्फ यह है कि तब यह चक्र सत्तारूढ काग्रेस क इर्दगिर्द घूमता था अब सत्तारूढ जनता पार्टी की परिक्रमा कर रहा है। भारत की राजनीति अब फिर से बल्कि यह कह तो सही होगा कि पहले से अधिक सत्ताकेंद्रित हो चली है। अधिकार के केन्द्रो मे मामूली फेरबदल का बडा और व्यापक प्रभाव सभी विरोधी दलो पर पडता है। इस मौसमी उतार चढाव के कारण यह कहना कि अगले पाच वर्षो म या अगले दशक म भारत की राजनीति का स्वरूप यह होगा, यह नही होगा, व्यावहारिक नही लगता।

काग्रेस के महासचिव श्री कृष्ण चन्द पन्त और काग्रेस (आई) के नेता सी० एम० स्टीफन दोनो कहते हैं कि जनता पार्टी प्रतिक्रियावादियो का दल है इसलिए उनके साथ सहयोग करने का सवाल पैदा नही होता। फर्क सिर्फ इतना है कि सी० एम० स्टीफन और उनकी पार्टी यह नही मानती कि सत्तारूढ दल का एक वर्ग प्रगतिशील है दूसरा कम प्रगतिशील और तीसरा प्रतिक्रियावादी। उनकी नजर म जनता पार्टी प्रतिक्रियावादियो का अनिरिक्त और है क्या। सगठन काग्रेस का भाव जनित आधार नही था। भारतीय लोक दल पार्टी व पूजीवादियो और

चौधरी चरण सिंह के बडे किसानो का दल है और जनसंघ प्रतिक्रियावादी, साम्प्रदायिक दल। इन्ही दो से जनता पार्टी बनती है। मगर कृष्णचन्द पन्त और उनकी पार्टी के बहुत से लोग मानते है कि जनता पार्टी पर प्रतिक्रियावादियो का कब्जा तो हैं मगर उस कब्जे को कमजोर तो किया जा सकता है। शायद इसीलिए वह और उनके साथी जनता पार्टी के कुछ पुराने कांग्रेसियो के साथ बातचीत करने और एक साझा आधार खोजने को अनुचित नही मानते।

विरोधाभास यही पर खत्म हो जाता है तो कोई बात बनती। कांग्रेस, लगता है, दो ध्रुवो के बीच झूल रही है। असल मे इसी झूलने की प्रक्रिया के कारण महाराष्ट्र सरकार इसके हाथ से निकल गयी। भूतपूर्व मुख्यमन्त्री बसन्त राव पाटिल और वी० पी० नाईक तथा आपात्स्थिति की कानूनी सलाह देने वाले सिद्धार्थ शंकर राय, जो स्वयं भी आपात्स्थिति के शिकार हुए खास तौर पर कांग्रेस को कांग्रेस (आई) की ओर ले जाने की कोशिश करते रहे हैं। और इसी से दोनो कांग्रेस पार्टियो की एकता की बातचीत चल पडी। विभाजन के बाद से ही एकता की चर्चा एक ऐसा विरोधाभास है जो कांग्रेस के लिए नया नही है। 1969 के विभाजन के बाद भी ऐसा ही हुआ। और इसमे कोई सन्देह नही कि इस बातचीत का नतीजा भी कमोबेश वही निकला जो तब निकला। सगठन कांग्रेस नाममात्र की रह गयी। असल मे प्रक्रिया इस बार भी शुरू हो गयी थी। मगर वह अगर तेजी के साथ नही बढ रही है तो इसलिए नही कि यह क्षीण है बल्कि इसलिए कि अब आकर्षण का एक नही, दो केन्द्र है।

कांग्रेस और कांग्रेस (आई) के बीच इस रस्साकशी का कारण सिर्फ यह है कि न तो 1969 का विभाजन विचारधारा के आधार पर हुआ था न 1977 का अति केन्द्रीकृत पार्टी अलग पक्षो को नियन्त्रित न कर सकने के कारण बीच मे चटक गयी। 1969 मे इस टूट के बाद की प्रक्रिया अधिक सीधी और अधिक तेज हुई क्योंकि उस समय इन्दिरा गाधी के हाथ मे सत्ता थी, 1977 मे वह सत्ता नही रह पायी थी। 1977 मे एक नया ही तत्व उभर आया जनता पार्टी के रूप मे। यदि जनता पार्टी खाली जनसंघ होती या खाली सोशलिस्ट पार्टी होती यानी क्रमिक रूप से विकसित एक परम्परा और प्रभाव क्षेत्र वाला एक ठोस सगठन होता तो बात दीगर हो जाती। मगर जनता पार्टी मे तीसरी कांग्रेस एक अनिवार्य शर्त के रूप मे मौजूद थी। इसलिए संघर्ष दो पक्षो के बीच नही तीन के बीच शुरू हो गया। चन्द्रशेखर के समर्थक, जगजीवनराम के समर्थक और मोरारजी के समर्थक बहुत सी बातो मे अलग अलग है और असहमत हैं मगर एक बात उनकी साझी है कि वे भी उसी परम्परा की उपज है जिसकी विपक्ष मे बैठी हुई दो कांग्रेस पार्टिया। हाल मे सत्तारूढ दल के भीतर जो सकट उत्पन्न हुआ उसके जो भी व्यक्तिगत कारण रहे हो यह सकट भूतपूर्व कांग्रेसियो और गैर कांग्रेसियो के बीच पुनर्गठन और शक्ति सन्तुलन स्थापित करने का स्वाभाविक परिणाम था। पार्टी

के भीतर या बाहर व्यक्त की जाने वाली इस आशंका को यों ही नजर अंदाज नहीं किया जा सकता कि कांग्रेस से टूटे हुए व्यक्ति जनता पार्टी में आकर अपने लिए एक शक्तिशाली राजनैतिक आधार स्थापित करने की कोशिश कर रहे हैं। यह तथ्य अपने आप में दोनों कांग्रेस पार्टियों के सामने एक भयंकर हौवा जैसा है जिसकी प्रतिक्रिया दोनों दलों ने अलग-अलग ढंग से व्यक्त की।

यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि पहले से ही कांग्रेस कार्यकर्ता और नेता इस आस में बैठे हों कि किसी दिन जनता पार्टी के कांग्रेसी गैर कांग्रेसियों से अलग होने की कोशिश करेंगे, उस दिन हमारी जरूरत पड़ेगी। आखिर यह सपना क्या कम महत्वपूर्ण है कि 1969 के पूर्व की कांग्रेस को फिर से संगठित किया जाय। अगर ऐसा हुआ तो बीच की अवधि के कुछ वर्ष एक दुःस्वप्न की तरह लोग भूल जायेंगे और कांग्रेस को इस देश पर सतत शासन करने का जन्मसिद्ध अधिकार मिल जायगा।

मगर इस रास्ते में दो बाधाएँ हैं, एक यह कि जनता के भीतर कांग्रेस उतनी बड़ी नहीं कि बाहर की सहायता के बाद भी वह अपने बल पर बहुमत में आ सके। इस सिलसिले में किसी जल्दबाजी को दूसरे दल चुपचाप सहन करेंगे, यह तो सम्भव नहीं है। इस संघर्ष में यदि सरकार को फिर से लोगों के सामने जाने पर मजबूर होना पड़े तो जनता पार्टी जीते या न जीते, जनता पार्टी में कांग्रेस का गुट आज से भी अधिक सिकुड़ जायेगा। इसलिए अधिक से अधिक जनता के भीतर कांग्रेस बहुमत पर पूर्ण रूप से कब्जा करने की असम्भव अभिलाषा के बदले अपने प्रभाव में वृद्धि करने की कोशिश ही कर सकती है और करती रहेगी।

दूसरी रुकावट यह है कि सभी कांग्रेस एक हो जाय तो इन्दिरा गांधी कहां रहेंगी। वर्तमान राजनैतिक परिस्थितियों में अब यह सम्भव नहीं रहा है कि इन्दिरा गांधी के पंखों के नीचे सभी कांग्रेसी चूजों की तरह समा जायें। 1977 ने यह सम्भावना समाप्त कर दी है। इस तथ्य को इन्दिरा गांधी खूब समझती हैं। इसलिए कांग्रेस (आई) जनता पार्टी के कांग्रेसियों के साथ मिलकर आगे बढ़ने की दिशा में सोच ही नहीं सकती क्योंकि कांग्रेस (आई) मूलतः इन्दिरा गांधी की ही कांग्रेस है। इसलिए यह आश्चर्य की बात नहीं कि जिस वक्त चौधरी चरणसिंह के साथ संघर्ष में मोरारजी भाई और चन्द्रशेखर कुछ अधिक उग्र दिखाई दिये उसी समय महाराष्ट्र के कांग्रेसियों ने कांग्रेस (आई) के विरुद्ध विद्रोह का झण्डा बुलन्द किया। यह मानना होगा कि इस जटिल राजनैतिक परिस्थिति को कांग्रेस की अपेक्षा कांग्रेस (आई) ज्यादा अच्छी तरह समझती है और इसलिए उसके प्रति उस का रवैया भी सीधा और स्पष्ट है। उसकी नजर में जनता पार्टी पहले नम्बर की दुश्मन है।

इसका सीधा कारण यह है कि इस पार्टी को एक व्यक्ति ने बनाया और इसी व्यक्ति के हितों के चश्मे से हर समस्या को आंका जाता है। कांग्रेस (आई)

मे कोई गुट नही कोई नीति भेद नही, कोई अनिश्चित कार्यक्रम नही—कम से कम इन्दिरा काग्रेस के नेता यही मानते हैं। मगर महाराष्ट्र की घटना ने इस मुगालते मे व्यवधान पैदा कर दिया है। काग्रेस के मुख्य विधायक शरद पवार के साथ जनता से सहयोग करने लगे हैं। यह एक ऐसी प्रवृत्ति है जो देर सवेर इस तथ्य को सिद्ध कर देगी कि भले ही काग्रेस (आई) का निर्माण एक व्यक्ति के कारण हुआ हो, इसमे अलग अलग शक्ति केन्द्र स्थापित हो सकते हैं और होगे जो अपने स्वार्थ के लिए समझौते करेंगे और प्राथमिकताएँ बनायेंगे।

जनता पार्टी की ससदीय दल के पदाधिकारियो का चुनाव मई, 1979 तक के लिए स्थगित किया गया है क्योंकि गैर काग्रेसी गुट के लोग वसी स्थिति उत्पन्न न करें जिसमे गैर काग्रेसी दलो की भूमिका आश्रितो जैसी हो जाय। इसम भूतपूर्व भारतीय लोकदल, जनसघ और सोशलिस्ट पार्टी से सम्बन्धित लोगो का यह सयुक्त मोर्चा काग्रेस गुट द्वारा विपक्ष म बैठे काग्रेसियो की ओर ललचाई हुई नजरो से देखने की प्रतिक्रिया है।

इसलिए काग्रेस का दो दिशाओ म भूनना, काग्रेस (आई) का कमर कस कर सत्तारूढ दल के पीछे पड जाना महाराष्ट्र म जनता काग्रेस सयुक्त सरकार का गठन और व्यापक पमाने पर इन्दिरा गाधी द्वारा सरकार विरोधी आन्दोलन चलाने की धमकी 30 साल की हुकूमत हाथ से जाने की छटपटाहट से पैदा हुई प्रतिक्रिया है जिसकी कडिया एक दूसरे पर निर्भर है।

विदेश से लौटने के पश्चात् काग्रेस अध्यक्ष श्री स्वर्णसिंह द्वारा दिये गये इस बयान से कि एक चरण आ सकता है जब सभी काग्रेसजन 'जो कहीं पर भी एव किसी भी दल मे है" (Wherever they are and in whatever part they may be'), गाधीजी और नेहरू के विचारो की पुनर्स्थापना (To recapture the spirit of Gandhi and Nehru) हेतु एक साथ होना चाहे, वे साथ एकता चाहने वाले दोनो कोग्रेसी खेमो मे तेजी आ गई है। बम्बई म्युनिस्पलि कारपोरेशन के आगामी चुनावो मे श्री चव्हाण, स्वर्णसिंह व चन्द्रजीत यादव के विरोध के बावजूद भी 26 सितम्बर 1978 को काग्रेस पार्टी की कार्य समिति का काग्रेस (आई) के साथ चुनाव समझौता करने का निर्णय महत्वपूर्ण है। लोकसभा के लिए चिकमगलूर (कर्नाटक) सीट से होने वाले उपचुनाव मे श्रीमती गाधी का खडे होने का निर्णय दलीय राजनीति पर प्रभाव अवश्यम्भावी है। इसी प्रकार चमराजा (मैसूर) सीट पर जनता पार्टी को पराजित किये जाना तथा विशाल हरयाणा पार्टी एव चण्डीगढ व अन्य जिला काग्रेस कमेटियो का काग्रेस (आई) मे शामिल होने का निर्णय अवश्य ही इन्दिरा गाधी के भविष्य के लिए शुभ सकेत है।

12

गैर-काग्रेस दल : प्रतिपक्षीय भूमिका

(1976 तक)

प्रारम्भिक पाच ग्राम चुनावो मे राजनीतिक जनमत कोई ५ व्रह राष्टीय व स्थानीय राजनीतिक दलो के ईद गिद घूमता रहा है जो राष्ट्रीय, समाजवादी, उदारवादी धम निरपेक्ष साम्प्रदायिक, क्षेत्रीय व जातीय तत्वो का प्रतितिधित्व करते हैं। राष्ट्रीय दल रह है—काग्रेस, भारतीय साम्यवादी दल, प्रजा समाजवादी दल, सयुक्त समाजवादी दल, स्वतन्त्र दल व ग्रखिल भारतीय जनसघ तथा बाद मे उपरोक्त मे से कुछ तथा ग्रन्य क्षेत्रीय दलो के सामूहिक विलय से बना नया भारतीय लोक दल। वे स्थानीय दल जो एक या एक से अधिक राज्यो मे फैले हुए हैं—मद्रास का द्रविड मुनेत्र कडगम पजाब का शिरोमणि अकाली दल महाराष्ट्र का किसान मजदूर दल, प० बगाल का फारवड ब्लाक बिहार का झारखण्ड उत्तर प्रदेश एव राजस्थान का भारतीय क्रान्ति दल ग्रादि। ये ग्रथवा स्थानीय दल ग्रत्यल्प अथवा परिवतनीय रूप मे रह हैं। भारतीय राष्ट्रीय काग्रेस का विस्तृत विवेचन पिछले ग्रध्याय मे किया जा चुका है। प्रस्तुत ग्रध्याय मे प्रमुख राष्ट्रीय एव क्षेत्रीय गैर काग्रेस दलो को लिया जा रहा है। छठे ग्राम चुनाव से पूव चार राष्टीय दलो द्वारा अपने का विलीन कर नये जनता पाटी के गठन एव इसके सरकार बनाये जाने की महत्वपूण घटना का विवेचन अगले ग्रध्याय मे किया जायेगा।

(A) समाजवादी पार्टिया
(The Socialist Parties)

भारतीय समाजवादी दल काग्रेस समाजवादी दल का प्रतिरूप है जिसकी स्थापना 1934 म ग्रधिक क्रान्तिवादी नीति को प्रारम्भ करने म काग्रेस की असफलता के कारण हुई थी। समाजवादियो ने काग्रस का नियन्त्रण ग्रपने हाथो मे लेने की कोशिश की जिसके ग्रन्तगत उन्होने दक्षिण पथी नेताओं के स्थान पर वामपथ के नेतृत्व की धीरे धीरे स्थापना की प्रक्रिया के माध्यम से ग्रपने को सगठित किया। सख्या की दृष्टि से वे यद्यपि काग्रेस नेतृत्व को चुनौती देने वाली शक्ति प्राप्त करने मे असफल रहे तो भी भारत छोडो ग्रान्दोलन के दौरान समाजवादियो ने

प्रभावशाली स्थिति बना ली, किन्तु फिर भी उनकी शक्ति शीघ्र ही काग्रेस कार्य समिति से उनके त्याग पत्र तथा सविधान सभा मे भाग लेने या नेहरू केबीनेट म शामिल होने से इन्कार कर देने से बिखर गई।[1]

नेहरू तथा अधिक उदार हो रहे गाधी समाजवादियो को लेना चाहते थे, किन्तु पटेल गुट ने दलीय नेतृत्व मे और समाजवादी घुसपैठ को रोका। तथा गाधीजी की मृत्यु के पश्चात् अखिल भारतीय राष्ट्रीय काग्रेस द्वारा लाये गये एक प्रस्ताव से जिसके अनुसार काग्रेस के अन्दर राजनीतिक दलो का होना गैर कानूनी घोषित कर दिया गया। इस अवसर पर अपनी ताकत मे पूर्ण विश्वस्त होकर समाजवादी काग्रेस से अलग हो गये। नवीन समाजवादी दल न 'राष्ट्रीयता, समाजवाद तथा लोकतन्त्र' के लिए एक वाम पथी मोर्चा बनाना चाहा इसने काग्रेस को गाधीवादी 'रचनात्मक कार्यों' ससदीय गतिविधि तथा अहिंसात्मक आन्दोलन द्वारा चुनौती देना अपना उद्देश्य बनाया।[2]

1951 के चुनाव परिणाम समाजवादियो के लिए एक प्रहार था। यद्यपि ससदीय चुनावो मे दल ने मतो के 10 प्रतिशत स कुछ अधिक मत प्राप्त कर लिए किन्तु यह लोकसभा की 489 सीटो मे से केवल 12 सीटें प्राप्त कर पाया, जो कि 16 सीटो वाले कम्युनिस्टो के पश्चात केवल तृतीय मजबूत दल था। उन्होने अपनी ताकत का बढा चढा कर अनुमान किया था तथा विभिन्न दलो एव निर्दलीय उम्मीदारा के बीच विरोधी पक्ष की ताकत के घट जाने की स्थिति का पूर्व अनुमान करने म व असफल रहे।[3] अपनी स्थिति दृढ करने की दृष्टि स समाजवादियो ने अपने समान ही भ्रमित किसान मजदूर प्रजा दल के साथ, जो कि जे० बी० कृपलानी के नेतृत्व मे काग्रेसी असन्तुष्टो का एक समूह था, विलय वार्ता की। किसान मजदूर प्रजा दल, जो कि चुनाव की सध्या पर काग्रेस से अलग हो गया था, दृष्टिकोण म गाधीवादी था। दोनो दलो ने अपने बीच मतभेदो को समाजवादी प्लेटफोर्म को कमजोर करते हुए कम किया तथा 1952 मे प्रजा समाजवादी दल की स्थापना की। शीघ्र ही इसम फारवर्ड ब्लाक का एक सेक्शन भी शामिल हो गया, जो कि प० बगाल मे सुभाषचन्द्र बोस की राजनीतिक स्मृति स सलग्न था।

---

1 Thomas A Rusch 'Dynamics of Socialist Leadership in India In Richard L Park and Irene Tinker, (eds) 'Leadership and Political Institutions in India', Princeton N J Princeton University Press 1959 p 191

2 Ibid, pp 200 01

3 Ibid, pp 202

प्रजा समाजवादी दल

प्रजा समाजवादी दल एक गैर आरामदायक किंतु विभिन्न वैचारिक मान्यताओ का एक व्यावहारिक सम्मिश्रण था। काग्रेस समाजवादी तीन प्रवृतिया—मार्क्सवाद, लोकतान्त्रिक समाजवाद तथा गाधीवाद को प्रतिबिम्बित करते थे। ता भी समय के व्यतीत होने के साथ साथ उनके समाजवाद ने भारतीय चरित्र को ग्रहण किया। गाधीवादी विचारो, जैसे विकेन्द्रीकरण, अहिंसा, रचनात्मक काय, भू दान यज्ञ के ऊपर बल ने समाजवादियो को अपने भूतकाल के पाश्चात्य विचारधारा के साथ लगाव से दूर किया।[1] एक प्रारम्भिक मार्क्सवादी तथा प्रजा समाजवादी नेताओ म सबसे अधिक लोकप्रिय जयप्रकाश नारायणज्यादा से ज्यादा गाधीवादी प्रभाव मे आते गये। नेहरू के उत्तराधिकारी के रूप मे समझे जाने वाले नारायण ने 1954 मे सक्रिय राजनीति से सन्यास लेकर भूदान आन्दोलन तथा विनोबा भावे के रचनात्मक कार्यों मे अपना जीवन लगाने का निश्चय किया। प्रजा समाजवादी दल म तीव्रतर अपना पभाव समाप्त होने के साथ उन्होने दलविहीन लोकतन्त्र की वकालत की।

अपने सन्यास से पूव जयप्रकाश नारायण ने नेहरू स प्रजा समाजवादी दल तथा काग्रेस के मध्य घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करने के बारे म विचार विमश किया था। दोनो दलो के बीच विस्तृत क्षेत्रो म हुए समझौते पर समाजवादी नता अशोक मेहता ने कहा कि बढता हुआ सहयोग पिछडे हुए समुदाय की राजनीतिक विवशताओ के कारण मागा गया था।[2] मूलत उनका तक था कि भारत जैसा सीमित साधनो वाला समाज विरोध की सहूलियतें (लक्जरी आफ आपोजीसन) को बदास्त नही कर सकता। 1953 मे प्रजा समाजवादी दल के राष्ट्रीय सम्मेलन ने मेहता के इस विचार का डा० राममनोहर लोहिया की नीति के पक्ष म अस्वीकार कर दिया, जिसके अनुसार दल ने काग्रेस तथा कम्युनिस्टो से बराबर की दूरी की स्थिति स्वीकार की। प्रजा समाजवादी दल के दोनो गुटो मे तनाव बढा, जबकि काग्रेस ने समाजवादी ढाचे पर आधारित समाज की वकालत की घोषणा की। काग्रेस से स्पष्ट रूप से अलग तस्वीर रखन हेतु लोहिया ने अधिक क्रान्तिकारी रूप प्रदर्शित किया। *प्रजा समाजवादी दल के अन्दर अधिक उग्र तबके को सगठित करने के उनके प्रयासो* ने शीघ्र ही उनके निष्कासन तथा उनके द्वारा नवीन समाजवादी दल के गठन करने हेतु प्रेरित किया।

---

1 Myron Weiner 'Party Politics in India', Princeton, N J Princeton University Press, 1957, p 30

2 The thesis was first advanced in his report to the party in 1953 Quoted in Weiner 'Party Politics in India, p 31

लोहिया गुट के निकल जाने के पश्चात् भी दल का कांग्रेस के साथ सम्बन्धों का मसला एक प्रमुख मुद्दा रहा। मेहता कांग्रेस के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध की पैरवी लगातार करते रहे, तथा 1963 मे उन्होंने योजना आयोग का उप सभापतित्व स्वीकार किया। इसे कांग्रेस व प्रजा समाजवादी दल के बीच दृढता लाने का सुनियोजित कदम मानते हुए राष्ट्रीय परिषद् ने बुरी तरह विभाजित होते हुए, मेहता को दल से निकालने के पक्ष मे फैसला दिया। अपने अनुयायियो सहित मेहता पुन कांग्रेस म सम्मिलित हो गये तथा प्रजा समाजवादी दल ने लोहिया के समाजवादी दल के द्वारा भेजे निमन्त्रण को स्वीकृत कर लिया। इस प्रकार 1964 मे सयुक्त समाजवादी दल की स्थापना हुई। एक वर्ष के भीतर ही इसमे प्रजा समाजवादी दल के कुछ भूतपूर्व नेताओ ने सयुक्त समाजवादी दल के ऊपर लोहिया के इद गिर्द 'परसनलिटी कल्ट' विकसित करने तथा हिन्दी भाषा का उग्र समर्थन करने के आरोप लगाये।[1] उन्होने प्रजा समाजवादी दल की पुनर्स्थापना हेतु अपना समर्थन वापिस ले लिया। प्रजा समाजवादी दल को 1967 एव 1970 के बीच काफी आघातों का सामना करना पडा किन्तु अपने अस्तित्व को बनाए रखा। गठन एव शैली म परिवर्तन का एक उल्लेखनीय उदाहरण प्रजा समाजवादी दल द्वारा जुटाया गया जिसके 1967 के चुनाव घोषणा पत्र म गैर कांग्रेसवाद की बात थी किन्तु यह 1971 के चुनाव घोषणा पत्र म अनुपस्थित थी। 'एक समाजवादी विकल्प' के स्थान पर 'समाजवादी रूपान्तरण की ओर' शीर्षक रखना मात्र एक आकस्मिक बात नही है। इसम स्पष्टत राजनीतिक आवरण था। 1967 के घोषणा पत्र मे भिन्न इस बार प्रजा समाजवादी दल ने उन समस्त दलो के साथ सहयोग करने की इच्छा का आश्वासन दिया जो इसके साथ सामान्य दृष्टिकोण रखता है तथा जो समाजवादी नीतियो को क्रियान्वित करने हेतु प्रगतिशील नीतियो के प्रति लगाव रखते है। 1971 के लोकसभाई चुनावो मे इसके मत 1967 के 45 लाख मतों (3 प्रतिशत) से घट कर 14 लाख (1 प्रतिशत) मत रह गए। इसने केवल 2 सीटें जिनम एक महाराष्ट्र तथा एक प० बगाल से जीती। इस प्रकार इसकी दशा भी अन्य विरोधी दलो के समान हो गई तथा इसका अस्तित्व भी इंदिरा हवा मे डगमगाने लगा।

सयुक्त समाजवादी दल

प्रजा समाजवादी दल के भूतपूर्व नेताओ के सयुक्त समाजवादी दल से निकल जाने के पश्चात् भी अधिकतर पदाधिकारी सयुक्त समाजवादी दल के साथ रहे। सयुक्त समाजवादी दल ने तुरन्त सामाजिक परिवर्तन के लिए अपने को एक क्रांति

---

1 Benjamin N S hoenfeld The Birth of India s Samyukta Socialist Party, Pacific Affairs, Vol 38 (1965 66) p 266

कारी दल के रूप मे वर्णित किया। इसका सिद्धान्त था कि पूंजीवाद और कम्युनिज्म दोनों ही समान रूप से तृतीय विश्व मे समाजवाद की स्थापना के लिए तर्कसंगत नही है। यह प्रत्यक्ष लोकतन्त्र की लघु इकाइयो मे शक्ति के विकेन्द्रीकरण की पैरवी करता है जसे ग्राम, कस्बा तथा जिला। इसका विश्वास सम्पत्ति पर निजी स्वामित्व को प्रतिबंधित करने किराये पर मजदूरी की अनावश्यकता भूमि का स्वामित्व कठोरता से सीमित करना तथा गरीब किसानो एव भूमिहीन मजदूरो के बीच अधिक भूमि का पुर्नवितरण करना तथा सरकार तथा शिक्षा विभाग मे 60 प्रतिशत सीटें पिछडी जातियो के लिए सुरक्षित रखने म था। सयुक्त समाजवादी दल की नीति, प्रादेशिक भाषाओ के विकास पर जोर डालते हुए सामान्यतया हिन्दी की वकालत करने के साथ सम्बद्ध रही है। दल अंग्रेजी के लगातार प्रयोग का कटु विरोधी रहा है, जिसे यह एक निन्दनीय विदेशी अत्याचार की याद दिलाने वाला तथा राष्ट्रीय अपमान के प्रतीक के रूप मे मानता है।

सयुक्त समाजवादी दल सविनय अवज्ञा आन्दोलन के व्यवहार का पक्षपाती है तथा इसने कांग्रेस सरकार के विरुद्ध सत्याग्रह की तकनीकी को प्रयोग म लिया है। इससे कांग्रेस शासन की समाप्ति हेतु विरोधी दलो की एकता लानी चाही।[1] सयुक्त समाजवादी दल की न्यूनतम कार्यक्रम के आधार पर सयुक्त मोर्चा बनाने की नीति 1967 के आम चुनावो मे व्यापक रूप मे फलीभूत हुई। दल डा० लोहिया के प्रति व्यक्तिगत वफादारी पर निर्भर होने के कारण अक्टूबर 1967 मे इनकी मृत्यु से टूट गया तथा इसकी क्षमता के बारे मे सन्देह खडे किये जो कि बिहार के 1969 के उप चुनाव म दल के पतन के साथ पुष्ट हो गये।

1971 के मध्यावधि लोकसभाई चुनावो की पूर्व सध्या पर प्रकाशित अपने घोषणा पत्र मे दल ने कहा कि 'यह लोगो के लोकतान्त्रिक अधिकारो की सुरक्षा के लिये सगठित तरीके से सविनय अवज्ञा आन्दोलनो को जारी रखेगी चाहे सरकार की कुछ भी विवशता हो।' सम्भवत यह अपने अन्य साथी दलो —स्वतन्त्र दल, जनसघ तथा कांग्रेस (सगठन) को खुश करने के लिए था।

स० स० दल ने वही शैली प्रयुक्त की जो चार वर्ष पूर्व की थी, अर्थात् एक प्रगतिशील गैर-कांग्रेसवाद को अपने घोषणा-पत्र का एक प्रमुख आधार के रूप म मानना। इसने लोगो को इन्दिरा-कांग्रेस को हटाने के लिये सम्बोधित किया जो कि यथास्थिति अत्याचार, राष्ट्रीय सीमाओ को कमजोर करने वाली व भुखमरी आदि को प्रतिबिम्बित करती है। इसके द्वारा दिया गया गैर आर्थिक जोतो के भू राजस्व

---

1 'Why S S P by Madhu Limay in Ram Das G Bhat Kal (ed) 'Political Alternatives in India', Bombay, Popular Prakashan 1967 p 281,

की समाप्ति का वचन राजनीतिक यथार्थवाद का प्रतीक है क्योंकि 1967 के घोषणा पत्र म सभी प्रकार के जोतो व भू राजस्व समाप्ति की बात कही गई थी। यह परिवतन दल के अनुभवो का स्पष्ट परिणाम है जो इसने प्राप्त किये जबकि इसने उत्तरप्रदेश म भू राजस्व की बिल्कुल समाप्ति की नीति के बारे म सयुक्त मोर्चे के अपन अन्य पार्टनस को विश्वास म लेने की कोशिश की थी। 1971 के घोषणा पत्र म ऐसी प्रतिज्ञाएँ जैसे समस्त खर्चीली प्राथमिक शालाओ का कानून द्वारा बन्द कर देना, या विदेश नीति के क्षेत्र म पाकिस्तान के साथ सहसघ या पुन सघ बनाने की स्पष्ट नीति को लागू करने का निश्चय आदि नही किय गये अपितु इसने केवल 'कृत्रिम विभाजन' की ओर सकेत मात्र किया तथा 1970 के पाकिस्तानी चुनावो मे 'लोकतान्त्रिक शक्तियो के प्रादुर्भाव का स्वागत किया। इसके घोषणा पत्र मे एक सविधान सभा द्वारा नवीन सविधान बनाने की बात भी कही गई। इस वक्तव्य से कि प्रधानमन्त्री का औसतन दैनिक खर्चा 36000) रु० है जबकि 30 करोड लोगो का 20 से 25 पसे मात्र व्यक्ति खर्चा है घोषणा-पत्र को लोहिया 'टच' दिया गया।

चुनाव परिणामो से स्पष्ट है कि स० स० दल ने केवल 3 सीटें जीती। इसकी अनुयायियो की सख्या 1967 के 72 लाख (.5 प्रतिशत) मतो से घटकर 35 लाख (2 4 प्रतिशत) रह गई। अपने को अखिल भारतीय दल के रूप मे प्रस्तुत करने के निश्चय वाली एस० एस० पी० ने करीब-करीब सभी राज्यो म अपने उम्मीदवार खड़े किये किन्तु बिहार एव मध्यप्रदेश के अपवाद के साथ करीब-करीब सभी राज्यो मे लुप्त हो गई। तत्पश्चात् श्री राजनारायण के नेतृत्व मे समाजवादी दल का एक हिस्सा भारतीय लोकदल मे विलीन हो गया तथा दूसरा श्री जार्ज फर्नाण्डीस के नेतृत्व म कायरत रहा। अब ये दोनो ही जनता पार्टी म विलीन हो चुके है।

(B) साम्यवादी पार्टियां
(The Communist Parties)

1928 मे अपने जन्म से ही भारतीय साम्यवादी दल अपने सामाजिक स्वरूप अपने समथन के आधार तथा अपने वचारिक दृष्टिकोण के बारे मे विभाजित रही है। ये विभाजन मजदूर एव किसानो के दल के प्रादेशिक सगठनो मे उसके उद्गम म प्रतिबिम्बित होते है। अपने प्रारम्भिक वर्षों म भारतीय साम्यवादी दल, ग्रेट ब्रिटेन के साम्यवादी दल के साथ घनिष्ट रूप से सम्बन्धित होते हुए अधिकतर 'कोमिन्टन नियन्त्रण म थी तथा मास्को के निर्देशो का इसने पूरी वफादारी के साथ अनुसरण किया। 1930 के दशक के दौरान दल ने राष्ट्रीय आन्दोलन के साथ सहयोग करन मे ऊपर से सयुक्त मोर्चे की नीति अपनायी। काग्रेस समाजवादी दल मे प्रवेश करत हुए, कम्युनिस्टो ने शीघ्र ही समाजवादी

संगठन मे नेतृत्व प्राप्त कर लिया, विशेष तौर से दक्षिण मे जहा, उन्हे प्रभावशाली नियन्त्रण प्राप्त हुआ। 1939 म निष्कासन के साथ, उन्होने कांग्रेस समाजवादी दल के दक्षिण मे अधिकाश सदस्यो को अपने साथ कर लिया। कांग्रेस के साथ इनके सम्बन्ध अन्तिम रूप से तब टूटे जब सोवियत संघ पर नाजी जर्मनी के आक्रमण तथा भारतीय कम्युनिस्ट दल ने ब्रिटेन के साथ सहयोग करने की अपील की जिसे साम्राज्यवादी विरोधी युद्ध समझा गया। कांग्रेस ने असहयोग का रास्ता चुना चूकि कांग्रेस के नेता जेल म थे भारतीय कम्युनिस्ट दल ने विद्यार्थी, किसान तथा मजदूर संगठनो को अपने पक्ष म करने की कोशिश की तथा 1942 की अपनी पाच हजार सदस्य संख्या से बढाकर 1946 म 53 हजार सदस्य संख्या विस्तृत कर ली। यद्यपि भारतीय कम्युनिस्ट दल ने प्रभावशाली ढग से अनेक संगठनो का नियन्त्रण प्राप्त कर लिया तथापि युद्ध प्रयासो म इसकी हिस्सेदारी इसके द्वारा गाधी पर लगाये जा रहे आरोप तथा इसके द्वारा पाकिस्तान की माग पर मुस्लिम लीग को दिये जा रहे समर्थन ने दल पर अराष्ट्रीय रग चढा दिया तथा इसके प्रभाव को न्यूनतम कर दिया।

कांग्रेस के नेतृत्व के विरोध मे मजदूरो एव किसानो के साथ गठबन्धन करते हुये भारतीय कम्युनिस्ट दल, ने अब उपरोक्त नीति को त्यागते हुये नीचे से संयुक्त मोर्चे' की नीति अपनायी। 1948 मे पी० सी० जोशी के स्थान पर टी०बी० रणदिवे दल के महासचिव चुने गये। परिणामत अधिक उग्र वाम पथ की ओर बढते हुये दल ने क्रान्ति का कार्यक्रम हडतालें, तोड फोड तथा शहरी हिंसा का रास्ता आदि अपनाना चालू किया। रूसी नमूने का अनुसरण करते हुए रणदिवे ने क्रान्ति के लिए मजदूर वर्ग का साधन के रूप पर जोर दिया तथा हैदराबाद के तेलगाना प्रदेश मे किसान असन्तोष की अवहेलना की। आन्ध्र के कम्युनिस्ट तो भी, गावो की माग पर क्रान्ति की माओवादी लाइन को ग्रहण करने को विवश हुए तथा 1950 म राजेश्वरराव महासचिव चुने गये। दल ज्यादा से ज्यादा अकेला पडता गया, दल की सदस्यता म कमी आती गई तथा कितने ही प्रदेशो म कम्युनिस्ट दल गैर-कानूनी घोषित कर दिये गये।

इस काल के दौरान इस दल मे नेहरू को साम्राज्यवाद के पीछे दौडने वाले कुत्ते की संज्ञा के रूप मे आका गया। अपनी वैदेशिक तथा घरेलू नीति के सन्दर्भ म ही कांग्रेस की प्रतिक्रियावादियो का एजेन्ट के रूप म निन्दा की। 1950 के दशक के प्रारम्भिक वर्षो मे तो भी, सोवियत संघ का सरकारी दृष्टिकोण नेहरू सरकार के प्रति परिवर्तित होने लगा। नीति परिवर्तन का दल के पी० सी० जोशी, एस० ए० डागे तथा अजय घोष जैसे व्यक्तियो द्वारा स्वागत किया गया। 1951 में अजय घोष के महासचिव पद पर चुन लिये जाने को इस संशोधनवादी नीति की जीत समझी गई। घोष ने दल की केन्द्रीकृत स्थिति

से 'सर्वधारिक साम्यवाद' की ओर प्रेरित किया। भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी ने भारतीय विदेश नीति को स्वीकार कर लिया तथा सरकार की प्रगतिशील नीतियों एवं कदमों का अपना पूरा समर्थन दिया।[1] इसकी संसदीय राजनीति में अपना को लगाने की इच्छा तथा लोकतान्त्रिक मोर्चे में वाम पंथी दलों के साथ गठबन्धन करने की इसकी चाह, 1957 में केरल में साम्यवादी दल की विजय के साथ दृढ़ हो गई तथा ई० एम० एस० नम्बूदीपाद के नेतृत्व में लोकतान्त्रिक रूप से चुनी गई प्रथम साम्यवादी सरकार का गठन किया गया। 1958 में अमृतसर में दलीय सम्मेलन में यह प्रस्ताव स्वीकार किया गया कि 'भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी पूर्ण लोकतन्त्र तथा समाजवाद को शान्तिमय तरीके से प्राप्त करने की इच्छुक है। इसकी मान्यता है जनसाधारण का शक्तिशाली आन्दोलन विकसित करके व संसद में बहुमत प्राप्त करके ही मजदूर वर्ग तथा इसके समर्थक प्रतिक्रियावादी शक्तियों पर विजय प्राप्त कर सकते हैं तथा इस विश्वास की पुष्टि कर सकते हैं कि संसद आर्थिक सामाजिक और राज्य के ढांचे में मूलभूत परिवर्तनों को लागू करने हेतु जनता की इच्छा का एक माध्यम बन सकती।[2]

अमृतसर प्रस्ताव दल के अन्दर दक्षिण एवं वाम पंथ के बीच या कांग्रेस तथा राष्ट्रीय बुर्जुआ के साथ सहयोग करने के पक्षपातियों एवं कांग्रेस को हराने के लिए क्रान्तिकारी संघर्ष की पैरवी करने वालों के बीच व्याप्त मूलभूत मतभेदों को केवल मामूली रूप से दबा सका। नीति के रूप में इसका कांग्रेस के साथ सम्बन्धों ने भारतीय साम्यवादी दल के लिए एक विरोधाभास स्थिति पैदा कर दी।[3]

शीघ्र ही भारतीय साम्यवादी दल का आन्तरिक सन्तुलन बिगड़ गया। केरल में शिक्षाधिनियम से प्रज्वलित होकर साम्यवादी सरकार के विरुद्ध व्यापक आन्दोलन किया गया। फलतः केन्द्रीय हस्तक्षेप हुआ तथा राष्ट्रपति शासन की घोषणा की गई। वाम पंथियों ने इसे 'चेतावनी' के रूप में देखा कि कांग्रेस कभी भी गम्भीर समाजवादी सुधारों की अनुमति नहीं देगी। 1959 में तिब्बत-

1 The Evolution of this strategy is detailed in 'Peaceful Transition to Communism in India'
2, Constitution of the Communist Party of India, adopted at the extraordinary Party Congress Amritsar, April, 1958 New Delhi Communist Party of India, 1958 p 4
3 Ralph Retzlaff Revisionism and Dogmatism in the Communist Party of India', in Robert A Scalapino ed, The Communist Revolution in Asia, Englewood cliffs N J Printiceton Hall, 1965 p 309

असन्तोष तथा भारतीय साम्यवादी दल द्वारा दिए जा रहे चीनी कार्यो के समथन ने पहले ही दल के विरुद्ध भारत मे जनता की प्रतिक्रिया व्यक्त कर चुका था। सीमा विवाद ने आन्तरिक झगडे को बढावा दिया गया। एस० ए० डागे के नेतृत्व मे साम्यवादी दल की राष्ट्रीय परिषद् ने मेकमोहन रेखा के नीचे के सम्पूरण क्षेत्र पर भारतीय दावो का मान्यता प्रदान की। दल के वामपथी तत्वो ने इस अन्तर्राष्ट्रीय 'परालिटेरियन' एकता के प्रति विश्वासघात घोषित किया। उभरते हुए चीन भारत सीमा विवाद के सन्दभ म, स्थिति ने दल के वाम पथी तत्वो को तथाकथित 'चीन-कैम्प' मे ला खडा किया।

1962 के प्रारम्भ मे भारतीय साम्यवादी दल के अन्दर झगडा गहरा हुआ, सन्तुलनवादी अजय घोष की मृत्यु हो गई। गुटबन्दी का समझौता जिसके अन्तगत डागे का नवनिर्मित पद चैयरमैन तथा महामार्गी नम्बूद्रीपाद का महासचिव पद पर चुनाव किया गया ज्यादा दिन नही टिक सके। भारतीय प्रदेश पर चीनी आक्रमण के दौरान, ज्योही साम्यवादी दल की आलोचना उठने लगी राष्ट्रीय परिषद् ने चीनी काय को 'आक्रमण' की सज्ञा देकर आलोचना की तथा भारतीय लोगो को अपनी मातृ भूमि की रक्षा के लिए एक होने की अपील की।[1] इसके विरोध स्वरूप वाम पथी तत्वो ने दलीय सचिवालय स त्याग-पत्र दे दिया तथा जैसे ही स्थिति और बिगडने लगी नम्बूद्रीपाद ने दल के महासचिव पद तथा दल के प्रकाशन 'न्यू एज' के सम्पादक पद से त्याग पत्र द दिया। वाम पथी साम्यवादियो की व्यापक गिरफ्तारियो की प्रतिक्रिया स्वरूप भारतीय साम्यवादी दल ने दक्षिण पथियो के नियन्त्रण म राज्यो की दलीय इकाइयो का पुनसगठित करने का प्रयास किया। इनके इस काय ने भारतीय साम्यवादी दल के अनुशासनबद्ध सगठन के बाहर समानान्तर वाम पथी ढाचे की स्थापना करने मे ही योगदान किया।

1964 मे राष्ट्रीय परिषद् की की मीटिंग म वामपथियो न चैयरमैन डागे को दल से बाहर करने का असफल प्रयास किया। इन्होने डागे द्वारा 1942 मे लिखित पत्र को रखते हुए बदनाम करने की कोशिश की, जिसम उनके जेल से छोडने के लिये ब्रिटिश लोगो का सहयोग करने की बात लिखी थी। इस पत्र को जालसाजी पूर्ण बताते हुये, परिषद् ने आरोपो पर विचार करने से इन्कार कर दिया। वाम तथा मध्यम पथी जिनका नेतृत्व नम्बूद्रीपाद तथा ज्योति बसु कर रहे थे मीटिंग का बहिर्गमन किया तथा दल से डागे एव 'सुधारवादियों' को निकालने की अपील की। विभाजन तब अवश्यम्भावी हो गया, जब अपील पर हस्ताक्षर करने वालो को दल से निष्कासित कर दिया गया वामपथी अब भारतीय साम्यवादी दल (मार्क्सवादी) के रूप मे सगठित हुए तथा उन्होने स्वय के दल को वध ठहराया। नियमित

---

1 Quoted in Retzlaff Revisionism and Dogmatism' p 326

भारतीय साम्यवादी दल ने, जो ट्रेड यूनियनो से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित थी, औपचारिक दलीय ग्रगो पर नियन्त्रण प्राप्त कर लिया तथा अपने को मास्को से सम्बन्धित बताया। इसने राष्ट्रीय बुजुआ के प्रगतिशील तत्वो के साथ मिल कर साम्राज्यवाद और सामन्तवाद का विरोध तथा लोकतान्त्रिक क्रान्ति को पूर्ण करने की इच्छा व्यक्त करते हुये राष्ट्रीय लोकतान्त्रिक मोर्चा' के ध्येय की ओर बढने का प्रयास किया।[1] वामपथी मजदूरो एव किसानो के गठबन्धन का, (काग्रेस को पराजित करने के लिये) समथन करते हुये पकिग से प्रभावित दृष्टिकोण रखते थे। वास्तव मे 1965 म, महत्वपूर्ण वामपथी साम्यवादी सम्पूर्ण भारत मे गिरफ्तार कर लिये गय तथा उन पर एक ताजा चीनी आक्रमण के साथ सहानुभूति रखते हुये दश मे एक आन्तरिक क्रान्ति करने का आरोप लगाया गया।[2] यद्यपि चीन इसम डागे के सशोधनवाद पर प्रहार करते हुये शामिल हो गया, वामपथियो को चीन द्वारा आर्थिक सहायता प्राप्त होने के बहुत कम प्रमाण थे, जैसा कि आरोप लगाया गया था, किन्तु विचारधारा के स्तर पर, वामपथी साम्यवादी दल ने माओवादी चिन्तन के साथ घनिष्ठता व्यक्त की।

यद्यपि साम्यवादी दल के पास एक अखिल भारतीय सगठन था, कम से कम वैचारिक धरातल पर यह 'लोकतान्त्रिक मध्यपथी' था तो भी इसका ढाचा, (काग्रेस की भाति) दृष्टिकोण मे मूलत प्रादेशिक रहा है। इसमे महत्वपूर्ण बात यह है कि दोनो ही *साम्यवादी दल हिन्दी भाषी भारत मे अपना मजबूत आधार बनाने मे* असमथ रहे है। कायक्रम व नीति अधिकाशत स्थानीय परिस्थितियो द्वारा निर्धारित की जाती रही है, न कि ऊपर के निर्देशो के अनुसार। आम चुनावो में प्रदेशो की दलीय इकाइयो ने अधिकतर भिन्न प्रकार की नीतिया अपनाई हैं। उदाहरणत एक राज्य मे 'प्रगतिशील काग्रेसियो का समथन तथा दूसरे प्रदेश म सभी काग्रेसियो का विरोध किया जाता रहा।

ससदीय चुनावो म साम्यवादी दल न, चीनी आक्रमण के सकट के बावजूद, अपने समथन को बढाने मे धीरे धीरे वृद्धि की है। 1952 के 3 30 प्रतिशत से

---

1 Communist Party of India Programme of the Communist Party at India New Age, January 10, 1965, p 10, quoted in Phillip G Alt brak The Two Indian Communist Parties, Government and Opposition Vol 2 Feb, 1967 p 9

2 Home Minister Nanda, quoted in Hindu Weekly Review January 11, 1965, p 11 Cited by Retzlaff Revisionism and Dogmatism', p 335,

1962 म 9 96 प्रतिशत की समथन म वढोतरी की है। दलीय विभाजन भी मता के बाटने को प्रभावित कर पाया है जसे 1967 म दक्षिण पथी या साम्यवादी दल ने 4 80 प्रतिशत मत प्राप्त किया तथा वामपथी या माम्यवादी दल (मार्क्सवादी) ने 4 28 प्रतिशत मत प्राप्त किए। तो भी भारत म कम्युनिस्ट के समथन प्रादेशिकता के आधार पर वितरित नही हो पाया है। केवल प बगाल केरल और आन्ध्र म ही कम्युनिस्टो का चुनाव समथन का महत्वपूर्ण आधार रहा है तथा केरल एव आन्ध्र म यह समथन अमुक जाति समुदायो तक ही घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित रहा है।

इसी के साथ महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि साम्यवादी दल (मार्क्सवादी अपना अधिकाश समथन परम्परावादी साम्यवादी शक्ति वाले क्षेत्रा से प्राप्त करता है। केरल म दोना दलो ने 1967 के विधान सभाई चुनावो म 35 प्रतिशत मत प्राप्त किए, वामपथी साम्यवादियो ने दक्षिणपथियो से करीब तिगुना समथन प्राप्त किया। प बगाल म सम्मिलित 25 प्रतिशत मतो मे से वामपथियो ने दक्षिणपथियो के दुगने मत प्राप्त किये। इनम से प्रत्येक प्रदेश म दोनो साम्यवादी दल काग्रेस के विरोध मे सयुक्त मोर्चे म शामिल हुए तथा सयुक्त सरकारो का नेतृत्व किया। केरल म नम्बूद्रीपाद मुख्य मन्त्री बने। अक्टूबर 1969 म मार्क्सवादी नेतृत्व मे सयुक्त मोर्चा भ्रष्टाचार के सामान्य आरोपो पर अविश्वास के प्रस्ताव पारित हो जाने से पराजित हो गया एव ऐसे मामले पर, जिसम विचारधारा की एकात्मकता की आवश्यकता नही होती। भारतीय साम्यवादी दल (दक्षिणपथी) जिस सयुक्त मोर्चे के अन्तगत मार्क्सवादी समथन की वृद्धि की आशका थी काग्रस को कुछ वाता म समथन के आधार पर एक अन्य 'लघु मोर्चे' को सगठित करके नेतृत्व देने की पहल की। प बगाल के सयुक्त मोर्चे की सरकार सन्तुलन म लटक रही थी। आन्ध्र म, यद्यपि 1967 मे चुनावो मे प्रत्येक साम्यवादी दल 7 प्रतिशत मत प्राप्त कर सका था, किन्तु दोनो दल आपस म बुरी तरह झगड रहे थे तथा परिणामत चुनावो म 1957 के 30 प्रतिशत साम्यवादी समथन म तजी स गिरावट आ गई। यद्यपि वामपथियो की शक्ति प्रमुखत तीन प्रदेशो म केन्द्रित थी जिससे इनके पास सत्ता का आधार था। राज्य विधानसभाओ म साम्यवादी दल ने कुल 121 सीटें तथा मार्क्सवादियो ने 127 सीट जीती थी।

वामपथी साम्यवादियो की चुनाव विजय ने दल म आन्तरिक झगडे के द्वार खोल दिए तो भी अतिवादियो के रूप म माओवादी स्थिति का तक देते हुए गावो म सशस्त्र क्राति के समथन मे सयुक्त सरकार म भाग लेने का विरोध किया। प बगाल म चुनावो के तुरन्तबाद महत्वपूर्ण पहाडी जिले दार्जिलिंग के नक्सलवादी सेतीहर मजदूरो ने जमीन्दारो की जमीनो पर जबरदस्ती कब्जा करना प्रारम्भ कर दिया। इसी प्रकार से किसान समिति के नेतृत्व म हजारा एकड जमीनो का (प० बगाल के कई जिलो म) कब्जे म ले ली गई।

जैसे ही नक्सलवाडी के क्रुद्ध किसानों ने अपनी स्थिति की सुरक्षा चाही, रेडियो पेकिंग ने इस क्षेत्र को 'लाल जिला' घोषित कर दिया तथा 'मुक्ति प्राप्त आधार' (लिबरेटेड बेस) की स्थापना के साहसिक प्रयास की प्रशंसा की, जहां से क्रांतिकारी संघर्ष को निर्देशित किया जावे। भारतीय सरकार ने तुरन्त इस नाजुक सीमावर्ती प्रदेश में चीन के हस्तक्षेप के प्रति कठोर प्रतिक्रिया व्यक्त की। प. बंगाल की संयुक्त मोर्चे की सरकार के वामपंथी कम्युनिस्ट एक असमंजसपूर्ण स्थिति में पड़ गए। बंगाल में साम्यवादी शक्ति विशेष कर कलकत्ता में केन्द्रित थी जहां इसे निम्न मध्यम वर्ग, विद्यार्थी, शरणार्थी तथा मजदूर श्रेणी का समर्थन प्राप्त था। ग्रामीण क्षेत्रों में इसको नाम मात्र का समर्थन प्राप्त था तथा किसान विद्रोह का 'एडवेन्चरिस्ट' के रूप में समझा गया।

तो भी इस विद्रोह का समर्थन करने वाले नक्सलवादियों को आन्ध्र के वामपंथी साम्यवादी संगठन तथा विभिन्न प्रदेशों में मार्क्सवादी साम्यवादी दल के प्रतिवादी तत्वों का समर्थन प्राप्त हुआ। केरल के नक्सलवादियों ने 1968 के अन्त में मलाबार की पहाड़ियों में माओवादी नमूने पर लालसेना के गठन के आधार की स्थापना करने का प्रयास किया। शान्ति एवं व्यवस्था की पुनर्स्थापना की समस्या नम्बूद्रीपाद के लिए थी तथा चीनियों ने इसे संशोधनवादी साम्यवादी वामपंथ की बढ़ोतरी के रूप में देखा। 1969 में विभिन्न नक्सलवादी गुट तृतीय साम्यवादी दल (मार्क्स लेनिनवादी) की स्थापनार्थ एक हुए तथा माओवाद की शपथ ली और क्रांति में अपने को न्यौछावर करने का निश्चय किया। यद्यपि समस्त नक्सलवादी समूहों को अपनी एक छत्र छाया में लाने में असफल होकर, यह नवीन भारतीय साम्यवादी दल (मार्क्स लेनिनवादी) माओवादी फार्मूले का अनुसरण करते हुए तुरन्त सशस्त्र क्रांति को नेतृत्व देने हेतु आगे आए। यह यद्यपि बड़ा दल नहीं था किन्तु जैसा कि मारकस फ्रेण्डा ने कहा है कि इसकी महत्ता इस तथ्य में है कि इसने उग्र पंथी भारतीय साम्यवादियों को एक विकल्प प्रदान किया है जो मार्क्सवादियों तथा भारतीय साम्यवादी दल (दक्षिण पंथी) दोनों की निर्वाचन नीतियों को अस्वीकार करता है।

कम्युनिस्ट दल का 1971 का चुनाव घोषणा पत्र 1967 के चुनाव घोषणा पत्र की तुलना से अधिक स्पष्ट है कि दल कुछ प्रमुख मामलों में विगत चार वर्षों में अपने आधारों से इधर उधर हुआ है। सबसे महत्वपूर्ण परिवर्तन सत्तारूढ़ दल के दृष्टिकोण में था। सत्तारूढ़ दल को अपना प्रमुख शत्रु मानने के बजाय इसने पुरानी एकीकृत साम्यवादी दल की लाइन का अनुसरण किया जिसमें कांग्रेस के 'प्रगतिशील' तथा 'प्रतिक्रियावादी' तत्वों के बीच अन्तर रखा जाता था। स्पष्टतः साम्यवादी दल ने श्रीमती गांधी व उनके गुट को प्रगतिशील करार दे दिया। परिणामतः इसने कांग्रेस (सत्तारूढ़) के अन्दर तथा प्रशासन में प्रतिक्रियावादी तत्वों की निन्दा की तथा अब तक की असफलताओं के लिए इन्हें जिम्मेदार ठहराया।

दल ने अपने उद्देश्यो म भी इस नीति का अनुसरण करते हुए परिवर्तन किया। 1967 म इसका उद्देश्य काग्रेस को सत्ताच्युत करना तथा 'समस्त लोकतान्त्रिक एव प्रगतिशील शक्तियो का विस्तृत गठबन्धन का प्रतिनिधित्व करने वाली लोकप्रिय जनतान्त्रिक सरकार' की स्थापना करना था। 1971 म साम्यवादी दल ने पुरानी लोकसभा की अपेक्षा एक मजबूत नामग्री तथा लोकतान्त्रिक दृष्टिकोण वाली एक नवीन लोकसभा' के अस्तित्व की आवश्यकता पर बल दिया। इसने 1967 के सम्पूर्ण गैर-काग्रेसवाद से हट कर जनसघ काग्रेस (सगठन) स्वतन्त्र दल के गठबन्धन के विरुद्ध सत्तारूढ दल के गुट के साथ सगठित होने म अपनी भलाई समझी।

दल के घोषणा पत्र म व्यक्त अन्य मुद्दे इसकी काग्रेस (सत्तारूढ) के साथ हाथ मिलाने की इच्छा प्रतिबिम्बित करती है। उदाहरणार्थ न्यायपालिका विशेष कर सर्वोच्च न्यायालय जो 1967 के चुनाव घोषणा पत्र म अवर्णित था, इस बार आक्रमण का एक महत्वपूर्ण लक्ष्य बना। अब सर्वोच्च न्यायालय न कि काग्रेस (सत्तारूढ) ससद की सर्वोच्चता को मुख्य खतरा है घोषित किया गया।

इसके अतिरिक्त इसके चुनाव घोषणा पत्र ने इस तथ्य को उजागर किया कि यह मार्क्सवादी साम्यवादी दल से कितनी दूर चला गया है क्योकि इसने भूतपूर्व कामरेड्स को अपने आक्रमण का प्रमुख लक्ष्य बनाया। तो भी मार्क्सवादी साम्यवादी दल का घोषणा पत्र भी इसके साम्यवादी दल (दक्षिण पथी) के प्रति हुए दृष्टिकोण म परिवर्तन प्रकट करता है। इसने दक्षिण पथी साम्यवादी दल को अपने घोषणा पत्र म एक दल के रूप म रद्द कर दिया जिसने अपने भाग्य को जनता के शत्रुओं पूजीपतियों तथा जमीदारों के दल के साथ कर दिया। मार्क्सवादी दल ने न केवल दोनो काग्रेस के विरुद्ध अपितु अपने भूतपूर्व वामपथी पार्टनर्स जैसे सयुक्त समाजवादी तथा साम्यवादी दल के विरुद्ध भी लड़ाई छेड़ी। चुनाव घोषणा पत्र म इसके राज्यो को अधिक शक्तिया देने पर बल दिये जाने म केरल एव प बगाल म इसके भवो की छाया प्रतिबिम्बित होती है।

भारतीय साम्यवादी दल ने अपनी स्थिति म कोई सुधार नहीं किया इसने पहले के 76 लाख मत (5 प्रतिशत) की तुलना म 70 लाख (4 9 प्रतिशत मत प्राप्त किए तथा 23 सीट जीती। इसने आन्ध्र तथा उडीसा से एक एक पजाब से दो उत्तर प्रदेश, बगाल तथा केरल से तीन-तीन तथा तामिलनाडु से चार एव बिहार से पाच सीट प्राप्त की। यह मार्क्सवादी साम्यवादी दल से इसके अधिक व्यापक प्रभाव का इगित करता है यद्यपि दल को प्राप्त लाभ इसके समर्थक दलो, जैसे तामिलनाडु म डी एम के तथा प बगाल केरल तथा देश के अन्य भागो म काग्रेस (सत्तारूढ) की सहायता पर निर्भर रहा।

समस्त विरोधी दलो म केवल मार्क्सवादी साम्यवादी दल ने ही पहले की तुलना म लाभ प्राप्त किया तथा लोकसभा की अपनी 19 सीटो की अपेक्षा इस बार 25

सीटें प्राप्त कर सबसे बड़े विरोधी दल के रूप में उभर कर सामने आया। 1967 के अपने 61 लाख मतों में इसने 1971 में 10 लाख मत और जोड़े। तो भी, सीटों के संदर्भ में इसकी शक्ति प. बंगाल तथा त्रिपुरा में सीमित रही है, जहां इसे अपनी 25 में से 22 सीटें प्राप्त हुई केरल में दल केवल दो सीटें प्राप्त कर सका, श्री कृष्ण मेनन की जीत के, अतिरिक्त जिन्होंने मार्क्सवादी साम्यवादी दल के समर्थन से निर्दलीय उम्मीदवार के रूप में चुनाव जीता।

साम्यवादी दल एकता और संघर्ष का रास्ता विश्लेषण (जून 1977 तक)

जून 1951 में भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के पोलित ब्यूरो ने एक लम्बे वक्तव्य में कहा था, कि 'पार्टी की परम्परा' विशेषकर जनसंघर्ष (पीपुल्स वार) के दौर से ही घड़ी के पेंडुलम की तरह रही है, जो एक छोर से दूसरे छोर तक पहुंचती रही। 1947 के अन्त में हम रिपवान विंकिल की तरह अचानक जागे और वामपंथी फिरकावादी (लेफ्ट सक्टेरियनिज्म) की ओर कूद पड़े, जिसके कारण पार्टी और जन आन्दोलन दोनों आज की दुरावस्था या सम्पूर्ण विघटन की स्थिति में पहुंच गया।

1976 के अंतिम दिनों में भी दुरावस्था की 1951 जैसी ही हवा कम्युनिस्ट खेमे में बहती दिखाई दी। पार्टी के महासचिव श्री राजेश्वर राव ने कलकत्ता में कहा कि कांग्रेस के भीतर दक्षिण पंथी प्रतिक्रियावादियों का एक सशक्त गुट प्रभावकारी भूमिका निभाने की कोशिश कर रहा है। श्री राव के इस वक्तव्य की कांग्रेसी हलकों में तीखी प्रतिक्रिया हुई। जब गौहाटी अधिवेशन में प्रधानमन्त्री ने अपने भाषण के दौरान इशारा कर दिया कि कांग्रेस को किसी सलाह की जरूरत नहीं है और वह अपने आप में सक्षम है तो स्थिति स्पष्ट हो गयी। कम्युनिस्ट पार्टी को लेकर अधिसंख्य कांग्रेसियों के मन में पलने वाले मोह का आवरण हट गया और विरोध तथा आलोचना के सामूहिक स्वर तेज होते गये।

1971 के बाद कांग्रेस और भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी दोनों एक दूसरे के जितने करीब आ गयी थी 1977 के प्रारम्भ में वे एक दूसरे से उतनी ही दूर हो गई हालांकि उसका मतलब यह नहीं है कि इतिहास अपने को दोहराना छोड़ देगा। सम्बन्धों की सारी कटुता के बावजूद पार्टी लोकसभा के आम चुनाव में कांग्रेस के साथ चुनावी समझौता करने के लिए उत्सुक रही। दूसरी तरफ बंगाल प्रदेश कांग्रेस कमेटी के अध्यक्ष अरुण मोइत्रा ने भी कहा कि स्थानीय ढंग से भाकपा के साथ चुनावी समझौता करने की सम्भावना हो सकती है। भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के इतिहास से अपरिचित लोगों को कांग्रेस के संदर्भ में उसकी एकता और संघर्ष की नीति अविश्वसनीय और अस्वाभाविक लग सकती है लेकिन ऐसा है नहीं। वास्तविकता यह है कि पार्टी ने हमेशा अपने को एक अग्निकीट के रूप में देखा और उसी की तरह यह विश्वास करती रही कि वह जिस कीट के इर्द गिर्द घूमेगी उसे अग्निकीट में बदल

देगी। कांग्रेस के साथ उसके सम्बंध और समीकरण की भूमिका भी ऐसी ही रही है। पार्टी का इतिहास इसी वास्तविकता का प्रमाण है। यह बात अलग है कि वह इतिहास के किसी भी दौर में कांग्रेस के ऊपर अपने को आरोपित करने में सफल नहीं हुई। कांग्रेस की जो नीतियाँ उसके अनुकूल पडी, उनको वह अपनी सफलता या अवदान मानकर प्रसन्न और सन्तुष्ट होती रही।

प्रश्न इस विश्लेषण का नहीं है कि मानवेन्द्र राय को पार्टी से क्यों निष्कासित किया गया। प्रश्न उस आरोप की जांच पडताल का भी नहीं है कि पार्टी की कार्यकारिणी की 9 अप्रेल 1964 की आपातकालीन बैठक में क्यों एक गुट ने श्री अमृतपाद डांगे को अध्यक्ष बनाने के प्रस्ताव का विरोध किया था। विरोध क्यों सफल नहीं हुआ। क्यों एक गुट उस पर बहस पहले चाहता था। प्रश्न केवल यह है कि एकता और संघर्ष की अपनी नीति को भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी इतिहास की किन गलियों से एक जमाने से निकलती रही है। उसका स्वरूप क्या रहा है? भाकपा के नेता स्वयं यह स्वीकार करते हैं कि पार्टी का इतिहास उतार चढाव का इतिहास रहा है। अतः इस स्थिति को अस्वाभाविक नहीं मानना चाहिए। असलियत यह है कि अन्य अनेक राजनैतिक दलों की तरह कम्युनिस्ट पार्टी में भी समय-समय पर अन्तरविरोधी मान्यताओं और विश्वासों की अभिव्यक्ति हुई थी और उसके इतिहास में ऐसे मौके कई बार आये जब पार्टी में विघटन की नौबत पैदा हो गयी थी। वास्तविक विघटन 1974 में हुआ जब उससे वामपंथी तत्व अलग हो गये और मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी अस्तित्व में आयी। दूसरा विघटन 1969 में हुआ जब मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी के अधिक उग्रपंथी सदस्यों ने एक और पार्टी यानी भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी लेनिनवादी) की स्थापना की।

एकता और संघर्ष की कम्युनिस्ट पार्टी की नीति का इतिहास बहुत दिलचस्प है। उसे समझने के लिए उसके ऐतिहासिक विकास को समझना जरूरी है।

1917 की रूसी क्रान्ति के पहले भारत में न तो मार्क्सवाद की बहुत ज्यादा चर्चा थी और न ही मार्क्सवाद को बहुत ज्यादा लोग समझते थे। हालांकि 1912 में तत्कालीन ट्रावणकोर रियासत के स्वदेशाभिमानी रामकृष्ण पिल्ले ने मार्क्स पर एक जीवनी लिखी थी।

भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी की एक कान्फ्रेंस 26 दिसम्बर 1925 से जनवरी 1926 के प्रारम्भ तक हुई। 1926 से 1929 के बीच में मजदूर संगठनों ने देश के विभिन्न हिस्सों में अपना विस्तार किया था। 31मई, 1927 को बम्बई में कम्युनिस्ट कांग्रेस आयोजित हुई और उसमें कम्युनिस्ट इन्टरनेशनल से सम्बन्ध होने का प्रस्ताव पास हुआ। प्रस्ताव में कहा गया कि भारतीय कम्युनिस्ट पार्टियाँ कम्युनिस्ट इन्टरनेशनल की ओर नेतृत्व और निर्देशन के उद्देश्य से देख रही हैं। 1927–28 में बहुत सी हड़ताल हुई। छह महीने तक वेतन में कटौती के प्रश्न को लेकर 1928 में 1,50,000 मजदूर हड़ताल पर रहे।

1933 में भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी ने अस्थायी कार्यक्रम में पार्टी के लिए नया राजनैतिक प्रस्ताव और संविधान बनाया। इसके बाद ही कामिनटर्न ने उसे मान्यता दी।

जनवरी 1936 में कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी ने एक प्रस्ताव पास किया जिसके अनुसार व्यक्तिगत प्राथमिकता के आधार पर कम्युनिस्टों को कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी में शामिल किया जा सकता था। कम्युनिस्ट उसमें शामिल हुए। अखिल भारतीय छात्र महासंघ की स्थापना हुई। दक्षिण भारत में समाजवादी सायंसभा का नेतृत्व श्री नम्बूद्रीपाद को दिया गया। 1942 में भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी पर लगी बंदिश उठा ली गयी थी। 1942 में ही पार्टी ने तत्कालीन भारत सरकार के जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की निंदा की और मांग की कि इस साम्राज्यवादी युद्ध को राष्ट्रीय मुक्ति के युद्ध में बदल दिया जाये। पार्टी के नेता गिरफ्तार कर लिये गये लेकिन जब जर्मनी ने रूस पर आक्रमण किया तब स्थिति बदलगयी। अन्तर्राष्ट्रीय कम्युनिस्ट संगठन ने चाहा कि भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी अंग्रेजों के युद्ध का समर्थन दे। भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी ने कांग्रेस के भारत छोड़ो आंदोलन को निरर्थक कहा था लेकिन यह घोषणा की थी कि कांग्रेस की गलतियों के मुख्य जिम्मेदार अंग्रेज हैं। लेकिन चूंकि रूस पर आक्रमण हो गया था अतः ब्रितानी सरकार का उसने समर्थन देने का फैसला किया और बहुत उत्साह के साथ मुस्लिम लीग के निकट तक पहुंच गयी ताकि युद्ध के प्रयत्नों में उनका समर्थन प्राप्त किया जा सके।

1945–46 में पहली बार एक वैधानिक राजनैतिक दल के रूप में इसने चुनाव लड़ा और उसे कुल डाले गये मतों का ढाई प्रतिशत मिला। 29 जून 1947 को नीति सम्बन्धी वक्तव्य में उसने कांग्रेस को मुख्य राष्ट्रीय लोकतान्त्रिक संगठन के रूप में स्वीकार किया और उससे मांग की कि वह तेजी के साथ साम्राज्यवाद विरोधी लोकतान्त्रिक कार्यक्रमों को अमल में लाये। स्वतन्त्रता के ठीक पहले इसने घोषणा की कि वह स्वतन्त्रता के राष्ट्रीय दिवस में प्रसन्नतापूर्वक शामिल होगी और पूर्ण स्वतन्त्रता के राष्ट्रीय आंदोलन में कंधे से कंधा मिला कर चलेगी।

बाद के दिनों में श्री रणदिवे पार्टी के महासचिव थे। उन्होंने तेलगाना में कहा कि निश्चित रूप से पार्टी को मजदूर वर्गों, बुद्धिजीवियों और प्रगतिशील तत्वों के सहयोग से जनता का एक लोकतान्त्रिक मोर्चा बनाना चाहिए। लेकिन पार्टी के लोगों ने उनकी निंदा की। इस दौर में पार्टी की सदस्य संख्या भी कम हो गयी। 1948 में 90 हजार और 1950 में केवल 20 हजार। आर्टिक में भी 7 लाख की जगह केवल 1 लाख लोग रह गये। जून 1951 में पार्टी के पोलितब्यूरो ने एक लम्बे वक्तव्य में कहा, पार्टी की परम्परा, विशेषकर जनसंघर्ष (पीपुल्स वार) के दौर से ही घड़ी के एक पेंडुलम की तरह रही है जो एक छोर से दूसरे छोर तक पहुंचाती रही। 1947 के अन्त में हम रिपवान विंकिल की तरह अचानक जाग और

वामपथी फिरका वदी (लपट सक्टेरियनिज्म) की ओर कूद पडे। जिसके कारण पार्टी और जन आन्दोलन दोनो ही आज की बुरी स्थिति या सम्पूर्ण विघटन की स्थिति म पहुच गया।"

1952 के पहले आम चुनाव म भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के घोषणा पत्र म नेहरू सरकार को जमीनदारो और एकाधिकारियो की सरकार बता कर उसकी तीखी आलोचना की गयी थी। 1952 म इस चुनाव म ससद म पार्टी के 23 उम्मीदवार विजयी हो कर आय। यह सख्या प्रतिपक्षी दलो म सबस अधिक थी।

27 दिसम्बर 1953 को मदुरइ म पार्टी की तीसरी काग्रस का अधिवेशन हुआ। उसम भारतीय स्थिति पर विचार विमश हुआ और पार्टी के महासचिव अजय घोष ने कहा, 'यदि अमरिकी साम्राज्यवाद न केवल शाति का बल्कि हमारी स्वतन्त्रता का भी मुख्य शत्रु बनता है तब पार्टी कोई दूसरा रास्ता अपनाने के बजाय प्रगतिशील दृष्टिकोण का परिचय देगी और इस आधार पर नेहरू सरकार का साथ देगी कि वह अमरिकी खतरे स सघष कर रही है। श्री घोष के अनुसार कायक्रम के कवल दो सम्भावित रास्ते थ यानी सरकार क साथ सहयोग करो लेकिन कुछ विशेष कायक्रमो की आलोचना करो या सरकार का विरोध करो और कुछ विशेष कायक्रमो का समथन दो और अन्तत पार्टी न सरकार का विरोध करना लेकिन कुछ विशेष कामो म समथन देने का फैसला किया। 1955 म आध्र म चुनाव हुए और काग्रस को भारी सफलता मिली। यानी उस 61 प्रतिशत सीटें मिली जबकि कम्युनिस्टो को केवल 8 प्रतिशत।

पार्टी की चौथी काग्रेस अप्रेल 1956 म (पालघाट करल) म हुई, लेकिन इस म जनआन्दोलन के प्रश्न पर जो प्रस्ताव पास किया गया वह 1955 क मुकाबले म नरम था। कहा गया कि काग्रेस बुजुआ लोगो की पार्टी है क्योकि उसम बहुत जमीदार है। लेकिन उसम काफी बडी सख्या लोकतान्त्रिक लोगो की भी ह। काग्रस की परम्परा साम्राज्य विरोधी और लोकतान्त्रिक रही है। काग्रस क भीतर और काग्रेस का अनुसरण करने वालो म क्रातिकारिता और लोकतत्र की भावनाओ का विकास हुआ है।

1957 के दूसर आम चुनाव म भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी ने दोहरी कोशिश की। एक तरफ उसन विभिन्न राज्यो म अपन राजनैतिक मित्रो की खोज की, खास तौर स उन राज्यो म जहाँ उस एक वकल्पिक सरकार बनान की उम्मीद थी। बगाल म उसने एक मिलेजुल कायक्रम के आधार पर प्रजा समाजवादी पार्टी क्रातिकारी समाजवादी पार्टी, फारवड ब्लाक और माक्सवादी तत्वो से चुनावी समझौता किया। आध्र म उसन पीपुल्स डेमोक्रेटिक फ्रट को पुनर्जीवित किया और प्रजा समाजवादी पार्टी से चुनावी समझौता किया। ससद म उस चुनाव म लाभ भी हुआ। उस 4 अतिरिक्त जगहे मिली। विधान सभाओ के चुनाव म उस उल्लेखनीय

सफलता मिली। केरल में वह अकेली सबसे बडी पार्टी के रूप में सामने आयी और तब भारतवर्ष में पहला कम्युनिस्ट मन्त्रिमण्डल और दुनिया के इतिहास में पहली बार जनतान्त्रिक चुनावों के आधार पर उसे सरकार बनाने का मौका मिला। श्री नम्बूद्रीपाद के नेतृत्व में मन्त्रिमण्डल बना। कम्युनिस्ट बंदियों को रिहा कर दिया गया। 15 जून को इस सरकार ने नौकरियों में कम्युनिस्टों को भरती करने की घोषणा की। इसके लिए नायर सेवा समिति ने काफी संघर्ष किया था जिसके कारण राज्य के विभिन्न हिस्सों में अशान्ति पैदा हुई और कानून और व्यवस्था के बिगड़ने के साथ-साथ 31 जुलाई 1959 को केरल में राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया गया।

7 और 16 अप्रैल (1961) के बीच विजयवाड़ा में पार्टी की छठी कांग्रेस की बैठक हुई जिसमें पार्टी के भीतर के मतभेदों को समाप्त करने की कोशिश की गई। इसके ठीक पहले चीन के भारत सम्बन्धी दृष्टिकोण में परिवर्तन की झलक मिल गयी थी। उसने मैकमोहन लाइन की यथार्थता को अस्वीकृत कर दिया था। इस बैठक में भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के एक वर्ग ने चीनी कथन के औचित्य को सिद्ध करना चाहा। सैद्धान्तिक संघर्ष के कारण पार्टी के भीतर एक संकट पैदा हुआ। उसी में कुछ लोगों ने यह भी कहा कि रूस की नयी नीतियां और नतीजे संशोधनवादी हैं। ऐसा अलबानिया और चीन की कम्युनिस्ट पार्टियों ने भी कहा था। 28 अगस्त 1959 को नेहरू जी ने संसद में चीनियों द्वारा भारतीय सीमा के अतिक्रमण की सूचना दी। पार्टी के सचिवालय ने दो दिन बाद चीनियों द्वारा कुछ भारतीय जवानों की हत्या के बचाव में वक्तव्य दिया। कलकत्ता में पार्टी की एक बैठक हुई जिसमें मैकमोहन लाइन को चीन के विरुद्ध एक धोखा कहा गया।

24 अगस्त 1965 को पार्टी ने भारत पर पाकिस्तानी हमले के संदर्भ में चीन द्वारा पाकिस्तान को दिये गये समर्थन की निंदा की और कहा कि इस की वजह से भारत और पाकिस्तान के बीच पारस्परिक शांतिपूर्ण समझौते में बाधा उत्पन्न होती है।

मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी बन चुकी थी। जून 1966 में उसने तनाली में बैठक कर सभी लोकतान्त्रिक दलों के साथ चुनावी समझौते कर के चुनाव लड़ने का फैसला किया। भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी ने 15 दिसम्बर 1966 को जारी किये गये अपने चुनाव घोषणा-पत्र में मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी से अपने मतभेदों का स्पष्टीकरण किया। उसने कहा कि नीति और सिद्धान्तों से अलग कांग्रेस विरोधी चुनावी मोर्चा बनाने का उद्देश्य केवल सीटें पाना है। यह लोकतन्त्र और प्रगति की दृष्टि से आशाजनक नहीं है। चुनाव हुए और विधान सभा की 3 हजार 487 सीटों में से भाकपा को 122 और मार्क्सवादियों को 127 सीटें मिलीं। संसद में मार्क्सवादियों को 19 और भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी को 23 सीटें मिलीं।

1967 के चुनाव म विभिन्न राज्यो की सयुक्त मोर्चों की सरकारो म भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी और मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी दोनो साझेदार रही । 1969 म कांग्रेस म विभाजन हुआ और उसी के साथ भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी की व्यूहरचना म परिवतन भी । उसने पश्चिम बंगाल और केरल म मार्क्सवादियो के वचस्व का विरोध किया । विवाद के तीव्र हो जाने के कारण दोनो राज्यो की सरकारो ने इस्तीफा दिया और भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी कांग्रेस के अधिक नजदीक आयी । केरल म भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व म कांग्रेस तथा कुछ अन्य दलो के सहयोग से श्री अच्युत मेनन की सरकार बनी । लेकिन साझेदार दलो मे विवाद पदा होने के कारण सरकार को इस्तीफा देना पडा । 17 सितम्बर 1970 को नये चुनाव हुए । इसके पहले के चुनाव म मार्क्सवादियो को 49 जगहे मिली थी । इस बार उसकी सख्या कम हो गयी । बाद म भाकपा के श्री अच्युत मेनन के नेतृत्व म कांग्रेस और कुछ अन्य दलो के सहयोग स सरकार बनी जिसने मोर्चे की सरकारो के इतिहास म इस आधार पर एक मिसाल कायम की कि उसे पूरे समय तक सत्तारूढ रहने का मौका मिला ।

मार्च 1971 म लोक सभा क चुनाव हुए जिसम कांग्रेस को ऐतिहासिक सफलता मिली । भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी और मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी दोनो ने अलग अलग 87 सीटो पर चुनाव लडा । भाकपा को 23 सीटें यानी 4 97 मत मिल । 1972 क विधान सभा के चुनावो म भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी ने कई राज्यो म कांग्रेस के सहयोग से चुनाव लडा । उसे प्रति 3 सीट पर एक सीट मिली । 1967 के चुनावो की तुलना म 1972 म उसकी लोकप्रियता आन्ध्र, असम और महाराष्ट्र म कुछ कम हुई लेकिन बिहार, पजाब, राजस्थान और पश्चिम बगाल म सीटो की सख्या की दृष्टि से बढी । 1974 मे भाकपा ने कांग्रेस क साथ चुनावी समझौता कर के उत्तर प्रदेश, उडीसा और मणिपुर म विधान सभाओ का चुनाव लडा । चुनाव के बाद वह उत्तर प्रदेश और उडीसा की विधान सभाओ म कांग्रेस को समथन देती रही । उत्तर प्रदेश म उसे 16 जगहे मिली थी । उडीसा म उसे 7 सीटें मिली । इन चुनावो म कई जगह कांग्रेस और भाकपा म प्रतिस्पर्द्धा थी । कुछ सीटो पर इनम मैत्रीपूर्ण सघष हुए थ ।

भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के अध्यक्ष श्री अमृतपाद डांगे के अनुसार पार्टी क भारत म अस्तित्व म आने की प्रेरणा का सीधा श्रेय कम्युनिस्ट इण्टरनेशनल को है । भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना सबसे पहले 1921 मे ताशकन्द म प्रवास म रह रहे कुछ क्रान्तिकारियो के एक गुट ने किया था । क्योकि उस वक्त मानवेन्द्रनाथ राय जसी कुछ हस्तियां कोमिन्टन म थी । अत इन्टरनेशनल द्वारा भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी को तत्काल मान्यता दे दी गयी । उसके बाद पार्टी बम्बई, मद्रास, कलकत्ता, लाहौर और सयुक्त राज्य (उत्तर प्रदेश) के कम्युनिस्ट

से सम्पर्क स्थापित किया। एक प्रतिनिधि ने प्रस्ताव किया कि भारतीय चरित्र की एक राष्ट्रीय पार्टी बननी चाहिए और उसका नाम भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी होगा। लेकिन नेताओं का कहना था कि कम्युनिस्ट इण्टरनेशनल की परम्परा के अनुसार पार्टी का नाम भारत की कम्युनिस्ट पार्टी (कम्युनिस्ट पार्टी ऑफ इण्डिया) होना चाहिए।

ध्यान देने की बात है कि मानवेन्द्रनाथ राय ने प्रथम विश्व-युद्ध के दौरान पार्टी के लिए जर्मनी से हथियार प्राप्त करने का प्रयत्न किया था और भारतीय स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष भी किया था। उन्होंने मस्क्वा में लेनिन से बातचीत की थी लेकिन मतभेद इस बात पर हो गया कि उपनिवेशों के सम्बन्ध में कम्युनिस्ट नीति क्या होनी चाहिए। श्री राय का कहना था कि एशिया के लोग एशिया की स्थिति को यूरोप वासियों के मुकाबले बेहतर ढंग से समझ सकते हैं। उसके बाद हो वह ताशकन्द चले गये थे। उन्होंने भारत को स्वतन्त्र कराने के लिए शस्त्र इकट्ठे किये लालसेना की पहली अन्तर्राष्ट्रीय ब्रिगेड स्थापित की और अपने अनुयायियों को साम्यवाद का प्रशिक्षण दिया। लालसेना में शौकत उस्मानी नाम के एक नेता थे जिन्होंने भारत में साम्यवाद के विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी।

1971 के चुनाव में प्रतिपक्षी दलों ने चुनावी व्यूह रचना में परिवर्तन कर लिया था। संगठन कांग्रेस जनसंघ और स्वतन्त्र दल एक मंच पर आ गये थे। भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी ने अपने घोषणा पत्र में बहुत तीखे ढंग से दक्षिणपंथी—प्रतिक्रियावादियों के सत्ता में आने के बाद के खतरों की ओर इशारा किया। दूसरी तरफ मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी की नीतियों की आलोचना की। उसने कहा, जनता को यह फैसला करना है कि क्या वह दमन शोषण और राष्ट्रीय विघटन की काली शक्तियों को (मत देकर) अपना घात करने की अनुमति देगी या उन्हें अस्वीकृत करेगी। भाकपा को उम्मीद है कि चुनाव के परिणाम प्रतिक्रियावाद के विरुद्ध होंगे। दक्षिणपंथी—प्रतिक्रियावादी गठजोड़ का अनिवार्यतः अर्थ है वामपंथी और लोकतन्त्री शक्तियों पर आक्रमण और मजदूर तथा किसान आन्दोलन का दमन। संगठन कांग्रेस जनसंघ और स्वतन्त्र के त्रिगुट का निशाना साम्राज्यवाद विरोधी, शक्तियाँ गुटनिरपेक्षता और शान्ति की नीति है। अफसरशाही का चरित्र जनता और लोक विरोधी रहा है। तथा दक्षिणपंथी शक्तियाँ वामपंथी आन्दोलन में पड़ी फूट का पूरा फायदा उठाने की कोशिश करेंगी। संयुक्त समाजवादी (जो प्रगति और लोकतन्त्र के मूल्यों में विश्वास करती है) के एक सशक्त गुट का दक्षिणपंथी खेमे में जाना भी चिन्ताजनक है।

मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी के बारे में उसका कहना था कि उसने दक्षिणपंथियों से संघर्ष करने वाली कांग्रेस (सत्ता) और दूसरे दलों को दक्षिणपंथियों के समानान्तर खड़ा कर दिया है। दो प्रतिक्रियावादी गुटों से अपने को समान दूरी पर

रखने का दावा करने वाली मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी न केवल दक्षिणपंथी, खेमे पर, बल्कि भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी, प्रमुख प्रसोपा और अन्य वामपंथी व लोकतन्त्री दलों पर आक्रमण की तैयारी कर रही है। वास्तव में वह संगठन कांग्रेस-जनसंघ स्वतन्त्र खेमे की हिनसिद्धी का खेल खेल रही है। मार्क्सवादियों और संसपा के लोगों को यह महसूस करना चाहिये कि उनकी इस नीति से मजदूर वर्ग की कितनी क्षति होगी।

घोषणा पत्र में भाकपा ने मतदान की उम्र 21 से 18 साल करने, राज्य पालों का पद समाप्त करने, संविधान में संशोधन, भूमि की सामावन्दी प्रतिरिक्त भूमि का मजदूरों व खेतिहरों में वितरण, एकाधिकारी व्यापारिक संस्थानों के राष्ट्रीय करण, लोकतान्त्रिक अधिकारों की सुरक्षा, उपनिवेशवाद साम्राज्यवाद विरोध की नींव पर खड़ी शान्ति और गुट निरपेक्षता की विदेश नीति को दृढ़तर करने तथा रूस और अन्य समाजवादी देशों से मैत्री और सहयोग कायम रखने की बात कही गयी।

दूसरी तरफ मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी ने अपने चुनाव घोषणा-पत्र में कहा था कि इस चुनाव में मुख्य रूप से दो खेमे एक दूसरे के विरुद्ध खड़े हैं जिनमें से किसी एक के लिये जनता से मत मांगा जा रहा है। एक खेमा है संगठन कांग्रेस जनसंघ आदि का जो प्रतिक्रियावादियों का है और जो घोषित रूप से निहितस्वार्थ वालों और प्रतिक्रियावादियों के हित का रक्षक है। वह पूंजीपतियों बड़े जमींदारों और एकाधिकारियों के अस्त्र के रूप में काम कर रहा है। इसका चरित्र लोकतन्त्र विरोधी है।

दूसरा खेमा सत्ता कांग्रेस और उसमें चुनावी समझौते में बँधे दलों का है जो संगठन कांग्रेस-जनसंघ के प्रतिक्रियावादी गठजोड़ से संघर्ष की बात तो करता है, लेकिन हितसिद्ध एकाधिकारियों और बड़े जमींदारों की होती है। उसने जनसंघ जैसे साम्प्रदायिक दलों से हाथ मिलाने से इनकार किया है व स्वतन्त्र और संगठन कांग्रेस पर आक्रमण किया है लेकिन उसकी नीतियों का नियन्त्रण बुर्जुवा हितों की रक्षा का ध्यान में रखकर किया जाता है। इसी प्रकार संसपा ने इंदिरा विरोध के नाम पर जनविरोधियों से हाथ मिलाया है। भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी ने प्रसोपा आदि दलों की तरह इंदिरा कांग्रेस से संगठन कांग्रेस जनसंघ स्वतन्त्र खेमे से संघर्ष करने के नाम पर हाथ मिला लिया है। भाकपा के लोग अपने को कम्युनिस्ट कहते हुए अपने अनुयायियों को धोखा दे रहे हैं। अतः संघ में आकर व लोकतान्त्रिक एकता की शक्तियों को छिन्न भिन्न कर रहे हैं। जनता के साथ छल कर रहे हैं। ये दोनों खेमे जनता के शत्रु हैं क्योंकि दोनों ही प्रतिक्रियावादी हैं और ये पूंजीपतियों और बड़े जमींदारों के शासन के तन्त्र के रूप में काम कर रहे हैं।'

भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी भी) दक्षिणपथी खतरों की गम्भीरता के प्रति बहुत सचेत दीखती है। 5 फरवरी, 1976 को विजयवाडा में पार्टी की 10वीं कांग्रेस में पास किये गये प्रस्ताव में भी इसकी ओर संकेत किया गया था। इस बैठक से यह भी अन्दाजा लगा कि एक तरफ पार्टी कांग्रेस के साथ सहयोग करने को तैयार है दूसरी ओर उसकी पूरी कोशिश यह होगी कि वह एकाधिकारी कांग्रेसी शासन का विकल्प ढूंढे। लेकिन इसी के साथ साथ वह अपनी पूरी शक्ति से उन प्रतिक्रियावादी तत्वों से संघर्ष करेगी जो सत्ताधारी कांग्रेस से शक्ति छीनने का प्रयत्न करते हैं। 7 दिनों के अधिवेशन में उसके नेताओं ने यह स्पष्ट कर दिया कि जिस वैकल्पिक सरकार का नक्शा उनके दिमाग में है उसमें न केवल वामपंथी होंगे बल्कि कांग्रेस के वामपंथी (सेंटरिस्टस) भी होंगे। उन्होंने दल के सदस्यों से यह आग्रह भी किया कि वे विभिन्न स्तर पर कांग्रेस के भीतर के वामपंथी तथा मध्यपंथी लोगों से सम्पर्क बनायें।

इस अधिवेशन के दौर में पार्टी के भूतपूर्व महासचिव पी० सी० जोशी ने कहा, पार्टी को कांग्रेस के प्रति एक गहरी आत्मीयता का भाव रखना चाहिये लेकिन कांग्रेस की दक्षिणपंथी नीतियों और नेतृत्व के प्रति पार्टी का उचित आलोचनात्मक रवैया भी होना चाहिये। 10वीं कांग्रेस से यह भी आभास हुआ कि पार्टी की नीति कांग्रेस में विभाजन पैदा कर देने की है। कम से कम उस तरह का विभाजन जिससे कांग्रेस के भीतर के दक्षिणपंथी तत्व अलग हो जायें। यह बात अलग है कि पार्टी के नेताओं ने यह स्पष्ट नहीं किया कि कांग्रेस के भीतर के वे दक्षिणपंथी तत्व कौन हैं। अधिवेशन में इस नतीजे पर पहुंचा गया कि राज्यों में वामपंथी लोकतान्त्रिक तत्वों को एक करके सरकार बनाने के प्रयत्न किये जायेंगे। उसके लिये समय अनुकूल है। दूसरी तरफ पार्टी का एक वर्ग पुनः मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी के निकट पहुंचना चाहता है हालांकि यहां भी अन्तर्विरोध और कठिनाइयाँ कम नहीं हैं।

यों 18 जनवरी, 1977 को की गई लोकसभा चुनाव की घोषणा के कारण तात्कालिक ढंग से जो परिस्थितियाँ पैदा हो गई उनमें दोनों ही कम्युनिस्ट पार्टियों को पिछली घोषणाओं को अन्तिम न मानकर अपनी राजनीतिक व्यूह रचना का पुनर्विचार के आधार पर स्वरूप देने की आवश्यकता महसूस की गई, जिसमें पूर्ण सहयोग, पूर्ण संघर्ष और यानी विरोध के मिले जुले प्रयत्न सामने आ सकना सम्भावित हुआ।

(C) दक्षिण पथी दल
(The Rightist Parties)

1 स्वतन्त्र पार्टी (The Swatantra Party)—स्वतन्त्र पार्टी की स्थापना सन् 1959 म, 'भारत को वामपथ की ओर जाने से बचाने तथा राज्यवाद की विचारधारा के विरुद्ध खेत एव परिवार की रक्षा के लिए की गई थी। इसके सस्थापको मे चक्रवर्ती राजगोपालाचारी (जो कि दल के दिशा निर्देशक तथा भूतपूर्व आई०सी०एस० थे) और श्री वी०पी० मेनन (जो राज्यो की एकीकरण प्रक्रिया म पटेल के सहायक रहे थे), जैसे अनुदारवादी और श्री एन० जी० रगा जसे उदारवादी (जो कि 1930 के दशक म काग्रेस कृषक आदोलन के नेता थे) तथा श्री एम० आर० मसानी (जिन्होने अपने प्रारम्भिक समाजवादी झुकाव से हट कर स्वतन्त्र उद्यमो के पक्ष म अपना मत व्यक्त किया था) आदि व्यक्ति थे। दल का घोषित मिशन देश म धर्म की पुनर्स्थापना करना' भी था।[1]

चूँकि इस दल को व्यापारिक समुदाय और ग्रामीण क्षेत्रोके परम्परागत गढो से समर्थन प्राप्त होता रहा अत यह प्रतिक्रियावादी दल के रूप म आरोपित रहा यद्यपि इसके सस्थापक उग्र हिन्दू राष्ट्रीयता के उद्घोषक नही थे। वामपथियो द्वारा नागरिको की स्वतन्त्रता को इस दल से होने वाले खतरे की ओर बार बार ध्यान दिलाने के प्रयासो एव दल के उदारवाद ने इसे प्रतिक्रियावादी एव दक्षिणपथी दल की तस्वीर के रूप मे प्रस्तुत किया।[2] राजस्थान बिहार उडीसा एव मध्यप्रदेश मे दल राजाओ तथा जमीदारो पर निर्भर रहा। केवल गुजरात म पार्टी का विस्तृत सामाजिक आधार था।

हावर्ड एल० ई०मेन ने स्वतन्त्र पार्टी को स्थानीय असतुष्ट समूहो की एक होल्डिंग कम्पनी' के रूप मे वर्णित किया है जो कि काग्रेस के विरुद्ध प्रभावशाली विरोध पक्ष जुटाने के प्रयास म एक जगह आये।[3] बिहार के अपने गढ के ढह जाने के बाद भी स्वतन्त्र पार्टी ने 1967 के चुनावो मे लोकसभा मे 44 सीटे प्राप्त कर साम्यवादियो की जगह द्वितीय स्थान प्राप्त किया। उडीसा से दल सबसे अधिक दृढ दल के रूप मे उभरा तथा असतुष्ट जन-काग्रेस के साथ सयुक्त सरकार मे शामिल हुआ। चुनावो म स्वतन्त्र पार्टी विरोध पक्ष के साथ विभिन्न प्रकार के समझौतो

---

1 P D Devanandan and M M Thomas, (eds) 'Problems of Indian Democracy', Banglore, The Cristian Institute for the study of Religion and Society, 1962 p 133

2 Howard L Endman 'The Swatantra Party and Indian Conservation' Cambridge University Press, 1967 p 25

3 Ibid p 288

मे शामिल हुई, जैसे तमिलनाडु म डी० एम० के० के साथ। इस प्रकार कांग्रेस को हराने के लिये श्री राजगोपालाचारी किसी के भी साथ समझौता करने को तैयार थे।[1]

इस दल की तस्वीर एक ऐसे दल के रूप मे रही है जो अपने गृह मामलो म प्रतिबन्ध से मुक्त व्यवसाय तथा सार्वजनिक क्षेत्र के पूर्ण निषेध की योजना बनाता है तथा विदेश नीति म पश्चिम के साथ घनिष्ठ गठबन्धन की बात करता है। 1971 के चुनाव घोषणा पत्र म तो भी एक भिन्न तस्वीर प्रस्तुत की। घोषणा-पत्र पूर्णत कांग्रेस (संगठन) के जून 1970 के पारित प्रस्ताव पर आधारित था। क्या इसका तात्पर्य यह है कि स्वतन्त्र पार्टी दक्षिणपंथी से मध्यम मार्ग की ओर मुड रही है? दलीय अध्यक्ष श्री मसानी ने इस महत्वपूर्ण प्रश्न का उत्तर दिया कि 'कांग्रेस के प्रस्ताव की स्वीकृति का मतलब स्वतन्त्र दल के दर्शन का 'डिलूशन' नहा है, तो भी उन्होने स्वीकार किया कि इसने दल की पैनी विचारधारा को मुलायम किया है।'

इसने अपने घोषणा पत्र को मुख्यत कम की पुकार' के रूप मे लिया। इसमे यह निहित था कि बिना आवश्यक रूप से अपने कायक्रम को त्यागे दल अपने कायक्रम की कुछ मूल विशेषताओ को छोडने हेतु तैयार है कि ताकि अन्य समान विचार वाले दलो के साथ समझौता किया जा सके जिससे चुनावो म सत्तारूढ कांग्रेस को सामूहिक रूप स पराजित किया जा सके।

स्वतन्त्र पार्टी ने, जिसने 1967 के चुनावो म 44 सीटें जीती थी तथा चतुथ लोकसभा के भग होन के समय इसकी शक्ति 35 थी और जिसने 1 करोड 27 लाख मत (8 71 प्रतिशत) प्राप्त किये थे अब 1971 के चुनाव मे इसने केवल 44 लाख मत (3 1 प्रतिशत) प्राप्त किये। भग सदन मे इसे 8 राज्यो स प्रतिनिधित्व प्राप्त था। इस चुनाव मे इसन इसमे से 5 राज्यो मे एक भी सीट प्राप्त नही की जिसमे तमिलनाडु भी शामिल हैं जहा स चतुथ लोकसभा मे 8 स्वतन्त्र दल सदस्य थे। इसने अपनी 8 सीटें गुजरात उडीसा तथा राजस्थान से प्राप्त की।

स्वतन्त्र पार्टी ने अपने को बाद मे भारतीय लोकदल म विलीन कर लिया जो अब स्वय को जनता पार्टी मे विलय कर चुका है।

2 भारतीय जनसघ (The Bhartiya Jan Sangh) —भारतीय जनसघ की स्थापना 1951 म डॉ० श्यामा प्रसाद मुखर्जी द्वारा हुई थी जिन्होने गाधी जी की हत्या के पश्चात्, हिन्दू महासभा को छोडा तथा कुछ समय के लिये जो केन्द्रीय

1 Link, July 9 1961, Quoted in Robert L Hardgrave Jr The Dravidian Movement, Bombay Popular Prakashan /— 1965, 72

सरकार के मन्त्रीमण्डल मे पदासीन थे। डा० मुखर्जी ने बल दिया कि जनसघ साम्प्रदायिक दल नही है तथा यह दल के समस्त सदस्यो की स्थिति रही है। इसने अपना समथन शरणार्थियो से, भूतपूर्व देशी राज्यो से तथा पाकिस्तान के प्रति कठोर नीति के समथको तथा अनुदारवादी हितो वाले विभिन्न समूहो से समथन प्राप्त किया[1] तथा रा० स्वय सेवक सघ से भी सम्बद्ध थी। डा० मुखर्जी ने भारतीय ससद म जनसघ को केन्द्रित कर अनुदारवादी दलो का एक मोर्चा बनाने का प्रयास किया था। जब तक व जीवित रहे, भारतीय राजनीति पर उन्होंने काफी प्रभाव डाला। वे एक योग्य सासद तथा आधुनिक भारत के एक प्रमुखवक्ता रहे हैं। 1953 म उनकी श्रीनगर मे मृत्यु क पश्चात् गर-काग्रेसी दक्षिणपथी मोर्चे की सम्भावनायें क्षीण हो गई तथा जनसघ करीब-करीब नतृत्वहीन हो गया।

भारतीय राजनीतिक जीवन म जनसघ तथा रा स्वय सेवक सघ के आपसी सम्बन्धो को लेकर काफी प्रश्न खडे होते रह है। मई 1960 म एक साक्षात्कार म श्री दीनदयाल उपाध्याय, जो जनसघ के प्रतिष्ठित नेता थे, ने घोषणा की कि 'इन दोनो के बीच सवधानिक किसी प्रकार का सम्बन्ध नही है। मात्र एक सम्बन्ध है कि दल के अनेक सदस्य राष्ट्रीय स्वय सेवक सघ के स्वय सेवक भी हैं। स्वय सेवक सघ एक सास्कृतिक सगठन है जिसका राजनीति से कोई लेना देना नहीं है।"[2] तो भी इसमे तनिक सन्देह हो सकता है कि सम्बन्ध घनिष्ठ तो हैं अगर सर्वथा निक नही भी। उपाध्याय और जनसघ के अन्य वरिष्ठ नेता तथा इसके खास समयक भी राष्ट्रीय स्वय सेवक सघ के सदस्य रह हैं। सम्भवत यह तथ्य है कि जनसघ भारत म अत्याधिक अनुशासित तथा सगठित राजनैतिक दल रहा।

वचारिक स्तर पर जनसघ स्वतन्त्र दल से सामाजिक रूप से अधिक अनुदारवादी तथा आर्थिक रूप से अधिक प्रगतिशील था। जनसघ का एक विशेष दावा रहा कि यही एक मात्र एसा दल है जिसकी जडें भारतीय सस्कृति एव चिन्तन मे है, अन्य समस्त दल विदेशो से अपनी प्रेरणा प्राप्त करत है।' यह भारत मे बहुमत या अल्पमत की धारणाओ को मान्यता नही देता था। इसका एक राष्ट्रीयता मे विश्वास था एक सस्कृति का पक्षपाती था। यह साम्प्रदायिक तथा जातीय बातो की उपेक्षा करने का दावा करता था, किन्तु इसके अनेक नेतागण उच्च जातीय हिन्दू थे, इसन गैर हिन्दुओ से बहुत कम समर्थन प्राप्त किया और सस्कृति जिसकी कि प्राचीन तथा आधुनिक व्यवस्थाओ के सम्मिश्रण की हिन्दी तथा आदर्शक

1 Lambert 'Hindu Communal Groups in Indian Politics' p 222

2 Interview quoted in Jhangiani Jan Sangh and Swatantra p 189,

भाषाओं या अंग्रेजी के स्थान पर सरकारी भाषाओं के रूप में 'तुरन्त मान्यता', तथा 'भारतीय संस्कृति' की आरक्षण परम्पराओं एवं सामाजिक मूल्यों, लघु उद्योगों की स्थापना, कृषि पर अधिक बल एवं सरकार के संघात्मक स्वरूप की अपेक्षा एकात्मक स्वरूप का पक्षपाती रहा है। चूँकि इसका विश्वास 'अखण्ड भारत' (अविभाजित भारत) में था अतः यह पाकिस्तान तथा कश्मीर सवाल पर अधिक कठोर नीति अपनाता था। यह भारतीय सरकार के साम्यवादी चीन के प्रति 'ढिली' नीति का आलोचक रहा है। वह दृढ सुरक्षा व्यवस्था की पैरवी करता था तथा भारत को 'परमाणु शक्ति' बनाना चाहता था। यह उन अन्तर्राष्ट्रीय कार्यों में 'मौन' रहने (पॉलिसी ऑफ नान इनवोल्वमेण्ट) का पक्षपाती रहा, जो सीधे भारत को प्रभावित नहीं करते हैं। इसी प्रकार यह विदेशी सहायता और विदेशी नियोजन को प्रोत्साहन देता था और भारत द्वारा पश्चिमी गैर साम्यवादी देशों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध बनाना चाहता था।[1]

प्रथम आम चुनावों (1951 52) में जनसंघ ने तब एक नवीन दल के रूप में समस्त मतों के 3 प्रतिशत से कुछ अधिक मत प्राप्त किये तथा लोकसभा की 3 सीटें जीतीं तथा एक राष्ट्रीय दल के रूप में, चुनाव उद्देश्यों के लिये मान्यता प्राप्त की, जो कि 1976 तक यह बराबर बनाये हुये रहा। 1967 के चुनावों में इसने 35 सीटें प्राप्त कीं। इस प्रकार लोकसभा में द्वितीय सबसे बड़ी पार्टी के रूप में उभर आई। राज्य विधानसभाओं में इसकी संख्या84से बढकर 267 हो गई। इसकी शक्ति करीब करीब हिन्दू केन्द्र में है। सिवाय नागालण्ड की सीट के अतिरिक्त इसने उत्तरी भारत के हिन्दी भाषी राज्यों के सिवाय अन्य किसी राज्य से कभी समर्थन नहीं प्राप्त किया। 1967 में, प्रथम बार कुछ गैर हिन्दी भाषी राज्यों में इसने प्रवेश किया, किन्तु फिर भी इसकी मुख्य शक्ति मध्यप्रदेश तथा उत्तरप्रदेश में ही केन्द्रित रही जहां से 1967 में इसने 35 लोकसभाई सीटों में 22 तथा 267 विधानसभाई सीटों में 175 सीटें प्राप्त कीं। 1969 के उत्तरप्रदेश के उप चुनावों में इसका प्रतिनिधित्व राज्य विधानसभा में 97 से 48 सीटें रह गयी। इसके कुछ योग्यतम नेता प्रमुखतः डा० श्यामा प्रसाद मुखर्जी 1953 में तथा दीनदयाल उपाध्याय (जो 1968 में महासचिव एवं अध्यक्ष दोनों पदों पर आसीन थे), जीवित नहीं रहे। उपाध्याय के अध्यक्ष पद के उत्तराधिकारी के रूप में श्री अटल बिहारी वाजपयी तथा पश्चात् श्री लालकृष्ण आडवानी भी काफी योग्य नेता रहे।

जनसंघ का गैर हिन्दुओं पर तथा यहां तक कि उत्तरी भारत के हिन्दी भाषी राज्यों से बाहर हिन्दुओं पर भी बहुत कम प्रभाव रहा। यद्यपि इसने

1 Jhangiani Ibid, See also Baxter 'Jan Sangh and Mohammed Ali Kishore 'Jan Sangh and India's Foreign Policy' New Delhi, 1969

अपने प्रारम्भिक 'भारतीयता' पर बल देने की नीति मे कुछ संशोधन किये[1] ताकि अधिक व्यापक समर्थन प्राप्त किया जा सके, किन्तु इन प्रयत्नो म यह अधिक सफल नही हो सका जैसाकि वर्गीज ने 1962 मे लिखा था कि 'जब तक जनसघ अपनी नवीन तस्वीर प्रस्तुत नही कर पाता है, यह हिन्दू प्रादेशिक दल रहेगा, इससे अधिक और नही।[2] ऐसा लगता था तो भी हिन्दू केन्द्र मे गहरे रूप से जुडे हुये, और चूंकि क्षेत्रीयवाद भारतीय राजनीति म एक प्रभावशाली तत्व के रूप मे बनता रहा है तथा चूंकि सम्प्रदायवाद अपना प्रभाव खोता हुआ दिखाई नही देता, जनसघ अपनी प्रारम्भिक तथा नवीन प्रवृत्तियो दोनो से लाभ प्राप्त कर सकता है।

हिन्दू साम्प्रदायिक दलो मे किसी भी दल ने राष्ट्रीय दृश्य पर अथवा कुछ अपवादो को छोड कर, राज्य स्तर पर भी कोई विशेष ससदीय प्रभाव नही डाला है। 'हिन्दू साम्प्रदायिक सगठनो की शक्ति तो भी, निर्वाचित विधानसभाओ के बाहर विद्यमान रही। भारतीय एकता के लिये साम्प्रदायिक सगठन बडे खतर रह है, क्योकि ये सतह के नीचे मुख्यत काय करत हैं तथा इनकी जडे पारस्परिक भारतीय समाज म जमी हुई है।

1971 के लोकसभाई चुनाव के जनसघ के घोषणा पत्र की प्रमुख विशेषता इसकी व्यावहारिकता व विवेक सगतता है जिसका एक उदाहरण सविधान म परिवतन के मामले पर दल का लिया गया आधार था। उसने अपना मत अभिव्यक्त किया कि सविधान मूलत ठीक है तथा सविधान निर्माता इस लचीलपन' क साथ बनाना चाहते थे। घोषणा पत्र मे सविधान की कायप्रणाली के अनुभवो के प्रकाश मे अव-लोकन करते हुये एक सविधान आयोग नियुक्त करने की बात कही गई। यह दल की जागरूकता प्रदर्शित करता है।

जनसघ की प्रगतिशील व्यावहारिकता इसक घोषणा पत्र मे और आगे भी देखने को मिलती है। अब इसने प्रत्येक परिवार को कम से कम 125/- रुपये प्रतिमाह के हिसाब से आय देने की प्रतिज्ञा नही की अपितु कहा गया कि यह पूर्ण रोजगार देने की योजना बनायेगा। तो भी इसने प्रत्येक परिवार के लिये एक मकान का नारा जारी रखा। कठिन स्थितियो को देखते हुये इस प्रकार के वचन को मुश्किल से ही गम्भीरता के साथ लिया जा सकता है। जनसघ ने अपनी भाषा नीति को काफी परिवर्तित कर दिया। सस्कृत का अब राष्ट्रीय भाषा के रूप मे घोषित करने की बात नही की गई तथा 'अंग्रेजी को तुरन्त हटाने' के बजाय प्रक्रिया

---

1 Jhangiani - Ibid p 91

2 B G Verghese Two Cheers for Democracy', The Times of India, April 4, 1962

का मुख्य प्रतिरक्षा मजबूत करने की बात कही गई। इसने उर्दू की उन्नति के लिए भी ध्यान देने का वचन दिया, किन्तु इसे उत्तरप्रदेश, बिहार, मध्यप्रदेश तथा अन्य राज्यों में द्वितीय सरकारी भाषा बनाने में अपनी अनिच्छा प्रकट की। इस दल ने न केवल विदेशी सहायता को हटाने की बात की, अपितु विदेशी बैंकों का राष्ट्रीयकरण करने की भी इच्छा व्यक्त की।

जनसंघ ने 1971 में एक करोड़ 8 लाख मत (7.5 प्रतिशत) प्राप्त किए जबकि 1967 में एक करोड़ 37 लाख मत (9.4 प्रतिशत) प्राप्त किये। इसने अपने अनुयायियों की महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति की—प्रथम नवीन लोकसभा में एक प्रमुख तथा मान्यता प्राप्त विरोधी दल बनना तथा द्वितीय जिन राज्यों में सम्भव हो सके, प्रत्येक में एक या दो सीटें प्राप्त करना ताकि एक अखिल भारतीय स्तर प्राप्त किया जा सके। तो भी इसे 18 सीटें प्राप्त हुईं, जिनमें से 11 सीटें इसके पुराने गढ़ मध्यप्रदेश में प्राप्त हुईं, उत्तरप्रदेश व राजस्थान में इसने 4 सीटें तथा बिहार से दो एवं हरियाणा से एक सीट प्राप्त कर सका। यह तथ्य कि इसने कांग्रेस (सत्तारूढ़) की अपेक्षा अधिक सीटें प्राप्त कीं, किन्तु उन लोगों के लिए वज्रपात हुआ जो यह आशा करते थे कि जनसंघ मध्यावधि चुनावों के पश्चात् एक मजबूत शक्ति के रूप में उभर कर आयेगी। इससे ऐसा लगता है कि सामान्य मतदाता जनसंघ द्वारा प्रतिपादित 'धर्म निरपेक्षता ब्राण्ड' के बारे में संदेहास्पद रहा। मार्च 1977 के लोकसभा चुनावों के पूर्व बनी नयी जनता पार्टी में जनसंघ ने भी अपने को इसमें विलीन कर लिया।

(D) प्रादेशिक एवं स्थानीय दल
(Regional and Local Parties)

भारतीय अछूतों का एक महत्वपूर्ण दल भारतीय रिपब्लिकन दल है जो कि पहले अनुसूचित जातीय संघ था। यह दल कितने ही वर्षों से अस्तित्व में था। इसके नेता 1957 में अपने देहावसान तक डा० बी० आर० अम्बेडकर थे। इसकी प्रमुख शक्ति महाराष्ट्र के महार अछूतों में रही है। इसका लोकसभा और राज्य सभा दोनों में मामूली प्रतिनिधित्व था, किन्तु यह वास्तव में कभी भी राष्ट्रीय दल नहीं रहा है। 1967 में इसने आन्ध्रप्रदेश विधानसभा में 2 सीटें, बिहार में 1, हरियाणा में 2, मैसूर में 2, पंजाब में तीन तथा उत्तरप्रदेश में 9 सीटें प्राप्त कीं। इसका उद्देश्य भारतीय अछूतों के लिये समान स्तर प्राप्त करना रहा है। तो भी स्पष्टतः भारत के करीब 6 करोड़ अछूतों के लिए काफी लम्बा समय लेगा, जब ये अपने निम्नस्तरीय स्थिति से उभरने में समर्थ हो सकेंगे जिसमें इनके पूर्वज शताब्दियों तक हिन्दू जातीय व्यवस्था की कठोरता से अलग थे।

दक्षिण भारत के तमिल भाषी क्षेत्रों में, प्रमुख रूप से मद्रास में द्रविड़ आन्दोलन काफी लोकप्रिय रहा। यह आन्दोलन 'मूलतः ब्राह्मण तथा जातीय

शृ खला मे सर्वोच्च गैर-ब्राह्मण वग के विरुद्ध तमिल लोगा का सामाजिक विरोध" है तथा 'उत्तरी भारतीय आर्थिक साम्राज्यवाद के विरुद्ध विरोध" है। इसकी अभिव्यक्ति '•लैक शट" आन्दोलन म हुई है, जो द्रविड कषगम था। दविड सघ तथा द्रविड मुनेत्र कषगम या द्रविड प्रगतिशील सघ दोना समूहो को सम्मिलित किये हुय था।[1]

मद्रास मे राजनीति का "तमिलीकरण' करने का मुख्य श्रेय या दोष 20वी शताब्दी मे दक्षिण भारत के दो महत्वपूर्ण राजनीतिक नेताग्रा को है ई० वी० रामास्वामी नायकर, जिन्ह उनके अनुयायी 'पेरियर' या "महान सत" के नाम से जानते थे तथा सी० एन० अन्नादुराई जिन्ह उनके प्रसत्य प्रशसक प्रेम से "अन्ना" पुकारते थे। 1938 मे पैरियर 'जस्टिस पार्टी' (दी साऊथ इण्डियन लिबरल फैडरेशन) के अध्यक्ष बने, जिसकी स्थापना मद्रास मे हुई तथा दक्षिण भारत के गर ब्राह्मणो के लिए जीवन लगा दिया। पैरियर के नेतृत्व मे, दल ने तमिलनाडु म एक अलग से द्रविड स्थान राज्य की स्थापना की माग की। 1944 म परियर ने द्रविड कषगम के रूप म दल को पुनसगठित किया तथा स्वतन्त्र द्रविड स्थान के इसके उद्देश्य की घोषणा की। इसका तीव्र ब्राह्मण विरोधी तथा धार्मिक विरोध स्वरूप रहा है। इसने 'द्रविड परम्परा तथा तामिल सस्कृति' की सुरक्षा की आवश्यकता पर बल दिया तथा इसन 'तामिल समुदाय के स्तर को राजनीतिक गतिविधि द्वारा उठान के लिए प्रोत्साहित किया।[2]

सी० एन० अन्नादुराई (परियर से 29 वष छोटे) जस्टिस पार्टी के एक सक्रिय सदस्य थे तथा परियर क द्रविड कषगम के प्रमुख लेफ्टिनेन्टस म से एक थे। वह धीरे धीरे अपन राजनीतिक गुरु के कुलीन तथा गर-लोकतान्त्रिक तरीको से दूर होते गये। पैरियर की 1949 मे, जब वे 72 वष के थे, 28 वष की लड़की के साथ शादी, अन्नादुराई के लिए आखिरी आघात था, जिन्होने द्रविड कषगम से अलग होकर द्रविड मुनेत्र कषगम की स्थापना करली, जिसने तुरत द्रविड कषगम के प्रभाव को खत्म कर दिया। तामिलनाडु मे समान सस्कृति के प्रतीको को प्रयोग मे लाते हुए द्रविड भूतकाल की गौरव गाथा गाते हुए तथा ब्राह्मणो, वनियो तथा उत्तरी

1 S Harrison 'India The Most Dangerous Decade' p p–122–144,

2 Robert L Hardgrave, Jr 'Religion Politics and the D M K' in, Smith, ed, South Asian Politics and Religion' (Princeton 1966) pp 213, 216, 222 See Also Robert Hardgrave, Jr The Dravidian Movement, Bombay, 1655)

आर्यों के हाथो गर-ब्राह्मणो पर अत्याचार को दुहराते हुए दल ने जनसाधारण को स्वजागृत समुदाय मे परिणित करने का प्रयास किया ।[25]

1957 के चुनावो म—प्रथम चुनाव जो इसने लडा, द्रविड मुनेत्र कषगम ने जनता के 15 प्रतिशत मत प्राप्त किए मद्रास विधानसभा म 15 सीटें तथा लोक सभा म 2 प्राप्त की । तत्पश्चात् इसका राजनीतिक उत्थान तीव्र हुआ । 1967 के चतुर्थ आम चुनावो में इसने शायद किसी भी भारतीय प्रान्त म अत्यधिक आश्चर्य जनक तथा कांग्रेस पर अत्यधिक महत्वपूर्ण विजय प्राप्त की । इसने विधान सभा की 234 सीटो मे से 138 सीटें प्राप्त की तथा लोकसभा म अपने समस्त 25 उम्मीदवार जीता कर भेजे (इस प्रकार भारतीय ससद म तृतीय बडी विरोधी पार्टी होने का गौरव प्राप्त किया) जबकि कांग्रेस के प्रमुखत्व की प्रतियोगी सख्या 139 एव 31 थी । अन्नादुराई ने मद्रास म पूर्ण द्रविड मुनेत्र कषगम सरकार बनाई । मुख्य मन्त्री के रूप मे, उन्होने भारतीय सरकार के साथ प्रभावशाली ढग से काय किया, साथ ही, राज्यो के अधिकारो को तथा अपने राज्य के विशेष भाषायी प्रादेशिक तथा सास्कृतिक दावो को उन्होने प्राप्त करने की कोशिश की तथा प्रान्त का "तामिलनाडु" नाम रखवाया । 1969 की फरवरी म इसके महत्वपूर्ण नेता के देहावसान तथा बढती हुई व्यक्तिगत द्वेषभावना तथा दल की आन्तरिक कठिनाइयो ने दल को ताजा समस्याओ से ला झकोरा । सम्पूर्ण सम्भावनाओ मे यह अपनी उस शक्ति तथा उत्साहजनक समथन को प्राप्त नही कर पावेगी जो इसने 1967 म प्राप्त की थी, किन्तु यह मद्रास राज्य मे एक मात्र प्रमुख शक्ति के रूप म रहेगी । यह अनेक राज्य स्तरीय दलो म (भारत की आजादी के पश्चात् उभरी हुई) सबसे अधिक सफल रही है । द्रविड मुनेत्र कषगम ने जसा कि 1971 के मध्यावधि चुनावो से स्पष्ट है कि, कांग्रेस से गठबन्धन कर इन्दिरा लहर का फायदा उठाते हुए ससद तामिलनाडु की 39 सीटो मे स 24 सीटो पर चुनाव लडा तथा एक को छोडकर शेष सभी सीटें जीती । लोकसभाई चुनावो के साथ ही सम्पन्न हुये विधान सभाई चुनावो मे इसने 284 सीटो मे 184 सीटें प्राप्त की । इस प्रकार तामिलनाडु की प्रादेशिक राजनीति मे ऐसा लगता रहा कि द्रविड मुनेत्र कषगम, स्थानीय भावनाओ को उभारते रख कर आने वाले वर्षों म भी अपना स्थायी प्रभाव कायम रख सकेगी ।

गैर हिन्दू साम्प्रदायिक दलो म एक अत्यन्त महत्वपूर्ण दल शिरोमणि अकाली दल है, जो कि एक प्रमुख सिक्ख राजनतिक और सामाजिक सगठन है । 1930 के दशक के प्रारम्भ म यह स्थापित हुई थी । इसका मुख्यालय सिक्खों के पवित्र शहर अमृतसर के स्वर्णिम मन्दिर मे है तथा यह शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबंध कमेटी को

25 Hardgrave Religion, Politics and the D M K p 224

नियन्त्रित करती थी, जो कि गुरुद्वारा के प्रबन्ध के लिए तथा राजनीतिक गतिविधियों में भी सक्रिय थी। धार्मिक रूप से यह "पंथ की सुरक्षा" थी। राजनीतिक रूप से, इसके संविधान के अनुसार, यह एक ऐसे वातावरण की स्थापना के लिए थी जिसमें सिक्ख राष्ट्रीय अभिव्यक्ति अपनी पूर्ण तुष्टिकर सके।" इसके राजनैतिक उद्देश्य ने इसे पंजाबी सूबा या पंजाबी भाषायी राज्य की मांग उठाने के लिए प्रेरित किया। अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए इसने तीन रणनीतियां अपनाईं, जिनमें असंवैधानिक तथा हिंसक शैली भी शामिल है।[1] अकाली दल के नेता मास्टर तारासिंह, जो 20वीं शताब्दी के अत्यन्त रंगीन व्यक्तित्वों में से एक थे, ने 1930 से 1962 तक दल पर एकछत्र प्रभाव कायम रखा।[2] 1962 में तो भी उनके प्रमुख लेफ्टिनेंट सन्त फतेहसिंह ने अकाली दल की अलग प्रतियोगी शाखा की स्थापना करली जो कि धीरे धीरे मास्टर तारासिंह के समूह से अधिक प्रभावशाली हो गयी। यद्यपि अकाली दल ने आम चुनावों में भाग लिया, यह 1967 तक कांग्रेस द्वारा दबती रही। अक्टूबर 1966 में तो भी इसकी पंजाबी सूबे की पुरानी तथा काफी दबाव वाली मांगें अन्त में मान ली गईं जिससे अन्तर्गत पंजाब को दो राज्यों में विभाजित किया गया (1) पंजाब जिसमें अधिकांश सिक्ख रहते थे और (2) हरियाणा, जो मुख्यतः हिन्दी भाषी है। मास्टर तारासिंह की मृत्यु 1969 में हुई। 1969 के उपचुनावों के पूर्व सन्त फतेहसिंह के नेतृत्व में अकाली दल की दोनों शाखाओं का विलय हो गया। पुनर्गठित दल ने विधानसभा में कांग्रेस से अधिक सदस्य निर्वाचित कराए तथा पंजाब में जनसंघ के साथ आश्चर्यजनक ढंग से संविद सरकार बनाई। इस प्रकार अकाली दल जो पंजाब की प्रमुख धार्मिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक शक्ति थी एक शक्तिशाली राजनैतिक शक्ति भी बन गई है। 1971 के मध्यावधि चुनावों में जिस तरह देश में इन्दिरा गांधी के पक्ष में वातावरण बन रहा था, उसमें अकाली दल की स्थिति डांवाडोल हो गई।

विभाजन के पश्चात् अधिकांश मुस्लिम जो भारत संघ में रह गए थे, जिनमें वे भी हैं जिन्होंने काफी वर्षों तक मुस्लिम लीग का समर्थन किया था, इन्होंने लीग को छोड़ा तथा दूसरे राजनैतिक समूह में शामिल हो गए। पाकिस्तान में लीग कुछ वर्षों तक प्रमुख दल रही तथा भारतीय कांग्रेस दल के समान अपनी स्थिति बनाए रखी, किन्तु भारत में इसकी अधिक राजनैतिक महत्ता खत्म हो गई। तो भी, यहां एक अखिल भारतीय मुस्लिम लीग है तथा दक्षिण में इसकी कुछ शक्ति है। केरल

---

1 Baldev Raj Nayar 'Minority Politics in the Punjab', Princeton 1966, C H L VI

2 Baldev Raj Nayar 'Sikh Separatism in the Punjab' in Smith, ed South Asian Politics and Religion, p 170

मे यह एक महत्वपूर्ण राजनतिक शक्ति रही है तथा गैर-कम्युनिस्ट सविदो म काग्रेस के साथ, काग्रेस के विरोध म वाम तथा दक्षिण दोनो पथी कम्युनिस्टो के सयुक्त मोर्चे मे तथा वाम पथी साम्यवादियो के विरुद्ध दक्षिण पथियो के सयुक्त मोर्चे म शामिल हुई है । 1967 मे इसने लोकसभा के लिए 2 सीटें तथा केरल विधान सभा के लिए 14 सीटें जीती (जहा काग्रेस का प्रतिनिधित्व घट कर 9 रह गया) ।

भारत म अनेक अतिवादी वाम पथी समाजवादी दलो का अस्तित्व है । इन समूहो मे 'पीजेन्टस एण्ड वर्करस पार्टी' प्रमुख है जिसकी कुछ शक्ति पश्चिमी तथा दक्षिणी भारत तथा विशेष कर महाराष्ट्र म है । अन्य फोरवर्ड ब्लाक जिसकी कुछ शक्ति प० बगाल तथा तामिलनाडु म है तथा रिवोल्यूशनरी सोशलिस्ट पार्टी, जिसकी सदस्यता करल एव प० बगाल म है । इनके अतिरिक्त दो दल ऐसे हैं जो अपने अपने स्थानीय क्षेत्रो मे काफी प्रभावशाली रहे है और जिन्होने पृथक्तावादी आदोलन चलाए है वे है—शिव सेना तथा तेलगाना प्रजा समिति ।

1976 तक विरोधी दल आलोचनात्मक विश्लेषण

भारतीय राजनीतिक व्यवस्था की एक प्रमुख विशेषता रही एक सगठित विरोधी दल का अभाव । स्वतन्त्रता प्राप्ति मे योगदान के आधार पर काग्रेस भारतीय राजनीति पर छाई रही, अत काग्रेस रूपी वट वृक्ष के नीचे कोई और दूसरा दल नही पनप सका । किसी भी प्रजातन्त्र की सफलता क लिए एक सगठित विरोधी दल आवश्यक है । सत्तारूढ दल को सही माग पर रखने का यह एक मात्र साधन है । विभिन हितो और सिद्धान्तो का प्रतिनिधित्व करने वाले छोटे छोटे दलो का जनता पर नगण्य प्रभाव रहा अत कोई भी विरोधी दल अथवा सभी विरोधी दल मिलकर भी काग्रेस की शक्ति और उसके सगठन को चुनौती नही द पाये । यद्यपि 1967 के चौथे आम चुनाव ने सयुक्त मन्त्रिमण्डल की राजनीति को जन्म दिया । बहुसख्या केवल मात्र बहुत से गुटो को एक कर प्राप्त की जाती है और यही फिर सरकार का निर्माण करते हैं । क्या ऐसी विभिन्नताओ के लिए हुय गुटो से बनी सरकार स्थायी हो सकती है ? अत स्थिति यह पदा हुई कि मन्त्रिमण्डल रोज बनते व बिगडते थे ।

गैर काग्रेसी दलो के नेता सिडीकेट को अपनी सफलता की कुजी मानकर 1967 के चुनाव नतीजो की गलत व्याख्या के शिकार हुए । सविद सरकारो ने काग्रेस के विकल्प के रूप म कोई "जनतावादी" मध्य पथी विकल्प प्रस्तुत करने की जगह जोड-तोड और आई गई के तमाशे म काग्रेसी मठाधीशो की तरह उत्साह स योगदान किया । दक्षिण पथ और वामपथ के छोटे बडे दलो की सरकारो ने जो अस्थिरता राज्यो को दी, वह जनता के मन म उसके काग्रेस विरोध स सफल बने दलो के प्रति विरक्ति पैदा करती गई लेकिन इससे बेखबर 'काग्रेस हटाओ' वाले विरोधी दल 'इन्दिरा हटाओ' के दौर मे पहुच गए और सफलता के विषय म इतने आश्वस्त रहे कि इस नारे के आधार पर उन्होने 1971 के लोक सभाई चुनाव के

लिए गठबन्धन कर डाला। इस तरह मतदाता के सामने गैर-कांग्रेस दल बदनाम प्रतिमा के रूप में प्रस्तुत हुए और इंदिरा गांधी पुरानी कांग्रेसी तंत्र को तोड़कर एक नया मध्य पंथी दल देने वाली बन कर आई और इस प्रकार गैर-कांग्रेसी दलों की 1967 की सारी मेहनत का लाभ इंदिरा गांधी को मिला। परिणामतः इंदिरा-कांग्रेस ने अपनी शक्ति 1971 के लोकसभा तथा 1972 के विधान सभाओं के चुनावों में अपरिमित रूप से बढ़ा कर विरोधी दलों को सन्देहास्पद स्थिति में लाकर रख दिया।

किन्तु 1973–74 का समय देश एवं विशेष कर कांग्रेस के लिए कठिनाई का रहा। नई कांग्रेस का चरित्र और व्यक्तित्व धीरे धीरे पुरानी कांग्रेस में परिणित होने लगा। संस्था पर आर्थिक सुधार की दिशा में कोई ठोस कदम नहीं उठाने, भ्रष्टाचार को पनपाने तथा गरीबी की खाई को बढ़ाने के आरोप लगाये जाने लगे। ऐसी स्थिति से विरोधी दलों ने लाभ उठाने का प्रयास किया। परिणामतः भारतीय क्रांति दल, स्वतन्त्र, उत्कल कांग्रेस राजनारायण ग्रुप आदि कतिपय [illegible] ने [illegible] मिलाकर भारतीय लोक दल (B L D) का निर्माण किया, जिसका [illegible] मात्रा में 1974 के यू० पी० विधान सभाई चुनावों पर भी [illegible], [illegible] कांग्रेस सत्ता में तो आ गई किन्तु केवल 32 प्रतिशत मत [illegible]। [illegible] कांग्रेस की ढिलमिल आर्थिक नीतियों के कारण उत्पन्न [illegible] का परिणाम था।

इसी बीच गुजरात में विद्यार्थी समुदाय ने [illegible] शासन के विरुद्ध नवनिर्माण समिति के तत्वावधान में [illegible], जिसके कारण वहां की विधानसभा को भंग किया गया। [illegible] होकर जयप्रकाश नारायण ने बिहार में [illegible] के विरुद्ध [illegible] छेड़ा। प्रतिपक्षी दलों ने अवसर में [illegible] चुन लिया [illegible] और यहां आकर अब गुजरात और [illegible] उत्तर मिलता सा प्रतीत हुआ। [illegible] विधान सभा का चुनाव जीता। 12 [illegible] स्वरूप विरोधी दलों ने जे० पी० के [illegible] मांग को लेकर राष्ट्रव्यापी [illegible] 25 जून 1975 को [illegible] सभी विपक्षी नेताओं [illegible]

13

गैर-कांग्रेस दल : सत्तारूढ जनता पार्टी

18 जनवरी, 1977 को तत्कालीन प्रधानमंत्री श्रीमती इन्दिरा गांधी की सलाह पर राष्ट्रपति द्वारा पांचवी लोकसभा को भंग करने एवं मार्च, 1977 में छठे आम चुनाव कराने की आकस्मिक घोषणा ने विभिन्न प्रतिपक्षी राजनीतिक दलों के समक्ष गहन चुनौती उत्पन्न कर दी और विलय की विचारणा को अनिवार्य बना दिया। आपातकाल के दौरान प्रतिपक्षी नेताओं को आपसी विचार विमर्श का अनायास ही अवसर दे दिया था और जेल से छूट कर बाहर आये नेताओं के लिए यथार्थ को टालने या बँटे बिखरे रहने के कारण स्वयं उनके अस्तित्व के विलोप का खतरा भी साफ था। अतः उनके लिए अपने पृथक अस्तित्व को समाहित करने तथा देश में व्याप्त राजनीतिक अभिशाप की स्थिति को समाप्त करने की प्रेरणायें भी प्रबल बन गई। सौभाग्य से इन्हें श्री जयप्रकाश जैसा प्रभावी और नैतिक नेतृत्व भी सुलभ हुआ और जो काम वर्षों में नहीं हो पाया, वह अवसरजन्य स्थिति के कारण कुछ दिनों में ही सम्भव हो गया।[1]

एक स्थापित और व्यापक पैमाने पर संगठित दल का विरोध जब दूसरे दल अलग अलग न कर पाये तो ऐसी स्थिति में उनका अपनी शक्ति के विस्तार के लिए संगठित होना स्वाभाविक है। 1952 से 1967 तक जब निरन्तर कांग्रेस चुनावों में जीत कर केन्द्र और राज्यों में अपनी सरकार बनाती रही और उसे हटा पाना सम्भव नहीं रह सका तब विभिन्न प्रतिपक्षी दलों ने यह फैसला किया कि कांग्रेस का मुकाबला मिलजुल कर करना चाहिए। यदि गैर-कांग्रेसी वोट विभिन्न प्रतिपक्षी दलों में विभाजित न होकर प्रतिपक्ष के किसी एक उम्मीदवार को मिलें तो कांग्रेस को हराया जा सकता है। इस विश्वास का एक कारण यह भी था कि कांग्रेस को आम तौर पर कुल वोटों के करीब 40 प्रतिशत से अधिक कभी नहीं मिले। 71 के चुनाव में भी उसे केवल 42 प्रतिशत वोट मिले।

---

1 सत्य नारायण जैन आम चुनाव, मतदान व्यवहार व दलीय व्यवस्था (1947–77), I C S & C,E JPR (1978), pp 96 114

सन् 1967 के चुनाव म प्रतिपक्षी दलो ने इसका प्रयोग किया और उसमे उन्ह पयाप्त सफलता मिली। हवा उस वक्त कांग्रेस के विरुद्ध थी और परिणाम यह हुआ कि विभिन्न राज्यो की विधान सभाओ मे कांग्रेस को कुल 3443 सीटो मे से सिफ 1964 सीटें (यानी 50 प्रतिशत से भी कम) मिली। केरल, बिहार, पश्चिम बगाल और मद्रास की विधान सभाओ मे कांग्रेस का बहुमत नही रह सका। केरल और राजस्थान को छोडकर शेष राज्यो मे उसे परम्परागत ढग से मिलने वाले मतो मे काफी गिरवाट आयी। उडीसा मे स्वतन्त्र दल और जनकांग्रेस की सरकार बनी, जबकि मद्रास मे द्रमुक मुनेत्र कषगम की। अन्य राज्यो मे सयुक्त मोर्चे की जो सरकारें बनी उनम कई दल शामिल हुए जैसे —

बिहार में सयुक्त समाजवादी पार्टी, स्वतन्त्र, जनसघ, प्रजा समाजवादी पार्टी भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी और झारखण्ड पार्टी। उत्तरप्रदेश मे भारतीय क्रांति दल, जनसघ, स्वतन्त्र प्रसोपा सयुक्त समाजवादी पार्टी, फारवड ब्लाक, क्रान्तिकारी समाजवादी पार्टी, समाजवादी एकता केन्द्र लीग और वकस पार्टी। केरल में मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी, के टी पी के एस, क्रान्तिकारी समाजवादी पार्टी, मुस्लिम लीग और सयुक्त समाजवादी पार्टी। पजाब में दोनो अकाली गुट, जनसघ, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी रिपब्लिकन पार्टी, मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी सयुक्त समाजवादी पार्टी और निदलीय। हरियाणा मे हरियाणा कांग्रेस और निदलीय। मध्यप्रदेश मे जनसघ, सयुक्त समाजवादी पार्टी, भारतीय क्रान्ति दल और कुछ भूतपूव कांग्रेसी। उडीसा म स्वतन्त्र और जनकांग्रेस।

लेकिन एक विडम्बना यह रही है कि विभिन्न राज्यो मे बनी सयुक्त मोर्चे की इन सरकारो मे स्थायित्व नही आ सका और एक एक करके सभी गिर गयी। सिफ केरल की सरकार को अपने पूरे कायकाल तक बने रहने में सफलता मिली। यह आरोप बहुत सही नही है कि इनके गिरने का कारण केवल दल बदल की प्रवृत्ति थी, जिसे जानबूझ कर उस वक्त के प्रतिपक्ष ने प्रोत्साहित किया। इसका एक बडा कारण मोर्चे म शामिल दलो मे दृष्टि और नीति सम्बन्धी एकता और एकोन्मुखता का अभाव था। यह भी स्वाभाविक है। इन सभी राज्यो की सरकार किसी न किसी मौके पर गिरी, कुछ दिनो के लिए वहा राष्ट्रपति शासन लागू हुआ। पुन मध्यावधि चुनाव हुए और पुन या तो सयुक्त मोर्चे की सरकार बनी या कांग्रेस की। प्रमाण के लिए पश्चिमी बगाल मे सरकार के गिरने पर 1969 मे मध्यावधि चुनाव हुए उसके बाद जो सरकार बनी उसमें लगभग वे ही दल थे जिन्होने 1967 में सरकार बनायी थी। यह सरकार गिरी। पुन राष्ट्रपति का शासन लागू हुआ, फिर 1971 में मध्यावधि चुनाव हुए और कांग्रेस के नेतृत्व मे भी मोर्चे की ही सरकार बनी। बाद म मोर्चा खत्म हो गया।

वास्तव म मोर्चे की ऐसी सरकारो का स्थायित्व बहुत दूर तक इस बात पर निर्भर करता है कि विभिन्न दल सहयोग करने वाले दलो के साथ परस्पर एक दूसरे के लिए किस सीमा तक अपनी विशिष्ट नीतियो की कुर्बानी देने को तयार हैं। अन्तर्विरोधी दृष्टिकोण इसम हमेशा बाधक होता है और जब कोई दल अपनी एकता और पहचान को अधिक महत्वपूर्ण मानते या समझते हुए अपने को रेखांकित करना चाहता है तब विरोध और असन्तोष की सृष्टि हो जाती है। इन दलो का स्थायित्व इस तथ्य पर भी आधारित होता है कि उनके मोर्चे के मच पर एकत्रित होने का कारण चुनावपूर्व की पारस्परिक सहमति से तयार की हुई व्यवस्था है, या चुनाव के बाद का राजनैतिक समझौता। उडीसा मे 1967 म स्वतन्त्र दल और जन कांग्रेस ने जो सरकार बनायी थी वह लगभग चार वर्ष तक टिकी रही और उन्होंने चुनाव के पहले ही समझौता कर लिया था। लेकिन पश्चिम बगाल म जो सरकार बनी थी उसमे सरकार बनाने का समझौता चुनाव के बाद हुआ था और उसमे 14 दल शामिल हुए थे।

1967 के चुनावो के बाद प्राय सयुक्त मोर्चे की सभी सरकारो ने पारस्परिक सहमति से एक न्यूनतम समयबद्ध कार्यक्रम' बनाया था। कुछ राज्यो म इन न्यूनतम कार्यक्रमो के स्वरूप मे थोडी बहुत भिन्नता थी। सभी दल इस बात पर सहमत थ कि प्रशासन से भ्रष्टाचार का खत्म किया जाये और जमाखोरी और मुनाफाखोरी की प्रवृत्ति समाप्त हो। यदि उडीसा म सयुक्त मार्चे की सरकार के मुख्य कायक्रम राजस्व की समाप्ति थी तो ससपा के नेतृत्व म बिहार म गठित मोर्चा सरकार के मुख्य कार्यक्रम मे सिंचाई की दरो म कमी बजर और परती भूमि का भूमिहीनो म वितरण और छोटी जोत के किसानो के लगान को खत्म करना था। पश्चिम बगाल और उत्तरप्रदेश की मोर्चा सरकारो ने अन्न वस्त्र, आवास शिक्षा, स्वास्थ्य और रोजगार आदि जनता की प्रारम्भिक आवश्यकताओ को पूरा करने का वायदा किया था।

इस सिलसिले मे विभिन्न प्रदेशो म नीति सम्बन्धी निर्णय के नय तरीके विकसित किये गये। कई प्रदेशो म नीति निर्धारण के लिए दुहरी व्यवस्था की गयी। एक तो मन्त्रिमण्डल और दूसरे मोर्चे म शामिल सभी दलो के प्रतिनिधियो को मिला कर गठित की गयी समन्वय समितिया एक प्रकार से य समन्वय समितिया मन्त्रि मण्डल से भी अधिक प्रभावशाली थी, क्योकि नीति निर्धारण का काम इनका था और उसको अमल मे लाने की जिम्मेवारी विभिन्न मत्रालयो की थी। लेकिन इन समन्वय समितियो की बैठक म भी प्रश्न दलीय नीतियो और आग्रहो का पैदा हुआ और कई बार पारस्परिक मतभेद इतने तीव्र हो गये कि बठक बीच में ही समाप्त कर देनी पडी। परिणाम यह हुआ कि समन्वय समितिया धीरे धीरे निष्प्रभावी अपने अपने ढग से काम करने के लिये स्वतन्त्र हो गई। मोर्चे म शामिल दलो के प्रतिनिधि आपस में ही एक दूसरे पर आरोप लगाने लगे। प्रशासको को कभी-कभी दो विभिन्न मत्रालयो से ऐसे आदेश प्राप्त होने लगे जो एक दूसरे को काटते थे।

इस मतभेद का एक बहुत बड़ा कारण सैद्धांतिक है। कुछ दल अपने चिंतन मे उदार, कुछ म साम्प्रदायिकता और क्षेत्रीयता का आग्रह है कुछ की दृष्टि सामाजिक और आर्थिक परिवतन के सम्ब ध म भिन्न भिन्न है। प्रमाण के लिए स्वतन्त्र पार्टी की नीति किसी बडे परिवतन के पक्ष मे नही थी, जबकि कम्युनिस्ट और समाजवादी वग सम्ब धो म व्यापक परिवतन के लिए प्रतिबद्ध रहे। कांग्रेस की नीति बीच का रास्ता निकालने की थी। इन राजनैतिक दलो म केन्द्र और राज्यो के बीच सम्बन्धो के स्वरूप पर भी मतभेद रहा। एक तरफ स्वतन्त्र पार्टी चाहती थी कि अधिकारो का अधिक विकेन्द्रीकरण हो दूसरी तरफ जनसंघ एक मजबूत केन्द्र के पक्ष म था। उसका विश्वास था कि देश को विघटन की ओर ले जाने वाली शक्तियो को केन्द्र ही रोक सकता है। मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी अपने राष्ट्रीय दृष्टिकोण के बावजूद अपनी राजनैतिक अनिवार्यताओ के कारण क्षेत्रीय मुद्दो के प्रति अधिक आग्रहशील रही। कुछ क्षेत्रीय दलो के सामने मुख्य प्रश्न राष्ट्रीय न होकर क्षेत्रीयता तक सीमित था। क्योकि उन्हे क्षेत्र विशेष से ही बल मिलता था।

गैर कांग्रेसवाद की नीति को एक सफल परिणाम तक ले जाने का मौका इन दलो को बाद म गुजरात मे तब मिला जब वहा जनता पार्टी की सरकार बनी। 15 महिने के राष्ट्रपति शासन के बाद 18 जून 1975 को मोर्चे के नेता बाबू भाई पटेल ने किसान मजदूर लोकपक्ष के सहयोग से मन्त्रीमण्डल का गठन किया। नव निर्माण युवक समिति के अध्यक्ष मनीष जानी और गुजरात युवक नागरिक समिति के मन्त्री हेमन्त देसाई ने मोर्चे द्वारा लोकपक्ष से किये गये उसके समझौते की निन्दा की। इस मोर्चे में सगठन कांग्रेस जनसंघ भारतीय लोकदल समाजवादी पार्टी और राष्ट्रीय मजदूर पार्टी साझेदार रहे। मुख्य बात यह है कि किसान मजदूर लोकपक्ष और उसके नेता चिमन भाई पटेल का जनता मोर्चे को दिया जाने वाला समथन बिना शर्त नही था। चुनाव के वक्त चिमलोप ने चुने ढग से अन्न की लेवी खत्म करने, बडे किसानो को रियायतें देने और भूमिसुधार के कानूनो को निष्प्रभावी करने की बात कही थी। मोरारजी भाई ने बाद मे वहा कि चिमलोप के समथन के सदर्भ म सिद्धान्त या नैतिकता का कोई मसला नही था। बाद म 12 सदस्यो वाले किसान मजदूर पक्ष म मोर्चे का समथन देने के प्रश्न पर मतभेद हो गया। इसी दौर मे मोर्चे की नीतियो से सहमत न होने हुए सगठन कांग्रेस के हितेन्द्र देसाई दल से अलग होकर सत्तारूढ कांग्रेस मे शामिल हुए।

4 अक्तूबर' 75 को बाबू भाई पटेल ने 18 सदस्यीय मन्त्रीमण्डल मे फेर बदल करके जनसघ और भारतीय लोकदल के प्रतिनिधियो को कुछ और विभाग दिये, लेकिन बाद के दिनो मे उन्हें मोर्चे के भीतर म ही अनेक चुनौतियो का सामना करने के लिए विवश होना पड़ा। स्वामी सत्याग्रह के चुनाव के अवसर पर एकाधी जगहो

पर मोर्चे म शामिल दल एक दूसरे से विरुद्ध खड़े हुए। सूरत म सगठन काग्रेस और जनसघ म सघर्ष हुआ। मुख्य मन्त्री बराबर यह कहते रहे कि मोर्चे म शामिल दलो म मतभेद नही हैं, लेकिन भीतर भीतर मतभेद और असतोष बढ़ता रहा। किसान मजदूर लोक पक्ष के सचिव पोपट भाई पटेल ने (3 फरवरी, 1976 को) विधायकों से आग्रह किया कि व राज्य के व्यापक हित म जनता मोर्चे के मन्त्रि मण्डल को खत्म करने के पक्ष म विभाजित हो गये। 19 महिने के अस्तित्व के बाद पार्टी विघटित कर दी गयी और उसने जनता मोर्चे से भी नाता तोड लिया। दल बदल का सिलसिला फिर शुरू हो गया।

12 मार्च 1976 को विधान सभा मे मतदान मे जनता मोर्चा हार गया और पुन राज्य को राष्ट्रपति शासन को हवाले कर दिया गया। इस प्रकार, अन्तत चार विपक्षी दलो ने मिलकर (सगठन काग्रेस, जनसघ, भारतीय लोकदल तथा समाजवादी दल) जनता पार्टी का गठन किया। इसके लिए 23 जनवरी 1977 को एक 27 सदस्यीय राष्ट्रीय समिति की घोषणा की गयी। भूतपूर्व उप प्रधान मन्त्री और सगठन काग्रेस के नेता श्री मोरारजी देसाई को दल का अध्यक्ष तथा उत्तर प्रदेश के भूतपूर्व मुख्य मन्त्री एव भारतीय लोकदल के अध्यक्ष चौधरी चरण सिंह को उपाध्यक्ष बनाया गया। जनसघ अध्यक्ष श्री लाल कृष्ण अडवानी सोशलिस्ट पार्टी के महा सचिव श्री सुरेन्द्र मोहन और काग्रेस ससदीय दल के भूतपूर्व महासचिव श्री रामधन दल के महासचिव होगे। श्री शान्ति भूषण (स० का०) को दल का कोषाध्यक्ष मनोनीत किया गया।

सर्व श्री अशोक महता, चन्द्रभानु गुप्त, नीलम सजीव रेड्डी, रामचन्द्रन, श्याम नन्दन मिश्र, सिकन्दर बख्त, प्रफुल्ल चन्द्र सेन (सभी सगठन काग्रेस), अटल बिहारी वाजपेयी भरोंसिह शेखावत, कुशाभाऊ ठाकरे नानाजी देशमुख (सभी जनसघ) बीजू पटनायक भानुप्रतापसिंह, चादराम एच एम पटेल, कर्पूरी ठाकुर (सभी भारतीय लोक दल) श्रीमती मृणाल गोरे, नाना साहब गोर, समर गुहा ए थी धरन (सभी सोशलिस्ट पार्टी) और चन्द्रशेखर (निर्दलीय) समिति के सदस्य रखे गए।

दल की एक स्थायी समिति बनायी गई, जो दैनदिन का कार्य करगी और नीतियोंका निदेशन करेगी।

चूकि दल को कोई नया चुनाव चिन्ह मिलना कठिन था। इसलिए उसने फसला किया कि भारतीय लोकदल के चुनाव चिन्ह (हलधर) को तामिलनाडु को छोड़कर शेष देश म अपनाया जाये व तामिलनाडु मे सगठन काग्रेस का चुनाव चिन्ह (चर्खा चलाती महिला) इस्तेमाल किया जाये। बाद मे इस निर्णय को मुख्य चुनाव आयुक्त की स्वीकृति प्राप्त हो गई।

दिनाक 23 1 77 को अपनी पहली बैठक मे राष्ट्रीय समिति ने तीन प्रस्ताव पारित किये। इनमें स एक मे समिति ने माग की है कि आर्थिक अपराधो मे नजर

ब द व्यक्तियो को छोडकर बाकी सभी नजरबन्दो को अधिकाधिक तीन चार दिन मे रिहा किया जाय । दूसरे प्रस्ताव मे सरकार से अनुरोध किया गया कि वह आकाशवाणी और दूरदर्शन का अविलम्ब निर्देश दे कि इन पर सरकारी दल, जनता पार्टी व अन्य विपक्षी दलो की गतिविधियो और दृष्टिकोण की खबरें निष्पक्ष रूप से जायें । तीसरे प्रस्ताव म सरकार से अनुरोध किया गया कि वह प्रतिबंधित सगठनो पर रोक वापस ले और अगर जरूरी समझे तो इनम से किसी के भी खिलाफ न्यायिक जाच बिठाये ।

सर्वोदय नेता श्री जयप्रकाश नारायण ने जनता पार्टी के समथन मे 23 जनवरी 1977 को वक्तव्य देते हुए कहा कि वह सत्ता का विकेन्द्रीकरण करेगी ताकि दूर गावो म रहन वाला व्यक्ति भी अपने को प्रभावित करने वाले बातो व याजनाओ का निर्णय करने मे भागीदार बन सके ।

उन्होने कहा कि यह पार्टी न्याय पालिका, और समाचार पत्रो जैसी स्वतन्त्र सस्थाओ को इतना मजबूत बनायेगी कि वह कार्यपालिका को अपनी ताकत का दुरुपयोग करने मे रोक सके और देश को तानाशाही शासन का खतरा कभी पैदा न हो। वह गाधीवादी सिद्धान्तो पर अपना सामाजिक आर्थिक कायक्रम बनाने को प्रतिबद्ध है ।

लोकसभा के मार्च 1977 के चुनाव परिणामो ने विलय के विचार को पुष्ट और अनिवार्य बना दिया। देश के जनमत न जनता पार्टी की स्थापना और उसके भविष्य पर अपनी स्वकृति की मोहर लगादी तब फिर इसम कोई बाधा या व्यवधान की बात ही नही बची । जनमत की इस प्रबल और असन्दिग्ध अभिव्यक्ति ने प्रतिपक्षी नेताओ को आशा और उत्साह से अभिभूत कर दिया और उनकी बिखरी शक्ति व क्षमता को नया विश्वास भी द दिया ।

इस प्रकार जनता पार्टी द्वारा मार्च 1977 के लोक सभा चुनवो से पूव प्रसारित अपने घोषणा पत्र मे मतदाताओ को यह आश्वासन दिया गया था कि चारो पार्टीया (जनसघ भारतीय लोकदल,सगठन-कांग्रेस और सोशलिस्ट पार्टी) चुनावो के बाद कानूनी तौर से एक हो जायेगी । यह आश्वासन एव वचन दिनाक 1 मई 1977 को पूरा हुआ, जब दिल्ली के प्रगति मैदान के भव्य हाल आफ नेशन्स' म चारो दलो के अध्यक्षो न अपने अपने ढग से और सक्षेप म घोषणा की कि उनकी पार्टीयो ने अपने अस्तित्व समाप्त कर जनाकाक्षाओ की क्रातिकारी नयी प्रतीक जनता पार्टी मे विलीन होने का विधिवत निश्चय किया है ।

चारो अध्यक्षो और विद्रोही कांग्रेसिया के समूह के प्रतिनिधि श्री चन्द्रशेखर की घोषणाओ के बाद 'कांग्रेस फार डेमोक्रेसी के अध्यक्ष श्री जगजीवनराम ने भी लम्बी हर्षध्वनि के बीच अपनी पार्टी के विलय की घोषणा की ।

इसके बाद प्रधानमंत्री मोरारजी देसाई ने, जो दल के अध्यक्ष थे, नया दल जनता को समर्पित करने का प्रस्ताव प्रस्तुत किया, जिसमें कहा गया कि 'जनता पार्टी का प्रादुर्भाव भारतीय जनता के द्वारा अपनी खोई हुई स्वाधीनता को प्राप्त करने और लोकतन्त्र के राजपथ पर अपनी खंडित यात्रा को पुनः आरम्भ करने के संकल्प से हुआ था। प्रचंड जन समर्थन और उत्साह पूर्ण तथा प्रबल जन स्वीकृति का ही परिणाम था कि विगत चुनावों (छठी लोकसभा) में जनता पार्टी को ऐतिहासिक विजय प्राप्त हो सकी। अब वह अपने कोटि कोटि समर्थकों और शुभेच्छुओं को अपने परिवार में सम्मिलित होने का निमंत्रण देती है ताकि वह जनसंकल्प की पूर्ति का उपयोगी एवं जीवंत उपकरण बन सके।

श्री जय प्रकाश नारायण ने सत्तारूढ़ कांग्रेस पर जनतन्त्र की हत्या करने, निर्दोष व्यक्तियों को जेलों में डालने और अन्य जनतांत्रिक कार्यों का दोष लगाते हुए लोगों को चाहे वे किसी भी दल में विश्वास रखते हों, सलाह दी कि वे इसे फिर कभी नहीं चुनें। उन्हें जनतन्त्र और फासिस्ट किस्म की तानाशाही के बीच चुनाव करना है। श्री जय प्रकाश नारायण ने यह वक्तव्य विपक्षी दलों के नेताओं से दो दिन की बातचीत के बाद एक प्रेस कान्फ्रेंस में दिया जिसे जनता पार्टी के नवनियुक्त महासचिव श्री लाल कृष्ण अडवाणी ने पढ़ा।

जनता पार्टी के स्थापना सम्मेलन को भेजे अपने संदेश में श्री जयप्रकाशनारायण ने दल में सामूहिक कार्य और जिम्मेदारी की पद्धति अपनाने की विशेष अपील की उन्होंने कहा, 'मेरा वर्षों से यह विश्वास रहा है जब तक देश में द्विदलीय व्यवस्था का विकास नहीं होता, तब तक हमारा जनतंत्र मजबूत और स्थायी नहीं होगा। इस लिए मुझे प्रसन्नता है कि चार जनतान्त्रिक दलों ने एक वर्ष पूर्व बम्बई में जो पहल मेरे कहने पर की थी आज फलीभूत हो गई है और भारत के राजनीतिक क्षितिज पर जनता पार्टी के रूप में एक नये दल का उदय हुआ है। इस अवसर पर वयोवृद्ध नेता आचार्य कृपलानी एवं श्रीमती विजय लक्ष्मी पंडित ने भी सम्मेलन को सम्बोधित किया।

नवगठित जनता पार्टी का अध्यक्ष युवा और समाजवादी नेता 49 वर्षीय श्री चन्द्रशेखर को सर्वसम्मति से चुना गया। इस सम्बन्ध में निर्णय करने के लिए गठित पांच सदस्यों की समिति की बैठक में यह निर्णय किया गया। इस समिति में श्री चन्द्रशेखर के अलावा अन्य चार सदस्य थे श्री अटलबिहारी वाजपेयी, श्री जार्ज फर्नांडीस श्री राजनारायण, और श्री चन्द्रभानु गुप्त।

दो दिन बाद अध्यक्ष श्री चन्द्रशेखर ने 30 सदस्यों की कार्य समिति की घोषणा की तथा शेष दस नामों की घोषणा 'कांग्रेस फॉर डेमोक्रेसी' के 5 मई 1977

को जनता पार्टी मे औपचारिक विलय के बाद करने की बात कही। कार्यसमिति ने बाद मे अपनी सदस्य सख्या अध्यक्ष समेत 43 करने का फैसला किया। श्री नानाजी देशमुख, श्री मधुलिमये श्री रबीराय श्री विजयसिंह नाहर एव श्री रामकृष्ण हेगडे दल के पाच महामत्री बनाये गये तथा श्री चन्द्रभानुगुप्त कोषाध्यक्ष बनाये गये।

प्रधान मन्त्री श्री मोरारजी दसाई, विदेश मन्त्री श्री अटल बिहारी वाजपेई, रक्षा मन्त्री श्री जगजीवनराम, स्वास्थ्यमन्त्री श्री राजनारायण रसायन मन्त्री श्री हेमवती नन्दन बहुगुणा, सूचना मत्री श्री लालकृष्ण आडवानी ऊर्जा मन्त्री श्री पी रामचन्द्रन पी सी सेन, अशोक महता, ए श्री धरन श्रीमती मृणाल गोर, के कृष्णमूर्ति, कपूरी ठाकुर, रामानन्द तिवारी, सुन्दर सिंह भडारी, श्रीमती सुमति सुखलेकर, चादराम, श्रीमती लक्ष्मी कान्तम्मा बुआभाऊ ठाकर, पीलूमोदी सन्तोषम, रामनरेश यादव अब्दुल रहमान, रामकृष्ण हगडे, वीरेनशाह अरुण जैतली भू पू अध्यक्ष दिल्ली विश्व विद्यालय छात्र सघ।

कार्यसमिति ने जून 1977 म होनेवाले विधान सभा के चुनावो के उम्मीदवारो के चयन के सम्बन्ध म केन्द्रीय पर्यवेक्षक नियुक्त किये जिन्हे प्रदेशो मे उठनेवाले विवाद दल के अध्यक्ष से परामर्श करके सुलझाने का दायित्व सौंपा गया। इस तरह दल की केन्द्रीय चुनाव समिति नहीं रखकर, यह काय इन केन्द्रीय पर्यवेक्षको को करने को अधिकृत किया गया इसी बीच जनता पार्टी को चुनाव आयोग द्वारा राष्ट्रीय दल के रूप मे मान्यता प्राप्त हो गई। दल के भू पू चार घटको ने सामूहिक रूप से 1977 का आम चुनाव भारतीय लोकदल के चिन्ह पर चुनाव लडा तथा कुल पडे मतो के 43 प्रतिशत मत प्राप्त किये। एक राजनीतिक दल को मान्यता प्राप्त दल के रूप ग्रहण करने के लिए यह आवश्यक होता है कि आम चुनाव म अगर लोकसभा मे उस सदन के प्रत्येक 25 सदस्यो म एक सदस्य इसका हो अथवा विधान सभा म उस सदन के प्रत्येक 30 सदस्यो मे से एक सदस्य इस दल का हो। इसके विकल्प म यह भी व्यवस्था है कि, अगर लोकसभा म उस राज्य से या विधान सभा के चुनाव म उस दल के समस्त उम्मीदवारो को आम चुनाव म पडे सभी उम्मीदवारो के कुल वैध मतो का 4 प्रतिशत से कम मत प्राप्त नहीं हुए हो, तभी वह मान्यता प्राप्त राजनतिक दल माना जायगा।

इस प्रकार दोनो ही विकल्पो म जनता पार्टी राष्ट्रीय दल के रूप मे मान्यता प्राप्त करने की अधिकारी हो गई थी। दल क महासचिवो ने मुख्य चुनाव आयुक्त श्री टी स्वामीनाथन स दल को भू पू भारतीय लोकदल क चिन्ह 'चक्र मे हलधर (haldhar within a wheel) का स्थायी चिन्ह के रूप म आवंटित करने की प्रार्थना की, जिसे उन्होंने स्वीकृति दे दी।

देश के चार प्रमुख राजनीतिक दलों का जनता पार्टी के रूप म विधिवत् विलय की घटना भारतीय राजनीति की एक श्रेष्ठ और प्रमुख घटना कही जा सकती

है पिछले वर्षों मे देश मे राजनीतिक दलो के विघटन एव विभाजन का सिलसिला चला है और शायद ही कोई राष्ट्रीय एव क्षेत्रीय पार्टी हो जिसमे बिखराव न आया हो। इसके कारण लोकतंत्र मे एक अपगता और अपूर्णता बनी हुई थी और सक्षम विकल्प के अभाव मे सत्ताधारी दल कांग्रेस सत्तावाद व तानाशाही की ओर बढती जा रही थी। यह स्थिति देश के लिए दुर्भाग्यजनक और लोकतंत्र के लिए घातक थी। इसके दुष्परिणाम भी समूचे देश ने भोगे हैं जबकि सत्ता म निर्बाध रूप से जमी कांग्रेस सरकारें जनमत के प्रति सवेदन शून्य और निष्प्राण बन गई। इस स्थिति को उबारने का बीडा जननायक जयप्रकाश ने उठाया और दलीय राजनीति से विमुक्त होते हुए भी उन्होने देश के गैर कम्युनिस्ट दलो को एक सुसगठित दल के रूप मे स्थापित करने की पहल और प्रेरणा दी। यह उन्ही के अथक प्रयासो का फल है कि देश मे जनता पार्टी के रूप म एक सशक्त एव सुसगठित राजनीतिक दल की विधिवत स्थापना हो गई।

जनतापार्टी मे पुनर्गठन का प्रश्न—जिन परिस्थितियो मे इस दल का निर्माण हुआ उन म मतभेद बने रहना कोई अस्वाभाविक बात नही थी। इस प्रकार के मत भेद दो वर्गों म बाटे जा सकते हैं जिनका सबध अलग अलग आर्थिक विचार धाराओ या दृष्टिकोणो से है। यह बात सही है कि लोकसभा के लिए चुनावो की घोषणा और जनता पार्टी के निर्माण के बीच आर्थिक सामाजिक विचारधारा के विकास केलिए पर्याप्त समय नही था, पर यह बात भी सही है, एक ऐसा कार्यक्रम जरूर था जो सभी को मान्य हो गया था।

यह सही है कि इनम से बहुत से बिंदुओ पर सभी का एक जैसा आग्रह नही था और यह भी नही है कि पूरा कार्यक्रम एक ठोस समग्र आर्थिक सामाजिक विचार धारा न हो कर एक प्रारूप मात्र था। केन्द्रीय सरकार और कुछ मास बाद राज्यों की सरकारें बनने के बीच सरकार की जो भी आर्थिक नीतियां सामने आयी भले ही वे घोषणाओ के रूप म आयी हो उन मे ऐसा आभास नही लगा कि विभिन्न घटक एक दूसरे से उग्ररूप म असहमत रहे हो। पुराने अनुभव या सबधो के कारण इस या उस मन्त्री की किसी सामाजिक आर्थिक कार्यक्रम से प्रतिबद्धता की मात्रा या तीव्रता म कमी या ज्यादती का आभास जरूर मिला। मगर इससे यह सिद्ध नही होता है कि जनता पार्टी के नेताओ के बीच आर्थिक मामलों को ले कर कोई विकट द्वंद्व चल पडा। आने वाले वर्षों मे इस प्रकार के आर्थिक मुद्दों पर ध्रुवीकरण की प्रक्रिया उग्र नही होगी यह दावा कोई नही कर सकता। उस वक्त नहीं था यह स्पष्ट है जहा तक सामाजिक पूर्वाग्रहो या दृष्टिकोणो का सवाल है वहा भी जो गर्मागर्मी या उठापटक के दृश्य राज्यो म दिखायी दिये उन का भी सबध सामाजिक चेतना और विचारधारा से पूर्ण रूप से नही जुडा हुआ है।

तनाव का दूसरा और प्रमुख कारण नये दल के भीतर विभिन्न गुटो की प्रभुता का सघर्ष है सगठन पर कौनसा गुट हावी होगा यह महत्वपूर्ण विषय बन गया है।

, ग्रौर क्या कि जनतापार्टी अभी भी केवल शिखर पर जुडी हुई है इसलिए सारी लडाई क्षेत्र म न होकर चोटी पर होना स्वाभाविक है ग्रौर इसलिए उसके समाचार भी बनते है और एसा लगता है कि इस सभी घटको की किले बदी हो रही हो। हालाकि इस बात मे भी कोई शक नही है कि चोटियों पर टिके हुए राजनीतिज्ञो ने कही न कही नीचे अपनी चौकिया बनाये रखी है ताकि जरूरत पडने पर वहा से प्रचारात्मक या नैतिक समर्थन मिलता रहे।

निर्माण के समय विभिन्न सगठनो के नेताग्रो ने यह दावा किया था कि उन्होने अपने खेमे उखाड दिए हैं ताकि इस नये घर मे एक परिवार के रूप म रहा जा सके। मगर सच्चाई यह है कि पुराने खेमे पूरी तरह उखडे नही थे खाली नेताग्रो ने अलग से चूल्हा जलाना छोडा था। यह स्वाभाविक था कि ऐसी परिस्थितियो म कार्यकर्ताओ के स्तर पर नही, नेताग्रो के स्तर पर एक सतुलन स्थापित किया जाये। उस समय यही माना गया कि पुराने सगठनो की आम जनता यानि मतदाता म जो साख है उसी के ग्रनुपात मे नये दल मे नेताग्रो का ग्रौर सदस्यो का प्रतिनिधित्व किया जाये। मगर यह सानुपातिक सिद्धान्त भी सही ढग से नही चल पाया, क्योकि न तो यह वैज्ञानिक था ग्रौर न ही उस विराट जनसमुदाय के सदर्भ मे सचमुच सानुपातिक ही, जो लोकसभा के चुनावो म जनतापार्टी को सत्ता सौंपने वाला था। मुश्किल यह थी कि कुछ नेताओ का ग्रब कोई सगठन नही था, कुछ का नाम मात्र का था और कुछ एक सुनिश्चित ग्रौर शक्तिशाली सगठन का दावा करने की स्थिति म थे। इसलिए कही तो पुराने सगठनो की लोकप्रियता को मानक माना गया। जिसका परिणाम यह हुग्रा कि विधान सभा के चुनाव ग्रौर बाद मे मन्त्रिमण्डलो के गठन के समय तक इस सानुपातिक सूत्र म कोई ग्रनुपात नही रहा।

एक भेट म जनता पार्टी के ग्रध्यक्ष चन्द्रशेखर का ध्यान जब इन बातो की ग्रोर दिलाया गया तो उन्होने यह बात स्वीकार की कि तनाव है, मतभेद भी हैं मगर इन मतभेदो को वह गम्भीर मानने के लिए तैयार नही। इतने बडे देश के किसी ग्रखिल भारतीय दल मे ग्रलग ग्रलग विचार न हो ग्रौर उनकी ग्रभिव्यक्ति समय समय म होती रहे यह स्वास्थ्य का लक्षण नहीं हो सकता। काग्रेस पार्टी म जब ऐसी स्थिति ग्रा गयी कि ग्रसहमति ग्रौर मतभेद को ग्रसहनीय माना जाने लगा तो उस पार्टी का राजनैतिक ह्रास देश मे लोकशाही के ह्रास रूप मे सामने आया। निर्माणकाल म किसी भी दल मे विचारो का द्वद होता है इसम कोई बुराई नही। मगर क्या यह सही नही है कि जो जनता पार्टी लोगो के एक विराट आन्दोलन के रूप मे पैदा

हुई वह इतनी जल्दी ही एसी स्थिति म ग्रा गयी। जनता पार्टी के ग्रध्यक्ष इस का ऐतिहासिक कारण बताते हैं। इस दल का निर्माण जिस पृष्ठभूमि म हुआ उसी के कारण ऐसा दिखाई देता है। नागरिक ग्रधिकारो को वापस प्राप्त करने और

साधन न से अस्तित्व के सवाल पर पार्टी बनी थी। यह एक ऐसा प्रारम्भ था जो देश की आजादी के आदर्श की तरह हर प्रकार की विचार धारा के व्यक्ति के लिए प्रेरणा का स्रोत बन गया था। चुनाव इतनी जल्दी आ गये कि सही मायने में पार्टी का कभी निर्माण ही नहीं हुआ था कि जनता पार्टी शासक पार्टी बन गयी संगठन बनने से पहले हुकूमत मिल गयी। प्रशासनिक तालमेल बिठाने और पुरानी जनविरोधी नीतियों को हटाने में काफी वक्त निकल गया। उस के बाद राज्यों में चुनाव आये। इस सारी प्रक्रिया में कई महीने निकल गये। इसलिए जो संगठन की प्रक्रिया काफी आगे आ जानी चाहिए थी वह पीछे रह गयी।

उनके अनुसार जनता पार्टी का असली मोर्चा आर्थिक प्रगति के मैदान में है। यही इसकी कसौटी होगी। विभिन्न विचार और निर्माण की पीड़ा है यह पीड़ा हमें एक विशिष्ट दिशा दे सकती है मगर यदि आर्थिक और सामाजिक प्रगति से हमारी प्रतिबद्धता नहीं रही तो ये विवाद विघटन का कारण भी बन सकते हैं।

जनता पार्टी में खास तौर से उद्योगनीति और महँगाई वगैरह को लेकर जो आपसी बहसें होती रहती हैं वे आज इतनी प्रकट हैं जितनी कांग्रेस के अन्दर भी ऐसी बहस कभी नहीं हुई थी। जे.पी. के अनुसार, एक लोकतांत्रिक समाज की रचना में यह तो स्वाभाविक है, इसको होना ही चाहिये। कोई भी दूसरा देश, हम देखें तो काफी मतविवाद आपस में रहता है। वाम, दक्षिण व मध्य की हर पार्टी में बहस होती रहती है और यहां भी है। इस पर किसी को चिन्ता नहीं होती और चिन्ता का विषय यह होना नहीं चाहिये। यह जरूर है कि जनता में भ्रम फैलता होगा कि इन लोगों में आपस में फूट है तो यह कैसे चलेंगे। एक तो यह है कि कई पार्टियों को मिलाकर यह एक पार्टी बनी है। इस कारण भी इनकी पृष्ठभूमियों में अन्तर है और सोचने के जो ढंग थे, पहले का उनका जो जीवन विचार या अनुभव था उसका असर आज के प्रश्नों के हल करने पर पड़ता है। यह कोई ज्यादा चिन्ता का विषय कि पार्टी टूट रही है, नहीं होना चाहिये बल्कि ऐसा समझना चाहिये कि बन रही है। इसी तरह से आपस में वाद विवाद करके और एक दूसरे को समझा बुझाकर बढ़ते हुये यह ठोस बनेगी। एक दूसरे पर विश्वास होगा। एक दूसरे को समझेंगे। पुरानी पृष्ठभूमियां भूलेंगे। जनसंघ की एक पृष्ठभूमि है—वैसे तो किसी वैधानिक रूप से नहीं लेकिन फिर भी भावनात्मक रूप से उसका कोई खिंचाव राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ की तरफ है। यह सब कुछ दिन चलेगा। तब तक जब तक कि जनता पार्टी संयुक्त नहीं हो जाती। जे. पी. की राय है कि राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ की तरह जो संस्थाएँ हैं वे अपना काम करें। स्वयं सेवक संघ अपना काम करे पर उसको दलगत राजनीति में आने की जरूरत तो है नहीं या ऐसे ही और लोग भी हैं—सर्वोदय के ही लोग हैं—वे पार्टी के अन्दर दखल दें तो गैर मुनासिब बात होगी। वे अपना काम करें। काम बहुत है और ज्यादा काम तो दोनों प्रकार का है—क्रान्ति करने का और समाज

बदलने का और नया समाज बनाने का। लोगों को समझा बुझा कर उनकी शिरकत के साथ लोग इसमें लगें। सारी प्रक्रिया में यह अत्यन्त आवश्यक है। ऊपर से कोई चीज लाद दी जाये तो उसका आधार रहता नहीं है। ऊपर बदलता है जब नीचे भी बदल जाता है।

फिर भी अब जब कि पुनर्गठन का प्रश्न पैदा हो गया तो ये सभी प्रकार के विरोधाभास और तनाव जो पुराने संगठनों की विरासत के रूप में जनतापार्टी को मिले हैं, बाधाएं बनकर सामने आ रहे हैं।

बहरहाल, निस्सन्देह इन्दिरा गांधी ने पहल करके जनता पार्टी को अपने गठन के मामले में इन्दिरा पार्टी के प्रभावों का अनुसरण करने को बाध्य कर दिया है यद्यपि वरिष्ठ नेताओं ने विश्वास प्रकट किया है कि जनता पार्टी में कोई फूट नहीं होगी, तो भी इस तथ्य से आंखें मूंदे रखना व्यर्थ है कि 1974 जैसी राष्ट्रव्यापी चेतना के अभाव में जनता पार्टी दिन ब दिन कांग्रेस जैसी होती जाने को अभिशिप्त है। जितनी वह सरकार के साथ अधिकाधिक एकरूप होती जायगी, उतनी ही देर उसे जनता की आकांक्षाओं का मंच बनने में लगेगी।

सच पूछा जाए तो जनता पार्टी अभी तक आन्दोलन ही है और विभिन्न दलों एवं समूहों के विलय से गढ़ा गया ऐसा स्वरूप है जो कांग्रेसी राज के कुशासन तथा इन्दिरा गांधी की अधिनायकवादी प्रवृत्ति के विरुद्ध एक सीमित उद्देश्य के लक्ष्य से प्रेरित रहा है। कांग्रेस को पराजित करने का इसके अतिरिक्त अन्य कोई विकल्प हो नहीं था कि बिखरा बैठा विपक्ष कांग्रेसनुमा बन जाए। जनता पार्टी का नया स्वरूप क्या होगा और उसमें विलीन दलों और घटकों का सम्मेलन मिश्रण कितना एक रस बन पाता है यह भविष्य बतायेगा। यदि सभी विलीन दल किसी भी कारण से भीतर बैठे अपनेपन या पृथकताभाव को नहीं पचा पाये तो फिर जनता पार्टी की खिचड़ी भी अपचकारी बन सकती है। ऐसी स्थिति में जनता पार्टी को भी एक दल के रूप में अपने को ढालना और परिभाषित करना है। यदि जनता पार्टी इसमें सफल होती है और सत्ता की अपेक्षा वैचारिकता के नये और विश्वस्त आधार बनाती है तभी देश में राजनीति को नयी शैली मिलेगी।

जनता पार्टी समीकरण एवं ध्रुवीकरण

जनता पार्टी और सरकार में मोरारजी देसाई के साथी शुरू से ही जिस ध्रुवीकरण की परिकल्पना करते रहे हैं, वह क्या इस बिन्दु तक पहुंच गया है कि मोरारजी भाई 1969 में इन्दिरा गांधी की तरह जनता पार्टी तोड़ने की दिशा में कदम बढ़ा रहे हैं? वह बढ़ायें या न बढ़ायें जो होना है वह हो कर रहता है। उधर कुछ पुराने साथी चाह रहे हैं कि मोरारजी भाई यदि श्री चन्द्रशेखर तथा चरणसिंह शिविर का पार्टी

से निकलने के लिए मजबूर करके टूट की जिम्मेदारी दूसरों के मत्थे थोप दें। लेकिन मोरारजी न तो इन्दिरा गांधी हैं और न जनता पार्टी बेशमकश के बावजूद जनता पार्टी 1969 की भांति पूरी तरह किसी नये सिंडीकेट की गिरफ्त में है। इसके अलावा मोरारजी अपने आकलन के विपरीत, न चाहते हुए भी कान्तिभाई देसाई जैसे नाजुक मामले में उलझ गये हैं और इन्दिरा के प्रति भी उनकी सरकार का रवैया बेदाग नहीं रहा है। इसलिए मोरारजी के लिए तत्काल दो टूक फैसला कर लेना इतना आसान नहीं है। महाराष्ट्र का प्रयोग केन्द्र में दोहराना इतना आसान और सीधा होता तो वे एकता वार्ता को लम्बा न खिंचने देते।

इस बात में कोई शक नहीं है कि देसाई चरणसिंह विवाद इतना तूल नहीं पकड़ गया होता यदि इसके मूल में विभिन्न संगठित गुटों के बीच अधिकार के बँटवारे का संघर्ष न होता। जनता पार्टी का निर्माण कांग्रेस सरकार और पार्टी के प्रतिकेन्द्रीयकृत और बहुत हद तक एकाधिकारवादी प्रवृत्तियों के विरुद्ध बगावत के रूप में हुआ था। यानी इसके मूल में गैर-कांग्रेसवाद था। मगर जनता सरकार के बनने से यह गैर-कांग्रेसवाद बहुत हद तक कमजोर पड़ गया और ऐसी परिस्थिति पैदा हो गयी जिसमें जनता पार्टी के नाम से पुराने कांग्रेसियों का नेतृत्व स्वीकार करना पड़ा। इसलिए पार्टी को एक समरस स्वरूप देने के प्रयास की शुरूआत ही गलत हो गयी। अधिक से अधिक इसे एक अस्थायी संयुक्त मोर्चे का रूप मिल गया। उस समय आम लोगों ने और जनता पार्टी के कार्यकर्ताओं ने वस्तु स्थिति को इसलिए स्वीकार किया क्योंकि इतने अधिक दलों का इतने व्यापक स्तर पर एक राष्ट्र व्यापी संगठन बनने का यह पहला मौका था। मगर शीघ्र ही यह स्पष्ट हो गया कि पार्टी के विभिन्न घटकों ने इस स्थायी ढांचे में ही अपनी स्वार्थ सिद्धि देखी और किसी न किसी बहाने से इसे बनाये रखने की कोशिश की गयी। आरम्भ में यह कोशिश कांग्रेसी नेतृत्व की ओर से होती रही क्योंकि उन्हें इस बात की आशंका होती रही कि अधिक सक्रिय घटक भूतपूर्व जनसंघ, भूतपूर्व सोशलिस्ट पार्टी और भूतपूर्व लोकदल के सदस्य अपनी संख्या और जनसम्पर्क के आधार पर पार्टी पर हावी हो जायेंगे। मगर बाद के दिनों में यही भूमिका इन गैर कांग्रेसी दलों की ओर से निभायी जाने लगी क्योंकि गत महीनों में जनता पार्टी के कांग्रेसी नेतृत्व ने विभिन्न अवसरों विधानसभाओं का चुनाव, दक्षिण के चुनाव और महाराष्ट्र में मिली जुली सरकार आदि का लाभ उठाकर अपनी स्थिति मजबूत कर ली। अधिकार के बंटन में पदों पर कांग्रेसियों को रखा जाने लगा। मोरारजी देसाई, जगजीवन राम और चन्द्रशेखर की वैचारिक, स्वाभाविक और परम्परा की दूरी के बावजूद कांग्रेस गुट के एक होने का आभास दिया जाने लगा। चौधरी चरणसिंह और राजनारायण के मंत्रिमण्डल से निष्कासन और उसके परिणामस्वरूप पार्टी में तीव्र मतभेदों ने गैर कांग्रेसी

गुटो का और भी शकालु बना दिया। नतीजा यह हुआ कि अब व किसी न किसी बहाने से सानुपातिक प्रतिनिधित्व की वकालत करने लगे है।

जिन परिस्थितियो मे जनता पार्टी का गठन हुआ था उनम वचारिक मतभेद होना कोई अस्वाभाविक बात नही थी। किसी भी ऐसी पार्टी के लिए स्वस्थ परम्पराएँ स्थापित करने का एकमात्र रास्ता मतभेद है जो एक आकस्मिक और क्रान्तिकारी परिवतन स पैदा हुई हो। वचारिक सघप से ही एक सामूहिक एव साझा और आर्थिक आधार तैयार हो सकता था जो जनता पार्टी का एक शक्तिशाली राष्ट्रीय विकल्प के रूप म विकसित करता। इस प्रक्रिया म इस बात की आशका तो सदा बनी रहती है कि पार्टी मे से कुछ असतुष्ट या असहमत लोग अलग हो जायें। यह स्वाभाविक छँटनी पार्टी की समथता और निश्चित दिशा के लिए कोई अशुभ लक्षण नही होता। मगर जनता पार्टी के इस प्रकार के विकास का शुरू से ही बाधित किया गया और उसे केवल शिखर वार्ताओ और शिखर राजनैतिक जोड तोड तक ही सीमित कर लिया गया।

चरणसिंह और राजनारायण के निष्कासन के पीछे उचित कारण हो या न हो यह तो समय ही तय करेगा मगर यदि रास्त अलग होने की नौबत आ गयी थी तो अलग रास्त चलन मे क्या हज हो सकता था। मन्त्रिमण्डल म सामान्य मतभेदो या पार्टी म विचारो की विभिन्नता म कमी लाने की कोशिश मे मध्यस्थता का दौर इतना लम्बा और निरुद्देश्य सा चल पडा कि यह सवाल स्वाभाविक रूप से पैदा होता है कि आखिर मध्यस्थता किस लिय ? अगर प्रधानमन्त्री समझते है कि उनकी नीतिया सही हैं तो उन्हे उन नीतियो का औचित्य सिद्ध करने का मौका क्या न दिया जाय। यदि कुछ लोग पार्टी की एकता चाहते है तो एकता के लिये नीचे से पार्टी का सगठित करने की पहल करने की बजाय शिखर पर अनुपात तय करने की कोशिश क्यो की जा रही है। शायद जनता पार्टी के नताओ के पास इसका जवाब हो हालाकि इस बात म कोई शक नही कि अपने जवाबो म भी वह एक नही होगे, फिर भी जनता पार्टी के कायकर्ताओ और आम लोगो म यह धारणा बन चुकी है कि चौधरी चरणसिंह का निष्कासन, प्रधानमन्त्री की नयी पैंतरेबाजी, मध्यस्थता का चलना, बन्द होना, फिर चलना, किसान रैली की धमकिया और कडे स्वभाव का प्रदशन सब शायद इसलिए है कि जनता पार्टी को इसी असगत और तकहीन मोर्चे के रूप म जिन्दा रखा जाये जिसम आपात् स्थिति के तुरन्त बाद वह बनी थी।

जनता पार्टी सरल समीकरण का उदाहरण नही है। इसके विपरीत यहाँ जो भी समीकरण बन या बन रहे हैं व नितान्त जटिल व दुरूह तत्वो का आधार बनाकर बने हैं और उनम भी कुछ तत्व शायद अज्ञात है। चौधरी चरणसिंह और भूतपूव शान्ति दल के सदस्यो को जनता पार्टी से निकालना न पडे या उनका

प्रभाव क्षेत्र बिल्कुल सीमित न हो जाय, इसमें भूतपूर्व भारतीय जनसंघ के सदस्यों का निहित स्वार्थ इस तथ्य के बावजूद है कि भारतीय क्रान्ति दल और जनसंघ न तो आर्थिक ढांचे में, न काम प्रणाली में और न संगठनात्मक तौर तरीके में समान या समानान्तर रहे हैं। यह स्वार्थ इसलिए है कि चरणसिंह और उनके साथियों के निकल जाने या कमजोर हो जाने से जनसंघ अकेला पड़ सकता है और बढ़ते हुए कांग्रेसवाद के साथ बहुत जल्दी संघर्ष की स्थिति में आ सकता है। दूसरे शब्दों में चरणसिंह के निकल जाने के बाद ऐसी परिस्थितियां पैदा हो सकती हैं जहां वाजपेयी और उनके समर्थकों को पार्टी छोड़नी पड़े। निःसन्देह ऐसी स्थिति में वह अपना समय और शैली चुन लेंगे। इसलिए भूतपूर्व समाजवादी पार्टी के सदस्य खासकर मधुलिमये और उनके निकटवर्ती साथी भले ही यह महसूस करें कि कांग्रेसवाद के बढ़ते हुए प्रभाव के बावजूद सत्ता में उनके लिए स्थान रहेगा क्योंकि जैसा कि एक भूतपूर्व समाजवादी नेता और अब जनता पार्टी के सम्मान सदस्य ने कहा कि कांग्रेस और समाजवादी पार्टियां एक ही आन्दोलन, गांधीजी के आन्दोलन से पैदा हुई हैं। तब भी सवाल तो रह ही जाता है कि यह स्थिति जनसंघ के निकलने के बाद कितने दिन रहेगी। इस बात में कोई सन्देह नहीं होना चाहिए कि यदि जनता पार्टी दूसरी कांग्रेस बन जाती है तो भूतपूर्व समाजवादी पार्टी या तो उसका हिस्सा बनेगी जैसा कि बहुत से प्रसोपा सदस्य बन गए या फिर बाहर निकलने के लिए मजबूर हो जायेगी।

जनता पार्टी में कांग्रेस एवं ढीन ढाल गुट के रूप में एक तरफ इकट्ठी हुई नजर आ रही है तो दूसरे शिविर में एक दूसरे के प्रति शंकालु गैर कांग्रेसी नेता खड़े हैं। मगर दोनों शिविरों के बीच निकट भविष्य में तीव्र निर्णायक संघर्ष की गुंजाइश इसलिए नहीं है कि उस संघर्ष के बाद भी आज के इस मिश्रण का कोई विकल्प पैदा नहीं हो सकता। तर्क के लिए यदि यह भी माना जाए कि सभी कांग्रेसी एक ही शिविर में आ जाते हैं और वक्त से फायदा उठाने की इच्छा से वर्तमान कांग्रेस पार्टी और इन्दिरा कांग्रेस के बहुत से सदस्य आ पहुंच जाते हैं तब भी क्या कोई विकल्प तैयार हो सकता है। 1977 के आम चुनावों का गणित कुछ इतना टेढ़ा है कि कांग्रेस के नाम पर आम जनता ने किसी भी गुट का शासन चलाने के लायक नहीं रहने दिया है। कांग्रेस पार्टी के नाम पर 152 सदस्य चुने गए थे। जनता पार्टी में भूतपूर्व कांग्रेसियों की संख्या भी इतनी नहीं है कि कुल मिला कर प्रभावशाली बहुमत बन सके। इसलिए जनता पार्टी के निकट भविष्य में टूटने की आशंका इसलिए नहीं है कि उसका कोई विकल्प तैयार नहीं हुआ। केवल एक स्थिति इस गणित को बदल सकती है और वह है प्रशासन का बिगड़ जाना और राजनैतिक परिस्थितियों का नियंत्रण से बाहर हो जाना जिसमें कि मध्यावधि चुनाव कराना एकमात्र रास्ता रह जाये। इस स्थिति की आशंका अभी नहीं की जा सकती।

14

भारतीय राजनीति के आधार . जातिवाद एव क्षेत्रवाद और धन एव प्रशासन

(Bases of Indian Politics Casteism & Regionalism and Money & Administration)

हाल ही म आन्ध्रप्रदेश विधानसभा म एक विधायक ने बडे हास्यास्पद एव व्यग्यात्मक भाव म कहा कि भारतीय राजनीति के तीन केन्द्र बिन्दु ह और व है "स्त्री, जायदाद, एव शराब (Woman, Wealth and Wine) इसका तुरन्त प्रतिवाद करते हुए एक विधायिका न इसे स्त्री-जाति का अपमानित करने प्रयास का बताया । इस सन्दर्भ का अनदखा व अनसुना कर दिया जाए तो भी गत कुछ महीनो स जो तथ्य ('काण्ड') सामने आ रह है, वे वास्तव म न केवल सनसनीखेज व चौंकाने वाले ही ह, अपितु भारतीय राजनीति की आन्तरिक सडा ध को प्रगट करत ह । भारतीय राजनीति एव सामाजिक व्यवस्था की अन्य विकृतियो को एक क्षण के लिए भूलकर हम केवल बडे अधिकारियो व मन्त्रियो के 'लडका, दामादो, पोत्रो, या भतीजो' ('Sons, son inlaw, grandsons cousins or nephews etc)[1] आदि के भद्दे हथकण्डो एव राजनीति म इनके द्वारा किय जाने वाले हस्तक्षेप एव जनता से प्राप्त सरकारी खजाने या सत्ता क दुरुपयोग का ही विश्लेषण करे तो यह स्पष्ट हो जायेगा कि इनकी 'आभिजात्य राजनीति '(Elitist politics') व्यवस्था का अभिन्न अग बन चुकी है तथा वर्तमान व्यवस्था को इसी रूप मे विकृतिग्रस्त बनाये रखने मे इनके हित जुड गये ह । इस प्रकार भारतीय

---

1 सजय गाधी (श्रीमती गाधी के पुत्र) एव सुरीन्दर सिंह (बन्सीलाल के पुत्र) के बाद श्री कान्ति देसाई (मोरारजी देसाइ के पुत्र) चरणसिंह के दामाद व सुरेशराम (जगजीवनराम के पुत्र) देवराज अस के दामाद व चौधरी देवी लाल के पुत्र ओमप्रकाश याकूब बेग (मिर्जा बेग के दामाद) व जी० एम० शाह (शेख अब्दुल्ला के दामाद) आदि क विरुद्ध लगाए जा रहे आरोप प्रत्यारोप इस बात के कुछेक उदाहरण है ।

राजनीति का यह एक नकारात्मक आधार बनता जा रहा है, नकारात्मक इसलिए, क्योंकि आगे चलकर व्यवस्था ही नहीं अपितु स्वयं 'राजनीति' के प्रति यह नागरिकों के विश्वास को डगमगा सकती है तथा इसके क्या परिणाम हो सकते हैं सहज ही कल्पना की जा सकती है।

इसके अतिरिक्त भारतीय राजनीति के परम्परागत आधार हैं जातिवाद एवं क्षेत्रवाद और धन एवं प्रशासन। हम अब इनका अलग अलग अवलोकन करेंगे—

राजनीति का आधार जातिवाद

पश्चिमी विचारकों के द्वारा पश्चिमी एवं गैर-पश्चिमी राजनीतिक संस्थाओं में अन्तर किया जाता है उसका एक आधार यह बताया जाता है कि पश्चिमी देशों में व्यवस्था योग्यता के आधार पर होती है और गैर-पश्चिमी देशों में योग्यता के अतिरिक्त आधारों को अपनाया जाता है या दूसरे शब्दों में वे कहते हैं कि पश्चिम में राजनीति सामाजिक व क्षेत्रीय प्रवृत्तियों से स्वतन्त्र होती है और जो कुछ सामाजिक तत्वों का प्रभाव पड़ता है वह स्वयं में निर्णायक नहीं होता परन्तु गैर पश्चिमी देशों में सामाजिक प्रवृत्तियां राजनीति पर छाई रहती हैं और उसके स्वतन्त्र अस्तित्व को नहीं पनपने देती हैं।

पश्चिमी और गैर पश्चिमी राजनीतिक व्यवस्था के इस अन्तर को भारत के सन्दर्भ में जाति की जो राजनीति में भूमिका रहती है, उसके उदाहरण से बहुधा सिद्ध किया जाता है। यह कहा जाता है कि जाति की भारतीय राज्यों की राजनीति में निर्णायक भूमिका रहती है और इस कारण राजनीति का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं पनपने पाता और योग्यता तथा विवेक उसके आधार नहीं हो पाते। विशेषकर इस आधार पर यह भी कहा जाता है कि भारत लोकतन्त्र के योग्य नहीं है क्योंकि लोकतन्त्र का एक लक्ष्य यह भी माना जाता है कि व्यक्तिगत इच्छा स्वतन्त्र रूप से अभिव्यक्त हो, उसके ऊपर कोई बन्धन नहीं हो किन्तु जातिगत बन्धन व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को सीमित बना देते हैं। यह भी कहा जाता है कि प्रजातन्त्र का आधार यह होना चाहिए कि विवेक के आधार पर निर्णय लिए जाये। परन्तु जातीय व्यवस्था का प्रभाव विवेक को पीछे धकेल देता है और अवसरवादी समझौते की स्थिति उत्पन्न कर देता है। इसलिए यह मत व्यक्त किया जाता रहा है कि भारत की राजनीतिक संस्कृति जाति प्रधान होने के कारण लोकतन्त्र के अनुकूल नहीं है।

यह ठीक है कि जाति की भारतीय राजनीति में भूमिका है और जैसाकि रजनी कोठारी व रूडाल्फ आदि ने स्पष्ट किया है कि यह भूमिका नकारात्मक ही नहीं है अपितु इसके सकारात्मक पक्ष भी हैं। इस भूमिका का होना स्वाभाविक भी है क्योंकि कोई लौकिक विकल्प (Secular alternative) इसके स्थान पर नहीं पाया जाता। यह भूमिका केवल सामाजिक क्षेत्र तक सीमित हुई है और यह बात निवास व लेखा में भली भांति स्पष्ट है कि आज खान-पीन में, शादी विवाह में

जाति के बंधन ढीले पड़े हैं परन्तु राजनीति में स्वतन्त्रता के बाद जाति की भूमिका बढ़ी है क्योंकि मतदान की व्यवस्था के कारण प्रत्येक व्यक्ति को एक समान मतदान का अधिकार होने के कारण जातीय एकता व संगठन का राजनीतिक महत्व बढ़ गया है।

एक दूसरी बात जो इस सन्दर्भ में ध्यान रखने की है वह यह है कि जातीय भूमिका स्वयं में हर परिस्थिति में निर्णायक नहीं है। इसलिए उसका एकांगी महत्त्व नहीं है अन्य तत्वों से मिलकर महत्त्व बनता है। तीसरी बात जो अक्सर भुला दी जाती है, जो फिर रजनी कोठारी एवं रूडोल्फ की टीकाओं में स्पष्ट हुई है वह यह है कि केवल जाति का ही राजनीति पर असर नहीं पड़ता अपितु राजनीति का भी जातीय व्यवस्था पर प्रभाव पड़ा है और इससे कभी कभी ऐसा लगता है कि जाति व्यवस्था का स्वरूप बदल गया है तथा उसका लौकिकीकरण (Secularization) हुआ है। यह है पृष्ठभूमि जिसके अन्तर्गत जाति एवं राजनीति की क्रिया प्रतिक्रिया होती है।[1]

(१) **जाति की राजनीति में भूमिका** —इसमें जो महत्वपूर्ण प्रवृत्तियां अब तक के अध्ययनों में सामने आई, उनमें से प्रमुख निम्नांकित हैं —

(1) जाति के माध्यम से राजनीतिक चेतना प्रदान करने का प्रयास किया गया है। साधारणतः प्रत्येक जाति के अपने जाने माने नेता होते हैं उनका जाति में प्रभाव होता है। जातियों के अपने संगठन भी होते हैं और नेताओं तथा संगठनों के माध्यम से राजनैतिक चेतना का प्रसार सरलता से और तेजी से हो पाता है और विशेष कर वे जातियां जो शोषित रही हैं पिछड़ी हुई रही हैं उनमें आसानी से चेतना उत्पन्न की जा सकती है उनके शोषण के विरुद्ध उन जातियों के विरुद्ध जिन्होंने अल्प संख्या में होते हुए भी उनका शोषण किया है और वे संगठित होकर एवं यह पहिचान करके कि लोकतंत्र में उनके बहुमत की स्थिति का महत्व है, अपने व्यक्तित्व को विकसित करने पर तत्पर हो सकते हैं और विकास का वह अवसर जो उन्हें इस

1 See Kothari, Rajni Caste in Indian Politics (1970) Atal Yogesh 'Caste in Indian Politics, The Eastern Anthropologists, Vol, XXIV No 3 Sept Dece 1971 Mayer A C 'Caste and Local Politics in India & Ceylon Unity and Diversity' ed by Philip Mason 196 Gurye G H, 'Social Tensions in India' and Bhowmick A K "Society and Politics in Contemporary India

कारण नहीं मिला था कि ये शक्ति के स्रोता से दूर थे, उनका भाग पर गवत है। राजस्थान में जाटों में राजनीतिक चेतना का प्रसार महाराष्ट्र में मराठों के राजनीतिक अस्तित्व का उदय, तमिलनाडु में ब्राह्मणों के विरुद्ध जो वहाँ के पिछड़े वर्ग थे, उनका संगठित होकर उठना आदि सभी इसके ही उदाहरण हैं और इस प्रक्रिया में जैसा कि श्रीनिवास की व्याख्या से स्पष्ट है कि जो बहुमत वाली दबी हुई जाति थी उसके व्यक्तित्व का विकास सम्भव हो पाया है। ये सारे वे प्रभाव हैं जिनको रजनी कोठारी ने 'Political articulation' की श्रेणी में रखा है।

(ii) इस भूमिका का एक दूसरा पहलू है मानव समूह में बिखरेपन का दूर होना और उनमें संगठन का संचार होना तथा इस संगठन के आधार पर विशेषकर राजनीतिक क्षेत्र में, कार्य करने की प्रवृत्ति का पनपना। एक जाति के सदस्य राजनीति में भाग लेने के उद्देश्य से एक दूसरे के निकट आते हैं और सहयोग की भावना से काम करते हैं और इससे उनमें संगठन की भावना का आना और संगठन के फलस्वरूप शक्ति का संचार होना स्वाभाविक है। इस भूमिका को 'Integerative role of caste in politics' कहा जाता है।

(iii) इसी से जुड़ी हुई अन्य भूमिका यह है कि जाति के आधार पर समर्थन प्राप्त किया जाता है, मत मांगे जाते हैं, मत दिए जाते हैं और इस प्रकार से जाति की भूमिका का एक अन्य क्षेत्र जो हमारे सामने आता है वह है 'political mobilization' से सम्बन्धित।

(iv) अब तक जिस भूमिका की बात की गई है, वह विशेषकर राजनीति की भूमिका थी किन्तु इस भूमिका का एक ऐसा क्षेत्र भी है जिसमें राजनीति एवं सामाजिक पक्ष एक दूसरे में घुल मिल जाते हैं। इस सन्दर्भ में पिछड़ी हुई जातियों की यह जिज्ञासा आती है कि वह ऊँची जातियों के समान स्तर प्राप्त करें। इसके लिए वे जो स्वतन्त्रता पूर्व की प्रक्रिया अपनाते थे और जो बाद में और अधिक बढ़ी, वह थी अनुकरण की प्रक्रिया। वे अपने नाम अपना आचरण अपने खाने पीने के तरीके व अपनी वेशभूषा, उच्च जातियों के समान करने का प्रयास करते थे जिसमें वे कभी सफल होते थे और कभी असफल हो जाते थे तो इसके फलस्वरूप 'social mobility' सम्भव होती थी। इस अनुकरण की प्रवृत्ति को श्रीनिवास ने 'sanscritization' कह कर सम्बोधित किया है। जिसके अनुसार नीचे स्तर की जातियाँ ऊंचे स्तर की जातियों का अनुकरण करके 'social mobility' की

दिशा मे बढने का प्रयास करते। 'social mobility' को वास्तविक प्रोत्साहन political mobility से मिला है और यह सम्भवतया सम्भव हुई है राजनीतिक लोकतंत्र के फलस्वरूप। जैसे जैसे पिछडी हुई जातियो का उनके बहुमत के कारण राजनीतिक महत्त्व बढा और उन्हे राजनीतिक पद प्राप्त होने लगे तो उनका 'political mobility' का प्रयास सरलता से साकार होने लगा।

(b) जाति की राजनीति मे भूमिका अपवाद —जाति की राजनीति मे भूमिका निर्णायक भूमिका नही कही जा सकती है। इसलिए यह कहना गलत होगा कि केवल जाति ही भारतीय राजनीति का आधार है। अन्य तत्वो का भी महत्त्व है जैसे धर्म क्षेत्रवाद भाषा आर्थिक तत्व भौगोलिक एव स्वयं राजनीतिक तत्व आदि। इन सबके कारण जाति का प्रभाव सीमित हो जाता है एकाकी नही रहता। यह बात कुछ उदाहरणो की सहायता से समझी जा सकती है। साधारणतया यह कहा जाता है कि एक जाति के सभी सदस्य मिल कर सगठित रूप से अपनी ही जाति के उम्मीदवार को मत देते हैं। चुनावो के सम्बन्ध मे जो विभिन्न शोध कार्य हुये है और इसमे विशेषकर पूना के वी० एम० सिरसीकर का नाम उल्लेखनीय है। उनके शोध के फलस्वरूप इस मान्यता के बहुत से अपवाद सामने आये हैं जिनमे से कुछ ये हैं —

(i) जाति के प्रति निष्ठा और दल के प्रति निष्ठा मे प्रति विरोध पाया जाता है और इस प्रति विरोध के फलस्वरूप किसी भी जाति के सभी सदस्य मिलकर सगठित होकर एक ही उम्मीदवार को मत नही दे पाते। जातियो का समर्थन विभिन्न दलो के बीच बँट जाता है और यह जरूरी नही होता कि सभी दलो के उम्मीदवार एक क्षेत्र मे एक ही जाति से सबधित हो। ऐसी परिस्थिति मे चुनाव केवल एक जातीय आधार पर ही नही जीता जा सकता।

(ii) एक दूसरी मान्यता यह है कि चुनाव के टिकट दिए जाने मे केवल जातीय स्थिति का ध्यान रखा जाता है यह बात भी आंशिक रूप मे ही ठीक है परन्तु जहा तक इस आधार का प्रश्न है अन्य आधार भी इसके साथ जोडे जाते है उम्मीदवार की स्वयं की आर्थिक स्थिति कैसी है? वह क्षेत्र जिससे उम्मीदवार खडा हो रहा है उम्मीदवार वहा का है या नही अर्थात् उम्मीदवार का स्थानीय व्यक्ति होना का भी महत्त्व होता है।

यहा यह बात अवश्य महत्त्वपूर्ण है कि जितना छोटा क्षेत्र होता है उतना ही उसमे जाति का महत्त्व अधिक होता है अर्थात् जितना बडा क्षेत्र होता है उसमे जाति का प्रभाव उतना ही सीमित होता जाता है। जैसे पचायत मे विधान सभा एव विधान

सभा से लोक सभा के चुनावों की ओर उत्तरोत्तर जाति का प्रभाव कम होता जाता है। इसके अतिरिक्त यदि एक ही जाति के कई उम्मीदवार खड़े होते हैं तो उसमें भी जातीय अधीन बंट जाती है। यह भी देखा गया है कि क्षेत्र में जो विकास का काम हुआ है उसका भी मतदान की व्यवस्था पर प्रभाव पड़ता है। उन राज्यों में जहां विभिन्न जातियां एवं भाषा बोलती हैं या जिनमें क्षेत्रीय भावनाएं ज्यादा हैं वहां पर साम्प्रदायिक नारा या ज्यादा महत्व होता है अपेक्षाकृत केवल जाति की भूमिका के।

(iii) यदि केवल जाति के आधार पर मत मांगे जाते हैं तो उसका एक फल यह भी होता है कि जो अन्य सम्पन्न जातियां होती हैं उनके मानस पर गलत प्रभाव पड़ता है तथा वे संगठित होकर विरोध करने को उतारू हो जाती हैं।

राजनैतिक दल एवं जाति राजनीति

जनता पार्टी सरकार की आलोचना करते हुए कांग्रेस ने उस पर हरिजनों की रक्षा न करने का आरोप लगाया है। कांग्रेस का दावा है कि वह हरिजनों की रक्षा कर रही थी। जनता पार्टी ने जवाब दिया कि कांग्रेस के राज्य में भी हरिजनों पर जुल्म हो रहे थे और जनता पार्टी सरकार बनने के बाद से बढ़े नहीं हैं। सिर्फ ज्यादा प्रकाशित हो रहे हैं।

इन सभी आरोप प्रत्यारोप में थोड़ी थोड़ी सच्चाई है। पर ये सब कुल मिलाकर एक बहुत बड़ा झूठ है। हरिजनों की रक्षा की कांग्रेसी राजनीति सवर्णों को अनतकाल तक अपना वर्चस्व बनाये रखने की राजनीति रही है। हरिजन मुसलमान ब्राह्मण शक्तिपुंज बना कर ही 1971 का आम चुनाव कांग्रेस ने जीता था। 1974 के आते आते हरिजनों को अपने रक्षकों पर से विश्वास टूट चला था। ये तथाकथित रक्षक अन्य शोषकों से अपने को अधिक दयालु कितना ही दिखायें वगस्वार्थ के नाते वे हरिजनों के शोषक ही हो सकते थे और उनका रक्षक होने का रहस्य खुल गया था। हरिजनों में अपने अधिकारों की चेतना और सवर्ण शिखर राजनीति में अपने इस्तेमाल किये जाने के प्रति जागरूकता बढ़ गयी थी। यह कई दशकों से बराबर बढ़ती आ रही थी यह बात कांग्रेस के ही नहीं अन्य दलों के नेता भी इस भ्रम में भूले रहे थे कि उन्होंने कुछ एक हरिजनों को ऊँचे पदों पर ला कर बैठा दिया है।

1975 में जब गद्दी की रक्षा के लिये इंदिरा गांधी ने सभी नागरिकों का अदालत की शरण में जाने का अधिकार छीन लिया और इस जुल्म को छिपाने के लिए सेंसर लगा दिया था विमुख होते हुए हरिजनों को नये सिरे से अपना मतदाता बनाने के लिए न्यूनतम मजदूरी और बंधुआ मुक्ति के वायदे किये गये। बंधुआ मजदूर की मुक्ति कागज पर हुई और न्यूनतम मजूरी की घोषणा हुई। दोनों मामलों में न तो बंधुआ मजदूर को इतना राजनैतिक अधिकार दिये गये कि वह अपनी लौटी

हुई सम्पत्ति की रक्षा कर सके न खेतिहर मजदूर को सगठित होने दिया गया कि वह घोषित न्यूनतम मजूरी वसूल कर सके। वह उसे कहा कहा मिली यह ससर के कारण सब लोग नही जान सके। पर खेतिहर मजदूर जानता था कि उसे अपने अधिकार की सरकारी जानकारी तो दी गयी है पर जमीदार वह अधिकार नही दे रहे है और सरकार और पुलिस जमीदारो की ही है। यही नही जो एकमात्र अधिकार उसके पास बच रहा है—अपने असहाय विपन्न परिवार मे एक और समर्थक सदस्य बढाने का अधिकार वह भी उससे छीना जा रहा है। शहरो मे रहने वाले अर्थ शास्त्रियो की निगाह म इस अधिकार का उपयोग करना गरीबो की सख्या बढाना था पर उस आदमी के लिए जिसे देश के राजनैतिक ढाचे म देशव्यापी निर्णय करने के बराबर वचित रखा गया हो और पाच साल मे एक बार किसी तात्कालिक खतरे के भय से डर कर एक पार्टी की शरण मे आने को घेरा जाता रहा हो, अपना परिवार ही देश बन गया था। यह स्थिति इन्दिरा गाधी के परिवार के देश बन जाने से कितनी भिन्न थी यह इसी से सिद्ध है। अन्तत प्रजनन अधिकार की इसी एक अन्तिम लडाई मे उसने काग्रेस को चित कर दिया।

यह अप्रसत्य परन्तु महत्वपूर्ण सत्य है कि सेसर के जमाने म हरिजनो ने अपने न्यूनतम मजदूरी और अन्य अधिकारो के लिए सघर्ष करना चाहा था और यह कि आज उन पर ताकतवर वर्ग। के जुल्म की खबरे आ रही है व देर से पहुचने वाली खबरें हैं जो सेंसर खुलने के बाद मालूम हो सकी है। जब इन्दिरा कहती है कि आज भी सेंसर है और हरिजनो पर ज्यादतिया हो रही है तो वह आत्मतुष्ट अत्याचारियो की तरह भूल जाती है कि उनके वक्त म यह कहना भी जुर्म था कि सेंसर है। यह भी अप्रसत्य है कि जो भूपति भूमिहीनो पर जुल्म कर रहे है वे इसी लिए कर रहे है कि वे जनता पार्टी के समर्थक है दूसरा अप्रसत्य यह है कि वे ही पहले काग्रेस के समर्थक थे।

हरिजनो पर अत्याचार के मामले म पार्टियो की असलियत यह है कि कानूनी तौर पर भूमिहीनो का प्रतिनिधित्व भले ही करते हो, वे भूमिहीनो की पार्टिया नही है। यही एकमात्र सम्पूर्ण सत्य है। उनका नेतृत्व और सगठन शोषक वर्ग के हाथ म है और इस शोषक वर्ग म वे मध्य जातिया शामिल होती जा रही हैं जो पिछले वर्षो मे पिछडे होने के कारण मिलने वाली सुविधाओ से खुशहाल होने के लायक ताकत और सामान रखती थी और खुशहाल होने ही उन्होने की वर्तमान शोषक व्यवस्था को यथावत रखने म हाथ बटाया है चूकि जनता पार्टी मे इन मध्य जातियो का प्राधान्य है इसलिए काग्रेस का यह कहना आसान हो जाता है कि नयी सरकार बनने के बाद भूपति उद्दण्ड हो गये है जबकि सच यह है कि भूपति ही नही सभी ताकतवर—चाहे अग्रेजीदा हो चाहे नेता—अफसर, व्यापारी और जातिप्रथा के पालक लोग इमरजेन्सी के जमाने म इन्दिरा गाधी की ताकत म

निचुडी हुई पोषक शक्ति पी पी कर इतने निलज्ज हो गये हैं जितने समाजवादी विचार के डर से पिछले तीस साल में नही हो पाये थे। केवल लोकसभा में कांग्रेस को हटाया गया है। समाज में ताकत के बटवारे के मामले में और राजनीतिक दल के भीतर संगठन के मामले में मुट्ठी भर लोगो द्वारा भारत के बाकी लाखो को उत्साह, नीति निर्धारण और जिम्मेदारी के दायरे से बाहर का सदेह का कांग्रेसी विचार नही हराया गया है।

लोकतांत्रिक राजनीति, सामाजिक न्याय एवं वर्ग संघर्ष

जातिवाद आज कल जिस तरह संसद से सड़क तक चर्चा का विषय बना हुआ है उसे सुन कर ऐसा भ्रम होता है जैसे भारतीय राजनीति में यह एक नया और अनोखा तत्व है। सतही रूप से इस भ्रम के समर्थन के लिए अनेक प्रमाण मौजूद हैं। जो लोग जाति व्यवस्था को पिरामिड के आकार में एक श्रेणीबद्ध सामाजिक संगठन के रूप में देखते है उन के लिए निचली श्रेणी की जातियो का इस प्रकार चोटी तक पहुचना मूलभूत सामाजिक परिवर्तन का प्रतीक हो सकता है। सत्ता की दहरी तक इन का आगमन शास्त्रो द्वारा तय किये श्रम विभाजन के काम क्रम में क्रांतिकारी उथल पुथल का सूचक माना जा सकता है। किन्तु ये सब मन लुभावन निष्कर्ष यथार्थ नही, इतिहास के अज्ञान पर टिके हैं।[1] कृषक जातियो का राजनैतिक उत्कर्ष और राजनीति में जातिवाद का प्रयोग दोनो ही पिछले दो सौ सालो के इतिहास के जीवन्त अंग है। शिवाजी, सिंधिया, गायकवाड, सूरजमल जाट रणजीत सिंह और पटियाला जींद आदि के शासक इन्ही मध्य जातियो के सदस्य थे।

आधुनिक राजनीति में जातीवाद को लाने का श्रेय ब्रितानी सरकार को है। भारतीय समाज में एकता को असम्भव बनाने के लिए उन्होने जो अनेक रास्ते अख्तियार किये थे जातिवाद भी उनमें से एक था। 1857 की क्रांति के तुरन्त बाद ही सेना में सभावित विद्रोहियो के प्रवेश पर रोक लगाने के लिए सारे भारतीयों को लडाकू और गैर लडाकू की सूची मे बाट दिया गया था। जिन जिन जातियो के लोगो ने क्रांति में भाग लिया था उन पर लडाकू की मोहर लगाकर सेना में उन की भर्ती बन्द कर दी थी। बीसवी शताब्दी में इस सिद्धान्त का सशोधित रूप कृषक जातियो का कानून बना कर पंजाब पर लागू किया गया। इस कानून का उद्देश्य कांग्रेस के समर्थक बनियो के आर्थिक प्रभाव को घटाना था। मद्रास में असहयोग आन्दोलन के सहयोग दल के कारण ब्राह्मणो के विरुद्ध गैर ब्राह्मणो की जस्टिस पार्टी का सूत्रपात गवर्नर के निर्देशन में किया गया, जिस का विकसित रूप आज का द्रमुक है।

---

1 प्रभा दीक्षित उत्कर्ष पिछडी जातियो का या धनी किसानो का? 13 19 अगस्त, 1978

पिछडी जातियो के उत्कर्ष और जातिवाद के इतिहास का उल्लेख कर के हमारा लक्ष्य यह सिद्ध करना नही है कि आज का वतमान महज पुरानी परपरा की की एक अगली कडी ह, या यह कि इस मे कोई नया तत्व नही है। शिवाजी, सिंधिया या रणजीत सिंह ने अपनी राजनैतिक विजय को अपनी जाति के सकुचित दायरे म नहीं बधने दिया और न इस कारण दूसरी जाति के लोगो को अधिकार से वचित करने का ही प्रयास किया जैसाकि आज दक्षिण मे द्रमुक और हरियाणा मे जाट नेता करने का प्रयास कर रहे ह। साथ ही अट्ठारहवी शताब्दी का मध्य जातियो का यह उत्कर्ष सव व्यापी नहीं था। उत्तर और दक्षिण भारत के अनेक क्षेत्र इस प्रकार के सामाजिक परिवतन से सवथा मुक्त रहे है जैसा कि आज नही है। अग्रेजो और भारतीयो के जातिवाद का प्रयोग स्वरूप समान है, पर इस के लक्ष्यो म गुणात्मक भेद है। पर अग्रेजो ने जातिवाद का प्रयोग भारतीय समाज को विघटित रखने के लिए किया था। भारतीय जातिवाद का प्रयोग अपने दलगत स्वार्थों की समृद्धि के लिए या एक विशेष राजनतिक परिस्थिति से जूझने के लिए कर रहे है।

जाट या अहीरो के जातिवाद म प्रतिक्रिया की छाया देख कर जिस तरह तथा कथित प्रगतिशील बुद्धिजीवी और अखबार नवीस आज कल सयुक्त स्वरो म आर्त्त-नाद कर रहे है वह उन के दुहरे चितन का नवीनतम उदाहरण ह।

देवी लाल और रामनरेश यादव को मुख्यमत्री के पद पर बैठा देख कर जाति वाद की दुगन्ध आने लगी है। पर इदिरा गाधी के मत्रिमण्डल म जमे मिश्र शुक्ल, पत, त्रिपाठी दीक्षित बहुगुणा आदि मे इन्हें ब्राह्मणवाद का कोई चिन्ह नही दिख लाई दिया। शुक्ल पाडे जाशी और त्रिपाठी का मुख्यमत्रित्व प्रगतिशीलता का प्रतिनिधि त्व कर रहा था जो दो निचली जातियो के आते ही विलुप्त हो गया।

राजनीति मे जिस नये तत्व को जातिवाद की सज्ञा दी जा रही है उस का सबध जाती मे नही वग से है[1] इस के उद भव के कारण सामाजिक नही आर्थिक है।

---

1 Inaugrating the 1978 series of the Zakir Hussain Memorial Lecture on 'Social Justice and the democratic polity, on August 28, 1978 the defence minister Mr Jagjivan Ram said the recent resurgence of the democratic spirit coupled with the "all round awakening among the weaker sections" had provided the requisites for a radical restructuring of society The economy of the country was, however based in large number surplus which enabled the "owners of the property to operate their in estment with cheap labour, Attempts to ensure a "bias" in favour of

गहराई से देखने पर मध्य जातियों का उत्कर्ष एक वर्ग का उत्कर्ष दिखलाई देगा। यह वर्ग है सम्पन्न बड़े किसानों और जमींदारों का। इस लिए इस जाति समूह में अहीर, जाट गूजर के साथ राजपूत भी जुड़े हुए हैं। इन को जोड़ने वाला सूत्र सम स्वार्थ है, जाति या समसामाजिक श्रेणी नहीं। हिन्दू सांस्कृतिक और सामाजिक परंपरा के कारण कुछ विशेष जातियां इस वर्ग के साथ जुड़ गयी है जो इस के यथार्थ के बारे में एक गलत भ्रम खड़ा कर देती है। हर प्रदेश में सदियों से व्यवसाय के रूप में कृषि का काम कुछ गिनी चुनी जातियां करती आ रही हैं। पश्चिम और उत्तर भारत में जाट अहीर गूजर चार प्रमुख कृषक जातियां हैं अंग्रेजों की विजय से इनकी स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं आया। सारे रैय्यतवाड़ी क्षेत्र में सरकार की नीति जमीन मेहनतकश कृषक जातियों को देने की थी। ऊँची जाति वाले खुद खेती नहीं करते थे और हरिजनों को लापरवाह तथा आलसी कह कर खेती के अयोग्य करार कर दिया गया था। जमींदारों और ताल्लुकदारों ने कुछ अन्य कारणों से भी इस नीति का अनुसरण किया। स्थापित हिन्दू परम्परा के अनुसार द्विज वर्ग के लोगों से बेगार नहीं करायी जा सकती थी। ब्राह्मण के लगान की दर भी अन्य लोगों की तुलना में कम होती थी। जमींदारी उन्मूलन से जो कुछ भी परिवर्तन हुए उस का मुख्य लाभ काश्तकारी करने वाली इन जातियों को ही मिला। साधन हीन खेती भी हर मजदूर अर्थात हरिजन भूमिधारी बनने का अवसर मिलने पर भी भूमिधारी नहीं बन पाये। ठाकुरों से बची लगभग सब जमीन इन लोगों के कब्जे में चली गयी।

प्रारंभ के तीन चुनावों तक इस वर्ग की आर्थिक स्थिति ऐसी नहीं थी कि यह स्वतन्त्र रूप से राजनीति के मैदान में उतरता। अपने हितों की रक्षा के लिए इस ने अपना समर्थन कांग्रेस को दिया। छठे दशक में इस के प्रभाव के चिह्न रैयत वाड़ी क्षेत्र में स्पष्ट हो गये थे। प्रादेशिक मन्त्रिमंडलों में इस वर्ग को प्रतिनिधित्व दिया जाने लगा। प्रदेश में प्रबल होने के बाद केन्द्र तक पहुँचना इस की राजनैतिक यात्रा की तर्कसंगत परिणति है। अपने वर्गगत स्वार्थों की रक्षा के लिए ये जातियां कितनी सक्रिय हैं यह छठी लोकसभा की सदस्यों की सूची पर एक दृष्टि डालने से स्पष्ट हो जाता है। जनता पार्टी के 135, कांग्रेस के 52 और अन्ना द्रमुक के 7 सदस्यों का घोषित व्यवसाय कृषि है। जनता के 135 में से 65 ने केवल हाई स्कूल तक शिक्षा पाई है। केवल साम्यवादी दल ही इस के प्रभाव से अछूता है।

---

weaker sections in the generation of assets and incomes had not made much head way The schemes, "to make basic changes in the management in favour of labour" and to "shift of bias from the privileged to the underprivileged", have to be part of a "movement at the grass root level against economic, social and cultural privelege" he said

धनी किसानों की उपस्थिति यदि किसी दल को प्रतिक्रियावादी बनाती है तो प्रगतिशील कहलाने का अधिकार केवल साम्यवादियों के पास ही रह जायेगा। ग्रामीण क्षेत्रों में जनता पार्टी का सामाजिक आधार वही है जो अब तक कांग्रेस का था। दोनों में से कोई भी भूमिहीन खेतीहर मजदूरों की समस्या से सीधी टक्कर लेने के लिए उत्सुक नहीं है। जमींदारी उन्मूलन अधिनियम में कांग्रेस में बैठे जमींदारों ने अपनी रक्षा के लिए अनेक कानूनी छेद छोड़ दिये। आंशिक भूमि खो कर जमींदारों ने भूमिधारी का नया नाम पा लिया। नहरें कुएँ रासायनिक खाद, सरकारी कर्जा जो कुछ भी कृषि और किसानों की स्थिति को सुधारने के लिए किया गया, उसकी छाया तक के दर्शन चालीस प्रतिशत भूमिहीन ग्रामीण जनता को नहीं हुए। ये सब जमींदारों और बड़े किसानों की सेवा में समर्पित हो गये। जमींदारी उन्मूलन विधेयकों में किसान की जो परिभाषा दी गयी है वह कांग्रेस के क्रांतिकारी सामाजिक मसूबों की असलियत उजागर करने के लिए काफी है। जो अपने हाथों से खेती नहीं करता वह किसान नहीं है, यह कहने का साहस किसी भी प्रदेश के विधेयक में नहीं किया गया। किसान कौन है इसके लिए निम्नलिखित चार कसौटी तय कर दी गयी हैं —

1 जो किसानी का सारा या थोड़ा काम स्वयं करे।
2 जो कृषि के लिए हर प्रकार की पूंजी की व्यवस्था करें।
3 जो कृषि का प्रबंध या उसकी देखरेख स्वयं करे।
4 जो कृषि की क्षति का भार स्वयं उठाये।

इस क्रांतिकारी परिभाषा में गोड़ाई, निराई, बुवाई करने वाला खेतीहर मजदूर किसान नहीं है, पर कमर पर हाथ रख कर खेत का ताकने वाला जमींदार किसान है।

किसानों के नेता होने का दावा करने वाले लोग भी किसान उसी को मानते हैं जिस के पास जमीन है, उस को नहीं जो उस जमीन पर अपने श्रम का पसीना बहाता है। जिस किसान के हित में ये दिन रात व्याकुल रहते हैं वह भूखा नंगा किसान नहीं, बन्दूक और लाठी से लैस किसान है।[1] जो गुजरात में "मजदूरों और

1 The former Union health minister and the chairman of the All India Kisan Sammelan, Mr Raj Narain (the trusted lieutenant of Mr Charan Singh, the former Union Home Minister) told there was no conflict of the kisans and the Harijans The Kisan rally proposed to be held on December 23, 1978 was being held to voice difficulties faced by the farmers, whatever their caste, The Times of India, September, 18, 1978

हरिजनों से अपनी रक्षा के लिए" (या उन के दमन के लिए) सशस्त्र स्थानीय सेनाओं का संगठन करता है, जो हरियाणा, कंभावला, मराठवाडा, बिहार व विल्लुपुरम आदि में ग्राम मकानों की ही नहीं अपितु मनुष्यों की होली जलाता है। यह भी हमारी राजनीति की पुरानी परम्परा है। अपनी स्थापना के वक्त से आजादी तक कांग्रेस के नेताओं ने किसानों पर अत्याचार का विरोध किया, पर इन्होंने भी कृषि के व्यवसाय में लगे भूमिहीन किसानों को किसान न होने के कारण अपनी कृपा का पात्र नहीं बनाया। भारतीय संदर्भ में किसान कई बार सिर्फ एक नाम होता है, किसी व्यवसाय या प्रतीक नहीं।

आर्थिक विषमता में निहित विस्फोट की सम्भावनाओं को दबाने के लिए ग्रामीण क्षेत्रों में अपरोक्ष रूप से चल रहे वर्ग संघर्ष को जाति संघर्ष की संज्ञा जान बूझकर दी जा रही है। जाति को वर्ग के संदर्भ में च्युत करके ही शोषित जनता को छोटे-छोटे परस्पर विरोधी खानों में बाटा जा सकता है। बटाई पर खेती करने वाला अहीर और हरिजन खेतिहर मजदूर, दोनों समान शोषण के सदस्य होते हुए भी जातीय स्पर्धा के कारण अत्याचार के विरुद्ध संयुक्त मोर्चा नहीं बना पाते। संयुक्त मोर्चा न बन पाये, इसलिए वर्ग चेतना को जाति की चेतना के पत्थर के नीचे दबाये रखना सम्पन्न किसानों के निजी स्वार्थ की रक्षा के लिए आवश्यक हैं। जाति की चेतना सरकार के लिए भी एक सुविधाजनक स्थिति खड़ी कर देती है। मूल समस्या का समाधान किये बिना केवल अंतरजातीय दंगों को शांत कर के ही वह हरिजन हितैषी होने का यश प्राप्त कर लेती है। बिना आर्थिक परिवर्तनों के वर्ग संघर्ष को रोकने का एक मात्र रास्ता जाति संघर्ष है। जो आर्थिक सुधार तीस साल तक नहीं हुए वे निकट भविष्य में हो पायेंगे, इसकी कोई संभावना नहीं दिखलाई देती हैं। एक सचमुच की सामाजिक और राजनैतिक क्रांति का अवसर इस वर्ग के पास था, एक ऐतिहासिक दायित्व था, जिस को पूरा करने की क्षमता इन पिछड़ी जातियों के नेताओं के पास नहीं है। भूमिहीन खेतिहर मजदूरों, हरिजनों के साथ निर्धन जाट अहीर, कुर्मी और कुम्हार को न जोड़कर इन लोगों ने जाति को अपनी राजनैतिक शक्ति का आधार बना कर राजपूत जमींदारों के साथ गठबन्धन करके तानाशाही के पुनरागमन की पृष्ठ भूमि फिर से तैयार कर दी है। हरिजन, मुसलमान और ब्राह्मणों ने मसीहा के अवतार के लिए प्रार्थनाएँ आरम्भ कर दी है। समय के साथ इन जातियों की प्रवृत्ति में परिवर्तन नहीं आया हैं।[1]

---

1 यद्यपि पिछले सात आठ सालों में जहां मौखिक रूप से ही सही, हरिजनों की आंखों में सुन्दर भविष्य आता जाता रहा है वहीं लोकतन्त्र के मार्ग से खुश हाल खेतिहर जातियाँ प्रदेशों में शक्तिशाली होती गई। वे आर्थिक दृष्टि से भी सम्पन्न हुई हैं। अब यह असम्भव है कि हरिजन सभ्रांत तबके की धौंस

जाति की भूमिका महत्वपूर्ण होते हुए भी यह कहना कि जाति की भूमिका इतनी निर्णायक है कि अन्य तत्वों का महत्व ही नहीं है, ठीक नहीं है। भारतीय अनुभव बताता है कि यहां क्षेत्रवाद, भाषावाद, जातिवाद, विकास के लाभों का बँटवारा नेतृत्व की गरिमा और बहुत सीमित रूप से प्रचार भी मतदान को प्रभावित करता है।

(c) राजनीति का जाति पर प्रभाव—जो अंतिम प्रश्न है कि केवल जाति की राजनीति में ही भूमिका नहीं है अपितु राजनीति का भी जाति पर प्रभाव पड़ता है। जहां तक राजनीति का जाति पर प्रभाव का प्रश्न है उसमें सबसे महत्वपूर्ण बात है कि—

(i) विभिन्न जातियों के बीच राजनीतिक लाभ के लिए संगठन बने हैं और कभी कभी शताब्दियों की शत्रुता समाप्त हो जाती है क्योंकि राजनीति में कोई स्थायी मित्र व शत्रु नहीं हुआ करते। इस प्रकार से बहुधा राजनीतिक समझौते, संगठन, दलीय व्यवस्था और राजनीतिक सौदे भी ऐसे होते हैं जिनमें राजनीतिक लाभ के लिए एक से अधिक जातियां सम्मिलित होती हैं और इस प्रकार से एक लौकिकीकरण की प्रक्रिया (Secularization process) प्रारम्भ होता है, जिसका जातीय व्यवस्था पर भी प्रभाव पड़ता है।

(ii) एक ही जाति में राजनीतिक कारणों से या राजनीतिक प्रतियोगिता के लिए भिन्न भिन्न संगठन बनते हैं और विशेषकर उन क्षेत्रों में जहां एक ही जाति का बहुमत होता है, इन संगठनों की भूमिका स्वयं केवल जातीय आधार को लेकर ही नहीं चलती बल्कि अन्य आधारों को भी अपनाती है और इस प्रकार से जाति के आवरण में स्वयं यह संगठन लौकिक बिन्दु या एक प्रकार की नीतिक धुरी बन जाती है।

(iii) इस सन्दर्भ में जो सबसे महत्वपूर्ण बात है वह यह कि लोकतान्त्रिक माध्यम से जातीय आधार की खुली आलोचना सम्भव हुई है और उसके लौकिक विकल्प भी बनाने के प्रयास हुए हैं। अभी यह विकल्प पूरी तरह से उभर नहीं पाये हैं और इसलिए यह नहीं कहा जा सकता है कि उन्होंने जातीय आधार का स्थान ग्रहण कर लिया

और डाँट डपट को ईश्वर की इच्छा मानकर स्वीकार कर लें। अगस्त 1978 में आन्ध्र प्रदेश और तमिलनाडु में और बाद में महाराष्ट्र में हरिजनों ने यह सिद्ध कर दिया है कि मार खाने के लिए उनके पास पीठ ही नहीं है, अपनी रक्षा के लिए उनके पास दो हाथ भी हैं।

है परन्तु फिर भी विराम में नाम, विचारधारा पर बल और लौकिकवाद पर बल, यह सब उस नय दिशा की ओर अग्रसर होने के सूचक हैं।

(B) भारतीय राजनीति का आधार क्षेत्रवाद (Regionalism)

जाति की राजनीति में भूमिका के अतिरिक्त भारत में राज्यों की राजनीति का जो तत्व बराबर प्रभावित करता रहा है वह है क्षेत्रीयवाद। जब भारत स्वतन्त्र हुआ, उस समय देश में राष्ट्रवाद ज्यादा प्रबल था और क्षेत्रवाद की प्रवृत्तियाँ बहुत दबी दबी थी। इसका महत्वपूर्ण कारण था कि राष्ट्रीय आन्दोलन के फल स्वरूप देश का सम्पूर्ण ध्यान स्वतन्त्रता संग्राम की ओर लगा हुआ था और स्वतन्त्र होने का लक्ष्य वह लक्ष्य था, जिससे वे क्षेत्रीय स्वार्थ से ऊपर उठ कर राष्ट्रीय संघर्ष में लग जाते थे। इसका यह मतलब नहीं है कि उस समय क्षेत्रीय भावनाएँ नहीं थी फिर भी इसका व्यापक रूप नहीं था। यह चुनौती के रूप में हमारे सामने नहीं आया था।

स्वतन्त्र होने के बाद क्षेत्रवाद को बल मिला और इस सन्दर्भ में जो महत्वपूर्ण चरण रहे, वे है—देश में राजनीतिक एकीकरण (Political integration of country) विशेषकर देशी रियासतों का मिलना और कई देशी रियासतों को मिलाकर संघीय इकाइयों का निर्माण किया जाना जैसे मध्यप्रदेश राजस्थान आदि। द्वितीय 1956 में भाषा के आधार पर देश का पुनर्गठन किया जाना। एक और तो ये महत्वपूर्ण परिवर्तन हो रहे थे तो दूसरी ओर लोकतन्त्र का प्रयोग हो रहा था और राष्ट्र आर्थिक चुनौतियों का सामना कर रहा था। यह वह संदर्भ जिसमें क्षेत्रवाद उभर कर हमारे देश की राज्यों की राजनीति में प्रवेश करता है।

(1) **क्षेत्रवाद की व्याख्या**—क्षेत्रवाद की व्याख्या करना बहुत कठिन है क्योंकि इसकी रूपरेखा बहुत संदिग्ध है। इसका सम्बन्ध देश की राजनीति, समाज, अर्थ व्यवस्था शिक्षा, तकनीकी विकास आदि सबसे है। अतः क्षेत्रवाद अपने आवरण में 'Total concept' है। साथ ही क्षेत्रवाद की अभिव्यक्ति केवल मानव जीवन के भौतिक पक्ष में ही नहीं होती है, अपितु इसके मनोवैज्ञानिक पक्ष में भी होती है। अतः इसकी व्याख्या और भी कठिन हो जाती है। फिर भी व्याख्या को प्रारम्भ करने के लिए हम कह सकते हैं कि क्षेत्रवाद एक बहुमुखी भावना है जिसके विभिन्न पक्ष मनोवैज्ञानिक, भौगोलिक, सांस्कृतिक राजनीतिक और आर्थिक क्षेत्रों से सम्बद्ध हैं और इन सभी तत्वों से मिलकर जो मानसिक स्थिति उत्पन्न होती है उसे हम क्षेत्रवाद कह कर सम्बोधित करते हैं। यह जरूरी नहीं है कि क्षेत्रवाद की प्रत्येक अभिव्यक्ति में इन सभी तत्वों का समान मात्रा में योगदान हो कहीं कोई और कहीं

कोई तत्व प्रबल हो सकता है। और यदि हम क्षेत्रवाद के लिए न्याय करना चाहते है तो हम क्षेत्रवाद के दोनों पहलुओं—सकारात्मक व नकारात्मक—पर समान रूप से विचार करना चाहिए। सेलिग हरिसन ने भारतीय क्षेत्रवाद के केवल नकारात्मक पक्ष को देखा है, अतः इसी कारण से उनके निष्कर्ष गलत सिद्ध हुए हैं। सकारात्मक दृष्टि से क्षेत्रवाद व्यक्तित्व की खोज है और आत्म सिद्धि के प्रयास का प्रतीक है। यदि हम यह स्वीकार करें कि जब देश का प्रत्येक राज्य व्यक्तित्व सम्पन्न होगा, आत्म सिद्धि को प्राप्त होगा, तभी सामूहिक रूप से सारा देश उन्नत होगा। तब क्षेत्रवाद के इस पक्ष में एवं राष्ट्र निर्माण के उद्देश्य में स्वाभाविक एवं अनिवार्य विरोध दिखाई नहीं देता, यद्यपि सौदे की भावना अवश्य विद्यमान रहती है। जहाँ तक नकारात्मक पक्ष है, क्षेत्रवाद "A psyche of relative depreciation" को प्रतिबिम्बित करता है। इस दृष्टि से यह एक ऐसी प्रवृत्ति का प्रतीक है कि कोई क्षेत्र यह सोच रहा हो कि उसे जानबूझ कर विकास की सुविधाओं एवं लाभों से वंचित रखा गया हो और इसीलिए वह अपने आपको अन्य राज्यों से पिछड़ा हुआ मानता है, इसलिये नहीं कि उसे पिछड़ा हुआ होना चाहिए अपितु इसलिए कि उसे अन्यायपूर्ण पिछड़ी अवस्था में रखा गया है। दुर्भाग्य से भारत में अभी तक क्षेत्रवाद का नकारात्मक पक्ष ही उभरकर आया है सकारात्मक पक्ष दबा आया है, चाहे फिर वह आन्ध्र में तेलगाना हो, महाराष्ट्र में विदर्भ हो, गुजरात में सौराष्ट्र हो, उत्तरप्रदेश में पूर्वी यू० पी० हो अथवा राजस्थान में पूर्वी राजस्थान का प्रश्न हो। यदि क्षेत्रवाद अपने नकारात्मक पक्ष में बढ़ता रहता है और अगर इसकी पिछड़ी स्थिति को सुधारा नहीं जाता तो यह अवश्य ही राष्ट्र एवं लोकतन्त्र के लिए खतरा है।

इस प्रकार क्षेत्रवाद सकारात्मक पक्ष में सराहनीय है परन्तु हम यह नहीं भूलना चाहिए जो अब तक भारत में उभरा है, एक महत्वपूर्ण चुनौती है, जिसकी अभिव्यक्ति कभी शिवसेना महाराष्ट्र में, व लचित सेना आसाम में आदि हिंसात्मक वारदातों में हुई है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि इस चुनौती का सामना नहीं किया जा सकता। वास्तव में नकारात्मक को सकारात्मक में परिवर्तन करना भारतीय राजनीति के सम्मुख चुनौती है। अतएव यह मान लेना कि क्षेत्रवाद देश एवं लोकतन्त्र को समाप्त कर देगा, पूर्णतः सत्य नहीं है। वास्तविकता यह है कि भारत जैसे विशाल देश में एक ओर तो हमें क्षेत्रवाद के साथ जीना सीखना होगा, तथा साथ ही दूसरी ओर हमें प्रयत्न करना होगा कि क्षेत्रवाद का नकारात्मक पक्ष लुप्त हो जाये तथा सकारात्मक पक्ष उभरे और यही हमारी एकता के दर्शन का प्रतीक है।

(2) **क्षेत्रवाद के उतार चढ़ाव**—आज के क्षेत्रवाद के आधार पर सलिग हेरीसन (Salig Harrison) ने अपनी रचना India the most dangerous decade (1960 to 70) में बताया कि क्षेत्रवाद देश के लिए खतरा है और

यदि सभी जगह ऐसा रहा तो स्वतन्त्रता का भी खतरा है। यह प्रवृत्ति इसीलिए और भी बढ़ी क्योंकि लोकतन्त्र के फलस्वरूप प्रतियोगात्मक राजनीति को बढ़ावा मिला, आर्थिक क्षेत्र में भी प्रतियोगिता बढ़ी और जो राष्ट्रीय एकता धरोहर के रूप में मिली थी, वह भावना धीरे धीरे समाप्त सी होने लगी। चौथे आम चुनावों में आठ राज्यों में हुई कांग्रेस दल की हार से यह निष्कर्ष निकाला गया कि देश में क्षेत्रीय-भावनाएँ उभर रही हैं और इसी कारण इन चुनावों को "Regionalism of politics" व 'Ruralization of politics' आदि का प्रतीक बताया गया। इन चुनावों से हम जब आगे बढ़ते हैं तो हमें लगता है कि कांग्रेस में दरूनी तनाव बढ़ रहा है। इससे क्षेत्रीयकरण की प्रवृत्ति को भी प्रोत्साहन मिलता है। हम देखते हैं कि कांग्रेस विभाजन के समय तथा राष्ट्रपति के निर्वाचन में श्री वी० वी० गिरि को जिताने के लिए श्रीमती गांधी (सत्ता कांग्रेस) को डी० एम० के० पर भी काफी मात्रा में निर्भर रहना पड़ता है। केन्द्र द्वारा क्षेत्रीय दलों से गठबन्धन किया जाता है। राज्यों के नेताओं का महत्व बढ़ने लगता है। इन सभी कारणों से क्षेत्रवाद को बल प्राप्त हुआ। साथ ही चीन के आक्रमण के पश्चात् नेहरू के व्यक्तित्व को आघात पहुँचा और जब शास्त्री प्रधान मन्त्री बने तो उनका व्यक्तित्व भी केवल भारत-पाक युद्ध में जीत जाने पर थोड़ा उभरा किन्तु क्षेत्रवाद की प्रवृत्ति को खत्म करने से पहले ही चल बसा। इसके बाद कांग्रेस में श्रीमती गांधी के नेतृत्व को बनाने में राज्यों के नेतृत्व ने एक महत् भूमिका अदा की तथा Bargaining compromise की प्रवृत्ति पैदा हुई। राष्ट्रीय नेतृत्व कमजोर हुआ तथा राज्यों का व्यक्तित्व उभरा। जैसा कि बताया जा चुका है कि कांग्रेस विभाजन के पश्चात् सत्तारूढ़ कांग्रेस को डी० एम० के० व मुस्लिम लीग आदि क्षेत्रीय दलों से समझौता करना पड़ा। ये समस्त प्रवृत्तियाँ राष्ट्रीय व्यक्तित्व की कमजोरी के चिह्न थे। पंचम लोकसभाई चुनावों की संध्या पर यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि इसमें क्या क्षेत्रवाद बढ़ेगा या राष्ट्रीय धुरी सामने आयेगा? देश का बुद्धिजीवी वर्ग मैक्सवेल की इस भविष्यवाणी का समर्थन करता हुआ दिखाई दे रहा था कि 'कांग्रेस के पतन के साथ देश की राजनीतिक व्यवस्था का भी पतन हो जायेगा।' यह भविष्यवाणी मैक्सवेल ने चौथे आम चुनावों की संध्या पर की थी जो कि उस समय तो पूरी न हो सकी किन्तु पंचम लोकसभा के चुनावों के समय साकार होने की आशा होने लगी।

लेकिन पंचम लोकसभाई चुनाव से क्षेत्रवाद उभर कर नहीं आया अपितु 'Differentiated, national secular structure' का निर्माण होता हुआ दिखाई दिया। परन्तु यह प्रवृत्ति अभी बहुत प्रारम्भिक स्तर पर थी तथा यह शंका थी कि आने वाले पंचम विधानसभाई चुनावों में यह प्रवृत्ति पुनः उभरे। किन्तु 1971 के भारत पाक युद्ध एवं बांगला देश के अभ्युदय ने मार्च 1972 में नया सत्तारूढ़ दल द्वारा

जगाई गई आकांक्षाओं के परिप्रेक्ष्य में यह शंका निराधार थी और परिणामतः 1972 के पंचम विधान सभाई चुनावों में क्षेत्रीयता लगभग समाप्त सी हो गई। यही कारण है कि इन चुनावों को 'deregionalization of politics' के प्रतीक के रूप में बताया गया।

सत्तारूढ़ दल द्वारा देश की पीड़ित व असहाय तबके में जगाई गई आकांक्षाओं की पूर्ति के स्थान पर उन पर आई अधिक महँगाई के भार ने एक झटके में ही क्षेत्रीयता विरोधी भावना को झकझोर कर रख दिया तथा पुनः देश में क्षेत्रीय-प्रवृत्तियां उभरने लगी। गुजरात एवं बिहार हिंसात्मक कार्यवाहियों के केन्द्र बने। उत्तरप्रदेश के चुनावों में कांग्रेस की पूर्व स्थिति नहीं रही, गुजरात में विरोधी दलों से बने जनता मोर्चे की सरकार स्थापित हुई। प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गांधी के विरुद्ध दिये गये इलाहाबाद उच्च न्यायालय के निर्णय के पश्चात् विरोधी दलों द्वारा अपनाई गई असंवैधानिक आक्रामक एवं संगठित वारदातों ने एक बार पुनः सत्ता को हिला दिया। सरकार को लगने लगा जैसे भारत अराजकता के कगार पर आ खड़ा हुआ है तथा कोई भी छोटी सी चिनगारी यहां विस्फोटक स्थिति पैदा कर सकती है अतएव सत्तारूढ़ दल के लिए यह परीक्षा की घड़ी थी। ऐसे समय प्रधानमंत्री श्रीमती इन्दिरा गांधी ने (सरकारी सूत्रों के अनुसार) देश में आपातकाल (आभ्यान्तरिक) की घोषणा करवाने का निर्णय लेकर राष्ट्र को ऐसी स्थिति से बचा लिया। आज हम अनुभव करते हैं कि क्षेत्रीयवाद का नकारात्मक पक्ष किस प्रकार राष्ट्र के लिए घातक हो सकता है किन्तु यहां यह उल्लेखनीय है कि राष्ट्र में नकारात्मक क्षेत्रीयता उत्पन्न नहीं हो, इसके लिए हमें हमारी आर्थिक विषमता, राजनीतिक अनुशासनहीनता, पद लिप्सा आदि अनेक बुराइयों से लड़ना होगा। आपात काल की घोषणा समाप्त किए जाने के बाद अब देखना है कि देश में क्षेत्रवाद का भावी स्वरूप क्या होगा?

(3) **क्षेत्रवाद की अभिव्यक्ति**—राज्य का क्षेत्रवाद की अभिव्यक्ति की इकाई के रूप में मानने पर इसकी अभिव्यक्ति के तीन रूप हमारे सामने आते हैं :

(A) Supra state regionalism—जब हम Supra state regionalism की बात करते हैं तो यह वह स्थिति है जिसमें कई राज्य एक साथ मिल हुए दिखाई देते हैं और इस प्रकार यह क्षेत्रवाद एक राज्य की सीमा को छोड़ कर कई राज्यों की सीमा को छूता है। अतः हम Supra state regionalism कहते हैं। इसका सबसे अच्छा उदाहरण उत्तर व दक्षिण भारत (South north India) के बीच जो व्याप्त तनाव होता है उसमें मिलता है, दक्षिण भारत के राज्य जो अंग्रेजी भाषा चाहते हैं एक क्षेत्र में तथा उत्तरी भारत के राज्य जो हिन्दी भाषा चाहते हैं दूसरी श्रेणी में दृष्टिगत होता। इस प्रकार दक्षिण वाले राज्य में उत्तरी "साम्राज्यवाद" (Linguistic Imperialism) थोपने की शंका रहते हैं।

(B) Inter state regionalism—राज्यों के बीच के क्षेत्रवाद की इकाई राज्य होती है। यह राज्य अन्य किसी राज्य से प्रतिस्पर्द्धा करता हुआ तनाव एवं वैमनस्य की स्थिति में दिखाई देता है, चाहे यह तनाव सीमा के प्रश्न पर है जैसे महाराष्ट्र मैसूर सीमा विवाद चाहे पानी के तनाव के रूप में हो जैसे भाखरा का पानी, कावेरी जल विवाद, या फिर चाहे 'स्टील प्लांट' किस राज्य में स्थापित किया जाए, इस विषय में विवाद हो। और फिर चाहे यह आर्थिक सुविधाओं के लिए प्रतिस्पर्द्धा की स्थिति में हो। जो चीज उन्हें प्राप्त है, उसे वे आसानी से दूसरे राज्यों को बाटना नहीं चाहते हैं। जैसे यू०पी० में गेहूं व आंध्र में चावल अधिक पैदा होता है तो ये भारी दिल से ही इन्हें दूसरे राज्यों को भेजना पसन्द करते हैं।

(C) Intra state regionalism—अधिकांश राज्य भारत में काफी बड़े हैं और उनका संगठन या तो 1948 व 1950 के बीच हुआ या वे 1956 में पुनर्गठित हुये। इस प्रकार से कई राज्यों से मिलकर चाहे वे फिर देशी रियासतें हों या पुराने प्रान्तों से मिलकर आधुनिक राज्य बने हों। इन आधुनिक राज्यों का अभी तक एक संगठित व्यक्तित्व उभर नहीं पाया है, यद्यपि राजनीतिक एकीकरण हो गया है, भाषा के आधार पर एकीकरण हो गया है किन्तु इनके व्यक्तित्व का एकीकरण नहीं हुआ अपितु अलग अलग बना हुआ है जैसे—तेलंगाना आन्ध्र में, विदर्भ महाराष्ट्र में, पूर्वी राजस्थान क्षेत्र राजस्थान में तथा सौराष्ट्र गुजरात में अपना अलग व्यक्तित्व बनाये हुए हैं तथा यदा कदा इन क्षेत्र विशेष के निवासियों द्वारा आन्दोलन किये जाते रहे हैं। यह प्रवृत्ति इसलिए भी बढ़ती है कि एक राज्य के सम्पूर्ण भागों का सन्तुलित विकास नहीं हो पाता। जिस भाग में मुख्यमंत्री या अन्य प्रभावशाली मंत्री होते हैं उसका अधिक विकास हो जाता है जैसे, राजस्थान में उदयपुर व जोधपुर। कभी कभी राजनीतिक गुटबन्दी के कारण विकास के लिए पक्षपात भी किया जाता है। अतः एक भाग की अपेक्षा अधिक श्रद्धा रखते हैं। उस भाग के विकास के लिए वे कभी-कभी क्षेत्रीय आधार पर आन्दोलन चलाते हैं। जैसे शिवसेना ने 'महाराष्ट्र महाराष्ट्रियों के लिए तथा लक्षित सेना ने आसाम आसामियों के लिए' का नया नारा लगाकर आन्दोलन किये। इस Intra state regionalism के पीछे भी अधिक राजनीतिक शक्ति की आकांक्षा तथा अधिक आर्थिक विकास की भावना पायी जाती है।

(4) क्षेत्रवाद के तत्व (Elements of the regionalism)—क्षेत्रवाद के उभरने में सहायक तत्वों को चन्द भागों में बांटा जा सकता है —

(A) भू सांस्कृतिक(Geo cultural Components)—हमारे देश की राज्यों का राजनीति क्षेत्रवाद की अभिव्यक्ति म इसे बल प्रदान करने म इस तत्व की बहुत अधिक भूमिका रही है।

(i) **भौगोलिक सीमाए** (Geographical bound areas)—जब हम भारत म क्षेत्रवाद की भौगोलिक आधार पर बात करते है तो हमारे समक्ष भौगोलिक सीमाओ (geographical boundries) के तीन रूप आते ह '

अतीत सम्बधी भौगोलिक सीमाए—भारत म स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् राजनीति का एकीकरण हो चुका है तथा भाषा के आधार पर पुनर्गठन हो चुका है, फिर भी अतीत की भौगोलिक सीमाए हमारी स्मृति मे है। आज भी राजस्थान के नागरिक अपने मानस म पुराने उदयपुर, जोधपुर राज की सीमाए या महाराष्ट्र मे विदर्भ आन्ध्र मे तेलगाना तथा गुजरात म सौराष्ट्र की भौगोलिक सीमाए बसाये हुए ह। हमारी भक्ति के केन्द्र (loyalty structure) आज भी पुरानी व नई भौगोलिक सीमाओ के बीच बट हुये हैं। और जो हमारी क्षेत्रवाद की भावना है वह हमारी इन बटी हुई निष्ठा के केन्द्रो के फलस्वरूप उत्पन्न भावना की प्रतीक ह। ये इसलिए और भी बट जाते ह कि यदि सरकार म उदाहरणत—उदयपुर के ज्यादा लोग ह तो वे नाराज होते ह जो जोधपुर या जयपुर के प्रदेशो मे रहते है। उन्ह कभी-कभी ऐसा भी महसूस होता है कि ऐसा जान-बूझ कर किया गया है।

नयी सीमाए भी क्षेत्रवाद मे भूमिका अदा करती ह। नयी सीमाओ पर हम गर्व करने लगते हैं यह तो ह सकारात्मक रूप। किन्तु यही जब दो राज्यो के बीच विवाद का विषय हो जाता है तो वह नकारात्मक रूप ले लेता है फिर चाहे वह महाराष्ट्र मैसूर सीमा विवाद हो या केरल-तामिलनाडु विवाद हो।

भावी भौगोलिक सीमा की कल्पना जैसे विशाल हरियाणा की भावी भौगोलिक कल्पना भी नये क्षेत्रवाद की भावना को जाग्रत कर सकती है। इस प्रकार तीनो प्रकार की सीमाए क्षेत्रवाद मे भूमिका अदा करती ह।

(ii) **जाति (Caste)**—इसे दो भागो म बाट कर क्षेत्रवाद को बढाने म इसकी भूमिका को देख सकते है (a) Dominant-caste region State म जाति और क्षेत्रवाद की रेखाए मिल जाती हैं। राज्य म यही कभी कभी उग्ररूप धारण कर लेती ह जहाँ Domin te

region होता है। इसके विपरीत (b) Multi castes region State म जाति की भूमिका बँट जाती है तथा क्षेत्रवाद का बढान म अधिक सहायक नही होती है जैसे राजस्थान व बिहार।

(iii) धर्म (Religion)—धर्म बहुधा क्षेत्रवाद को इतना बल नही देता, जितना कि विभिन्न क्षेत्रो को एक दूसरे म मिलाने म सहायक होता है क्योकि बहुधा (जनसख्या के बटवारे का देखा जाए तो) एक धर्म के मतावलम्बी विभिन्न भागो म पाये जाते हैं। दूसरी ओर जहा क्षेत्रवाद होता है वहा विभिन्न धर्मों के लोग भी निकट आ जाते है। यह क्षेत्रवाद का सकारात्मक रूप अधिक है।

(iv) भाषा (Language)—भाषा क्षेत्रवाद का एक महत्वपूर्ण तत्व माना जाता है। यहा तक कि क्षेत्रवाद के वर्गीकरण म एक प्रकार का 'linguistic regionalism' अलग से गिना जाता है। जैसे आसाम एव बगाल के बीच भाषायी दगे तथा तामिलनाडु मे हुये आन्दोलन आदि। भाषा के माध्यम से लोगो को एकत्रित करते हैं, समुचित क्षेत्र एव इकाई के रूप मे सगठित होकर दूसरी भाषायी इकाईयो के सामने आते है, प्रतियोगिता करते हैं, इससे वैमनस्यता बढती है किन्तु केवल भाषा ही इस वैमनस्य का कारण हो, ऐसी बात नही है। इसके लिए आर्थिक पिछडापन महत्वपूर्ण कारण है। भाषा से क्षेत्रवाद को बल अवश्य मिलता है किन्तु यह भी नही है कि एक भाषा के अन्दर ही क्षेत्रवाद न हो। जसे आन्ध्र-तेलगाना म भाषा एक ही है। अत अन्दरूनी तौर पर भी आपस मे तनाव हो सकता है क्योकि तेलगाना वासियो ने कहा था कि उनका शोषण किया जा रहा था।

(v) इतिहास (History)—इतिहास भी क्षेत्रवाद मे एक भूमिका अदा करता है। इतिहास हमे 'symbolism in politics' प्रदान करता है। यह positive symbolism एव negative symbolism दोनो हो सकता है। महाराष्ट्र म शिवाजी, राजस्थान म महाराणा प्रताप, प० बगाल म टैगोर तथा राष्ट्रीय स्तर पर गाधी व नेहरू आदि की प्रशसा करना इसके सकारात्मक रूप है। किन्तु दक्षिण म राम की प्रतिमा व रामायण का निरादर इसका नकारात्मक स्वरूप है। इस तत्व का अभी तक बहुधा सकारात्मक प्रयोग हुआ है।

(iv) Migrants V/s Sons of the Soil—आंध्र म तेलगाना राजस्थान म पूर्वी० वासियो को लेकर सदा कगड प्रश्न उपस्थित होते रहते है अत ऐसी मान्यता कि जो स्थान बाहर के आये व्यक्तियो ने भरे है अगर व नही आते तो soil के sons इनका उपयोग करते।

अत geo cultural elements एकाकी या सामूहिक रूप मे क्षेत्रवाद को वल प्रदान करते है ।

(B) Economic & technological components—क्षेत्रवाद की प्रवृत्ति को बढ़ाने मे यह बहुत अधिक महत्वपूर्ण तत्व है । चूंकि हमारे देश म साधन सीमित है । अत लोगो का ध्यान शीघ्र ही जाता है कि साधनो का न्याय सगत बँटवारा हो रहा है या नही ? और विभिन्न क्षेत्र वाले यह आसानी से मान लेते है कि उनका राजनीतिक कारणो से शोषण हो रहा है । इसे ही 'problem of economic imbalance' कहा जाता है । जसे आरोप लगाया जाता था कि रेड्डी सरकार म आन्ध्र की लोक सेवा पर जो व्यय हुआ, वह तेलगाना के हितो की कीमत पर हुआ है । ऐसी भावना तेलगाना वासियो म थी । जबकि वास्तविकता कुछ और थी । मनोवैज्ञानिक दृष्टि से आर्थिक शोषण की भावना शीघ्र ही पैदा कर दी जाती है । अत अलग राज्य की माग जोर पकडती है । तकनीकी ज्ञान के केन्द्र दूसरी ओर क्षेत्रवाद को सीमित करते है जसे राजस्थान नहर व भाखरा बाध पजाब और राजस्थान को एक दूसरे के नजदीक लाने म सहायक ह । इन केन्द्रो म विभिन्न क्षेत्रो के व्यक्ति साथ रहते है अत राष्ट्रीय एकता बढती है । अत विज्ञान और तकनीकी प्रयास क्षत्रवाद को बढावा न देकर उस सतुलित दिशा की आर ले जाने का प्रयास करते ह ।

(C) Political Component—राजनीति क्षेत्रवाद को पदा नही करती अपितु बढावा देती ह । चूकि सबको समान मत देने का अधिकार प्राप्त हैं अत अपने मतो का प्रयोग अपने क्षेत्र के लिए चाहते ह जैसे तेलगाना प्रजा समिति को मत तेलगाना प्राप्त करने के लिए दिये गये । इसी प्रकार पजाब म अकाली दल तथा महाराष्ट्र मे विदभ के लिए दल अपने राजनीतिक स्वार्थ की पूर्ति हेतु चुनाव मैदान म उतरे ।

(D) Psyche Component—अनेक विचारको के अनुसार यह अलग तत्व नही है अपितु एक प्रकार से निष्कर्ष है । अर्थात् इसका स्वय का पृथक अस्तित्व नही है । यह बात सही है या नही, कहना कठिन है । परन्तु क्षेत्रवाद जसे-जसे मजबूत होता, उसमे Psyche तत्व की भूमिका बढती जाती है, वह स्वय मे मौलिक, स्वतन्त्र पृथक व्यक्तित्व प्राप्त कर लेता है और कभी कभी ऐसा भी होता है कि अन्य तत्वो पर विजय प्राप्त कर लेने पर भी इस तत्व पर विजय प्राप्त करना मुश्किल हो जाता है ।

(5) **क्षेत्रवाद का राजनीति मे स्वरूप** (Politics and Regionalism in India)—इसे निम्न बिन्दुओ से देखा जा सकता है—

क्षेत्रवाद एवं राजनीति के बीच निरन्तर प्रतिक्रियाएँ पायी जाती हैं।

(i) किन्तु प्रश्न यह उपस्थित होता है कि राजनीतिक एकीकरण के माध्यम से क्या पूर्ण एकीकरण प्राप्त हो जाता है? वास्तव मे राजनीतिक एकीकरण से एकीकरण की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है, समाप्त नही होती है और इस एकीकरण की व्यवस्था, प्रक्रिया को पूर्ण करने के लिये आर्थिक, सामाजिक तथा दोनो के फलस्वरूप मनोवैज्ञानिक एकीकरण भी आवश्यक है। हमने राजनीतिक तथा आर्थिक एकीकरण प्राप्त कर लिया है किन्तु हम सामाजिक तथा भावात्मक एकीकरण प्राप्त नही कर सके हैं।

(ii) भाषा के आधार पर यदि राज्यो का निर्माण नही होता तो यह सम्भव था कि क्षेत्रवाद इतना उग्र रूप ग्रहण नही करता तथा उसकी राजनीति इतनी जटिल नही हो पाती। इस तथ्य पर विवाद है। मोरिस जोन्स का कहना है कि क्षेत्रवाद का आधार भाषा नही अपितु आर्थिक विकास मे असन्तुलन है तथा भाषायी पुनर्गठन से राज्य का व्यक्तित्व एकता के सूत्र मे बंध पाया है तथा भारत विभिन्नता मे एकता प्राप्त कर पाया है। परन्तु कुछ विचारकों के अनुसार भाषा से क्षेत्रवाद की तीव्रता बढी है। सेलिग हैरीसन का ऐसा विचार है कि इससे विभिन्नता की प्रवृत्ति भी बढी है। निश्चयात्मक रूप से यह कहना कठिन है कि दोनो मे कौन सही है? प्रश्न के दूसरे पक्ष के अन्तर्गत राजनीतिक जटिलता के प्रश्न के उत्तर भी नकारात्मक ही है। यह कहा जाता है कि क्षेत्रवाद की राजनीति शक्ति व्यक्तिगत स्वार्थ तथा आर्थिक विकास की राजनीति है इसमे भाषा की भूमिका बहुत सीमित है।

(iii) राजनीति क्षेत्रवाद को जन्म नही देती अपितु उसको बल प्रदान करती है उसे जटिल बना देती है।

(6) राजनीति मे क्षेत्रवाद का प्रयोग[1]—राजनीति मे क्षेत्रवाद के प्रयोग के अनेक पक्ष सामने आते है जैसे—

---

1 क्षेत्रवाद एवं राजनीति पर विस्तृत अध्ययन के लिए देखें— Salig Harrison India The Most Dangerous Decade (Ox-ford 1960) S P Ayar (ed) The Politics of Mass Violence in India (Manakala 1967) Chapter 1, 2, 11, & 12, Duncan B Forester Sub regionalism in-

(a) क्षेत्रवाद के आधार पर केन्द्रीय सरकार पर प्रभाव डाला जाता है तथा उससे लाभ व सुविधाएँ प्राप्त करने का प्रयास किया जाता है चण्डीगढ के लिए पजाब ने केन्द्र पर क्षेत्रीय प्रभाव डाला। इसी प्रकार तमिलनाडु को अधिक अनुदान देने के लिए केन्द्र पर प्रभाव डाला गया, विशेष तौर से जब श्रीमती गाधी की सरकार अल्पमत मे थी। इसी प्रकार महाराष्ट्र मैसूर सीमा विवाद पर इन दोनो राज्यो ने क्षेत्रीय आधार पर केन्द्र पर प्रभाव डाला। महाराष्ट्र ने चह्वाण के माध्यम से विशेस तौर से उस समय जब मैसूर मे काग्रेस (सगठन) की सरकार थी, क्षेत्रीय आधार पर केन्द्र पर अपने पक्ष मे प्रभाव डाला।

(b) क्षेत्रवाद के आधार पर दल और राजनीतिक गुट अपना समर्थन प्राप्त करने की कोशिश करते है और वे अपने पहलुओ पर खडे होने के लिये व बल प्राप्त करने के लिए क्षेत्रीय आधार पर जनता से अपील करते है। जसे शिव सेना, तेलगाना प्रजा समिति तथा अकाली दल की अपील का आधार क्षेत्रीय रहा है। क्षेत्रीय आधार को चुनाव के समय भी प्रयोग म लाया जाता है। उम्मीदवार क्षेत्रीय आधार पर खडे किये जाते हैं। जनता को उम्मीदवारो के पक्ष एव विपक्ष मे सगठित किया जाता है। मत क्षेत्रवाद के आधार पर माग जाते है। जब तक क्षेत्रीय मागे पूरी नही होती तब तक यह प्रयोग ज्यादा सफल होता है। और जब पूरी हो जाती है तब इसकी अपील की शक्ति सीमित हो जाती है और इस सन्दर्भ मे क्षेत्रवाद का सन्तुष्ट क्षेत्रीयवाद (regionalism) तथा असन्तुष्ट क्षेत्रीयवाद जैसे क्रमश डी० एम० के० एव अकाली दल तथा तेलगाना म विभाजित कर सकते हैं।

(c) Distributive Justice का भी क्षेत्रीय आधार पर मागा जाता है। जब एक राज्य म कुछ क्षेत्र आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न होते हैं तथा कुछ पिछडे तो पिछडे हुए क्षेत्र न्याय की माग करते ह। जसे तेलगाना, पूर्वी राजस्थान, विदर्भ आदि। नेतागण सामाजिक न्याय की माग को बहुधा अपने या गुट के नेतृत्व को प्रभावशाली बनाने की आकाक्षा मे जोड देते है। ऐसी स्थिति मे वे न केवल सामाजिक न्याय की माग कर रहे होते हैं अपितु अपने व अपने गुट के व्यक्तित्व को उभारने के लिए भी प्रयत्नशील रहते हैं आन्ध्र मे ब्रह्मानन्द रेड्डी बनाम चेन्ना रेड्डी के आपसी व्यक्तित्व सघर्ष को आन्ध्र, तेलगाना विवाद से जोडा जा सकता है।

India the case of Telengana Pacific Affairs (Journal) Vol XLIII No 1, Spring 1971, C P Ficket Regional Politics in India, Pacific Affairs Vol 44 No 2, 1971

(b) चतुर्थतः राजनीति में क्षेत्रवाद का प्रयोग उसकी शैली पर निर्भर करता है। जब नकारात्मक क्षेत्रवाद का पुट राजनीति को मिल जाता है तो राजनीति की शैली संवैधानिक न रह कर आन्दोलनात्मक एवं हिंसात्मक बन जाती है। शिवसेना का जो रूप बम्बई में रहा, वह इसका उदाहरण है। इसी प्रकार तामिलनाडु में भाषायी दंगे, तेलंगाना के लिए हैदराबाद में आंदोलन, आसाम एवं प० बंगाल के बीच भाषायी दंगे आदि इसीके रूप हैं।

अतः राजनीति क्षेत्रीयता में भारत के सन्दर्भ में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती आई है किन्तु 'क्षेत्रवाद का कारण राजनीति है' ऐसा नहीं कहा जा सकता है। इसका कारण मुख्यतः आर्थिक है, राजनीति केवल उसे उग्र बनाती है।

छठा आम चुनाव एवं क्षेत्रवाद

यह संसदीय निर्वाचन एक साथ ही सत्तारूढ़ पक्ष के प्रति लोगों के विश्वास की अस्वीकृति एवं स्वीकृति के लिए निर्णायक रहा। दक्षिण एवं शेष भारत में सत्तारूढ़ दल (कांग्रेस) के प्रति क्रमशः निरन्तर विश्वास एवं अविश्वास की इस प्रकार की अभिव्यक्ति वास्तव में सुखद विकास (Not a happy development) है, क्योंकि फरवरी 1978 में हुये विधान सभा चुनावों में पुनः इस तथ्य की पुष्टि उजागर हुई, जब आन्ध्र प्रदेश एवं कर्नाटक में केन्द्र में सत्तारूढ़ दल जनता पार्टी को सफलता प्राप्त नहीं हो सकी तथा वहां कांग्रेस (आई) की सरकारें कायम हुई। इस प्रकार मार्च 1977 के पश्चात् भारतीय राजनीतिक रंगमंच पर विभिन्न रंगों वाले दृश्य दिखाई देने लगे। उदाहरणार्थ केन्द्र एवं अनेक राज्यों में जनता पार्टी का शासन, पंजाब में अकाली दल, कश्मीर में नेशनल कान्फ्रेंस, प० बंगाल व त्रिपुरा में मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी, गोवा में महाराष्ट्रवादी गोमान्तक पार्टी, तामिलनाडु एवं पांडीचेरी में आल इण्डिया अन्नाद्रमुक पार्टी, केरल में कांग्रेस के नेतृत्व में संयुक्त मोर्चे की सरकार, आन्ध्र व कर्नाटक में कांग्रेस (आई) का शासन तथा महाराष्ट्र में पहले कांग्रेस (आई) का तथा बाद में श्री शरद पवार के गुट एवं जनता पार्टी का मिला जुला मन्त्रिमण्डल और स्वयं जनता पार्टी सहित सभी राजनीतिक दलों में व्याप्त पारस्परिक विरोधी गुटों द्वारा अपने अपने क्षेत्र, भाषा[1] व व्यवसाय आदि विभिन्न हितों की पूर्ति के लिए किया जा रहा संघर्ष अगर नकारात्मक दिशा की ओर अग्रसर होता है, तो निश्चय

---

1 Addressing a joint session of the legislature, the Tamil Nadu Governor told that the state government would not tolerate imposition of any language on the state "in which ever form or manner it may be." The Statesman, August 31, 1978

ह राष्ट्रीय हितो के विरुद्ध बढाने वाला क्षेत्रवाद होगा। किन्तु हम विश्वास ह कि क अस्थायी चरण है तथा भविष्य इस सम्बन्ध मे स्पष्ट उत्तर देगा।[1]

भारतीय राजनीति के आधार धन और प्रशासन
(Bases of Indian Politics Money and Administration)

यह कहना सही नही होगा कि सभी राष्ट्रीय पार्टीयो का वतमान सकट किसी । सैद्धान्तिक मतभेद और दृष्टि भिन्नता से सम्बन्ध नही रखता, मगर यह सही सैद्धातिक मामलो को बहुत आसानी के साथ व्यक्तिगत स्तर पर उतारने की म पार्टियो के चोटी के नेता अपेक्षाकृत अधिक तत्पर दिखाई देते हैं जिसका ाम स्वाभाविक रूप मे यही होता है कि मौलिक और नीति सम्बन्धी मुद्दे गौण ते हैं। चाहे कांग्रेस शासन काल के मूदडा वाला चना छोटी सादडी सोना , दल-बदल, मारुति एव नागरवाला काण्ड हो या जनता पार्टी के सत्तारूढ होने द के मोरारजी चरण सिंह पत्राचार म लगाए गये भ्रष्टाचार के आरोपो का ा हो या मधुलिमए द्वारा पार्टी के लिए श्री काति देसाई को फण्ड एकत्रित हेतु दिये गय अधिकार को दी गई चुनौती का प्रश्न हो, यह हकीकत बनती

It is hoped that the first southern Chief Ministers' confere nce (heldat Madras in the month of July,78)and other future conferences in which many other Chief Ministers would likely to participate "will set an example for evolving practical solutions on various problems, strengthening the nat ional unity and promoting the economic development" In this direction, the special committe of the National Development Council has put an end at least for the time being, to the prolonged acrimony over the vexed issue on cen tre state fiscal relations by setting up a fairly representative working group to submit detailed proposals

(The reported decision of the five southern states to call off their projected meeting to discuss centre state relations-pending the out come of the working group's deliberations holds out the hope that the outstanding issues may be fin ally resolved in a spirit of cooperation)

जा रही है कि भारतीय राजनीति म जनतत्र पर धनतत्र[1] का हमला होता रहा है
और हो रहा है तथा निकटभविष्य मे भी इसके समाप्त हो जाने की सभावना कम ही
है। यही कारण है कि भारतीय राजनीतिक एव सावजनिक जीवन मे भ्रष्टाचार घुल
मिल गया है तथा चुनावो मे अतुल धन का प्रयोग एव इससे उत्पन्न होने वाला
भ्रष्टाचार इसके स्तम्भ बनते जा रहे हैं।

इसी प्रकार से प्रशासन और नौकर शाही के बारे मे यह धारणा पुष्ट होती
जा रही है कि काग्रेस के तीस वष के शासन मे अर्थात् विदेशी हुकूमत के समाप्त हो
जाने के बाद भी इनके तौर तरीको म कोई परिवतन नही आया। माच 1977 के
ससदीय निवाचन के पश्चात् यह आशा की गई थी कि इसकी काय शैली म कोई
क्रातिकारी परिवतन आयेगा किन्तु आज 'दल' के अभाव म सरकार और जनता के
बीच कोई कडी नही रह गयी है। जनता पार्टी का साधारण कायकर्ता पार्टी मे लगन
और आत्म विश्वास खोता जा रहा है। दल से अपनी ताकत हासिल न कर पाने
से वह मत्रियो का कृपा पात्र बनता जा रहा है और मजबूत दल के न होने से मत्री
अपने अपने अफसरो की कठपुतली बनते चले जा रहे है। वतमान स्थिति मे यद्यपि
आपातकाल जैसी स्थिति नही है तथापि काग्रेमी सरकारो के काल से नौकरशाही कम
ताकतवर नही है।[2] यह बात अधिकतर जनता पार्टी के केन्द्रीय तथा प्रान्तीय मत्रियो के
लिए सही है। कहा जाता है कि मत्रियो को हिदायत दी गयी है कि सचिव' शासन
का प्रतिनिधि है, इसलिए उस की बातें अवश्य मानी जानी चाहिए। जो मत्री
जितना नौकर शाह का प्रिय है, उतना ही उस की योग्यता का ढोल लोगो मे पीटा

---

1 During the recent debate on the role of money power, both the members of the treasury benches and the opposition in the Lok Sabha, agreed that increasing play of money power pose grave threat to the future of parliamentary democracy Actually it is evidenced by the recent revelations of collection of huge election funds by some important persons who are in proximity to high offices of power and decision making One member, even identified the factors which vitiate the political process as "Caste, religion, money and goonda power",

2 The Shah commission has in its third and final report, made a strong plea for the overhaul of the system of administration so that it could work in spri, calculated to promote

जा रहा है। दर असल इस प्रकार का प्रचार कानो कान अफसर ही शुरू करवाया करते हैं, और जिन्हें खत्म करना होता है, उनके खिलाफ इसी प्रकार की बातें फैलायी जाती हैं। उन्हें मजाक का विषय बना दिया जाता है। भारत की नौकरशाही काफी तजुर्बेकार और माहिर है, जबकि जनता सरकार के ज्यादातर मंत्री नौसिखिए और कुछ नासमझ भी हैं। बीसवीं सदी की राज्य प्रणाली या शासनतंत्र बहुत ही पेचीदा और बारीकी का तंत्र है और इसलिए अफसर आसानी से मंत्री को अपनी गिरफ्त में ले लेता है।

यदि जनता सरकार अपने घोषणा पत्र के अनुसार काम करने लग जाये तो निहित स्वार्थों को नुकसान होने लगेगा, पर नौकर शाह, थैलीशाह तथा कुछ राज नेताओं का गठबन्धन ऐसा नहीं होने देना चाहते है। इसलिए नौकरशाही जनता सरकार को बदनाम करवाना चाहती है। इसी कारण जगह-जगह हरिजनो पर अत्याचार, कानून और व्यवस्था की स्थिति में गिरावट और गोलीबारी में वृद्धि हो रही है। इन सब के दूसरे कारण भी हैं। पर एक बात साफ है कि नौकरशाह धीरे धीरे जनता सरकार के विरोध में सक्रिय होते जा रहे है। नौकर शाह बडे उद्योग की वतमान भूमिका में कटौती नहीं चाहते। ऐसा करने से थैलीशाह के साथ उनका सन्तुलन बिगड जायेगा। उस से उनके अधिकार सीमित हो जाते हैं। सरकारी खर्च और अय्याशी में कोई कमी वे पसन्द नहीं कर सकते, सत्ता के विकेन्द्रीकरण एवं ग्राम अभिमुख योजना से सदा वे कतराते हैं।[1] इसलिए शुरू से ही नौकरशाह जनता सरकार पर हावी होने लग गये। भारतीय प्रशासक की इस प्रकार की मनस्थिति के सन्दर्भ में, मर्ने एक टिप्पणी अभिव्यक्त की थी, जो 14 सितम्बर 1978 को एक दैनिक अखबार में प्रकाशित हुई है, उसे संक्षेप में यहाँ उद्धृत किया जा रहा है।

---

the integrity and welfare of the nation and the rule of law and suggested that public servants must be politically neutral at all levels and at all times

1 The Committee on Panchayati Raj Institutions under the chairman ship of Mr Asoka Mehta also suggested that the "formulation of structures, functions and the utilisation of financial, administrative and human resources of these institutions should be determined on the emerging functional necessity of management of rural development' The state governments had to be round the crucial theme

"लोक प्रशासन सुधारने के सामयिक सन्दर्भ" में यदा कदा काफी पुस्तकें एवं लेखप्रकाशित होते रहे हैं, लगता है कि इनका मात्र बौद्धिक विलासता के अतिरिक्त कोई उपयोग नहीं हो पाया है। इसका एक कारण यह प्रतीत होता है कि हम रोग बिना राग जाने (diagnosis) इलाज का नुस्खा (prescription) लिखने के आदी हो गये हैं। हमारी प्रशासनिक सेवाओं में तब तक क्रांतिकारी संशोधन या परिमार्जन नहीं हो सकता, जब तक उनके चयन की परम्परागत सामन्तवादी पृष्ठ भूमि पर चोट नहीं की जाती। जब तक आई ए एस/आई पी एस आदि "बड़े बाप के बेटे" के रूप में पल्लवित होकर 'कलेक्टर' या 'सेक्रेट्री' बन कर प्रशासन की कुर्सी पर बैठता रहेगा, तब तक वह न तो गांधीवादी सामाजिक आर्थिक संरचना में कोई दिलचस्पी लेगा और न उसे ग्राम विकास, अछूतोद्धार एवं सामाजिक न्याय के आदर्श ही आकर्षित करेंगे जब तक ये तथाकथित बड़े लोग जिले व प्रदेश के "माई बाप" बने रहेंगे व जब तक इन्हें अभिजनीय (elite) राजनीतिक नेतृत्व का समर्थन प्राप्त होता रहेगा और धनीशाही एवं धन्ना सेठों से इनका गठजोड़ कायम रहेगा, तब तक भारत के करोड़ों भूखे दरिद्र नारायणों की तकदीर नहीं बदल पायेगी, भले ही ये लोग अपने को गरीबों का भाग्य विधाता समझते रहें। जनता सरकार की स्थापना के पश्चात् भी भारतीय प्रशासन का कोई क्रांतिकारी बिम्ब नहीं उभर सका है। प्रशासन के वर्तमान स्वरूप के रहते सामाजिक आर्थिक क्षेत्र में जनता सरकार कोई कठोर निर्णय नहीं ले सकती है जो कि विकासशील देश को लेने पड़ते हैं।" वैसे यह सही है कि भारत की आर्थिक व सामाजिक दशा पर सरकारी अधिकारी वर्ग (नौकरशाही) के अतिरिक्त राजनैतिक दलों के अधिकारी वर्ग एवं नीति क्षेत्र के अधिकारी वर्ग का भी प्रभाव रहा है, और यह भी सच है कि बाद के दोनों वर्गों से सार्वजनिक लोक प्रशासन अधिक सक्षम सिद्ध हुआ है किन्तु यहाँ तक यह है कि क्या नौकरशाही कानून व्यवस्था बनाए रखने के अलावा संविधान की प्रस्तावना (Preamble) में अन्तर्निहित राजनीतिक न्याय के अतिरिक्त सामाजिक व आर्थिक न्याय का आदर्श प्राप्त करा सकी है[1] और क्या यह संविधान के अध्याय चार

---

linking institutions of democratic decentralization with [illegible]ially motivated economic development," it addded

1 One of the best parliamentarians and shrewed politicians, Mr. Jagjivan Ram, the Union Defence Minister in a message, [e]mphasised, "Even while the administration has to look [a]fter law and order and revenue matters, the main task of administratin is increasingly becoming developmental [..] such an administration can be non bureaucratic and

15

राजनीतिक व्यवस्था भविष्य की ओर

विकल्प का अभाव या भयकर विकल्प

Indian Political System Towards A Future Want of Alternative or Dangerous Alternative

पुस्तक की भूमिका मे राजनीतिक व्यवस्था के भावी स्वरूप के सम्बन्ध म अनेक सम्भावित एव काल्पनिक प्रश्न उपस्थित किये गये है। पिछले अध्यायो मे किये गये भारतीय सविधान, सरकार एव राजनीति के विगत तीन दशको के विशद विवेचन के पश्चात् कम से कम एक बात तो निश्चित हो ही जाती है कि भारतीय राजनीति के बारे मे कोई निश्चित भविष्यवाणी नही की जा सकती है और अगर कोई दुस्साहस अथवा साहस करता भी है तो सम्भवत उसे अपने निष्कर्षों को सशोधित करना पडता है। अत इस प्रकार की "निश्चितता" का दावा नही करते हुए तथा अपने विकल्प खुले रखते हुए मैं यहा सम्भावित दिशाओ का सकेत मात्र करने का प्रयास कर रहा हू। इनका दो भागो मे—राजनीतिक (political) और गैर राजनीतिक (Apolitical) विकल्प में विभाजित कर अवलोकन किया जा सकता है

राजनीतिक विकल्प (Political Alternatives)

आपातकाल की स्थिति के बाद जनता पार्टी के सत्तासीन होने स राजनीति का एक नया दौर शुरू होना चाहिए था। जनतान्त्रिक मान्यताओं की पुनर्स्थापना के साथ साथ परिवर्तन का युग प्रारम्भ होना चाहिए था। सादगी पर आधारित और रचनात्मक दृष्टि से प्रेरित समतामूलक समाज के निर्माण के काम म सरकार तथा जनता को पुरजोर जुटने की जरूरत थी। पर इसके विपरीत जिस जनशक्ति के बल पर जनता पार्टी सत्ता में आयी, वह धीरे धीरे बिखर सी गयी और देश में भटकाव की

स्थिति पैदा होने लगी। इस हालत में फायदा उठा कर इंदिरा गांधी अपने को देश की राजनीति में पुनर्स्थापित करने में लग गयी। साधारण नागरिक की निराशा और तकलीफ इतनी बढ़ती जा रही है कि वे आपात् काल की स्थिति को एक छोटी सी गलती समझ कर भूलते चले जा रहे हैं। और हालात अगर ऐसे ही रहे तो थोड़े दिनों में आपात्काल को उचित भी ठहराने लग सकते हैं। फिर वह खतरनाक घड़ी भी आ सकती है जब जनता के समर्थन से आपात्काल की सी स्थिति देश में पुन पैदा हो जाय।

जनता पार्टी और सरकार इतनी तेजी से लोकप्रियता क्यों खोती गयी? इसका प्रमुख कारण है कि भारत सरकार वास्तव में एक 'दल' हीन सरकार है। जनता पार्टी अभी तक एक दल' नहीं बन पायी है। प्रश्न मन में उठता है कहीं जनता पार्टी को "दल" न बनने देने की साजिश तो नहीं है[1]? जनता पार्टी अभी भी घटकों के सम्मेलन पर आधारित एक जमाव मात्र है। जनता सरकार ने देश से किये गये वायदों जनतांत्रिक मूल्यों की पुनर्स्थापना की है, और यह काम सराहनीय है। पर इन मूल्यों को बनाये रखने के लिये सबल संस्थाओं का मौजूद रहना उतना ही आवश्यक है। न्यायालय उनमें से एक है जिसे अपनी प्रतिष्ठा और मर्यादा वापस मिली है। पर संसदीय प्रणाली में मुख्य संचालक का शकल में राजनीतिक प्रबन्ध तथा सत्ता एवं अनुशासन के बीच संतुलन स्थापित करने की सत्ताधारी राजनैतिक दल की भूमिका शून्य है।[2]

(a) व्यापक वाम पंथी मोर्चे की ओर भटिंडा में भारतीय साम्यवादी दल के राष्ट्रीय अधिवेशन का मुख्य मुद्दा पार्टी को उस दलदल में से निकालना था जिस

1 Every Janata leader wants to re frame the rules of the political game to suit his own convenience It is a free for all It will remain essentially a parliamentary–vidhan sabha affair with no worthwhile organisation to back it at the grass roots level The talk of 'realignment of political forces fits neatly into this pattern It is pretty dangerous situation

2 It will be very difficult for the government to establish the authority because of its own folly in carrying the campaign against authoritarianism to a pitch where any kind of authority has become suspect It is difficult even in the best of circumstances to strike a workable balance between freedom and authority or spontaneity and discipline In the new circumstances it has become almost impossible

म वह पिछले कई वर्षों की नीतियों के कारण गिर गयी है। मुश्किल यह है कि इस राजनैतिक दलदल में से निकलने की प्रक्रिया इतनी आसान नहीं है जितनी और दलों के लिए हो सकती थी। इसलिए सारी कार्यवाही ने कुछ ऐसा आभास दिया है कि जैसे कांग्रेस का आयोजन सिर्फ इसलिए ही हुआ कि पार्टी साबूत रह सके। 1975 में आपात् स्थिति की घोषणा सभी विरोधी दलों के लिए हुई थी मगर भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी ने अपने आपको सत्तारूढ दल के शिविर में पाकर ऐसा महसूस किया था कि जैसे यह उसके लिए एक उपलब्धि है। क्योंकि 1969 में कांग्रेस विभाजन के समय से ही श्री पाद अमृत डांगे की उपस्थिति में इस पार्टी ने श्रीमती इंदिरा गांधी को मध्यवर्गीय भारतीय जनता की प्रगतिशील नेता के रूप में देखना शुरू किया था। यानि इस राजनैतिक विश्लेषण के अनुसार कम्युनिस्ट पार्टी ने यह मान लिया था कि पार्टी के कार्यकर्ताओं के अतिरिक्त देश में जो भी प्रगतिशील तत्व हैं वे सभी इंदिरा गांधी के पीछे हैं और इसलिए इंदिरा गांधी का विरोध करने वाले सभी लोग दक्षिण पंथी या प्रतिक्रियावादी या फिर साम्राज्यवादियों के प्रभाव में हैं। इसलिए इस पार्टी ने जयप्रकाश नारायण द्वारा आरम्भ किया गया बिहार और इससे पूर्व गुजरात आन्दोलन में सत्तारूढ पक्ष के हरावल दस्ते के रूप में ही काम किया था।

मगर आपात् स्थिति के उपरान्त बदली हुई राजनैतिक परिस्थितियों में भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के सामने यह विराट प्रश्न खड़ा हो गया कि क्या आपात् स्थिति की घोषणा का समर्थन किया जाना चाहिए था कि नहीं। यानी पार्टी को अपने व्यक्तित्व और अपने चरित्र की पुनर्व्याख्या करने की जरूरत आ पड़ी। पश्चिम बंगाल की राज्य शाखा के अधिकतर सदस्य यह मांग करते रहे कि भारतीय साम्यवादी दल का नेतृत्व दो टूक भाषा में यह स्वीकार करे कि आपात् स्थिति की घोषणा और उसमें श्रीमती इंदिरा गांधी का समर्थन करना नितान्त गलत था। और इसमें इस स्वीकारोक्ति से पैदा होने वाली स्थिति को भी मान्यता मानने के लिए तयार हो जायें कि कांग्रेस के साथ अब किसी प्रकार का गठबंधन या समझौता न हो। इस प्रकार के विचार अन्य राज्यों से आए हुए कुछ प्रतिनिधियों के भी रहे। मगर कुल मिलाकर डांगे के इस मत को हावी होने दिया गया कि 1969 से 1975 तक इंदिरा गांधी का समर्थन करने की नीति गलत नहीं थी। मगर दक्षिणपंथी पार्टियों को दबाने के बहाने जो जन विरोधी कार्यवाइयां की गयी उनका समर्थन पार्टी को नहीं करना चाहिए था। उस अवसर पर पूरी आपात् स्थिति का विरोध किया जाना चाहिए। यदि इस दलील को भी स्वीकार किया जाये तब भी यह तार्किक निष्कर्ष निकल आता है कि जन विरोधी नीतियों अपनाने और सामान्य जनता पर अत्याचार करने के कारण इंदिरा गांधी और कांग्रेस पार्टी ने भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के समर्थन का अधिकार खो दिया है और अब भारतीय साम्यवादी दल को इस पार्टी से दूर धारा प्राप्त करना चाहिए। मगर ऐसा नहीं लगता। ... और ... समर्थन ...

आपात् स्थिति की ज्यादातियो मे अपने आपको अलग रख कर आपात् स्थिति जैसे अधिनायकवादी कदमो या लोकतान्त्रिक अधिकारो के हनन के समर्थन का मिला जुला वाद प्रस्तुत करने की असम्भव कोशिश कर रहे है। इसी सन्दर्भ मे पार्टी के नेताओ को दोनो काग्रेसो मे जो प्रगतिशील तत्व दिखायी दे रहे है, जनता पार्टी मे भी प्रगतिशील वर्गों की ओर हाथ फैलाने की कोशिश की गयी है। मगर सबसे विचित्र बात तो यह है कि जहा पार्टी ने मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी से वामपथी एकता स्थापित करने के लिए आगे आने की दावत दी है वही काग्रेस के साथ चिपके रहने की बदस्तूर जारी रखी है। मार्क्सवादी पार्टी के नाम अपने दावतनामे मे यह कहा है कि मार्क्सवादी पार्टी के नेताओ को विलय या सहयोग के लिए कोई शर्त नही रखनी चाहिए। क्योकि हम नही चाहते कि वह पार्टी भी उसी स्थिति मे गिर पडे जिस स्थिति मे हम गिरे थे।' मगर इस निमन्त्रण मे ईमानदारी का सर्वथा अभाव दिखाई देता है। जहा भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी गिरी थी वहा से निकलने का तो प्रयास ही नहीं किया जा रहा है और बिल्कुल वही बैठे बैठे दूसरो को सही रास्ता दिखाने की कोशिश अविश्वसनीय लगती है।

मार्क्सवादी ससद सदस्य ज्योतिर्मय बसु ने इस सम्बन्ध मे यह स्पष्ट किया कि यद्यपि इस समय दोनो पार्टियो के बीच एक सवाद चल रहा है[1], फिर भी हम यह

---

1 The C P M general secretary, Mr E M S Namboodiripad, has proposed two parallel political fronts for India

The two fronts are a left democratic front and an anti fascist (dictatorship) front According to him, these are the two political fronts which have an absolute relevance to the developing political situation in the country

The consolidation of the left democratic front, which is now in a truncated and moth eaten state would provide an alternative to the socio economic policies of the Janata government

The anti fascist front would take in its stride the Janata Party too which has contributed the single largest support in the fight against emergency This would be the front available to all parties which would like to fight against Mrs Gandhi attempting a come back to power

Mr Namboodiripad has identified Mrs Gandhi as the worst danger to democracy and civil liberties in the country

कहना कि स्थिति मे है कि जब तक भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी कांग्रेस के साथ जुड़ी हुई है तब तक वामपंथी एकता के लिए रास्ता बन्द रहेगा। बसु से जब यह पूछा गया कि भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के नेताओं के इस तर्क के बारे मे क्या कहा जा सकता है कि मार्क्सवादी पार्टी भी जनता पार्टी के साथ उसी प्रकार जुड़ी हुई है और जनता पार्टी का वर्गगत चरित्र भी वैसा ही है जैसाकि कांग्रेस का था तो उन्होने कहा कि "जनता पार्टी और कांग्रेस म एक मौलिक अन्तर भी है और वह यह है कि जहा कांग्रेस न सभी प्रकार के लोकतान्त्रिक अधिकारो को समाप्त किया वहा जनता पार्टी इन्हा अधिकारो का वापस दिलाने के लिए लडी और सत्ता मे आकर उसने बहुत हद तक ये मौलिक अधिकार लोगो का वापस दिये। इसीलिए मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी का जनता पार्टी के साथ समझौता और सहयोग बिल्कुल स्पष्ट मुद्दो पर है—लोकतान्त्रिक अधिकारो की सुरक्षा देश मे लोकतन्त्र का बचाव। आर्थिक नितियों और राजनैतिक कार्यक्रमो म मार्क्सवादी दल किसी भी रूप में जनता पार्टी के कार्यक्रमो से प्रतिबद्ध नही है। भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी कांग्रेस समर्थन और हमारे जनता पार्टी के सशर्त सहयोग के बीच तो बहुत बडा अन्तर है। देश मे लोकतान्त्रिक अधिकार तो वापस मिल गये है मगर राजनैतिक स्थिति अभी भी स्थिर नही है। व ताकते जिन्होने इन अधिकारो का हनन किया था फिर से सक्रिय हो गयी हैं और लोकतान्त्रिक पद्धति को अभी भी खतरा है। इसलिए हम नही चाहते कि जो शक्तिया इन मौलिक अधिकारो की रक्षा के लिये सामने आयी हैं उन्हे कमजोर किया जाये। स्पष्ट शब्दो मे कहे तो मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी अब भी यह विश्वास करती है कि कांग्रेस पार्टी को किसी प्रकार का समर्थन नही दिया जाना चाहिए। श्रीमती इन्दिरा गांधी को राजनीति से प्रभावहीन बनाया जाना चाहिए।"

देश मे अन्य साम्यवादी पार्टियां भी है जो भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी मार्क्सवादी लेलिनवादी के नाम से जानी जाती है। यदि भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी अपने क्रांतिकारी चरित्र को खो चुकी है तो जालन्धर घोषणा क्या मार्क्सवादी दल इन

The m ssing link in the consolidation of the left democratic party is the CPI It has been all along pooh poohing Mr Namboodiripad s approach to Indian politics The CPI continues to b linked with the Congress (Reddi group) in Kerala and other states This link with th Congress automatically keep the party out of the left democratic fr t e visaged b, the CPM lead r

नतसियो के साथ एक व्यापक वामपंथी मोर्चा बनायेगा।[1] इसका जवाब ज्योतिमय ने एक और सवाल से दिया। यह नक्सलवादी है कहा ? क्या उनका कहीं सार्वजनिक आधार है भी ? बसु के अनुसार देश में अगर सशस्त्र क्रांति आनी होगी तो वह देहातों में शुरू हो जायेगी। वहीं से आयेगी। भद्रों के अपराधों से, ग्रामीण देहातों से, शहरी छापामारों से कोई समाजवादी सशस्त्र क्रान्ति नहीं आ सकती। इसलिए जो पार्टी है ही नहीं उसके साथ मोर्चा बनाने का सवाल कहा पैदा होता है।

भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी जो 1969 से 1977 के लोकसभा के चुनाव तक सत्ता के साथ जुड़कर सुविधापूर्ण ढंग से क्रांति का मार्ग प्रशस्त करने में व्यस्त थी, अब इंदिरा गांधी की छत्र छाया मिटने के बाद नया मार्ग या नया सहारा ? खोजने के लिए प्राणपण से आत्म विश्लेषण में जुट गयी है।

राजनीति में, लगता है, खुल कर भूलों को स्वीकार करना भी एक हथकंडा होता है, जिसका प्रयोग व्यक्तिगत या दलीय लाभ के लिए किया जाता है, भूलों को सही मान में समझने के लिए नहीं। इस स्वीकार के पीछे बिसरी को भुला देने का

---

1 The party views both the Congress and the Janata as 'bourgeoise combinations fighting for the allegiance of the people with a shared outlook on economic policies Though the class character of the two parties is the same, the party leader, Mr B T Ranadive, expressed the view that prac tical realities' warranted adjustments with the Janata because of its role in the restoration of parliamentary democracy "Until a people's democracy was established the party would like parliamentary democracy to continue On the other hand, according to him, the Congress parties were 'partners in imposing a dictatorship in the country At the same time, he said, the struggle for democratic rights would be extended to the defence of the rights of peasants and working class as against the policies of the ruling class As for the CPI, the Marxists agreed that it was a left party but had 'caused disruption of the left front by its collaboration with the Congress in Kerala and West Bengal" The CPI should "correct itself to rejoin the main stream of the mass movement"

मूल आग्रह भी छिपा होता है । यदि गलती मान लेने पर कोई ठोस लाभ न हो वरन् गलतियों का धापला में बनकाव हो जाने का भय हो तो गलतियों पर आपसी विचार गोष्ठी जनता से छुपा कर की जाती है । भटिंडा में बैठकर भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के सदस्यों ने जो आपसी रूप से अपने ग्यारवें अधिवेशन में की उसका रूप छुपी हुई विचार गोष्ठियों जैसा ही रहा । पार्टी की राष्ट्रीय परिषद् ने जो राजनैतिक मूल्यांकन रपट का मसविदा अधिवेशन के विचारार्थ तैयार किया था उसे पहले की तरह प्रकाशित नहीं किया गया ।

इस मसविदे से विश्वनाथ मुखर्जी, सत्यपाल डांग आदि सहमत नहीं थे । इन की दृष्टि में पार्टी ने कांग्रेस खतरे को अतिरंजना के साथ देखा और इसलिए आपात् स्थिति के समर्थन की गलती की । आपात् स्थिति के बीज इनके अनुसार 1969 में पड़ गये । वामपंथी एकता की उपेक्षा करने का परिणाम यह हुआ कि 30 साल के बाद कांग्रेस सत्ता हटी पर उसकी जगह वामपंथी नहीं, दक्षिणपंथी गद्दीनसीन हुए । तीसरा विकल्प बनने के लिए यह एकता अनिवार्य है ।

सुधार के लिए गलतियों को समझना और स्वीकार करना बुद्धिमत्ता का काम है । भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी में इस प्रकार की बुद्धिमता पर्याप्त मात्रा में मौजूद है । गलती के बाद उसको लेकर शोर्पालन करने की यह बहुत अभ्यस्त है । 1928 में जब इसकी आयु केवल तीन वर्ष थी सदस्य संख्या 100 थी तब भी इसने ब्रितानी सरकार और राष्ट्रीय कांग्रेस के विरुद्ध मेरठ से हिंसात्मक क्रांति का बिगुल बजाया था । 1942 में यह अंग्रेजों के साथ थी । 1948 में इसने भारत को पूरी तरह से आजाद कराने के लिए तेलंगाना में अभियान आरम्भ किया । इसकी गलती का कारण जल्दीबाजी नहीं भारतीय समाज से अलगाव है ।

यहाँ की राजनीतिक परिस्थिति को साम्यवादी नेता रूसी या चीनी चश्मा लगा कर पढ़ते हैं । इसलिए इनको अवसर दिशा भ्रम हो जाता है । जो लोग शहर में बैठ कर भारतीय समाज में क्रांति की योजनायें बनाते हैं उनके लिए किसी समय दल के साथ जुड़ना अनिवार्य हो जाता है । चाहे वह दल घर का हो चाहे बाहर का अपने जन्म से ही कम्युनिस्ट पार्टी परजीवी रही है । इसकी न कोई अपनी जड़, न कोई छाया जो दूसरा तक पहुँच सके । बेकारी और गरीबी के देश में भी इसे पांच प्रतिशत से ज्यादा वोट कभी नहीं मिले हैं और दुर्भाग्य है निकट भविष्य में इसके बढ़ने की कोई आशा भी नहीं दीखती ।

(b) वास्तव में, गरदागी रूप का विकल्प वही दल बन सकता है जिसका देशव्यापी संगठन हो, या ऐसा संगठन बना लेने की जिसमें संभावना हो, साथ ही जिसकी स्पष्ट और अपेक्षाकृत साफ भी हो । कम से कम सत्तारूढ़ पार्टी से यह ज्यादा साफ जरूर दिखायी पड़े । प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या मा० क० पा० (CPM) अथवा कांग्रेस या ई.प्र.स (कांई) ऐसी स्थिति में है ?

इसमें शक नहीं कि मार्क्सवादी कम्युनिस्ट दल की तस्वीर जनता पार्टी से कई मायनों में ज्यादा साफ लगती है पर सवाल भर है है नहीं। एक उदाहरण लीजिए जनता पार्टी में वह व्यक्ति महत्वपूर्ण माना जाता है जो सरकार में हो कम से कम उसे विधानसभा या लोकसभा का सदस्य तो होना ही चाहिए। जो व्यक्ति केवल संगठन में रहता है उसकी कोई हैसियत नहीं होती। राष्ट्रीय समिति से यही महत्वपूर्ण समझा जाता पार्टी में संसदीय बोर्ड को दिया है। इससे धारणा यह बनती है कि जनतापार्टी जनाधार और जनसंगठन का महत्व नहीं देती। उसकी नजर में संसदीय राजनीति की दुकानदारी ही अहमियत रखती है। पर कम्युनिस्ट पार्टी में इस बारे क्या है? इसका ढांचा कुछ इस प्रकार का बना हुआ है कि जिसमें विचारधारा के रूप में उसका महत्व संगठन का मिलता है। बी टी रणदिवे और प्रमोद दास गुप्त न लोकसभा के सदस्य हैं न राज्य सरकार के न किसी विधानसभा के। पर इनकी हैसियत किसी भी दृष्टि से ज्योतिर्मय बसु या ज्योतिबसु से कम नहीं है। इन्होंने कभी भी अपना संगठन छोड़ना पसंद नहीं किया। फिर भी पार्टी की कभी ये बड़ी समितियों में ... नहीं ली जाती रही। जनतापार्टी में ऐसा कभी नहीं हो सकता है कि केवल संगठन में रहकर कोई व्यक्ति उच्चपद का अधिकारी बन जाए। इसका नतीजा यह है कि जनता पार्टी का हर सदस्य जहां सरकारी पद का मुंह ताकता नजर आता है वहीं कम्युनिस्ट पार्टी में इस तरह की भाग और पद के लिए मारामारी नहीं दिखायी पड़ती। पर यह तो एक पहलू हुआ इसका। खतरनाक पहलू यह है कि कम्युनिस्ट पार्टी अपने संगठन को प्रतिष्ठित करने के लिए सामाजिक जीवन के हर क्षेत्र में पक्षधरता का सिद्धांत मानकर चलती है। सरकारी मशीनरी का इतना गलत उपयोग माकपा कर रही है कि पश्चिमी बंगाल में लोगों की धारणा बनती जा रही है कि यदि माकपा सरकार कुछ वर्षों तक और कायम रह गयी तो पुलिस, शिक्षा और प्रशासन में अपने लोगों को यह नाव की जगह पर भर देगी। जनता पार्टी के नेताओं का सत्ता की भूख बड़ी ही घिनौनी तस्वीर पेश करती है। पर माकपा की पर्दे के पीछे की षड्यंत्रकारी राजनीति भी कम घिनौनी नहीं है। यहां माना जाता है कि माकपा की तस्वीर जनतापार्टी से बेहतर है। पश्चिम बंगाल में बेकारी भत्ता देने के नाम पर वह जिस तरह से अपने संगठन को फैलाने की कोशिश कर रही है और इसके नेताओं की सांठ गांठ बड़े उद्योगपतियों से जैसी दिखायी पड़ रही है इससे यह बात और भी पुष्ट होती है।

माकपा के विकल्प होने में सबसे बड़ी बाधा यह है कि यह एक क्षेत्रीय संगठन है जिसके लिए दो चार वर्षों में ही सारे देश में छा जाना असम्भव है। वैसे इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि माकपा देश की सबसे अधिक संगठित पार्टी है और पश्चिम बंगाल तथा त्रिपुरा को अपनी मुट्ठी में कर लेने के बाद इसके पास

साधनों की कमी नहीं रह गयी है। इसलिए आज उसकी तरफ से भरपूर कोशिश हो रही है कि वह अपना संगठन सारे देश में फैला दे। "सीटू" की 'यूनियनें' इमर्जेंसी की पहले तक हिन्दी भाषी क्षेत्रों के कई इलाकों फैल पाने मे माकपा के संगठन के सामने दो बड़ी रुकावटें आ रही हैं। पहली रुकावट तो यह है कि इस पार्टी का नेतृत्व राष्ट्रीय स्तर का नहीं है। ज्योतिबसु हो या नम्बूदिरीपाद, बी० टी० रणदिवे हो या सुन्दरैया, सब केवल बंगाल और दक्षिण के क्षेत्रीय स्तर के नेता हैं। इन नेताओं मे एक भी ऐसा नहीं है जो हिन्दी भाषी इलाकों में प्रभाव रखता हो और क्योंकि कम्युनिस्ट पार्टी को इन इलाकों का कोई बड़ा नेता प्राप्त नहीं फलत इस पार्टी की अपील का व्यापक प्रसार इन इलाकों के लोगो पर नहीं पड़ पा रहा है। दूसरी रुकावट यह है कि अब तक हरिजन और मुसलमानों मे माकपा को कोई नेता नहीं मिल पाया है। इसलिए ख्याल किया जाता है कि हिंदी भाषी राज्यों के जाति समीकरण को अपने हक में यह पार्टी नहीं मोड़ पायेगी। फल यह होगा कि इसका संगठन ऊपर ही ऊपर रह जाएगा। बंगाल और त्रिपुरा मे लोग इसे अपनी पार्टी मानते हैं पर हिन्दी भाषी इलाकों में इसे इसकी हिन्दी विरोधी नीति एवं उपयुक्त अन्य कारणों से बंगालियों की पार्टी माना जाता है। फिर यह एक तथ्य है कि शहरी मजदूरों की राजनीति से हिन्दी भाषी क्षेत्रों के गांव प्रभावित नहीं होते। उल्टे यह होता है कि गांव की संख्या ही कुछ खास मौकों पर मजदूरों की राजनीति को मोड़ देता रहता है। इसलिए माकपा 'सीटू' को फैला कर कानपुर, फरीदाबाद आदि औद्योगिक केंद्रों को चाहे जितना प्रभावित करले वह इतनी ताकत प्राप्त नहीं कर सकेगी कि कोई महत्वपूर्ण भूमिका इन इलाकों में अदा करे। अतः इसे एक सब भारतीय विकल्प के रूप मे उभरने में समय लगेगा और यह एक जनतांत्रिक विकल्प[1] होगा या नहीं, यह कहना भी कठिन है। "सर्वहारा के अधिनायकवाद" को इन्होंने अभी तक छोड़ा नहीं है। यूरोप के साम्यवादियों की तरह ये भी इसे छोड़ सकते हैं ऐसी आशा की जाती है। पर यह समय ही बता सकता है।[2]

---

1 The Naxalites (CPI–ML) challenge all the fundamentals of the Indian political system Both the main communist parties (CPM and CPI) believe that parliamentary forums should be used to 'expose' the political system and that intra class conflicts among the ruling groups should be exploited The poverty of this approach was dramatised when these shared power in an unstable arrangement

2 No party or combination of parties can become a national

(c) स्वर्णसिंह—कांग्रेस दिशाहीन भटकाव की स्थिति मे है ।[1] कांग्रेस कार्य समिति के बम्बई नगर निगम के चुनावो मे इंदिरा कांग्रेस के साथ सीटो का तालमेल बिठाने का निर्णय वस्तुत कांग्रेस के भीतर चल रहे अन्तर्द्वन्द को प्रकट करता है। इस निर्णय पर मत व्यक्त करते हुए यशवत राव चव्हाण का यह कथन है कि यदि इंदिरा कांग्रेस के साथ समझौता किया जाता है तो यह कांग्रेस के तीसरे विभाजन का कारण होगा, इस प्रश्न पर कांग्रेस म व्याप्त आतरिक मतभेद को परिभाषित करता है ।[2]

कांग्रेस के समक्ष अस्तित्व को बनाय रखने का सकट है। विभाजन के बाद उसके प्रभाव का क्षय हुआ है और महाराष्ट्र म शरद पवार गुट के अलग होने से महाराष्ट्र राज्य मे उसकी शक्ति का ह्रास हुआ है। कांग्रेस के भीतर दो विचारधाराओ की टकराहट भी तेज हो रही है। महाराष्ट्र के दो भूतपूर्व मुख्यमन्त्री नायक और पाटिल इन्दिरा कांग्रेस के साथ एकता के समर्थक हैं जबकि महाराष्ट्र के ही मान्य नेता चव्हाण इसके प्रबल विरोधी ह । कार्यसमिति के निर्णय से स्पष्ट है कि अधिकाश सदस्य इस प्रश्न पर चव्हाण क साथ नही है ।

यह सत्ता राजनीति की विचित्र बिडम्बना है कि अभी कुछ समय पूर्व ही कार्यसमिति म इन्दिरा कांग्रेस के साथ कोई सम्बन्ध सम्पर्क न रखन का फैसला किया था, उसे स्थिति की परवशता क कारण बदला जा रहा है। यद्यपि कार्यसमिति ने इस फसले को स्थानीय स्तर पर किये जान वाले चुनावी तालमेल की सज्ञा देकर इसकी अनुमति दी है और साथ ही कार्यसमिति ने इन्दिरा कांग्रेस के साथ एकता न रखने के पूर्व निर्णय को दोहराया है, पर घटनायें हवा का रुख बता रही है। जो इंदिरा गाधी कांग्रेस के विभाजन की दोषी बनाई जाती रही तथा जिनके कारण कांग्रेस के टुकडे हुए थे, आज उन्ही के दल के साथ चुनावी तालमेल बिठाया जा रहा है। जो कांग्रेसी श्रीमती गाधी की राजनीतिक शैली के आलोचक थ, वे ही आज उनके साथ मेल मिलाप की पहल कर रहे हैं। कांग्रेस की परेशानी यह है कि

---

alternative without capturing power in the heart land of India The Communist Party (M) has to campete for mass support there with formidable opponents like Mrs Gandhi and Mr Charan Singh

1 कांग्रेस, कांग्रेस (आई) एव 'जनता म कांग्रेस के सम्भावित गठबन्धन के लिए अध्याय 11 के पृष्ठ 117–120 देखे ।

2 See also 'No Other Option', Times of India, Sept 28, 1978

उसके पास कोई 'वोट-कैचर नेता नहीं है और आन्ध्र व कर्नाटक में तथा हाल ही में उप चुनावों में विजय के बाद अनेक कांग्रेसजनों के मन में यह धारणा प्रबल हुई है कि इंदिरा जी के साथ समझौता करके सत्ता के सपने देखे जा सकते हैं। जनतापार्टी के आंतरिक झगड़ों और उसके भीतर घटकवाद की उछाल ने भी कांग्रेसजनों को पस्त और निराश ही किया है। यदि जनता पार्टी एक पार्टी के रूप में उभरती तथा देश को सत्त्ववान् शासन देती तो इंदिरा जी के लिए नव राजनीतिक शक्ति के रूप में उभरना कठिन होता।

कांग्रेस की कठिनाई यह है कि वह सत्ता विहीनता के साथ जीना नहीं चाहती और उसके नेता सत्ता के नये आधार और सहारे ढूंढ रहे हैं। कुछ इंदिरा कांग्रेस के साथ हाथ मिलाकर तो अन्य जनता पार्टी के सहयोगी बन कर सत्ता सिंहासनों पर बैठने का विकल्प है। विशुद्ध सैद्धांतिक आधार पर खड़े रहकर राजनीतिक संघर्ष करना सहज नहीं है और हमारी राष्ट्रीय राजनीति की परम्परा और प्रचलन भी सत्ता के गुरुत्वाकर्षण के रहे हैं। महाराष्ट्र में यशवन्तराव चव्हाण के प्रमुख सहयोगी शरद पवार के कदम के पीछे भी सत्ता लालसा की ही प्रेरणा थी इससे कैसे इंकार किया जा सकता है।

कांग्रेस ने चिकमगलूर सीट पर इन्दिरा गांधी के विरुद्ध अपना उम्मीदवार खड़ा नहीं करने का निर्णय लिया है। इसके पीछे चाहे जो विवशता और अनिवार्यता रही हो पर इससे कांग्रेस के भीतर आंतरिक टकराव बढ़ेगा और इस कदम से कांग्रेस-इंदिरा कांग्रेस के बीच समझौता अथवा एकता के पक्षधरों को नई प्रेरणा भी मिलेगी।

जनतापार्टी का विकल्प क्या इन्दिरा कांग्रेस भी नहीं है। यह इसलिए पूछा जा रहा है क्योंकि इंदिरा कांग्रेस में भी ऐसी कोई खासियत नहीं है कि जिसके बल पर वह विकल्प बन सके। सिद्धान्त और आचरण की जो शुद्धता एक विरोधी दल में होनी चाहिये वह यद्यपि इस दल में भी बिल्कुल नहीं है। पर भारतीय राजनीति की सबसे बड़ी विडम्बना यह है कि फिर भी यह दलजन सामान्य को ही नहीं, अपितु अनेक प्रबुद्धजनों को भी आज जनता पार्टी का विकल्प प्रतीत होने लगा है। इसका कारण यह है कि पिछले वर्ष में जनता पार्टी ने कोई स्वस्थ मर्यादा देश में स्थापित नहीं की है। अगर कहीं एक अच्छा काम किया तो दूसरा ऐसा काम कर डाला जो पहले काम पर पानी फेर डालता हो। इस तरह जनता सरकार ने मूल्यहीनता का एक ऐसा विषाक्त वातावरण अभी तैयार कर डाला है, जहां अच्छे बुरे का सारा विवेक ही कुंद हो गया है। फल यह है कि जन साधारण के मन में यह विश्वास घर करता जा रहा है कि जनता सरकार से श्रीमती इंदिरा गांधी का ही शासन बेहतर

था और यह भी कि श्रीमती इन्दिरा गांधी ने इमर्जेंसी घोषित कर कोई बुरा काम नहीं किया।यह एक जीवग्र मन स्थिति है।

उपर्युक्त मन स्थिति पैदा करने मे श्रीमती इन्दिरा गाधी को सफलता भी मिलती जा रही है पर यह उनकी सफलता नहीं, जनता पार्टी की फूहड असफलता है। जनता पार्टी स्वय अपना विकल्प तैयार कर रही है। सम्भव है कि ज्या-ज्यो इन्दिरा गाधी का हमला कुछ तेज होता जाये जनता पार्टी की फूट भी बढती जायेगी और इसका एक हिस्सा टूट कर श्रीमती इन्दिरा गाधी के साथ हो जायेगा। कौनसा हिस्सा उनके साथ होगा। यह कहना अभी कठिन है।

पर यह स्पष्ट है कि नवम्बर मे चुनाव जीतते ही श्रीमती इंदिरा गांधी का हमला तेजहोता जायेगा। 'दक्षिण भारत" मे उन्हे अपना मसीहा मानता ही है। मुसलमानो को वह अपने साथप्राय ले चुकी है। हरिजन उनकी तरफ झुकाव रखता है। जगजीवन राम की यदिकोई हैसियत जनतापार्टी मे नही बनती और वह चुपचाप हरिजनो कोमार खाते देखते भर रहगे तो हरिजन भी श्रीमती गांधी के साथ हो जायेंग। औरते उनसे सहानुभूति रखती ही है। उत्तर प्रदेश और बिहार का राजपूत भी आरक्षण नीति के कारण क्रमश उनकी तरफ झुकेगा। इसी तरह वह पुन उत्तर भारत मे जातियो का ऐसा समीकरण तयार कर लेगी जिसके सामने जनता पार्टी का टिक पाना कठिन होगा।

आज बार बार प्रश्न उठता है कि राष्ट्रव्यापी इस निराशा के वातावरण मे एक समतावादी शोषणमुक्त लोकतन्त्रीय समाज की रचना के लिए क्या किया जाव। जनता पार्टी की सहमति एव सर्वानुमति के लिए की जा रही दम घोटने वाली एकता[1]

1 Insistence on concept of consensus by Charan group and assertion of classical theory (that a minister holds office at the pleasure of the PM) by the ruling group show the inability of the Janata leadership to settle either for a confedral or unitary form of organisation The concept of consensus is relevant primarily to a coalition And since the Janata is neither a united party even in the sense the Congress has been all these years, nor a coalition As events have shaped, neither choice is open to them The five constituents can not merger in any meaning ful sense of the term and they can not undo the merger and let them re emerge as independent variates

और आज की परिस्थिति पर एकाधिकारवाद के प्रच्छन्न समर्थकों का 'क्रांतिकारी' विलाप दोनों ही मिलकर उलझन और भ्रम फैला रहे हैं।[1] जब तक जनता पार्टी मृत्युभय से ग्रस्त बनी रहेगी इंदिरा समर्थक आलोचकों का जनता पार्टी पर कीचड़ उछालना जनसाधारण को इस भ्रम में डाले रहेगा कि वे बोलने की आजादी का जनता के हित में उपयोग कर रहे हैं। इसी प्रकार बोलने की आजादी का उपयोग कुछ आलोचक जनता को हताश और दिग्भ्रमित करने के लिए ही कर रहे हैं और संसदीय लोकतन्त्र का खत्म कर किसी अन्य व्यवस्था की आड़ में फिर से तानाशाही समर्थक शक्तियों को एकजुट करने का लक्ष्य सिद्ध करना चाहते हैं। यदि जनता पार्टी एकता की अपनी कोशिशें जारी रखती है तो ये आलोचक सफल होंगे। क्योंकि इस एकता की दिन बदिन बढ़ती हुई कीमत है अविश्वसनीयता, जो जनता पार्टी गद्दी के लोभ में चुकाती जा रही है।[2]

(e) राष्ट्रीय सरकार की अवधारणा—यदाकदा अनेक नेताओं द्वारा प्रतिपादित इसकी आवश्यकता के अलावा राष्ट्रपति श्री नीलम संजीवा रेड्डी के जो वक्तव्य[3] समाचार

---

1 All in all India has entered a period of political uncertainty Since all important political parties have been split, Parliament and state legislatures are bound to witness floor-crossing (the Anti-Defection Bill has been withdrawn by the Government) and the toppling of governments And cabinets would be busy not in governing the country but in settling party and group disputes

2 With a promise to the nation at the Pune—rally that the Janata Party would live up to its pledges given to the *people on the eve of the sixth Lok Sabha elections, the* Prime Minister hoped the infighting among the Janata leaders would end within six months "The process of discipline had already started and it would take a definite shape after the party elections', he said, The Indian Express, September 22, 1978

3 श्री संजीवा रेड्डी के वक्तव्य के लिए अध्याय 3 देखें।

पत्रो मे प्रकाशित होते रहे है उनसे यद्यपि प्रत्यक्ष रूप से इस प्रकार की अभिव्यक्ति की कोई पुष्टि नही होती है तथापि कुछ आलोचको का मत है कि राष्ट्रपति जिस राष्ट्रीय सहमति एव समायोजन (Nation l consensus, reconciliation and accommodation) की जरूरत पर बल देते रहे हैं, उसके पीछे कही न कही राष्ट्रीय सरकार की अवधारणा (Concept of National Government) का तथ्य छिपा हुआ है। इसकी सत्यता पर आशका नही करते हुए भी यह प्रश्न तो उठाया ही जा सकता है कि क्या भारत की दलीय राजनीति, जिसमे पारस्परिक अविश्वास एव यहा तक कि आपसी घृणा का तत्व समाविष्ट है ऐसे तथाकथित 'आदर्श' को प्राप्त करने हेतु अग्रसर हो सकती है। विगत कुछ वर्षों से एव खास कर आपातकाल के के दौरान एव उसके बाद 18 महीनो मे राजनीतिक नेता आपस मे जिस तरह से चरित्र हननएव बदले की भावना से दुर्भावनाग्रस्त होते रहे हैं उनसे क्या यह आशा एव उम्मीद की जा सकती है कि (राष्ट्रपतिजी के विचार भले ही कितने ही शुद्ध एव आदर्श प्रेरित हो) वे एकाएक सदाशयी हो जायेंगे तथा राष्ट्रीय सरकार' की धारणा को मूर्त रूप धारण करने देंगे। और फिर मान लिया जाय कि इस दिशा मे कुछ ठोस कदम उठाने की बात शुरू की भी जाये, तो अन्य महत्वपूर्ण प्रश्न उठता है कि ऐसी सरकार मे कौन कौन से दल शामिल हो सकते हैं? क्या "मात्र स्वतन्त्रता सग्राम के अग्रणी" ऐसी सरकार बनाने के योग्य माने जा सकते हैं? क्या सी पी एम को भी इसमे शामिल होने के लिये तैयार किया जा सकता है? क्या जनता पार्टी के भूतपूर्व जनसघ घटक को इससे अलग रखा जा सकना समव है? आदि तथ्य इस अवधारणा को साकार मय बनाने के आग प्रश्नवाचक चिन्ह उपस्थित कर देते हैं। तथापि इस बात से कोई असहमति नही प्रकट कर सकता जसाकि स्वय मोरारजी देसाई ने मुख्य मत्रियो के द्विदिवसीय सम्मलन का उद्घाटन करते हुए कहा,[1] कि 'कानून और व्यवस्था की समस्या', जो कि मुख्यतया हरिजनो पर होने वाले अत्याचारो,[2] साप्रदायिक दगो, श्रमिक विवादो, विद्यार्थी आन्दोलन अथवा राजनतिक प्रदशनो के कारण खडी हो रही है का समाधान आपसी विचार विमश, राष्ट्रीय सहमति व पारस्परिक विश्वास से निकाला जा सकता है।

---

1 The Indian express, September 24, 1978

2 According to the statistics, the figures of the crimes under the I P C by non Harijans against Harijans, are as follows, 1974–8860 1975–7781, 1976 5968, 1977–10,?79, 1978 (up to August)—5952 thus the crimes had crisen sharply in 1977

(B) गैर-राजनीतिक-विकल्प

जैसाकि हमने पिछले अध्याय म देखा कि जिस प्रकार से भारतीय राजनीति मे जनतन्त्र पर धनतन्त्र का प्रभाव बराबर बढता जा रहा है सार्वजनिक जीवन भ्रष्टाचार से लिप्त होता जा रहा है कानून बनाने वाले कानून के भक्षक होते जा रहे है, एव केन्द्र एव प्रान्तो मे नौकरशाही की लालफीताशाही के साथ साथ मन्त्रियो के "लडको, दामादो, पोतो या भतीजो' के भद्दे हथकण्डो के कारण उत्पन्न आभिजत्य या बिगडे हुए शहजादो की राजनीति" से व्यवस्था दिनो दिन विकृत होती जा रही है, उससे करोडो भारतीय निराशा के वातावरण म डूबते जा रहे हैं। करीब करीब सभी राजनैतिक दलो की एक सी राजनैतिक शैली इस शका को पुष्टि कर रही है कि इन सबकी एक ही राजनीतिक सस्कृति (political cutture) है। सहज ही अन्दाज लगाया जा सकता है कि यही लोगो की यह शका अगर विश्वास का रूप ले ले तथा उन्ह देश म अब और कोई राजनैतिक विकल्प शेष दृष्टिगत नही हो तो व्यवस्था किस दिशा मे अग्रसर हो सकती है ?

इस प्रकार की शका अभिव्यक्त करने के पीछे निराशा मात्र नही, अपितु वे तथ्य हैं जो सभी के लिये एक चुनौती हैं। गत कुछ समय से इस प्रकार का प्रयास किया जा रहा है कि देश म पनप रही भ्रष्ट राजनैतिक सस्कृति के कारण लोकतान्त्रिक राजनतिक सस्थाओ (democratic political institutions) का अवमूल्यन (degradation) किया जा रहा है तथा भारतीय जनता की ऐसी मानसिक स्थिति बनाये जाने का नियोजित षडयन्त्र चल रहा है जब वह स्वय गैर-राजनतिक विकल्प चुनना पसन्द करे। यह वास्तव म सुखद विकास नहीं है। प्रथम प्रधान मन्त्री जवाहरलाल नेहरू ने कभी भी इस प्रकार की हरकत को बर्दाश्त नही किया, जिससे राष्ट्र की सवैधानिक एव जनतांत्रिक सस्थाओ तथा मूल्यो पर जानबूझ कर कुठाराघात हो। उन्होने कभी भी सेना (Army) को असैनिक कार्यों की ओर न केवल जानबूझ कर आमन्त्रित ही नही किया अपितु व सैनिक कार्यों मे भी इस पर जनतान्त्रिक प्रतिनिधियो का अकुश बनाये रखने मे सक्षम सिद्ध हुये साथ ही उन्होने नौकरशाही को भी अपनी सीमा म रहने के लिए विवश रखा। किन्तु दुर्भाग्यवश द्वितीय प्रधान मन्त्री श्री लाल बहादुर शास्त्री के समय में यह अकुश ढीला हो गया तथा पाकिस्तान आक्रमण एव इसके तुरन्त बाद जो भी निर्णय लिए गये, उनम सनिक व प्रशासन के हस्तक्षेप की बू आती है। श्रीमती इन्दिरा गांधी के प्रधान मन्त्रित्व काल म प्रारम्भ म व विशेषकर बांगला देश के अभ्युदय के सन्दभ मे जो उन्होंने भूमिका निभाई, वास्तव मे सराहनीय रही। सेना एव नौकरशाही को उतनी ही प्रशसा की गई जितनी कि उनके आत्म विश्वास एव 'मोराल' को बढाने हेतु आवश्यक हो सकती थी। जीत का श्रेय जनतान्त्रिक नेतृत्व (democratic leadership)

को ही दिया जाना, वास्तव में एक दूरदर्शी कदम था। किन्तु आगे चल कर श्रीमती गांधी, जिस प्रकार से नौकरशाही एवं कुछ इने गिने बड़े अधिकारियों के चंगुल में फंसती गई, त्यों त्यों लोकतान्त्रिक सत्ता कमजोर होती गई, जन प्रतिनिधियों का आत्म बल ढीला पड़ता गया तथा प्रशासन पर उनकी पकड़ नहीं रही। आपात काल में वह इस पर इतना अधिक आश्रित हो गई कि केन्द्रीय मंत्रियों, मुख्यमंत्रियों, दल के साथियों जन प्रतिनिधियों के विचारों एवं भावनाओं की खुली अवमानना की जाने लगी और अन्त में इन नौकरशाहों के लगाये गये अनुमानों एवं इशारों पर (आ० जी० बी० की सलाह के विपरीत भी) श्रीमती गांधी ने अपनी जीत निश्चित मानते हुए 1977 में चुनाव कराए जाने की घोषणा कर डाली। चुनाव लोकतान्त्रिक राजनीति का सबसे महत्वपूर्ण पक्ष है किन्तु नौकरशाही पर इतना अधिक आश्रित होना जनतन्त्र की दुःखद परिणति ही हो सकती है। परिणाम यह हुआ कि न केवल अपने दल के ही साथी उनसे अन्दर ही अन्दर रुष्ट रहे हैं अपितु वे 'स्वामीभक्त" नौकरशाह भी एक एक करके उनका साथ छोड़ते चले गए।

फिर भी यह कहा जा सकता है कि श्रीमती गांधी ने भी सेना के द्वारा असैनिक कार्यों में हस्तक्षेप को कभी भी प्रोत्साहित नहीं किया और न ही सत्ताच्युत होने के उपरान्त उन्होंने देश के वर्तमान गम्भीर हालात में भी 'राजनीति में सेना के हस्तक्षेप", 'असैनिक कार्यों हेतु सेना का चुनाव" या सेना के राजनीतिकरण की आवश्यकता पर एक भी शब्द उच्चरित नहीं किया। इतना ही नहीं, अभी हाल ही में आगरा में दिये गये उनके इस वक्तव्य की, कि 'मैं जनता द्वारा निर्वाचित किसी पर सरकार को गिराने (गुजरात एवं बिहार आन्दोलन की पृष्ठभूमि के विपरीत) में विश्वास नहीं करती", प्रशंसनीय है और आशा की जा सकती है कि वह एवं उनकी पार्टी इस पर कायम रहेंगी।

निकट भविष्य में भारत में अगर कभी राजनैतिक व असैनिक कार्यों में सैनिक हस्तक्षेप हुआ भी, तो इसका 'श्रेय" उपयुक्त घटनाओं एवं गत कुछ महीनों से की जा रही 'अनदेखी" को प्राप्त होगा, जिसकी शुरुआत से सेना को 'असंवैधानिक' आदेश को नहीं मानने के श्री जयप्रकाश आह्वान के साथ हुई तथा अब चाहे बाढ़ पीड़ितों को बचाने का मामला हो, या साम्प्रदायिक दंगों को शान्त करने का प्रश्न हो, या फिर उत्तर पूर्व सीमावर्ती प्रान्तों में तथाकथित विद्रोही गतिविधियों को दबाने का सवाल हो सेना को सहर्ष आमन्त्रित' करने की नवीन परम्परा स्थापित की जा रही है। इतना ही नहीं गीता संजय चोपड़ा हत्याकाण्ड के सिलसिले में भी बिल्ला और रंगा को रेल में सैनिकों के आरक्षित कम्पार्टमेंट में सैनिकों द्वारा पकड़ने की कार्यवाही भी, कुछ समालोचकों द्वारा व्यक्त इस मत को गहरा करती जा रही है कि कहीं देश में राजनेताओं (जो वर्षों से बदनाम होते जा रहे हैं तथा जिन पर

से लोगों का विश्वास उठता जा रहा है) के व निश्चय बुद्धिजीवियों एवं पूंजीपतियों के अतिरिक्त अब प्रशासन (जो आपात काल के भयंकर जुल्मों के कारण लालफीता शाही एवं क्रूर नौकरशाही के रूप में पहले ही कलंकित है) एवं पहले से ही कलंकित पुलिस प्रशासन को जनता की निगाहों में और गिराये जाने का प्रयास चल रहा है तथा परिणाम स्वरूप भारतीय लोगों के मानस में 'मिलट्री' एवं इसके द्वारा समय समय पर किये जाने वाले ' देशभक्तिपूर्ण एवं साहसिक" कार्यों के प्रति अपेक्षा से अधिक सहानुभूति पैदा की जा रही है। अगर ऐसा है तो निकट भविष्य में कभी भी सेना यह सोचने को 'विवश' हो सकता है कि जब देश में हर काय के लिये हम बुलाया जाता है "तो फिर क्यों नहीं, भारत के शासन की बागडोर भी हम ही सम्भाल लेव ?

इस प्रकार की आशंका इसलिए भी व्यक्त की जा रही है क्योंकि लगता है कि दुनिया की तीनों महाशक्तियां (अमरीका रूस और चीन) भारतीय उपमहाद्वीप में गहरी दिलचस्पी लेने को आतुर हो उठे है।[1] तथा यह भी सत्य है कि हर महाशक्ति अपना प्रभाव क्षेत्र किसी देश में कायम करने हेतु दो विकल्प साथ रख कर चलती हैं जैसाकि ईरान पाकिस्तान एवं अफगानिस्तान में हुई एवं हो रही घटनाएं इस तथ्य का पूर्व संकेत दे चुकी हैं। अतः अगर मान लिया जाए कि अमरीका जनता पार्टी को अपना 'चहेता' मानता है तथा यह असफल हो जाती है, तो बहुत अधिक सम्भावना है कि वह 'मिलिट्री जनरलस को अपना प्रियपात्र' बनाये। सी आई. ए इस खेल में माहिर है और किसका उपयोग किस प्रकार की सेवा में किया जाये यह वह अच्छी तरह जानती है। हो सकता है कि निकट भविष्य में पाकिस्तान में जानबूझ कर महाशक्तियां गडबडी फैलाय तथा अमरीका सिंध में सिन्धी उपराष्ट्रीयता (Sindh sub-Nationalism) उभारने का प्रयास करे। और अन्त में, वह बोर्डर' स्टेट राजस्थान की ओर अपना दावा फैलाता हुआ 'इण्डियन आँसन एवं भारतीय राजनीतिक व्यवस्था पर प्रभाव जमाने की कोशिश करें। इन दिनों राजस्थान में आ रही विभिन्न अमरीकी एवं विश्व बैंक की ' अध्ययन' टोलियां इस आशंका को उजागर करती है। इसी प्रकार रूस भी इन्दिरा गांधी का भविष्य अधिक उज्जवल नहीं मानते हुये दूसरा विकल्प को कायरत करने का इच्छुक हो सकता है। सम्भवतः उन्हें भी यहां विकल्प मिलट्री ही ज्यादा सुगम' प्रतीत होगा। चीन भी सम्भवतया कट्टर आर एस एस एलीमेंटस' (ताकि उन पर सन्देह नहीं

1 Bharat Wariavwalla "To China with a Smile, The Times of India, Oct 2, 1978

किया जा सके) को अपना 'स्टूज' बनाने का निश्चय किया है। और अगर यह असफल हुआ तो वह भी गैर राजनीतिक तत्वों को ही अपना द्वितीय विकल्प चुनना पसन्द करेगा।

उपर्युक्त शकाओ एव सन्देहो के व्यक्त करने का तात्पर्य अयथा नही लगाकर, देश के राजनीतिक एव जनतान्त्रिक नेतृत्व को (चाहे वह किसी भी राजनैतिक दल का हो) तथा लोकतन्त्र में आस्था रखने वाले प्रत्येक भारतवासी को सचेत एव सतर्क रहना चाहिए। इच्छा करके चलता हू कि ये शकाए निराधार साबित होगी तथा निष्फल रहेगी। समय-समय पर परिलक्षित "साधारण भारतीयो की असाधारण प्रतिभा" में मेरी अटूट निष्ठा मुझे इस प्रकार का विश्वास बनाये रखने का सम्बल प्रदान करती है।

परिशिष्ट-सारणिया

TABLE-I

Lok Sabha Elections 1952–71

Parties	Number of Candidates	Number of Seats won	%of Seats	%of Votes
1952				
Congress	472	364	74 4	45 00
Indian Communist Party	49	16	3 3	3 30
Socialist Party	256	12	2 5	10 60
Kisan Mazdoor Praja Party	145	9	1 8	5 80
Hindu Maha Sabha	31	4	0 8	0 95
Jan Sangh	93	3	0 6	3 10
Ram Rajya Parishad	55	3	0 6	2 03
Republican Party	27	2	0 4	2 36
Other Parties	215	35	7 2	11 10
Independents	521	41	8 4	15 80
Total		489		

Parties	Number of Candidates	Number of Seat won	% of Seats	% of Votes
1967				
Congress	516	283	54 42	40 73
Swatantra	179	44	8 46	8 68
Jan Sangh	150	35	6 73	9 41
D M K (Tamilnadu only)	25	25	4 80	3 90
C P I (M)	59	19	3 65	4 21
C P I	109	23	4 42	4 92
Samyukta Socialist Party	122	23	4 42	4 92
Praja Socialist Party	109	13	2 50	3 06
Republican Party	70	1	4 19	4 58
Other Parties	65	19	3 65	3 67
Independents	865	35	6 73	13 75
Total		520		
1971				
Congress (R)	439	350	67 5	43 64
Congress (O)	238	16	3 1	10 56
C P I (M)	85	25	4 8	4 97
C P I	86	23	4 4	4 89
Samyukta Socialist Party	91	3	0 6	2 43
Praja Socialist Party	62	2	0 4	0 98
Jan Sangh	154	22	4 2	7 48
Swantantra	58	8	1 5	3 08
D M K (Tamil Nadu only)	24	23	4 4	—
Republican Party	46	—	0 0	—
Other Parties and Independents	1 '81	43	8 3	10 10
Total		515		

TABLE II

The Distribution of Candidates, States and Votes in State Assembly Elections, 1952–67

Parties	Number of Candidates	Number of Seats Won	% of Seats	% of Votes
1952				
Congress	3153	2246	68 4	42 20
Socialist Party	1799	125	3 8	9 70
Indian Communist Party	465	106	3 2	4 38
Kisan Mazdoor Praja Party	1005	77	2 3	5 11
Jan Sangh	717	35	1 1	2 76
Ram Rajya Parishad	314	31	0 9	1 21
Hindu Maha Sabha	194	14	0 4	0 82
Republican Party	171	3	0 1	1 68
Other Parties and Independents	7492	635	19 3	32 14
Total		3272		
1957				
Congress	3027	2012	64 9	44 97
Praja Socialist Party	1154	208	6 7	9 75
Indian Communist Party	812	176	5 7	9 36
Jan Sangh	584	46	1 5	3 60
Ram Rajya Parishad	146	22	0 7	1 31
Hindu Maha Sabha	87	6	0 2	0 50
Other Parties and Independents	4863	611	19 7	29 81
Total		3102		

Parties	Number of Candidates	Number of Seats Won	% of Seates	% of Votes
1962				
Congress	3062	1984	60 2	43 53
Indian Communist Party	975	197	6 0	10 43
Praja Socialist Party	1149	179	5 4	7 6
Swatantra Party	1012	170	5 2	6 49
Jan Sangh	1135	116	3 5	5 40
Socialisty party	6 2	64	1 9	2 38
D M K (Tamil Nadu)	142	50	—	—
Ram Rajya Parishad	99	11	0 3	0 56
Republican Party	99	11	0 3	0 56
Hindu Maha Sabha	75	8	0 2	0 24
Other Parties and Independents	5313	555	16 8	23 00
Total		3347		
1967				
Congress	3443	1694	48 59	39 96
Jan Sangh	1607	268	7 70	8 68
Lwatantra	978	257	7 37	6 65
S S P	813	180	5 16	5 19
D M K (Tamil Nandu only)	174	138	3 96	4 34
C P I (M)	511	128	3 67	4 60
C P I	625	121	3 47	4 3
Praja Socialist Party	768	106	3 04	3 40
Republican Party	378	23	0 66	1 53
Other	430	195	5 59	4 75
Indep nnents	6674	376	10 79	16 67
Total		3486		

TABLE III

Party-wise Votes in 1974 Elections

Party	U P	Orissa	Manipur	Pondicherry
1 Indian National Congress	8,845,409 (32 19)	2,152,818 (37 46)	164,727 (37 46)	4604 (15 84)
2 Indian National Congress (O)	2,318,038 (8 44)	27,447 (0 48)	8,764 (1 47)	41,348 (18 93)
3 Swtantra Party	309 425 (1 13)	694,383 (12 08)	—	—
4 Bharatiya Jan Sangh	4,700,693 (17 11)	23,292 (0 40)	—	—
5 Socialist Party	793,387 (2 89)	101,699 (1 77)	35,643 (5 98)	
6 C P I	660,133 (2 40)	279,738 (4 87)	33,039 (5 54)	18,468 (8 45)
7 C P I (M)	207,204 (0 75)	67 600 (1 18)	3 347 (0 56)	2,737 (1 25)
8 B K D	5,795,215 (21 09)	—	—	—
9 Utkal Congress	—	1,520 564 (26 46)	—	—
0 Orissa Janta Congress	—	67,159 (1 17)	—	—
11 Manipur Peoples Party	—	—	13,483 (22 25)	—
12 Manipur Hill Union	—	—	38,657 (6 48)	—

Party	U P	Orissa	Manipur	Pondicherry
13 D M K	—	—	—	47,823 (21 89)
14 Anna D M K	—	—	—	60,822 (7 87)
15 Others	948,681 (3 46)	67 583 (1 18)	7,395 (1 24)	
6 Independents	2,896,363 (10 54)	745,134 (12, 96)	170,378 (28,56)	12,706 (5 81)
Total	27,474,548 (100 00)	5 747,417 (100 00)	596,433 (100 00)	218,498 (100 00)

N B —Figures in bracket represents percentages

TABLE-IV

Party Performance in U P Election (1974)

Parties		Seats	Votes
Congress		215	32 6
Socialists[1]		5	—
Communists	C P I—16 CPM— 2	18	4 1
Jan Sangh		61	17 3
B K D[2]		82	21 09
Congress—(O)		10	8 3
Independents		5+2	—

1 Socialists do not include Raj Narain's S S P

2 B K D in 1974 includes B K D, S S P and Muslim Majlis who contested on one symbol

TABLE–V

Party Performance in Orissa Election

(1974)

Parties	Percentage of polled	Seats contested	Seats won
Congress	37 46	135	69
Congress (O)	0 48	17	Nil
Utkal Congress	26 46	92	43
Jana Congress	—	42	1
Swatantra	12 08	56	21
S P I	1 77	17	2
S S P	—	3	2
C P I	4 87	14	7
CPI (M)	1 18	8	3
Jan Sangh	0 40	12	Nil
Independents	12 96	326	8
Jharkhand	0 98	—	—
Forward Block	0 02	—	—
SUCI	0 18	—	—
Others	1 16	—	—
Total	100 00	722	146

TABLE–VI

Party Performance in Gujrat Elections

(1975)

Parties	Seats (1972)	Seats won (1975)	
Congress	140		75
Congress (O)	16	56	
Jan Sangh	3	18	
B L D		2	
S P		2	86
R M P		1	
Independent		7	
C P I			1
K M L P			12
Independents	8		8
Total	168		182

How we voted To Lok Sabha (1952–1977)

1952	Number of votes	Number of Seats	Congress Party	Socialist Party	K M P Party	C P I	Jan Sangh	Hindu Mahasabha	Ram Rajya Parishad	S C Federation	R S Party	Other Parties	Independent
1		2	3	4	5	6	7	8	9	10	11	12	13	14
Amass	41,41,720	12	11	1	—	—	—	—	—	—	—	—	—
Bihar	1,80,80,181	55	45	3	—	—	—	—	—	—	—	6	1
Bombay	1 67,90,399	45	40	—	—	—	—	—	—	1	—	1	3
Madhya Pradesh	10,75,140	29	27	—	—	—	—	—	—	—	—	—	2
Madras	2,69,10,956	75	35	2	6	8	—	—	—	—	—	9	15
Orissa	77,08,161	20	11	1	—	1	—	—	—	—	—	5	2
Punjab	67,18,345	18	16	—	—	—	—	—	—	—	—	2	—
Uttar_Pradesh	3,17 70 309	86	81	2	—	—	—	1	—	—	—	—	2
West Bengal	1,24,97,714	34	24	—	—	5	2	1	—	—	2	—	—
Hayderabad	90,35,497	25	14	1	—	7	—	—	—	1	—	1	1
Madhya Bharat	40,90,857	11	9	—	—	—	—	2	—	—	—	—	—
Mysore	39,69,735	11	10	—	1	—	—	—	—	—	—	—	—

1	2	3	4	5	6	7	8	9	10	11	12	13	14
P E P S U	17 63,131	5	2	—	—	—	—	—	—	—	—	2	1
Rajasthan	76,76,419	20	9	—	—	—	1	—	3	—	—	1	6
Saurashtra	18,39,880	6	6	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—
Travancore Cochin	42,10,244	12	6	—	—	—	—	—	—	—	1	1	4
Ajmer	3,29,484	2	2	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—
Bhopal	4,19,970	2	2	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—
Bilaspur	68,130	1	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	1
Coorg	94,599	1	1	—	1	—	—	—	—	—	—	—	—
Delhi	7 44,668	4	3	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—
Himachal Pradesh	5,31,018	3	3	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—
Kutch	2 18,400	2	2	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—
Manipur	2, 8,522	2	1	1	—	—	—	—	—	—	—	—	—
Tripura	3,29,806	2	—	—	—	2	—	—	—	—	—	—	—
Vindha Pradesh	17,60,926	6	4	1	1	—	—	—	—	—	—	—	—
Total	16,32,13,635	489	364	12	9	23	3	4	3	2	3	28	38

1957	Number of Voters	Number of Seats	Congress Party	P S P	C P I	Jan Sangh	Jharkhand	S C Federation	Gantantra Parishad	Other Parties	Independents
Andhra Pradesh	1,76,88,716	43	37	—	2	—	—	—	—	2	2
Assam	44,95,359	12	9	2	—	—	—	—	—	—	1
Bihar	1,95,14,567	53	41	2	—	—	6	—	—	3	1
Bombay	2,44,58,672	66	38	5	4	2	—	5	—	4	8
Kerala	75,14,626	18	6	1	9	—	—	—	—	—	2
Madhya Prad sh	1,40 10,137	36	35	—	—	—	—	—	—	1	—
Madras	1,75,14,993	41	31	—	2	—	—	—	—	—	8
Mysore	1,00,06,926	26	23	1	—	—	—	1	—	—	1
Orissa	79,83,915	20	7	2	1	—	—	—	7	—	3
Punjab	92,08,926	22	21	—	1	—	—	—	—	—	—
Rajasthan	87,45 726	22	19	—	—	—	—	—	—	—	3
Uttar Pradesh	3,49,01,603	[illegible]	70	4	1	2	—	—	—	—	9
West Bengal	1,52,16,532	36	23	2	6	—	—	—	—	2	3
Delhi	9,76,352	5	5	—	—	—	—	—	—	—	—
Himachal Pradesh	6,71,906	4	4	—	—	—	—	—	—	—	—
Manipur	3,30,211	2	1	—	—	—	—	—	—	—	1
Tripura	4,32,902	2	1	—	1	—	—	—	—	—	—
Total	19,36,52,069	494	371	19	27	4	6	6	7	12	24

1962	Number of Voters	Number of Seats	Congress Party	P S P	C P I	Jan Sangh	Independents and others
Andhra Pradesh	19 011 417	43	34	—	7	—	2
Assam	4,934,302	12	9	2	–	—	1
Bihar	22,058,168	53	39	2	1	–	11
Gujrat	9,540,946	22	16	1	—	—	5
Kerala	7,996,363	18	6	—	6	—	6
Madhya Pradesh	15,8 6,404	36	24	3	—	3	6
Madras	18,208,487	41	31	—	2	–	8
Maharashtra	19,365,587	44	41	1	—	—	2
Mysore	11,351,529	26	25	—	–	—	1
Orissa	7,997,684	20	14	1	—	–	5
Punjab	10,715,358	22	14	–	—	3	5
Rajasthan	10,324,654	22	14	—	–	1	7
Uttar Pradesh	36,250,445	86	62	2	2	7	13
West Bengal	17,973,157	36	22	—	9	—	5
Delhi	1,343,640	5	5	—	—	—	—
Himachal Pradesh	711,824	4	4	—	—	—	—
Manipur	405,301	2	1	—	—	—	1
Tripura	474,902	2	—	–	2	—	1
Total	214,520,168	494	361	12	29	14	79

1967	Number of Voters	Number of Seats	Congress Party	Swatantra Party	Jan Sangh	S S P	C P I	C P I (M)	P S P	Other Parties	Independents
Andhra Pradesh	20,578,745	41	35	3	—	—	1	—	—	—	2
Assam	5 32?,310	14	10	—	—	—	1	—	2	1	—
Bihar	27,639,566	53	34	—	1	7	5	—	1	—	5
Gujrat	10 658 916	24	11	10	—	—	—	—	—	1	2
Haryana	4,382,855	9	7	—	1	—	—	—	—	—	1
Jammu & Kasmir	1 582,838	6	5	—	—	—	—	—	—	1	-
Kerala	?,616,876	19	1	—	—	3	3	9	—	3	—
Madras	20,736,763	39	3	6	—	—	—	4	—	25	1
Madhya Pradesh	18 352,437	37	24	1	10	—	—	—	—	—	2
Maharashtra	22 269,264	45	37	—	—	2	2	—	1	2	1
Mysore	12,789,504	27	18	5	—	1	—	—	2	—	1
Nagaland	(Not Known)	1	—	—	—	—	—	—	—	1	—
Orissa	9,861,193	20	6	8	—	1	—	—	4	—	1
Punjab	6 200,948	13	9	—	1	—	—	—	—	3	—
Rajasthan	12,219,544	23	10	8	3	—	—	—	—	—	2
Uttar Pradesh	42 105,681	85	47	1	12	8	5	1	2	1	8
West Bengal	20,113,659	40	14	—	—	1	5	5	1	2	12
Union Territories	4 358 659	24	12	—	7	—	—	—	—	—	4
Total	24,78,32,758	520	283	42	35	23	23	19	13	40	42

1971	Number of Voters	Number of Seats	Congress	CPM	CPI	DMK	Jansangh	Other Parties	Unattached
Andhra Pradesh	1,30,73,383	41	37	1	1	—	—	2	—
Assam	30,26,540	14	13	1	—	—	—	—	—
Bihar	1,48,95,420	53	36	—	5	—	2	8	—
Gujrat	61,30,038	24	12	—	—	—	—	10	1
Haryana	29,92,538	9	7	—	—	—	1	—	1
Himachal Pradesh	6,82,062	4	3	—	—	—	—	—	—
Jammu & Kashmir	11,66,746	6	5	—	—	—	—	—	1
Karnataka	76,45,311	27	27	—	—	—	—	—	—
Kerala	65,28,863	19	6	2	3	—	—	5	2
Madhya Pradesh	88,31,757	37	21	—	—	—	10	6	—
Maharashtra	1,39,13,105	45	40	—	1	—	—	3	1
Manipur	2,59,761	2	2	—	—	—	—	—	—
Nagaland	1,48,025	1	—	—	—	—	—	1	—
Orissa	44,62,052	20	14	—	1	—	—	5	—
Punjab	40,77,469	13	8	—	—	—	—	—	1

1971	Number of Voters	Number of Seats	Congress	CPM	CPI	DMK	Jansangh	Other Parties	Unattached
Rajasthan	69,24,879	23	15	—	—	—	2	3	3
Tamilnadu	1,59,49,212	39	9	—	4	18	—	8	—
Tripura	4,12,561	2	—	2	—	—	—	—	—
Uttar Pradesh	2,05,61,844	85	73	—	5	—	4	2	1
West Bengal	1,30,75,348	40	13	20	3	—	—	1	1
Andaman & Nicobar Islands	44 525	1	1	—	—	—	—	—	—
Chandigarh	72,302	1	1	—	—	—	—	—	—
Dadar & Nagar Haveli	21 658	1	1	—	—	—	—	—	—
Delhi	12,97,884	7	6	—	—	—	—	—	—
Goa, Daman & Diu	2,35,905	[illegible]	1	—	—	—	—	1	—
Lakshadweep	uncontested	1	1	—	—	—	—	—	—
Pondicherry	1,70,088	1	—	—	—	—	—	1	—
Total	14 66 92,276	518	352	26	23	18	19	56	12

1977	Seats	Cong	J/CFD	CPI	CPM	O[1]	Ind
Andhra Pradesh	42	41	1	—	—	—	—
Assam	14	10	3	—	—	—	1
Bihar	54	—	54	—	—	—	—
Gujrat	26	10	16	—	—	—	—
Haryana	10	—	10	—	—	—	—
Himachal Pradesh	4	—	3	—	—	—	—
Jammu & Kashmir	6	2	—	—	—	2	1
Karnataka	28	26	2	—	—	—	—
Kerala	20	11	—	4	—	5	—
Madhya Pradesh	40	1	37	—	—	1	1
Maharashtra	48	20	19	—	3	6	—
Manipur	2	2	—	—	—	—	—
Meghalaya	2	1	—	—	—	1	—
Nagaland	1	—	—	—	—	1	—
Orissa	21	4	15	—	1	—	1
Punjab	13	—	3	—	1	9	—

1 'O' fort Other Parties which include Akali's (9) DMK (1), AIADMK (19) and Muslim League (2)

TABLE-VIII

जून 1977 विधान सभा चुनाव दस राज्यों में दलीय स्थिति

	हिमाचलप्रदेश	पंजाब	हरियाणा	राजस्थान	मध्य प्रदेश
कुल सीट	68	117	90	200	320
जनता	53	24	75	150	230
कांग्रेस	9	17(शेष 1)	3	41	84
कम्यु	⊖	7	⊖	1(शेष 1)	⊖
कम्यु (मा)	⊖	8	⊖	1	⊖
निर्दलीय	6	2	7	6	6
अन्य	⊖	56	5 (विशाल हर)	⊖	⊖

जून 1977 विधान सभा चुनाव दस राज्यो मे दलीय स्थिति

	उत्तर प्रदेश	बिहार	प० बंगाल	उडीसा	तमिलनाडु
कुल सीट	425	324	294	147	234
जनता	351	214	29	110	10
कांग्रेस	46	57	20	26	27
कम्यु	9	21(शेष 1)	21(शेष 1)	1	5
कम्यु (मा.)	1(शेष 2)	4	178	1	12
निर्दलीय	16	22	9	9	1
अन्य	⊖	5	55	⊖	अद्रमुक 130, द्रमुक 48, अन्य 1 } 179

नोट – 1 राजस्थान की एक सीट (फलोदी) पर तथा एक रिक्त हुई सीट (छबडा) पर 27 नवम्बर 1977 को हुये उप चुनावो मे जनता पार्टी की विजय हुई।

2 उत्तर प्रदेश की दोनो शेष सीटो पर हुए उप चुनावो मे जनता पार्टी व कांग्रेस को एक एक स्थान प्राप्त हुआ है।

TABLE–IX

दस राज्य के कुल विधान सभा सदस्यों की दलीय स्थिति

जून 1977 से पहले			जून 1977 चुनाव के बाद		
कांग्रेस	1245		जनता	1235	
भालोद	234		कांग्रेस	339	
जनसंघ	28		कम्यु० (मा०)	199	
का० (स०)	20		अद्रमुक	139	
सोपा०	4		निर्दलीय	83	
द्रमुक	184		अकाली	58	
कम्यु०	119		द्रमुक	48	
निर्दलीय	74		कम्यु०	46	
अन्य	68		फा० ब्लाक	25	
कम्यु० मा०	20		का सो पा०	20	
अकाली	20	कुल स्थान 2137	अन्य	19	कुल स्थान 2219
रिक्त	121		शेष	17	

(iv) आसाम (126)

जनता	117	53
कांग्रेस	126	26
कांग्रेस (आई)	126	8
सी पी आई (एम)	54	11
सी पी आई	8	5
सी पी आई (एम एल)		1
आर सी पी आई		4
आई टी सी ए		4
एस यू सी आई		[illegible]
निर्दलीय		12
	937	

(v) मेघालय (60)

कांग्रेस	57	20
कांग्रेस (आई)	9	
ए पी एच एल सी	52	16
एच एस पी डी पी	35	14
पी डी आई सी		5
निर्दलीय		5
	262	

(vi) अरुणाचल प्रदेश (30)

जनता	27	17
कांग्रेस	1	×
पी पी ए	21	8
निर्दलीय	35	5
	84	

TABLE–XII

विभिन्न दलों की तुलनात्मक स्थिति 1971, मार्च 1977, जून 1977 एवं फरवरी 1978 के चुनाव

राजनैतिक दल	1977	मार्च 1971	राज्य	जनता पार्टी का प्रतिशत		कांग्रेस पार्टी का प्रतिशत[5]	
				मार्च 1977	जून 77/ फर 78	मार्च 77	जून 77/ फरवरी 78
कांग्रेस पार्टी	43 68% (352 सीटें)	34 54% (153 सीटें)[1]	बिहार	65%	43%	7 (विधान सभा सीटों) मे बहुमत प्राप्त किया	57 सीटें
			हरयाणा	70%	46%		3 सीटें
जनता पार्टी	25 00% (51 सीटें)*	43 17% (299 सीटें)*	हिमाचल प्रदेश	57%	49%		9 सीटें
			मध्य प्रदेश	58%	47%	22 „	84 सीटें
भारतीय साम्य वादी दल	4 73% (23 सीटें)	2 82% (7 सीटें)	राजस्थान	65%	48%	12 „	41 सीटें
			उड़ीसा	52%	49%		26 सीटें
मार्क्सवादी साम्य दल	5 12% (25 सीटें)	4 03% (22 सीटें)	उत्तर प्रदेश	68%	48%	1 „	46 सीटें
			दिल्ली	68%	58%		

प्रादेशिक दल[4] एव निर्दलीय	22 13% (67 सीटें)	15 17% (59 सीटें)	महाराष्ट्र	34%	27 02%	46 09%	42 03% (27 08 + 24 05)
			आन्ध्र प्रदेश	32 33%	28 72%	57 04%	56 05% (39 03 + 17 02)
			कर्नाटक	39 08%	37 09%	56 07%	53 01% (43 04 + 9 07)
			आसाम	35 78%	27 56%	50 56%	33 08% (9 12 + 23 96)

1 मार्च 1977 मे कांग्रेस ने दक्षिण भारत मे 41 37 प्रतिशत मत प्राप्त किए।

2 1971 मे जनता पार्टी के दिखाये गये प्रतिशत का तात्पर्य स्वतन्त्र, भारतीय जनसंघ, स स दल, व प्र स दल के सम्मिलित मतो से हैं।

3 मार्च 1977 मे जनता पार्टी ने दक्षिण भारत म मात्र 24 26 प्रतिशत मत प्राप्त किए।

4 प्रादेशिक दलो में रिपब्लिकन, डी० एम० के०, अकाली दल, तेलगाना प्रजा समिति आदि शामिल हैं।

5 फरवरी 1978 के चुनावो से पूर्व चूंकि कांग्रेस का एक और विभाजन हो गया, अत यहाँ महाराष्ट्र, आन्ध्र, कर्नाटक व आसाम मे दोनो कांग्रेस का सम्मिलित एव पथक पृथक प्रतिशत दिखाया गया है।